श्रीमद्भगवद्गीताका छठवाँ अध्याय

ध्यानयोग

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती

ध्यानयोग

श्रीमद्भगवद्गीताका छठवाँ अध्याय

•

प्रवचनकर्ता :

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

•

संकलनकर्त्री :

श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

प्रकाशकीय

आप श्रीमद्भगवद्गीताके छठे अध्यायको 'आत्मसंयोग योग' नामसे जानते हैं। इसमें कुल ४७ श्लोक हैं। इन श्लोकोंकी व्याख्या परम पूज्य महाराजश्रीने बम्बईके 'भारतीय विद्या भवन'में एक माससे भी अधिक समयमें पूरी की थी। उसे उस समय टेपकर लिया गया था। तत्पश्चात् उसको 'श्रीचक्र'जीने लिखकर एक ग्रन्थका रूप प्रदान किया, जो 'ध्यानयोग' नामसे प्रकाशित किया गया। जिन श्रोताओंने उन दिनों उन्हें सुना था, तथा उसे टेपसे जब हम कभी सुनते हैं तो लगता है कि उन व्याख्यानोंका बहुत ही अधिक संक्षेप हो गया है और उक्त 'ध्यानयोग'में उनका ठीक-ठीक संवहन नहीं हो सका। अतः श्रोताओं और पाठकोंकी माँगपर महन्तश्री ओंकारानन्दजीकी सदिच्छा और सत्प्रेरणासे अब यह सुविस्तृत-संवर्द्धित व परिष्कृत संस्करण तैयार किया गया, जो हम आज आपके हाथों सौंपते हुए हर्षका अनुभव करते हैं।

श्रीमद्भवगद्गीता महाभारत युद्धके आरम्भमें एक सखाका दूसरे सखासे, एक गुरुका शिष्यसे, एक सम्बन्धीका दूसरे सम्बन्धीसे, नरका नारायणसे हुआ संवाद है, प्रश्नोत्तर है, हितोपदेश है, साक्षात्कार है। दृष्टि भेदसे जैसे एक ही शब्द अनेक अर्थ प्रकट करता है, उसी प्रकार श्रीमद्भवद्गीताके छठवें अध्यायकी व्याख्या अनेकार्थमें विद्वानोंने ध्यानयोग या आत्म संयम-योग नामसे की है।

परमपूज्य महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वतीने सम्पूर्ण गीताका अनेक स्थानों पर अनेक दृष्टिकोणोंसे प्रतिपादन किया। हरिद्वारमें विरक्त महात्माओंके अनुसार, कलकत्तामें सद्गृहस्थोंके अनुसार तो वृन्दावनमें भक्तोंके अनुसार। वे सब समय-समय पर ग्रन्थरूपमें मुद्रित और उपलब्ध हैं।

पूर्व प्रकाशित ध्यानयोगको पाठकोंने पसन्द किया और वह संस्करण यथाशीघ्र समाप्त हो गया। पुनः प्रकाशनकी माँग बराबर आती रही और हमारे परम पूज्य महन्तजी स्वामी ओंकारानन्दजी सरस्वतीसे प्रार्थना की गयी कि इसका पुनर्मुद्रण इसके मौलिक रूपमें हो।

परमपूज्य महन्तजीके आशीर्वादसे, श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने अथक परिश्रमसे ध्यानयोगके टेप सुनकर नयी पाण्डुलिपि तैयार की ! उन्हें साधुवाद !

ग्रन्थके मुद्रणमें बाबाजी पं० श्रीविश्वम्भरनाथ द्विवेदीने सम्पादन-संशोधनकी भूमिका अदा की और चि० सोमदत्त, चि० शिवदत्तका सहयोग लिया। ये सभी महाराजश्रीके अनुगत और अपने हैं, और सदा सभी को महन्तश्रीके आशीर्वाद !

यह ग्रन्थ साधक-जिज्ञासु-पाठकों हेतु अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

ट्रस्टीगण

अगस्त 2004 सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

अनुक्रमणिका

ध्यानयोग — पृष्ठ संख्या

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः। उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥ २१७

उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको संयत करके, मनको एकाग्र करके, आत्मविशुद्धिके लिए योग करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥ २२९

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥ २२९

शरीर सिर, गर्दनको समान एवं अचल धारण करके स्थिर रहकर, अपने नासिकाग्रको देखते हुए, दूसरी किसी दिशामें न देखे। शान्तचित्त, भयरहित होकर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए, मनको संयमित करके, चित्त मुझमें लगाकर, मेरे परायण होकर मुझसे युक्त हो जाय।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः। शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥ २७३

इस प्रकार दृढ़ निश्चययुक्त योगी सदात्मासे योग करता हुआ निर्वाणपरमा शान्ति जो मेरा स्वरूप है, उसे प्राप्त कर लेता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः। न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६॥ २९५

अर्जुन! बहुत भोजन करनेवालेके लिए योग नहीं है और न सर्वथा अनशन करनेवालेके लिए है। बहुत सोनेवालेके लिए नहीं है और जागते ही रहनेवालेके लिए भी नहीं है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥ २९५

नियमित आहार-विहार करनेवाले, नियमित कर्मशीलता रखनेवाले, नियमित सोने-जागनेवालेके लिए योग दुःखनिवारक होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते। निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥ ३११

जब सब कामनाओंसे निःस्पृह होकर विनियन्त्रित चित्त अपनेमें ही स्थित हो जाता है, तब उसे युक्त कहा जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥ ३२९

जैसे वायुहीन स्थानमें दीपककी ज्योति नहीं हिलती, यही उपमा संयतचित्त आत्मयोग करनेवाले योगीकी कही गयी है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया। यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥ ३३९

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥ ३४९

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः॥ यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२॥ ३७७

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ २३॥ ३७७

जहाँ योगके सेवनसे निरुद्ध चित्त उपराम हो जाता है, जहाँ अपनेको अपनेमें अपनेसे ही देखता हुआ सन्तुष्ट होता है, जो आत्यन्तिक सुखबुद्धिग्राह्य और अतीन्द्रिय है, जिसे जानता है, जहाँ स्थित होकर यह तत्त्वतः चलित नहीं होता, जिसे पाकर उससे अधिक कोई लाभ नहीं मानता, जिसमें स्थित होकर बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जाता, उस दुःखके संयोगसे वियोगका नाम योग जानना। उस योगका निश्चय पूर्वक अनिर्विण्ण चित्तसे सेवन करना चाहिए।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः। मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥ ३९९

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥ ४२१

संकल्पसे होनेवाली समस्त कामनाओंको सम्पूर्ण-रूपसे छोड़कर, मनके द्वारा

इन्द्रिय-समूहको चारो ओरसे भलीप्रकार नियन्त्रित करके, धृतिसे पकड़ी गयी बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे उपराम हो जाय। मनको आत्मामें स्थित करके फिर कुछ न सोचे।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥ ४५१

चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ निकलकर घूमने चला जाय, वहाँ वहाँसे नियन्त्रित करके उसे अपने ही वशमें ले आये।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्। उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७ ४६३

प्रशान्तमानस, शान्तरजस्, अकल्मष इस ब्रह्मभूत योगीको उत्तम सुख प्राप्त होता है।

अर्जुन उवाच

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः। सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥ ४७५

इस प्रकार विगतकल्मष योगी सदा आत्मयोग करता हुआ सुखपूर्वक ब्रह्मसंस्पर्श-रूप आत्मन्तिक सुखका उपभोग करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥ ४९७

सर्वत्र समदर्शी योगयुक्तात्मा सब भूतोमें अपनेको और अपनेमें सब भूतोंको देखता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥ ५१७

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये न मैं प्रणष्ट होता हूँ और न मेरे लिए वह प्रणष्ट होता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥ ५४९

जो सर्वभूतस्थित मुझको एकत्वमें स्थित होकर भजता है, सर्वथा व्यवहारमें रहते भी वह योगी मुझमें ही वर्तता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥ ५८७

अर्जुन! जो अपने समान ही औरोंका सुख एवं दुःख देखता है, वह योगी परम योगी है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन। एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥ ५९७

मधुसूदन! यह जो आपने साम्येके द्वारा सम्पन्न होनेवाला योग बतलाया, मनके चञ्चल होनेके कारण इसमें स्थिर-स्थिति होना मैं देखता नहीं हूँ।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥ ६०५

श्रीकृष्ण! क्योंकि मन चञ्चल है, मत देनावाला है और हठी है, अतः उसका निग्रह मैं वायु-निग्रहके समान अत्यन्त कठिन मानता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥ ६०९

महाबाहु कौन्तेय! सन्देह नहीं कि मन चञ्चल है और कंठिनाईसे नियन्त्रणमें आनेवाला है; किन्तु अभ्याससे और वैराग्यसे पकड़ा जाता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः। वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥ ६३७

भगवान् कहते हैं—'मैं ऐसा समझता हूँ कि यह योग असंयचित्तके लिए

'दुष्प्राप्य है और जिनका मन वशमें है, वे उपायर्पूक प्रयत्न करते हुए इसे प्राप्त कर लें ऐसा शक्य है।'

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः। अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥ ६३९

अर्जुन पूछता है—'कृष्ण! जिसका मन योगसे विचलित हो गया है; किन्तु जिसमें श्रद्धा है, वह योगकी संसिद्धि न पाकर किस गतिको जाता है।'

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति। अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥ ६४०

महाबाहु! कहीं वह दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर बादलके छोटे टुकड़े-सा नष्ट तो नहीं होता; क्योंकि ब्रह्मके मार्गमें विमूढ़ होनेसे वह प्रतिष्ठित नहीं हुआ।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः। त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ ३९॥ ६४१

कृष्ण! यह मेरा संशय है और इसे सम्पूर्ण रूपसे तुम्हें मिटा देना चाहिए। तुमको छोड़कर इस संशयको नष्ट करनेवाला दूसरा उपयुक्त पात्र नहीं है।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते। न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥ ४०॥ ६४२

श्रीभगवान् बोले—पार्थ! इस लोक और परलोकमें भी उसका विनाश नहीं है। भाई! कल्याण करनेवालेकी दुर्गति नहीं हुआ करती।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥ ६४३

पुण्य करनेवालोंके लोकोंको पाकर, वहाँ बहुत वर्ष निवास करके तब योगभ्रष्ट पवित्र धनवानोंके घर जन्म लेता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्। एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥ ६४४

अथवा वह योगभ्रष्ट बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें उत्पन्न होता है। लोकमें इस प्रकार जन्म होना अत्यन्त दुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥ ६४५

वहाँ वह पूर्व जन्मका बौद्धिक संयोग प्राप्त करता है। अर्जुन! फिर संसिद्धि प्राप्त करनेके लिए वह प्रयत्न करता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः। जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥ ६४६

उसी पूर्व जन्मके अभ्याससे वह विवश होकर खींचा जाता है। योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म-वेदका अतिवर्तन कर लेता है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥ ६४८

प्रयत्नपूर्वक साधन करते रहनेसे योगीके सब किल्विष शुद्ध हो जाते हैं। इस क्रमसे अनेक जन्मोंमें उसे सफलता मिलती है और वह परमगति पाता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ ४६॥ ६५१

मेरे मतसे योगी तपस्वीसे अधिक है, ज्ञानीसे अधिक है और कर्मीसे भी अधिक है, इसलिए अर्जुन! तुम योगी बनो।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥ ६५२

समस्त योगियोंमें भी जो मुझमें अन्तरात्मा लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है, मेरे मतमें वह युक्ततम है।

❀

प्राक्कथन

मनुष्यके मनमें प्रेम भरा होता है तो वह गा-गाकर उसको प्रकट करता है और शोक भरा होता है तो उसको भी वह गा-गाकर प्रकट करता है। हमने गाँवमें देखा कि प्रात:काल जब घरकी स्त्रियाँ उठतीं हैं और चक्की पीसती हैं उस समय बड़े प्रेमका गाना गातीं, वह भजन होता। वही न करनेसे आज स्त्रियोंको ज्यादा रोग होता है, डॉक्टर ज्यादा बुलाना पड़ता है। अब मशीनमें आटा पीसकर आ जाता है। आटेका सत्त्व जल गया और स्त्रीको परिश्रम नहीं करना पड़ा, तो सुगर (डाइविटीज) बढ़ गयी। तो पहले स्त्रियाँ सबेरे उठकर चक्की पीसती थीं और प्रेमका संगीत गाती थीं। अपने हृदयमें जो प्रेमका संवेदन है, संयोगका, वियोगका उसीको अभिव्यक्त करना, इसको गीत बोलते हैं। गीत जो है यह भावाभिव्यक्ति है और भाव भी साधारण नहीं, गहरे।

संयोग-वियोगात्मक भावकी अभिव्यक्ति गीतमें होती है।

अब समझो कि भगवान् ही गाने बैठें तो वे क्या गावेंगे? उनके दिलमें जो भरा हुआ होगा, वही तो गावेंगे न! तो भगवान्के हृदयमें क्या भरा हुआ है? भगवान्के हृदयमें कोई दूसरा तो भरा हुआ है नहीं, स्वयं जो भगवान् हैं वही उनके हृदयमें भरे हुए हैं। यह कहो कि भगवान्के हृदयमें कोई जड़ भरा हुआ है; जैसे हमारे नेताओंके हृदयमें भाई-भतीजा भरा हुआ होता है, वैसे भगवान्के हृदयमें कोई भाई-भतीजा भरा हुआ है, ऐसा तो कह नहीं सकते।

तो भगवान्‌में स्वयं सच्चिदानन्दाद्वय—सत्स्वरूप, चित्स्वरूप, आनन्दस्वरूप, अद्वयस्वरूप। सत्–चित्–आनन्द आपसमें भी अलग–अलग नहीं हैं और इनसे अलग भी कोई दूसरी चीज नहीं है। तो भगवान् हैं सच्चिदानन्द अद्वय और जब वे गाने लगते हैं तब उनके उस गीतामें, संगीतामें, भगवद्गीता, अभिगीता, गीता, संगीता भगवान्‌के द्वारा गायी हुई यह अभिगीत संगीत, जो कुछ भगवान् हैं, सच्चिदानन्द अद्वय इसमें उड़ेल करके रख देते हैं।

इसीसे जब अर्जुनको गीताका उपदेश करने लगे। तो भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा, बता दिया कि भाई, कभी–कभी बड़ी गलती होती है किसीको कोई चीज दी जाये और उसका महत्त्व न बताया जाये तो उसको वह कौड़ी भी समझ सकता है। क्योंकि महत्त्व मालूम नहीं है। तो भगवान्‌ने यह जो अपना संगीत अर्जुनको दिया तो सोचा कि अर्जुन इसको मामूली चीज समझकर खो न दे। तो माहात्म्यमें आप पढ़ेंगे—

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम्।

पार्थ ! गीता मेरा हृदय है। जैसे एक प्रेयसी अपने प्रियतमको, जैसे प्रियतम अपनी प्रेयसीको अपना हृदय देता है, वैसे अर्जुन ! तुम्हें तो मालूम ही है कि—

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।

पिता–पुत्रकी तरह, सखा–सखाकी तरह और प्रेयसी प्रियतमकी तरह जो हमारा तुम्हारा सम्बन्ध है, उस सम्बन्धके अनुरूप मैं तुम्हें अपना हृदय देता हूँ। **'गीता मे हृदयं पार्थ'** गीता मेरा हृदय है। तो—

'भगवता गीता—भगवद्गीता'

'भगवती गीता—भगवद्गीता'

यह गीता स्वयं भगवती है। गीताका विशेषण है भगवती, माने यह भगवत्स्वरूप है। और भगवता गीतामें भगवान् उसके गायक हैं।

यह गीता नाम भी है, संज्ञा है—

गीताशास्त्रमिदं पुण्यम्।

और **यद् तद् भगवता गीतं ज्ञानं संग्राम मूर्ध्नि**—यह क्रिया पद है।

गीता क्रिया पद भी है, भगवता गीता–भगवद्गीता और गीता एक संज्ञा भी है। जैसे अपनी बेटीका नाम कोई गीता रख दे, ऐसे इसकी संज्ञा है गीता।

अब थोड़ा-सा कृष्ण और अर्जुनके सम्बन्धमें। आप जानते हैं, जैसे हमारे हृदयमें ईश्वर और जीव दोनों सखाके रूपसे निवास करते हैं वे हैं एक। एक हृदयमें बैठकर व्यवहार करता है और एक उस व्यवहारका साक्षी रहता है—**तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वन्ति। अनश्नन्न्यो अभिचाकशीति।**

एक तो खाने-पीनेमें, मजा लूटनेमें लग गया और एक केवल तटस्थ साक्षीके रूपमें देख रहा है। **सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्**—महाभारतमें कहा। यह कृष्ण और अर्जुन कौन हैं? एक सद्वस्तु दो रूपमें स्थित हैं। एक हृदयोपाधिक है और एक हृदयाभावोपाधिक है एक हृदयावच्छिन्न है एक हृदयाभावावच्छिन्न है। माने कोटि-कोटि हृदयमें एक है। इसलिए वह हृदयोपाधिक नहीं है। हृदयाभावोपाधिक है और एक प्रत्येक हृदयमें पृथक्-पृथक्, इसलिए हृदयोपाधिक है। तो जैसे श्याम बलराम हैं, जैसे राम-लक्ष्मण हैं, जैसे नर नारायण हैं, जैसे जीव ईश्वर हैं वैसे ये दोनों एक ही रथपर बैठे हुए हैं।

आत्मानं रथिनं विद्धि। शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि।

हमारे उपनिषद्में वेदकी महिमा तो सर्वोपरि है। अगर वेदकी महिमा न हो तो भगवान्‌की महिमा न हो। वेदकी महिमा न हो तो भागवतकी महिमा कहाँसे आवेगी? वेदकी महिमा न हो तो गीताकी महिमा कहाँसे होगी। वेद तो सबका मूलाधार है। वेद माने ज्ञान और भगवान् माने समष्टि ज्ञान। वेद माने व्यष्टि-समष्टिकी उपाधिसे अनवच्छिन्न ज्ञान समष्टि ज्ञान भगवान् हैं, व्यष्टि ज्ञान जीव है। बाकी ज्ञान तो बाजारू है, सब ऐसा ही है। ये सब ज्ञानके ही रूप हैं। वेद साधक ज्ञान है और ईश्वर साध्य ज्ञान है। वेद प्रमाण ज्ञान है और ईश्वर प्रमेय ज्ञान है।

अच्छा तो दर्शन-शास्त्रकी चर्चा छोड़ देते हैं। आओ हम श्रीकृष्णार्जुनकी बात सुनावें। वेद तो हमारे प्राण हैं। जैसे जीव और ईश्वर, नर-नारायण नित्य सखा हैं, इन्हींको श्रीकृष्ण और अर्जुन कहते हैं। यह शरीर रथ है और **बुद्धिं तु सारथिं विद्धि,** बुद्धिमें बैठे हुए वासुदेव सारथि हैं और मनमें—अन्तःकरणमें बैठे हुए अर्जुन रथी हैं। अर्जुन रथी हो गये, पर कृष्ण रथी नहीं हुए। सारथि माने ***सारयति अश्वान् इति सारथिः। सारयति***

संचालयति अश्वान्। वह रथके साथ सारथि शब्दका सम्बन्ध नहीं है। संचालकके साथ सम्बन्ध है, जो नियन्ता है, अन्तर्यामी है उसको सारथि कहते हैं, वह संचालक है।

अच्छा, अब आओ! एक बार इन्द्रका उपकार किया अर्जुनने, श्रीकृष्णकी प्रेरणासे। कब? खाण्डव वनका जब दहन हुआ अग्निको तृप्त करनेके लिए। आप जानते हैं अग्निको भी जब घी बूरा-ज्यादा खानेको मिला तो अग्निको अजीर्ण हो गया। तो यहाँ हुआ खांडव वन माने वनस्पति। अग्नि अब घी-शक्कर खाना छोड़कर, यज्ञाहुति खाना छोड़कर, खाण्डव वनका दाह करे तब उसका अजीर्ण मिटेगा। यह हुआ कि खाण्डव वन खाने जायेंगे, तो बादल पानी बरस कर बुझा देंगे। अर्जुन गये रक्षा करनेके लिए कि अग्नि बुझेगा नहीं। इन्द्रने कहा—उसमें हमारा एक मित्र रहता है, कृष्ण उसको बचाओ! कृष्णने कहा—अर्जुन! इन्द्रके मित्रको तो बचा दो! अच्छा, निकल जा भाई भागकर, निकाल दिया। तो इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और आकर बोले कि कृष्ण! तुमने हमारे मित्रकी रक्षा की है, जो वर माँगो सो हम देनेको राजी हैं। इन्द्र वर देने आये श्रीकृष्णको। यह देखो प्रेममें छोटे-बड़ेका ख्याल नहीं होता है। यह तो दुनियादारीकी चीज है छोटा और बड़ा। यदि बाप बच्चेसे कहे कि तू कल पैदा हुआ, मेरा बच्चा है, तू मेरे कन्धेपर चढ़ेगा! मेरी नाकमें उँगली डालेगा! मेरे बाल खींचेगा! मैं पटक दूँगा धरतीपर। नहीं, बाप खुश होगा। इन्द्र भी कृष्णको वर देनेके लिए आते हैं। बोले—कृष्ण, माँग लो वर! कृष्णने कहा—'अच्छा इन्द्र प्रसन्न हो तो हमको यह वर दो कि अर्जुनके साथ हमारी मैत्री सदा बनी रहे।'

आप जानते हैं अर्जुन इन्द्रके पुत्रके रूपमें वर्णित हुआ है। इन्द्र हाथके देवता हैं और इन्द्रका पुत्र अर्जुन कर्मयोगका मुख्य अधिकारी है। हाथ ही कर्म करता है। कर्मका मुख्य उपदेश होगा तो इन्द्रके पुत्रको होगा।

अब लो वेदका एक मन्त्र सुना देते हैं—

अयं मे हस्तो भगवान्। अयं मे हस्तो भगवत्तरः।

सुबन्धोपाख्यानमें, ऋग्वेदमें यह मन्त्र आता है। मेरा यह हाथ ईश्वर है। मेरा यह हाथ ईश्वरसे बढ़कर है। क्या मतलब है? कि यदि हम अच्छे कर्म

करेंगे तो ईश्वरको विवश होकर हमारे कर्मानुसार हमें उन्नति देनी पड़ेगी, हमारी प्रगति करनी पड़ेगी। ईश्वर सातवें आसमानमें नहीं रहता है। हमारे हाथमें रहता है। हम आगे बढ़नेमें स्वतन्त्र हैं।

अच्छा देखो, एक दूसरा प्रसंग सुनाते हैं। धृतराष्ट्रने संजयको भेजा कि पाण्डवोंके शिविरमें जाकर देखो कि वहाँ क्या हो रहा है? जब संजय गये, उद्योगपर्व महाभारतके प्रसंगमें आप पढ़ सकते हैं, तो वहाँ क्या हो रहा था, आपको सुनाऊँ? ड्राईंग रूपकी नहीं बेडरूमकी बात है, एक पलंगपर अर्जुन और कृष्ण, द्रौपदी और सत्यभामा, उनकी गोदमें उनके पाँव, आँखें लाल-लाल, मतवाले पड़े हैं, इसीमें किसीने समाचार दिया कि संजय आये हैं कौरवोंके यहाँसे। तो कृष्णने कहा कि यहीं भेजो, यह नहीं कहा कि ड्राईंगरूममें जाकर मिलेंगे, कहा कि यहीं भेजो उनको। महाभारतमें यह आनन्द है महाराज! जब आये तो लेटे ही लेटे मिले, एकका सिर था अर्जुनकी गोदमें, एकका सिर था सत्यभामाकी गोदमें, पाँव था द्रौपदीकी गोदमें। बड़े मौजसे, बोले—संजयको यहाँ भेजो! जाकर देखा संजयने, कृष्णने अपने एक पाँवसे एक चौकी खिसकाई, बैठ जा संजय इसपर। संजयने प्रणाम किया, कृष्णको भी, चौकीको भी और धरतीपर नीचे बैठ गये। कृष्णने कहा तुम समाचार लेनेके लिए आये हो न! यही जो तुम देख रहे हो इस समय, यही समाचार जाकर कौरवोंको सुनाना और बताना—**कृष्णो धनञ्जयस्यात्मा कृष्णास्यात्मा धनञ्जयः**। संजय! अर्जुनके आत्माका नाम कृष्ण है और कृष्णके आत्माका नाम धनंजय है। हम दोनोंमें जो विभेद देखना चाहता है वह नराधम है, उसको कभी सफलता नहीं मिल सकती। संजय लौटकर गये, तो सुनाया यह सब। उद्योगपर्वमें यह कथा है। महाभारतके मूलकी बात आपको सुनाता हूँ। जरा गीताके लिए थोड़ी तो महाभारतकी पृष्ठभूमि चाहिए न! कृष्ण बोलते हैं—अर्जुन!

यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु।
आवयोरन्तर नास्ति योस्म्यहं स त्वमर्जुन॥

जो तुमसे दुश्मनी करता है वह मुझसे दुश्मनी करता है। जो तुम्हारे पीछे चलता है। वह मेरा अनुगमन करता है हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। जो तुम

हो अर्जुन, सो मैं हूँ, जो मैं हूँ अर्जुन, वह तुम हो। हम दोनोंके बीचमें सम्बन्ध वाचक विभक्ति नहीं, बिलकुल सामान्याधिकरण्य है।

नारायण! आपको क्या सुनावें—

अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भो।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि॥

ये अर्जुन कृष्ण हैं। अच्छा देखो, अब आपको एकाध बराबरीकी बात सुनाते हैं। अभी छठें अध्यायका सार आपको सुनाता हूँ। अच्छा, अर्जुनके नौकर कृष्ण हैं कि कृष्णके नौकर अर्जुन है? यह नौकर शब्दको भी संस्कृतका मान लो, कोई बात नहीं है। *नो+कर:*। नो अव्यय निषेधके अर्थमें है। *करो न भवति; किन्तु कर इव भवति।* वेदमे 'नो' शब्दका प्रयोग इवके अर्थमें आता है। *करो न भवति*—जो अपना हाथ न हो, लेकिन हाथकी तरह हो। उसको नोकर बोलते हैं। अपने हाथसे करनेका जो काम है, सो कर दे। मनमें हो हमारे और करे वह, तब उसका नाम होता है नौकर। अच्छा बताओ, अर्जुनके हाथ कृष्ण हैं कि कृष्णके हाथ अर्जुन हैं? सो रथी अर्जुन हैं और सारथि कृष्ण हैं, पहली स्थिति यही है। अच्छा, कहो कि हमलोग यह सब नहीं करते हैं, हमारे मालिक हैं भगवान्। हाँ, मालिक हैं आपके? वे भी खुश होते होंगे कि ये सब जीव हमको मालिक माननेवाले हैं। अच्छा, बताओ, दिन भरमें पच्चीस बार हुकुम देते हैं कि हमारे घरमें पैसा भेज दो, हे भगवान् हमारे सिरका दर्द मिटा दो। आप अपने नौकरसे बोलते हैं कि मालिकसे बोलते हैं?

हमारे दो साधु जब आपसमें रूठते हैं महाराज! तो हमसे कहते हैं उनसे यह कह दो, उनसे वह कह दो!

अच्छा तो आप देखो, पहली बात गीताके अन्तमें अर्जुन कहते हैं कि **करिष्ये वचनं तव**। प्रभु, मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। तब कृष्णके नौकर होगये अर्जुन; जब कृष्णकी आज्ञाका पालन करेंगे। लेकिन आप किसीसे अपनी आज्ञाका पालन करवाना चाहें और उसकी आज्ञाका पालन न करें तो मेल नहीं बैठेगा, तो देखो, पहले अर्जुनकी आज्ञाका पालन कृष्ण करते हैं—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।

'कृष्ण, दोनों सेनाओंके बीच ले चलकर मेरा रथ स्थापित करो।' यह

आज्ञा किसकी है? यह आज्ञा अर्जुनकी है और श्रीकृष्णके लिए है। अर्जुन आज्ञा देनेवाले हैं और **स्थापयित्वा रथोत्तमम्** आज्ञा माननेवाले हैं कृष्ण। अर्जुन है स्वामी और सारथि हैं, नौकर हैं कृष्ण। सचमुच ऐसे ही स्वामीकी आज्ञाका पालन होता है, कृष्णने सिद्ध कर दिया, भृत्यवत्सल हैं, भक्त-वत्सल हैं, अभिमान-रहित हैं, निष्काम कर्म कर रहे हैं। अपना बड़प्पन स्थापित करनेके लिए कर्म नहीं कर रहे हैं। बोले—ले चलो बीचमें रथ। कि ठीक, बिलकुल ठीक अरे, हम बीचमें चलनेकी बात तो तुमसे करनेवाले हैं अर्जुन, अच्छा है, ठीक कहा तुमने साम्य होना चाहिए, मध्यस्थ होना चाहिए। हम भी तो यही कहनेवाले हैं।

तो छठें अध्यायमें असलमें विषय क्या है? आपको अलग-अलग सुनाते हैं। अर्जुनने छठाँ अध्याय सुनकर कहा, अर्जुनकी व्याख्या सुनो—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ६.३३

अर्जुनका कहना है कि आपने साम्यके द्वारा जो भेद है उसका वर्णन किया है। छठें अध्यायका सार आगया। अर्जुनकी दृष्टिसे भगवान् श्रीकृष्णने छठें अध्यायमें क्या बताया? साम्ययोग।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मत॥ ६.३२

परम योगीका लक्षण यह है कि **आत्मौपम्येन समं पश्यति**—सुख-दुःखको जो समान देखता है।

अच्छा, अब साम्ययोगका वर्णन करें, तो पहली बात यह है कि जो अपने सम्बन्धी हैं और सम्बन्धी नहीं हैं, उनके प्रति आप समता बरत सकते हो। इसका नाम अनासक्ति योग है। यदि अपने सम्बन्धियोंके प्रति आसक्ति होगी और दूसरोंकी उपेक्षा होगी या द्वेष होगा तो साम्ययोग नहीं होगा न! तो हम अभी विषयोंकी बात नहीं करते हैं। ममताके कारण अपने सम्बन्धीका पक्षपात और द्वेषके कारण अपने शत्रुके प्रति शत्रुता और जो शत्रु मित्र नहीं हैं उनके प्रति उपेक्षा यह जो आपके बर्तावमें है, यह साम्ययोग पहले आपको इस स्तरपर लाता है—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

पहले इस स्तरपर लाता है कि आप सम्बन्धसे प्रभावित न हों, यह पहला साम्य है। संसारके जितने स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, मनुष्य हैं, जितने प्राणधारी हैं, सबके प्रति अनासक्त होना—यह साम्य है। यह जो अपनोंके प्रति पक्षपात और दूसरोंके प्रति निर्दयता है यह वैषम्य है। पहला साम्ययोग छठें अध्यायमें यह है। उसकी व्याख्या हम आगे करेंगे। अभी संक्षेपमें उसकी रूपरेखा बता देते हैं।

दूसरा साम्य क्या है? दूसरा साम्य यह है कि सब शरीरोंमें जो अलग-अलग जीवात्मा है, यह आत्मा जीव, चेतनत्व सामान्य-से एक सरीखे हैं। तो निस्सम्बन्धताके सामान्यसे सब प्राणी सम हैं और चेतनत्व सामान्यसे सब प्राणी सम हैं—यह दूसरा साम्य है। और तीसरा—जब यह जीवात्मा **अपहतमात्मा** हो जाता है निर्भय, निर्दय, निर्दोष तो महाराज ईश्वरके साथ इसकी समता हो जाती है तो ईश्वर-साम्य हो जाता है और चौथा जब अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है तो जगत्का भी विवर्ती अभिन्न निमित्तोपादान कारण जो ब्रह्म है उसके साथ ऐक्य हो जानेके कारण द्वैत नामकी जो वस्तु है वह बाधित हो जाती है तब ब्रह्मात्मैक्य बोधकृत साम्य होता है।

चार प्रकारका साम्य आपको बताया—अनासक्तिकृत साम्य, चेतनत्व कृतसाम्य, निर्दोषत्वकृत ईश्वर साधर्म्यरूप साम्य और अद्वैत रूप साम्य। ये चार प्रकारका साम्ययोग छठें अध्यायमें बताया हुआ है।

हम सत्रह-अट्ठारह बरसके थे तो घाट-घाटके साधुओंके पास जाया करते थे। अब आजकल तो महाराज रोज, एकबार मनमें आया अरे, घर-गृहस्थीमें कुछ नहीं है, मौत सामने खड़ी है, कल जिन्दा रहेंगे इसका क्या पता है तो चलो अब तो ईश्वरको प्राप्त करके छोड़ेंगे और महाराज निकल पड़े, वह तो जब दस-बीस घण्टे भूखे रहते, जब सोनेकी जगह नहीं मिलती, बिस्तर-इस्तर नहीं मिलता तब अक्ल ठिकाने आ जाती और लौटकर आ जाते। हाँ, तो भागकर गये चुनार। वहाँ दुर्गाखोह नामके स्थानमें एकलिंग स्वामी नामके एक मद्रासी महात्मा रहते थे। वहाँ गये तो गीताकी चर्चा चली। तो उन्होंने हमको फिर दो टीका दी गीताकी। वह कहीं बादमें

हमको फिर देखनेमें नहीं आयी। एक टीकाका नाम था 'स्वयं विमर्श भाष्य' बंगला लिपिमें संस्कृत भाष्य था। और एकका नाम था 'स्वयं प्रकाश भाष्य'। तो स्वयं विमर्श भाष्यको तो आप मननस्वरूप समझें और 'स्वयं प्रकाश भाष्य'का अर्थ यह था कि गीताका आप पाठ करें, तो उसके श्लोक कल्पवृक्षवत् हैं और वे अपना अर्थ बताना प्रारम्भ कर देंगे। यदि आप टीका-टिप्पणी पढ़कर ही और ऊपर-ऊपरसे श्लोक पढ़कर, अपनी बुद्धि न लगानी पड़े, दूसरेकी बुद्धिसे हम अपना काम चला लें, हमारी बुद्धि तो पैसा कमानेमें लगेगी और ईश्वरके बारेमें हम दूसरेकी बुद्धिसे काम निकाल लें। ऐसे महाराज बुद्धिका काम तो नौकर रखकर चला लें, ऐसे बनिया लोगोंको महाराज यह सूझता ही नहीं है।

अब आपको सुनाते हैं, वे तो झूठ ही दावा करते हैं, कोई नयी बात उनको नहीं सूझती है। यहाँकी सुनी, वहाँकी सुनी *'कहींकी ईंट कहींका रोड़ा, भानुमतीने कुनबा जोड़ा'* वह मालूम पड़ जाता है कि माल इसका अपने घरका है कि उधारका लिया हुआ है। हमलोग, वह चार बात बोलें या चार बात लिख दें कागजपर, पहचान जायेंगे कि माल उधारका है कि अपना है। अरे महाराज, अपना माल हो तो लुटानेमें भी मजा आता है। अरे महाराज, एक लुटा रहे हैं कल दूसरा लुटा देंगे। और उधारका हो तो देनेमें बड़ा संकोच होता है। और यह होता है कि आज दे देंगे तो कल कहाँसे आवेगा? फिर महाराज वही-वही रखते हैं। इसका तो एक सम्बन्ध है। आपको बताते हैं, चार बातपर आप ध्यान रखो—साम्ययोग। तो यह जो गीताका छठाँ अध्याय है यह मुख्य रूपसे है साम्ययोग; परन्तु यह साम्ययोग ध्यान योगके बिना नहीं आ सकता। वह 'स्वयं विमर्श भाष्य' जो था, इसके लिए वह चाहिए। बादमें फिर मैंने शांकर भाष्य पढ़ा, मधुसूदनी पढ़ी। चार पाँच टीका तो हमलोग एक साथ तीन-चार जने मिलकर पढ़ा करते थे। शांकर भाष्य, मधुसूदनी, शंकरानन्दी, तिलक भाष्य, और ज्ञानेश्वरी। तो तुलनात्मक समीक्षा करनेके लिए पहले पहल पढ़ते थे कि इनका क्या मत है। उसके बाद तो फिर श्रीरामानुज, श्रीमध्व ये सब जो हमारे महापुरुष हैं, बहुत बढ़िया बोलते हैं, अपने-अपने दृष्टिकोणसे सबका ठीक है, जैसा अधिकारी, जैसा फल, जैसी

साधना, उसमें-से एक कड़ी यदि उसकी तोड़ दी जाये तो पूरी-की-पूरी टूट जाती है और उनके अधिकारीको, उनके साधनको, उनके फलको यदि ठीक-ठीक मानें, उनके व्याख्यानमें-से एक वाक्य निकाल देनेका सामर्थ्य किसीमें नहीं है, हम उनकी उत्पत्ति जानते हैं। उनके-उनके मतसे, उनके-उनके दर्शनसे वह बिलकुल ठीक है, कहीं कोई काटने लायक नहीं है। ईश्वरको सगुण मानो और शांकरभाष्य पढ़ो, समझमें नहीं आवेगा। और ईश्वरको निर्गुण मानो, रामानुज भाष्य पढ़ो, समझमें नहीं आवेगा। क्योंकि वह तो एक-एक दृष्टिकोण है, किस कोणसे वह फोटो लिया गया है। जबतक वह कोण नहीं पकड़ोगे तबतक ईश्वरका स्वरूप कैसे बताते हैं यह मालूम नहीं पड़ेगा। अच्छा, तो उसके लिए 'ध्यानयोग' है। 'ध्यानयोग'का सूत्रण पाँचवें अध्यायके अन्तमें कर दिया गया। गीताकी यह शैली है। पाँचवें अध्यायका अन्त आप देखोगे तो तुरन्त ध्यानमें आ जायेगा।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ ५.२७-२८

यह तो हुई ध्यानयोगकी बात। पर इसके बाद एक और बड़ी विलक्षण बात कही हुई है, वह ध्यानयोगसे बड़ी है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ ५.२९

देखो इसमें पहले तो ध्यानयोगका वर्णन है। ध्यानयोगने क्या कर दिया? कि मुक्त कर दिया। यह बात कहते हैं कि यज्ञ-तपस्याके भोक्ता भगवान् हैं और सर्वान्तर्यामी भगवान् हैं और सबके सुहृद् भगवान् हैं और उसके ज्ञानसे ही शान्ति मिल जायेगी। विचित्र है यह प्रसंग। यह तो है सूत्र और इसकी व्याख्या है छठाँ अध्याय। संस्कृतमें समास और व्यास दो पद्धति हैं। तो पहले समास पद्धतिमें माने थोड़ेमें कोई बात कही जाती है और फिर व्यास पद्धतिसे इसका विस्तार किया जाता है। व्यास पद्धति माने बातको फैलाकर कहना।

तो आओ ध्यान योगकी बात आपको सुनावें। साम्यमें जाना है न, यदि आपमें छोड़नेका सामर्थ्य नहीं होगा तो भी साम्यमें नहीं जा सकते। जो त्याग नहीं कर सकता वह साम्यमें कैसे स्थित हो सकता है? सममें स्थित होनेके लिए त्याग करना पड़ता है। जिनको आप बहुत प्यारा मानते हो, उनका भी त्याग करना पड़ेगा और जिसको आप दुश्मन मानते हो, वह दुश्मनी छोड़नी पड़ेगी, सबमें जानेके लिए। जिनको आप शत्रु मानते हो उनसे शत्रुता और जिनको मित्र मानते हो उनसे मित्रता त्याग नहीं करोगे तो समता कहाँसे आवेगी? और बार-बार विषमता आवेगी तो उसके लिए थोड़ा अभ्यास भी अपेक्षित होगा। तो पतंजलि कृष्णके चेले हैं कि कृष्ण पतंजलिके, इसका निर्णय करनेकी तो जरूरत नहीं है। परन्तु बात दोनोंने एक ही कही है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

यह पतंजलिका सूत्र है और—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

यह श्रीकृष्णका श्लोक है।

अब आपको इस प्रसंगमें एक बात और सुनाते हैं। हम यह नहीं सोचते कि वक्ता किस देशमें पैदा हुआ है? यदि ऐसा हो तो उसकी बातमें पक्षपात हो जायेगा। हमारे देशका होगा तो पक्षपात होगा और दूसरे देशका होगा तो उसकी बातके महत्त्वको हम ग्रहण नहीं कर सकेंगे। इसलिए हम यह बिलकुल नहीं देखते कि वक्ता किस देशमें पैदा हुआ और किस कालमें पैदा हुआ वक्ता। सत्‌युगमें, त्रेतामें कि द्वापरमें। काल महाराजको नमस्कार कर देते हैं कि ऐतिहासिक लोग इसका अनुसन्धान करेंगे। अच्छा किस जातिमें पैदा हुआ इसका भी अनुसन्धान नहीं करते।

वस्तुपक्षपातो हि धियां स्वभावः।

हमारी बुद्धिका स्वभाव यह है कि वह क्या कह रहा है उसकी परीक्षा करें, वह द्वैतमें रह जाता है कि अद्वैतमें पहुँचाता है। वह सम्पूर्ण द्वैतको एकत्वमें मिला देनेमें समर्थ है कि नहीं, व्यवहारको परमार्थ बना देनेमें समर्थ है कि नहीं, जो इस व्यवहारको परमार्थ कर देनेमें समर्थ नहीं है वह ज्ञान अधूरा है। यदि यही ब्रह्म नहीं है तो वह ब्रह्म हमारे किस कामका? हाथ जोड़ा हमने, तिलांजलि दी। यदि

यही ब्रह्म नहीं है तो उस ब्रह्मको हमने तिलाञ्जलि दे दी है। और अभी ब्रह्म नहीं है तो तब वाला ब्रह्म या तो अभी पैदा ही नहीं हुआ है या तो मर चुका है। अभी वाले ब्रह्मसे हमारा रिश्ता है, जो पैदा होकर मर गया उससे भी नहीं और जो अभी पैदा होगा उससे भी नहीं और हमारा अनुभव ही जो ब्रह्म नहीं है वह ब्रह्म तो जड़ है, पत्थर है। हमसे अलग है तो हमसे प्रकाशित है। तो आओ, वक्ता किस जातिका है, किस देशमें पैदा हुआ, किस कालमें पैदा हुआ और किस भाषामें बोला, इसकी परीक्षा तो वे करते हैं जो बहिरंग लोग हैं। उनपर छोड़ दो, उनका व्यसन है, वे करें। बात क्या कहता है और वे हमको इसी समय, इसी जगह इसी स्वरूपमें अभी परमात्माका दर्शन करानेमें क्षम हैं कि नहीं ? एक प्रश्न बिलकुल सीधा है। तो आओ!

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति। ५.२९

देखो, आपने देखा 'ध्यानयोग' कृष्णने क्या बताया **यः सदा मुक्त एव स** (५.२८) क्या अर्थ हुआ ? वह सदा मुक्त ही है। माने इस समय भी मुक्त ही है। पहले भी मुक्त ही था। बादमें भी मुक्त ही रहेगा। उसने मुक्ति किसीसे उधार नहीं ली है। किसीसे खरीदा नहीं है, मुक्तिको पकाकर पैदा नहीं किया है। '*सदा मुक्त एव सः*'। आपको अभी मुक्त कर दिया कि नहीं ? आप मुक्त हैं यह मालूम करा दिया और अभी शान्ति देनेके लिए राजी हैं। इन दोनों बातोंसे पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ, अब उसीको स्पष्ट करनेके लिए छठें अध्यायका प्रारम्भ करते हैं।

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

ध्यानयोग

: १ :

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

पाँचवें अध्यायके अन्तमें **ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति** (५.२९) मुझे जानकर शान्ति प्राप्त करे। जैसे कोई बोले—**उपविश्य भुङ्क्ते** बैठकर खाते हैं। तो बैठना और खाना एक साथ हो रहा है। यह जो **कृत्वा** प्रत्ययका रूप 'ज्ञात्वा' है।

उपविश्य भुङ्क्ते, स्थित्वा गायति खड़ा होकर गा रहा है, ऐसे **'ज्ञात्वा शान्तिमृच्छति'** जानना और शान्तिका मिलना दोनों युगपत् हैं, जुदा-जुदा नहीं हैं। जाननेके बाद जो चीज नहीं मिलती है, वह ज्ञानस्वरूप नहीं होती है, अज्ञान स्वरूप होती है। वह जड़ होती है। चेतन नहीं होती है। चेतन तो अपना आत्मा है। तो जानने मात्रसे ही इसका मिलना है। यह गीतामें ही कई जगह है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। ४.३५

जानोगे और मोहकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायेगी। ज्ञान और मोहकी निवृत्ति—यह दो कालमें नहीं है। जानना और शान्तिकी प्राप्ति यह दो कालमें नहीं है, एक कालमें है।

अच्छा तो पाँचवें अध्यायका अन्त हुआ **'ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छंति'** और सातवें अध्यायका प्रारम्भ कैसे हुआ—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ ७.१

वहाँ भी बोले कि भक्ति करोगे तो ज्ञान होगा—**ज्ञानं तेऽहं स विज्ञानं** भक्त विशेष वहाँ भी **यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते** (१३.१२)। **नेह भूयो**—अवशिष्यते ज्ञान हो जानेपर दूसरा ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। एक तीसरी बात कह दी।

ज्ञात्वा शान्तिमृच्छति। ज्ञात्वा एवं मोहं न यास्यसि। ज्ञात्वा अन्यं ध्येयं न विशिष्यते।

एक और देखो **ज्ञेयं प्रवक्ष्यामि** (१३.१२)। **यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।** जानोगे और अमृत मिलेगा तो अमृत **अश्नुते**का अर्थ है कि तुम्हीं अमृत हो जाओगे। **अश्नाति** नहीं है, **अश्नुते** है। *अश्नुते इति अक्षरं।* बीचमें ज्ञानके लिए ध्यान आया। ज्ञानसे शान्ति, ज्ञानसे मोहकी निवृत्ति, ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति, ज्ञानसे ज्ञातव्यताका अभाव। और, वह ज्ञान कैसे? बोले—ध्यान। विष्णु पुराणमें एक अध्याय है उसमें ज्ञान और ध्यानका तुलनात्मक विवेचन है। ध्यान और ज्ञानमें क्या अन्तर है। ध्यानमें मनका टिकना है और ज्ञानमें वस्तु चाहे बहती हुई हो, चाहे टिकी हुई हो, उसका दर्शन, साक्षात्कार होता है।

अच्छा तो ध्यान कैसे करना यह बताया—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणो॥
यतेन्द्रियमनो - बुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ ५.२७.२८

क्या आनन्दका ध्यान बताया! तो कुछ नहीं यह शीशा है। ज्ञान जो है न, हृदय शीशा है इसमें बाहरकी परछाईं दिखती है, शीशा नहीं दिखता है। आपके घरमें सड़ककी तरफ़ शीशा लगाकर रखो तो सड़क दिखेगी, समुद्र दिखेगा, आती-जाती मोटरें दिखेंगी, आदमी दिखेगा और जिसमें दिख रही हैं वह? जिसमें दीख रहा है वह बिलकुल खाली है। यह जो दिख रहा है, यह बाहरकी चीज है, शीशेमें कुछ नहीं है। ज्ञान शुद्ध है और दृष्टिको जहाँ-की-तहाँ रहने

दो। हमारे श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज प्रायः साधकोंको शाम्भवी मुद्राका उपदेश करते थे, ध्यानके लिए। जो विचार करना चाहते थे उनकी बात दूसरी। तो यह शाम्भवी मुद्रा क्या है?

अन्तर्लक्ष्यं बहिःर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
सा मुद्रा शाम्भवी नाम सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥

लक्ष्य हो भीतर और आँख हो बाहर, पलक गिराने-उठानेकी कोई जरूरत नहीं। लक्ष्य है भीतर, आँख है खुली और पलक न उठती है, न गिरती है, इस मुद्राका नाम है शाम्भवी। तो देखो ध्यान माने दिलमें कुछ बसना नहीं। ध्यान माने जो बाहरकी चीजें दिलमें बसी हुई हैं उनको निकाल देना बस, असलमें निकाल देना भी नहीं है। जो लोग संस्कारी हैं सत्संगके, उनकी समझमें बात आवेगी।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। १८.६६

एक महात्माके पास गये तो उन्होंने कहा परित्याग करो। तो परित्याग किया। उन्होंने कहा—नहीं, मूर्ख हो। ऐसा हमसे कह दिया, ठीक है। यह जब महात्मा लोग किसीको ऐसी बात बोलते हैं तो समझो बिलकुल अपना समझकर बोलते हैं। और जब बोलते हैं कि आप बड़े भक्तराज हो, बड़े महात्मा हो तो......

बोले—अच्छा क्या त्याग करोगे? अपने आपेका त्याग करोगे कि अन्यका त्याग करोगे? तो देखो एक प्रश्न है। किसीने कहा कि त्याग करो, बोले—यह मालाका त्याग करें कि शरीरका त्याग करें? बोले—माला तो कोई शरीरमें जुड़ी हुई है नहीं, त्यक्त है, अपने आप आयी है, जायेगी। जो अन्य है वह तो परित्यक्त ही है और जो स्व है उसका कभी परित्याग नहीं हो सकता। तब 'परित्याग करो' माने क्या? धर्म स्व है कि अन्य है? अन्य है तो अपना है ही नहीं और स्व है तो त्याग हो नहीं सकता। फिर भगवान्‌ने कहा त्याग करो, इसके माने क्या? फिर बोले—त्याग माने बस इतना ही कि जो पराये मालको अपना मान रखा है, अन्यको स्व मान रखा है इस मान्यताको छोड़नेका नाम ही परित्याग है। बोलें—देह-धर्मका त्याग करो। कि देह-धर्म क्या है कि जन्म-मरण। तो बोले—बाबा जन्म-मरण अपना है ही नहीं, तो

उसका परित्याग क्या करें? बोले—ठीक है, जो अपना मान रखा है, अपनेमें जो जन्म-मरण मान रखा है उसका परित्याग करो। देखो, यह पराया माल अपना मान रखा है, इस मान्यतासे ही तुमको दुःख हो रहा है। तो ध्यान माने कोई बाहरसे लाकर चीज बसाना नहीं।

स्पर्शान्कृत्वा

बाहरकी चीजको बाहर रखो, उसको अपनेमें मत समझो। हो गया त्याग और आँखको दबाओ मत। एक आदमी आये बोले—महाराज आपने कहा कि ध्यान करो, तो मैंने तो ध्यान किया तो, सिरमें भी दर्द हो रहा है और आँखमें भी दर्द हो रहा है। यही—

देखा देखी करे जोग, छीजे काया बाढ़ै रोग।

आँख दबानेके लिए ध्यान थोड़े ही किया जाता है। अरे ध्यान तो वह है जिससे आँखमें अमृत भर जाता है। आँखमें आनन्द आता है—***दास कबीर जतन सों ओढ़ी ज्यों की त्यों धरि दीनि चदरिया।*** आँख तो जहाँ-की-तहाँ छोड़ दो बाबा! बोले—महाराज, कई लोग खुद तो शान्तिसे रहते नहीं और दूसरेको भी शान्तिसे नहीं रहने देते, जैसे मच्छर खुद तो कहीं बैठता नहीं और दूसरेको काट-काटके तंग करता है। तो यह जब हम दूसरेको पकड़ते हैं या दूसरेको हटाते हैं; दूसरेको सटानेमें और दूसरेको हटानेमें श्वासकी गति बढ़ जाती है। और आयु क्षीण होती है। असलमें एक आदमी दूसरेको अगर कष्ट देना चाहता है तो जितना देना चाहता है दूसरेको, व्याज सहित उसको मिलेगा, यह कर्मका नियम है। तो यदि आप राग-द्वेष नहीं करते हो और शान्तिसे बैठे हो तो आपकी साँस बढ़ेगी नहीं। हमारी उम्र साँसमें बढ़ती है। दौड़नेमें साँस ज्यादा चलती है और भोगमें श्वास ज्यादा चलती है, क्रोधमें श्वास ज्यादा चलती है। तो एक-एक साँसका जल्दी-जल्दी चलना माने हमारी आयुका क्षीण होना। आयुकी माप श्वासमें है। तो उसको ऐसा कर दो बाबा कि धीरे-धीरे जैसा कच्चा सूत हिलता है न; ऐसे साँस **नासाभ्यन्तरचारिणौ** एक तो जब शान्तिसे रखोगे साँसको, तो वह दोनों नाकसे आवेगी जायेगी। इसीको कहते हैं **समौ कृत्वा**। और '*नासाभ्यन्तरचारिणौ*' वह जो बारह अंगुल बाहर निकलती है न, वह जो फुफकारना है, साँपकी तरह जब साँस चलने लगती है या बैलकी तरह साँस

चलने लगती है तब आदमीका बड़ा भारी नुकसान होता है। तब कैसे बोलना ? कि साँस कैसे चल रही है, इसका पता ही न चले।

अच्छा, अब आप लोगोंकी भगवान् जाने, अपनी हम बताते हैं। हमको दिनभरमें शायद ही एक दो बार यह ख्याल आता हो कि यह हमारी साँस चल भी रही है कि नहीं चल रही, इधर ध्यान ही नहीं जाता। यह तो जब आप लोगोंको सुना रहा हूँ, तब याद आयी कि हाँ-भाई साँस चल रही है और जब क्रोध आता है तब कैसी लोहारकी सी धौंकनी चलती है! आग जाकर जलाती है न, भीतर तो जरूरत ज्यादा पड़ती है। पानी बरसना होता है तो आँधी ज्यादा चलती है, हवा ज्यादा चलती है। ऐसे ही यह श्वास भी है। आग जलानेके लिए, पानी बरसानेके लिए यह ज्यादा चलती है। जिस समय आँसू निकालना होता है इसको, बड़ा जोर लगाना पड़ता है। हार्टपर बड़ा जोर पड़ता है। पानीका स्वभाव है नीचे जाना और रोनेके समय इसको उसको ऊपर चढ़ाकर आँखके रास्ते निकालना पड़ता है तो श्वासपर बहुत भार पड़ता है। रोनेवालेकी उम्र कम हो जाती है। ज्यादा पेशाब हो तब भी उम्र कम हो जायेगी, ज्यादा टट्टी हो तब भी उम्र कम हो जायेगी, ज्यादा वीर्यपात हो तब भी उम्र कम हो जायेगी।

यह ऐसा है, तो यह सब छोड़ दो ज्यों-का-त्यों। और मन-बुद्धि-इन्द्रिय इनको नियत कर दो। आप अपनी जगहपर बैठ जाइये। पहरेदारोंको यथा स्थान बैठा दो आप। इन्द्रियाँ घोड़े हैं, खड़े रहो, मन बागडोर है कि पड़े रहो। बुद्धि सारथि है, अभी घोड़ेको हाँक मत। बागडोरको कड़ी मत करो, ज्यों-की-त्यों छोड़ दो।

आप लोग शायद घोड़ेपर चढ़ते होंगे कभी, यहाँके बच्चे भी नैनीताल जाते हैं, शिमला जाते हैं तो घोड़ेपर चढ़कर घूमते हैं न! तो घोड़ेकी बागडोर खींचो तो वह आगे बढ़ता है और ढीली छोड़ दो, तो धीरे-धीरे चलता है। तो बुद्धि है सारथि, उससे तो बागडोरको खींचो मत और घोड़ोंसे कह दो ठहरो जरा विश्राम करो। बागडोरको छोड़ दो। बागडोर माने मन और इन्द्रियाँ घोड़े हैं, बुद्धि सारथि और शरीर रथ। बोले—क्या हैं? अब एकबात और देखो—मुनिर्मोक्षपरायणः। तुम अपनेको कहीं बँधा हुआ मत देखो। सृष्टिमें तुम्हारे लिए कहीं कोई बन्धन नहीं है। सबकुछ तुमसे ही हुआ है। देखो बाँधते तो हैं जानबूझकर—

विगतेच्छाभयक्रोधः तुम्हारे विगतमें तीन चीजें लिख जानी चाहिए, विगत खातेमें तीन चीज, विगत माने अतीत, भूत, एक तो इच्छा, राग, भय और क्रोध। राग-द्वेष और भय। भय दूसरेसे होता है। राग करके फँसते हैं और द्वेष करके जलते हैं। तो बोले—बस फिर मुक्त हो गये। इच्छा बाँधती है, द्वेष बाँधता है, भय बाँधता है। भय कहता है कमरेमें बन्द रहो, द्वेष कहता है चलकर शत्रुपर लाठी मारो, राग कहता है अपने दोस्तको छातीसे सटाये रखो। इन्हें अतीतकी वस्तु कर दो, जरा बैठो शान्तिसे, कैसे? कि मुख फेर लो।

एक बात और सुनाते हैं। यह तो योगकी भूमिका है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ ५.२९

यह देखो जरा कि भगवान् खाते क्या हैं। आपने कभी इसपर विचार किया है कि भगवान् खाते क्या हैं। महात्माओंकी बात समझनी चाहिए। एक बालक परदेश जा रहा था, तो उसकी माँने कहा कि बेटा, किलेमें रहना। उसने कहा—माँ, हमको रोज किला कहाँ मिलेगा? बेटा सत्संग ही किला है। बेटा, हल्वा-पूरी खाना रे! माँ, रोज हल्वा-पूरी कहाँ मिलेगा? कि खूब परिश्रम करके खाओगे तो हल्वा-पूरीसे भी ज्यादा स्वाद देगा। गद्दा-तकियापर सोना बेटा! बोला—रोज गद्दा-तकिया कहाँ मिलेगा? निकम्मे कभी मत रहना, खूब परिश्रम करोगे, तो रातको खूब नींद आवेगी। ये जो निकम्मे होते हैं उनको नींद नहीं आती है। देखा है हमने गाँवमें, कभी-कभी हलवाहे लोग सोलह-सोलह घण्टेतक हल चलाते रहते हैं, बैल बदल जाते हैं, आदमी नहीं बदलता। हमारे मोट चलती है, हल चलता है। कभी-कभी बैलोंको चार-चार घण्टे जोतकर छुट्टी दे देते हैं और आदमीको कि आज ही सब काम होना चाहिए अतः वह करता रहता है; लेकिन जब वे रातको महाराज मोटी लिट्टी खाकर सो जाते हैं। यह कच्ची अरहरको कूटकर नमक डालकर और खूब मोटी रोटी सेंकते हैं, उसको लिट्टी बोलते हैं। एकको चार जने खाते हैं और खानेके बाद यह सड़क बनानेके लिए जो कंकड़- पत्थर पड़ा रहता है न, उसीका सहारा लेकर माने वही उनका तकिया होता है, लेटते हैं तो रात बीत गयी, उनको पता ही नहीं चलता। एक नींदमें रात बीत जाती है और ये सेठ लोग महाराज, एकको हम

जानते हैं वह बीस–बीस गोली खाता था नींदके लिए। आप कहेंगे मर जायेगा। नहीं, डॉक्टरकी सलाहसे खाता था। हैं करोड़ों रुपये और बीस गोली खानेपर नींद आवे। लेकिन आप देखो सन्तोंकी बात सुनावें, भगवान् खाते क्या हैं? जो तुम दूसरेको खिलाते हो उसीका भोग लगता है भगवान्‌को।

भोक्तारं यज्ञतपसां—यज्ञ माने दूसरेको खिलाना। भगवान् दो चीज खाते हैं, अपने लिए तप और दूसरेके लिए यज्ञ। जिस दिन तुम स्वयं भूखे रहकर दूसरेको खिला देते हो तो यह यज्ञ और तप है। और स्वयं खा लेते हो और अपने दोस्तको खिला लेते हो और दूसरा भूखा रहे चाहे खा ले तो यह स्वार्थ है। भगवान् क्या खाते हैं? रिश्तेदारको खिलानेसे भगवान् नहीं खाते हैं, अपने खानेसे भगवान् नहीं खाते हैं। स्वयं भूखे रहकर दूसरेको खिला दो, तुम्हारे भूखे रहनेसे भी भगवान् खाते हैं। तुम्हारी तपस्या भगवान् खाते हैं और तुम्हारा यज्ञ भगवान् खाते हैं।

भगवान् करते क्या हैं? बोले—सारी दुनियाको नचाते हैं—**सर्वभूत-महेश्वरः**। बोले—हैं कौन? तो सबके सखा हैं—**सुहृदं सर्वभूतानाम्**। सबके सुहृद् हैं, सबके हृदयमें बैठे हुए हैं। जो भगवान्‌को भूत समझ ले उसके लिए भूत, पिशाच समझ ले उसके लिए पिशाच और असलमें आदमी खुद जैसा होता है वैसा वह भगवान्‌के बारेमें सोचने लगता है। तो,

ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति—जान लो भगवान्‌को। तुम्हारे जीवनमें भगवान्, तुम्हारे सोनेमें भगवान्, तुम्हारे जागनेमें भगवान्।

तो देखो, ज्ञानयोगका अंग है ध्यानयोग और ध्यानयोगका अंग है निष्काम कर्मयोग। सकाम कर्मीको ध्यान नहीं लगेगा। एक आदमी अनुष्ठान करता था कि लक्ष्मीजी हमारे ऊपर कृपा करें! तो क्या होता, उसको बताया गया था कि लक्ष्मीजीका ध्यान करना। उसको ऐसा लगता कि बंडल-के-बंडल आसमानसे गिन्नियोंकी बरसा हो रही है। वह बोला कि महाराज ध्यानमें तो ऐसा लगता है, लेकिन आता तो कुछ नहीं है। अरे बाबा, यह ध्यानका तरीका नहीं है। तू यह ध्यान कर कि लक्ष्मीजी खूब प्रसन्न हैं, मुस्कुरा रही हैं और मेरे सिरपर हाथ रख रही हैं और कहती हैं कि बेटा तुम मेरे बड़े प्यारे हो, ऐसे लक्ष्मीजीका ध्यान कर तब तो तेरे घरमें धन आ जायेगा और धनका ध्यान

करेगा तो धन नहीं आवेगा। भले तुम *'लक्ष्म्यै नमः', 'श्रियै नमः', 'ह्रीं' 'श्रीं'* कुछ भी जपो। लेकिन तुम तो ध्यान करते हो हमारा दुश्मन मर जाये, तो देवता कहाँसे प्रसन्न होगा? चाहते हो कि हमारे घरमें पैसा आवे, ध्यान करते हो कि हमारा दुश्मन मर जाये, तो तुम्हें सफलता कहाँसे मिलेगी? तो ध्यानका अंग है निष्काम कर्म। ज्ञानके लिए अन्तःकरण शुद्धि जरूरी है और अन्तःकरण शुद्धि होती है ध्यानसे और ध्यान होता है निष्काम कर्मयोगसे। इसलिए जब छठा अध्याय प्रारम्भ हुआ तो भगवान् बोलते हैं।

'उवाच'का अर्थ है *'भगवद्-वचनम्'* सम्पादक कहता है **अथातो भगवद्वचनम्**—अब इसके आगे भगवान्‌का वचन है। यह अर्थ नहीं है कि इसके पहले, *अतः प्राक् भगवान् मौनः*—इसके पहले भगवान् चुप थे अब बोलना प्रारम्भ करते हैं। *उवाच* अर्थात् *वचनम्*। यहाँ लिट् लकारका अर्थ विवक्षित नहीं है, थात्व अर्थ ही विवक्षिति है। भगवान्‌का यह वचन है।

अच्छा भगवान्‌का वचन कब सुनायी पड़ता है? भगवान् सबके हृदयमें रहते हैं—**हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**। और कैसे हैं? कि सुहृद हैं। और बोलते हैं? कि हाँ बोलते हैं। पर तुमको सुनायी क्यों नहीं पड़ता? कि सुनायी यों नहीं पड़ता, कि तुम दूसरेसे बात करनेमें मशगूल हो। हम अपने घरमें देखते हैं, हम किसीसे कोई बात कहते हैं, पर वह दूसरे ध्यानमें इतना मगन रहता है कि हमारी बात नहीं सुनता है। हमारी तरफ ध्यान नहीं है उसका। तो भगवान् हमारे हृदयमें रहकर बोलते हैं और हम उनकी बात नहीं सुनते हैं। तो क्यों नहीं सुनते हैं? कि या तो हम किसी औरकी सुनते होते हैं या और से बोलते होते हैं, या किसी औरके ध्यानमें डूबे हुए होते हैं। तो जरा भाई; शान्तिसे बैठ जाओ, तुम्हारे हृदयमें भगवान् बोल रहे हैं।

अच्छा भाई, कभी वासना बोलती है, कभी भगवान् बोलते हैं, तो कैसे पहचानें कि वासना बोल रही है कि भगवान् बोल रहे हैं। अच्छे-अच्छे महात्मा गंगा किनारे इकट्ठे हुए। बोले—भीतरसे आवाज तो आती है, पर अब यह पता नहीं चलता कि वासना बोल रही है कि भगवान् बोल रहे हैं। यह भगवत्प्रेरणा है कि कामकी प्रेरणा है। यह रामप्रेरणा है कि कामप्रेरणा है! और दोनों साँवरे-साँवरे हैं, काम भी अदृश्य है, राम भी अदृश्य है। साँवरा होना

माने अदृश्य होना। तुम्हारे दिलके अन्धेरेमें दोनों छिपे हैं, राम भी और काम भी। तो यह आवाज किसकी है, रामकी कि या कामकी? खुदा बोल रहा है कि शैतान? साँवरे तो दोनों हैं।

तो बोले कि आवाजको पहचाननेका तरीका समझो। यदि तुम्हारे शत्रु या मित्रके लिए तुम्हारी प्रियता या अप्रियताके लिए भगवान्‌की आवाज आ रही है, तो वह भगवान्‌की नहीं है। एक आदमी भजन कर रहा था, तो उसको आकाशवांणी हुई कि बेटा अब तुम ब्याह कर लो। तो वह महात्माके पास गया और कहा कि महाराज हमने ऐसी आकाशवाणी सुनी है। तो उन्होंने कहा कि बेटा, यह रामकी वाणी नहीं है, यह कामकी वाणी है। तुम्हारे मनमें ब्याह करनेकी जो वासना है, वह बोलती है।

वासना कैसे बोलती है, इसका नमूना आपको दृष्टान्त देकर बतावें, तो आप समझ जायेंगे। हम हर साल वृन्दावनसे पहले बिड़ला मन्दिरपर गीता जयन्ती मनानेके लिए जाया करते थे। तो एकबार क्या हुआ कि सबेरे जाकर वहाँ पूजा-पत्री करानी थी, तो पैदल भी चले जाते थे। तीन-चार मील तो था ही। घूमना भी हो गया। पहुँच गये। अब जरा अन्धेरेमें ही चल पड़े, तो देखा कि एक बड़ा भारी तारा टूटकर गिरा, और जिस पेड़के पास गिरा सब हरा-हरा हो गया। तो उन दिनों यह हिन्दुस्तान-पाकिस्तानका बड़ा झगड़ा था। तो भीतरसे आवाज आयी कि अब जिन्नाह मर जायेगा। अब देखो वह गीता जयन्तीके थोड़े ही दिन बाद जनवरी ३० को गाँधीजीकी मृत्यु हो गयी। अब मेरे मनमें विचार हुआ कि इतना बड़ा तारा मैंने गिरते देखा और मेरे मनमें आया कि जिन्नाह मरेगा और मरे गाँधीजी। तो मेरे मनमें जिन्नाह मरेगा यह बात क्यों आयी? यह क्यों नहीं आयी कि गाँधीजी मरेंगे। तो देखो, गाँधीजीसे तो अपना प्रेम था और जिन्नाहके प्रति अपने मनमें कहीं-न-कहीं द्वेष होगा। तो जिसके प्रति द्वेष था उसके मरनेकी बात झट सूझ गयी और जिससे प्रेम था उसके मरनेकी बात नहीं सूझी। तो यह रामकी आवाज नहीं थी, यह कामकी आवाज थी। तो जहाँ अपनी वासनाके अनुसार आवाज मालूम पड़ती है, वह भगवान्‌की आवाज नहीं होती है। और जहाँ हमारी वासनाके विरुद्ध आवाज आती है, वहाँ भगवान्‌की कृपा प्रकट होती है।

अच्छा देखो, यह तो **श्रीभगवानुवाच**का अर्थ आपको सुना रहे हैं। तो भगवान् कहाँ बोलते हैं? जहाँ हृदय निर्वासन होता है। भगवान्की वाणी सुननेके लिए अर्जुन चाहिए। तो पाणिनी व्याकरणके अनुसार अर्जुन शब्द *अर्जनात्* बनता है। अर्जन करे, जो उपार्जन करे, जो धनंजय हो, धनार्जन करे, उसको अर्जुन बोलते हैं और महाभारतके टीकाकार नीलकंठने अर्जुन शब्दकी व्युत्पत्ति दी है उद्योग पर्वमें *ऋजुत्वात् अर्जुनः*। ऋजु है , सरल है। यह जो बहुत चालाक लोग होते हैं जिनका दिल बड़ा बाँका, टेढ़ा होता है, किसीको खुश करनेमें लगे हैं और किसीको उद्विग्न करनेमें लगे हैं, उनको भगवान्की आवाज कभी नहीं सुनायी पड़ती, उनको हमेशा वासनाकी आवाज सुनायी पड़ती है, शैतानकी आवाज सुनायी पड़ती है। यह तो अर्जुन—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। २.७

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये (१.४७) ***तूष्णीं बभूव ह।*** २.९

कहकर चुप हो गया। क्योंकि अब तो भगवान् बोलेंगे। भलेमानुषका यही काम है। जबतक एक दो आदमी बात करते रहें तबतक भले मानुषको चुप ही रहना पड़ेगा। वह आदमी चुप होकर सुनता रहे! किसीसे कोई बात कहना चाहते हैं और वह बीचमें ऐसा बोलता है कि कुछ कहने ही नहीं देता। तो जब आदमी खुद ही बोलता जा रहा है; जैसे बकवास लगी है, तो भगवान्की आवाज कहाँसे सुनायी पड़ेगी! तुमको खुद ही बोलनेसे चैन नहीं है। भगवान्की आवाज कहाँ सुनायी पड़ती है? कि मौनमें, शान्तिमें।

अच्छा, अब एक पहचान आपको बताते हैं कि भगवान्की वाणी क्या है। तो देखो, यह सारी सृष्टि भगवान्की है, भगवान्की प्रजा है, भगवान्का स्वरूप है। निरुपाधिक दृष्टिसे तो अपना आत्मा अद्वय ब्रह्म है और दृष्टिका कोई अस्तित्व नहीं है और सोपाधिक दृष्टिसे महात्मा सर्वात्मा है। यह सर्वात्मभाव सोपाधिक दृष्टिसे है। निरुपाधिक दृष्टिमें सर्वात्मभाव ही नहीं होता है। हमलोग औपनिषद हैं, छोटी-छोटी बात जिसको दुनियामें बहुत बड़ी लोग समझते हैं, वह परमार्थकी दृष्टिसे छोटी ही होती है। तो सर्वात्मभाव सोपाधिक दृष्टिसे है।

ईश्वरमें सर्वात्मभाव होता है और जो महात्मा ईश्वरसे एक हो जाता है

उसमें सर्वात्मभाव होता है और जो निरुपाधिक ब्रह्मसे एक हो जाता है उसमें सर्वात्मभाव भी बाधित हो जाता है।

अच्छा, तो अब आप देखो, ईश्वर क्या बोलेगा? ईश्वर ऐसा बोलेगा जिससे उसकी सृष्टिमें किसीका अहित न हो। क्या वह एक हाथसे अपने कहेगा कि तुम दूसरे हाथको कुल्हाड़ा मारो? यह ईश्वर नहीं कह सकता। चूँकि सर्वसृष्टि ईश्वररूप है—सद्भाव, चिद्भाव, आनन्दभाव। मच्छरकी प्रियता भी ईश्वरकी प्रियता है, खटमलकी प्रियता भी ईश्वरकी प्रियता है। जूँयेकी प्रियता भी ईश्वरकी प्रियता है। कहीं भी ईश्वर किसीकी प्रियता पर, किसीके ज्ञानपर, किसीके अस्तित्व पर, आँच लगे ऐसी आवाज ईश्वरकी नहीं हो सकती। ईश्वर किसीका अहित नहीं करता है। यही उसकी वाणी है। ईश्वर हित है। ईश्वरका संकल्प हित है। ईश्वरकी वाणी हित है। सद्भाव-चिद्भाव-आनन्दभाव—इस त्रिभावसे युक्त जो वाणी है वह ईश्वरकी वाणी है और इनको मारो, इनको काटो—यह सब कामवाणी है। रामवाणी नहीं है।

अब आओ भगवद्वाणीको सुनें—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ ६.१

निरग्निः संन्यासी न भवति। अक्रियो योगी न भवति—केवल निरग्नि होनेसे कोई संन्यासी नहीं हो जाता।

अब देखो, एक बात आपको सुनाते हैं निरग्निका अर्थ हमारे संन्यासी लोग करते हैं कि जो आगपर पानी गर्म न करे, रसोई न बनावे, हाथ न सेंके आगसे, आग न छूये, उसका नाम संन्यासी। यह लौकिक अर्थ हुआ। इसका वैदिक अर्थ आपको सुनाते हैं। जो अग्निहोत्र न करे, सो संन्यासी। इससे भी वैदिक अर्थ आपको सुनाते हैं—

योषा वाव गौतमाग्निः। छान्दोग्योपनिषद्में आया है, ये जो गृहस्थ हैं न, वे एक प्रकारका यज्ञ करते हैं पति-पत्नीके रूपमें, यह जो स्त्री है यह *अग्नि* है और पुरुष *होता* है और यह गृहस्थाश्रममें रहकर जो पति-पत्नीका समागम है, सादृश्य यज्ञ है। निरग्निका अर्थ है योषाग्निका परित्याग करके, पति-पत्नीके सम्बन्धका परित्याग करके जो संन्यासी हो गया। तो आहवनीय अग्निके

परित्यागमें यज्ञाग्निका परित्याग, होत्राग्निका परित्याग, योषाग्निका परित्याग, लौकिकाग्निका परित्याग, इसीलिए जब वह मरेगा तो चिताग्नि शमशानमें जो है वह भी नहीं मिलेगी उसको, उसमें भी नहीं जलेगा। तो केवल इतने-से संन्यासी हो गया? बोले—नहीं, केवल अग्नि परित्याग-मात्रसे कोई संन्यासी नहीं होता।

बोले—अच्छा योगी हो गया? **अक्रियः** क्रियाका परित्याग करके आसन बाँधकर बैठ गया और न्यास, आचमनादि भी नहीं करता है। अरे, क्रिया माने वहाँ है असलमें, मनकी क्रिया। वृत्तिरूप अक्रिया, वृत्तिकी क्रिया भी छोड़कर बैठ गया। अच्छा, छोड़ो वह! अक्रिया माने है असलमें विक्रिया, प्रकृतिमें जो विक्रिया होती है उसका भी परित्याग करके बैठ गया समाधिमें; तो क्या क्रिया और विक्रियाका परित्याग करके समाधिमें बैठनेसे योगी हो गया? ये कहते हैं नहीं हुआ। क्या अग्निका, माने लौकिकाग्निका आहवनीय अग्निका, योषाग्निका, चिताग्निका परित्याग कर देनेमात्रसे संन्यासी हो गया? नहीं हुआ। प्रश्न यह है कि वह कुछ चाहता है कि नहीं, जबतक कामनारूप अग्निका परित्याग नहीं हुआ तबतक न संन्यासी हुआ न योगी हुआ। बोले—बाबा, समाधि लगाकर बैठा और तुम कहते हो कामनाग्नि है! हाँ, जी है। समाधि लगाकर चाहते हैं कि हमको सिद्धि मिल जाये, कामना है कि नहीं है? जब धारणा-ध्यान समाधि-रूप संयम करके चाहते हैं कि हमको आकाश गमनरूप सिद्धि मिल जाये तो उनके भीतर तो कामाग्नि जल रही है। वह काहेका योगी, जो समाधिका फल चाहता है? और वह काहेका संन्यासी महाराज, जो निरग्नि होकरके भी अपने कर्मका फल चाहता है? असलमें निष्कामता जो है वही योगका बीज है और वही संन्यासका बीज है और वही ध्यानका बीज है और वही ज्ञानका बीज है। बिना निष्कामताके सच्चा ध्यान नहीं हो सकता। तो बोले—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

आप लोग ब्रह्मकी बड़ी-बड़ी बात सुनते हो न, यह ब्रह्मकी बात नहीं, यह तो कलेजेके भीतर होनेवाली, एक शरीरके भीतर होनेवाली प्रक्रियाका वर्णन है यह। अच्छा, अब एक बात आपको सुनाते हैं। हमारे एक मित्र स्वामी स्वरूपानन्दजी हैं, दण्डी स्वामी नहीं थे। लड़के-से थे। एक बार वे कहीं ब्रजमें

गये घूमनेके लिए, तो गिरिराजमें जो गये, कोई साधु वहाँ बैठा हुआ था। वे उसके पास चले गये और वहाँ जाकर एक तख्तपर बैठ गये। तो उसने पूछा क्यों भाई, देखनेमें तो बड़े मलूक लगते हो, बड़े सुन्दर हो! अब तो मोटे हो गये। मोटा आदमी क्या सुन्दर लगेगा? पर उस समय वे मोटे नहीं थे। बड़ा भव्य शरीर था गौर वर्ण। कृष्णानन्दजी एक दण्डी स्वामी हैं वे आये एकबार और देखा कि मेरे पास बैठे हुए थे। तो बोले—स्वामीजी, यह कौन राजकुमार है, जो आपके पास बैठा हुआ है। तो उस साधुने कहा कि देखनेमें बड़े मलूक लगते हो। कुछ पढ़े लिखे हो? तो उन्होंने कहा—नहीं, नहीं, बाबा, ! हम कुछ पढ़े लिखे नहीं हैं। हमारे घरके लोग अच्छी लड़कीसे ब्याह नहीं कर रहे थे तो हम भाग आये। अच्छा, ऐसा है, तो देखो हम तुमको उपदेश करते हैं। देखो, उपदेश जो सुनता है वह चेला हो जाता है। कि हाँ महाराज, तो वे महात्मा बोले—**अनाश्रिती**। तो वे बोले—महाराज इसका क्या अर्थ हुआ, हमारी समझमें तो **'अनाश्रिती'** शब्दका अर्थ नहीं आया तो बोले जो अनाश्रिती आ जाये, उसीमें अपना गुजर-बसर करना। बिना माँगे, बिना चाहे अपनी जगहपर बैठे हुए हैं। अनाश्रिती आगया। बस उसीमें अपनी गुजर कर लेना। बोले—महाराज कैसे आ जायेगा? बोले—कर्मफलं, वह तो तुम्हारे कर्मका फल है, वह तो आ ही जायेगा। बोले—अच्छा महाराज, खाना-पीना तो अपने आप आ जायेगा। फिर करें क्या? बोले—कारक कर्म करो—**कार्यं कर्म करोति यः**। कुछ कार्य करो, कुछ कर्म करो। यह क्या कर्म है महाराज, क्या कारक है?

माने *च अक्रियः* का अर्थ उन्होंने यह बताया था कि नचाकरि—चाकरी नहीं करना। ये दुनियाके लोग तो चाकरीमें लगे हुए हैं।

अब आओ आपको सुनाते हैं। **अनाश्रितः कर्मफलं** आप लटक जाते हो, कब? जब आपकी नजर फलकी ओर चली जाती है। आपके भीतर जो आत्मदेव हैं उनको आपने तुच्छ कर दिया। आपके भीतर जो परमेश्वर है उसको तुच्छ कर दिया और आप तो अपने कर्मका फल नौकरी माँग रहे हो। मालिकने अपनेको नौकर बना दिया। तुम कर्मफलके आश्रित मत होवो। वे तो कहते हैं तुम सर्वाश्रय हो। हमारा वेदान्त तो यह कहता है कि जितना नाम रूपात्मक प्रपञ्च है। इसके आश्रय तुम हो। तुम्हारे सहारे सब टिका हुआ है

और तुम आश्रित हो गये। तुम रस्सी हो, साँप नहीं। आश्रित तो मिथ्या सर्प है। और आश्रय सत्य रज्जु है। यह सम्पूर्ण प्रपञ्चका आश्रयभूत जो परमात्मा है वह तुम्हारा स्वरूप है। तुम उसके पीछे यह लटके, झटके, खटकेमें पड़े हुए, झटके-पर-झटके लग रहे, वह नहीं हो तुम। तो

कार्यं कर्म करोति यः। यः कर्म करोति—इतनेसे काम चल जाता, जो कर्म करता है। बोले—नहीं, सब काम नहीं, *कार्यं कर्म*। *कार्यं*का अर्थ है *कर्तव्यं*। निषिद्ध कर्म नहीं करे, अकर्तव्य कर्म नहीं, कर्तव्य कर्म तो करे, अपना काम बिलकुल बजावे, पर अपनी मौज है हम अपना काम करते हैं, इससे हमको यह मिले, ऐसा नहीं, हम कुछ पानेके लिए काम नहीं करते हैं।

नौकर समझता है कि सेठ हमको पैसा नहीं देगा, तो हम भूखे मर जायेंगे, और सेठ समझता है नौकर हमारा काम नहीं करेगा तो हम मर जायेंगे। ये दोनों सारे पराधीन हैं। दोनों ही पराधीन हो गये न! अरे, अपनी मस्तीमें बैठकर काम कर रहे हैं। काम है, इसलिए कर रहे हैं। हमको अमृतका संचार करना है। हम अपने भीतरका अमृत निकाल-निकालकर अपने भीतर भर रहे हैं। बस, जिस कामको कर देते हैं उसमें अमृत भर देते हैं। जिसको देख लेते हैं उसपर अमृत बरसा देते हैं। वर्णन आता है कि—

यद् यद् स्पृशति पाणिभ्यां यद् यद् पश्यति चक्षुषा।
वराणिऽपि मुच्यन्ते किं पुनः प्राकृतः जनाः॥

तत्त्वविद् पुरुष अपने दोनों हाथोंसे जिस-जिसको छू लेता है वह मुक्त हो जाता है। आँखकी रोशनीसे जिसको छू लेता है वह मुक्त हो जाता है और अपनी आत्मरश्मिसे जिसका स्पर्श करता है वह तो उसका स्वरूप है ही है। नित्य-शुद्ध-नित्यमुक्त है ही है। तो यह भिखारीपना! भगवान् भिखारीसे वैसे ही मिलते हैं जैसे किसीको कुछ देते जाते हैं। परमेश्वरसे परमेश्वर होकर मिलो तब मिलनेका मजा आवेगा।

देवोभूत्वा देवं यजेत्। देवता होकर देवतासे मिलो। आनन्दरूप होकर आनन्दसे मिलो। भिखारी होकर मत मिलो। एक राजकुमारी राजकुमारसे मिलती है और अपनेको समझो कंगाल, कि काहेके लिए आये हैं? कि साड़ीके लिए आये हैं। कि दे दो भाई इसको साड़ी, कि जाओ भगो यहाँसे।

तो **कार्यं कर्म करोति यः** किन्तु **अनाश्रितः कर्मफलं**। कर्मफलके आश्रित मत बनो और अपने कर्तव्य कर्म करो। तो, **स संन्यासी च योगी च, न निरग्निर्न चाक्रियः**। संन्यासी क्यों है ? **कर्मफलं अनवेक्षमाणः** कर्मफलको नहीं चाहता है, इसलिए संन्यासी है और **कार्यं कर्म करोति** अतएव योगी कर्म तो कर ही रहा है। तो कर्मयोगी हो गया। कर्म कर रहा है इसलिए योगी है और फल नहीं चाहता, इसलिए संन्यासी है। योगी और संन्यासी दोनों एक हैं।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

जहाँ प्रश्नके उत्तरमें भगवान् बोलते हैं वहाँ तो *'श्रीभगवानुवाच'* यह ठीक रहता है। और जहाँ प्रश्नके बिना ही भगवान् बोलते हैं, उसका तो अर्थ ही है पूर्वाध्यायमें भी भगवद्वचन था और उत्तराध्यायमें भी भगवद्वचन है, उवाच शब्दोंमें लकारार्थ विवक्षित नहीं है। केवल धात्वर्थ ही विवक्षित है—*भगवद्वचनं इत्यर्थः*। अध्यायके प्रारम्भमें यह बात कही है कि यह भगवान्का वचन है।

अच्छा, अध्याय समाप्त हो गया, फिर भगवान् बोलते क्यों हैं ? क्या बढ़िया बात कह दी। शान्ति तक पहुँचा दिया।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

अपना स्वरूप बता दिया कि मैं सुहृत् हूँ और ज्ञानको बता दिया साधन और शान्तिको बता दिया फल—तीनों चीज बता दिया न! ज्ञात्वा तो है साधनका सूचक। और किसका ज्ञान ? कि **सुहृदं सर्वभूतानां, मां ज्ञात्वा,** कि *कथं भूतं ज्ञानं?* **सर्वभूतानां सुहृदं**। फल क्या है ? **शान्तिमृच्छति**। साधनका निर्देश फलका निर्देश, साधनके कर्मका निर्देश। अब बाकी क्या रहा कि बोलते हैं—**सुहृद् सर्वभूतानां**—भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद हैं।

एक महात्माके पास गये थे पहले, तो उन्होंने ऐसे सुनाया कि एक शेर आ जाये। पुराने जमानेमें महात्मा लोग समझाते, तो राजाओंकी बात कहकर सुनाते। उस समय हम लोग मिनिस्टर आदि नहीं जानते थे। क्योंकि विदेशी

राजनीतिके बारेमें तो कुछ मालूम नहीं था और स्वदेशमें यह सब कुछ हमलोग जानते नहीं थे। तो महात्माने कहा—एक थे राजा, वे एकबार एक ऋषिकुलका निरीक्षण करनेके लिए गये। ऋषिकुलमें ऋ का लोप कर दो, तो सिकुल और सिकुल विलायतसे जब घूमकर आया, समुद्र यात्रा करके तब सिकुलका नाम स्कूल हो गया। तो स्कूलमें जाकर निरीक्षण किया। देखा, एक बालक बड़ा होनहार है, जो पूछा गया उसका ठीक-ठीक उत्तर दिया। बड़ा गम्भीर, देखनेमें बड़ा सुन्दर! वहाँके प्रधानाध्यापकसे उन्होंने मालूम किया कि यह कौन है, तो मालूम पड़ा अनाथ लड़का है, इसके पास खाने-पीने पढ़नेकी कोई व्यवस्था नहीं है। तो लड़केकी योग्यता देखकर राजाने तुरन्त अपने मनमें यह निश्चय कर लिया कि हमारे पुत्र नहीं है, तो हम इसको दत्तक पुत्रके रूपमें ग्रहण करेंगे और अपना राज्य इसको दे देंगे। लेकिन न प्रधानाध्यापकसे बताया, न लड़केको बताया। प्रधानाध्यापकसे कह दिया कि इसकी पढ़ाई-लिखाई, रहन-सहनका जो भी खर्चा है। अच्छी तरहसे इसको रखा जाये और हम इसको देते रहेंगे। इसको बतानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। सब व्यवस्था हो गयी, पाँच दस बरस बीत गये। बालकने खूब अच्छी तरह पढ़ा। बालक समझता था कि मेरे न कोई घर है, न परिवार, न खेती है, न व्यापार है, मैं तो अनाथ हूँ। पढ़-लिखकर मैं कोई काम करूँगा, कोई नौकरी करूँगा। उसको यह मालूम नहीं था कि मैं तो राजकुमार हो चुका हूँ। तो जब वह पढ़-लिखकर निवृत्त हुआ तब राजा साहबने बुलवाया कि उसको हमारे पास भेजो। वह समझता था कि राजा साहब हमको कोई नौकरी देंगे। उसको बुलाकर राजा साहबने उसको अपने बगलमें बैठनेको कहा। वह हाथ जोड़कर खड़ा हो गया, बोला—हम कैसे आपके बराबर बैठेंगे? वे बोले—भाई तुम तो हमारे युवराज हो। जिस दिन मैंने तुमको देखा था उसी दिन युवराज बना दिया गया था। अब तो देखो एक राज्यका वह उत्तराधिकारी हो गया। आप ध्यान दो इस बातपर। आप कौन हैं? आपका सुहृद् कौन है? आप अपने सुहृद्को पहचानते हैं? वह जानता है कि मैं इसका सुहृद् हूँ। मैं इसका पिता हूँ। मैं इसका स्वामी हूँ। मैं इसका भाई हूँ, मैं इसका आत्मा हूँ। वह जानता है पर आप नहीं जानते हैं। जिस समय आप जानेंगे **सुहृदं सर्वभूतानां**, सबका वह सुहृद् है। बड़ा प्रेम

करता है। आपके साथ और आपके हृदयमें ही छिपा हुआ रहता है। **हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।** तो वह बिना पूछे भी बोलता है। एक यह भी लीला है। धर्मशास्त्रका नियम यह है कि बिना पूछे किसीको उपदेश नहीं करना।

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् न चान्यायेन पृच्छतः।

यह नहीं कि चाहे जिस किसीको उपदेश झाड़ने लगे। अरे अपना हो, तो बता दो। धर्मदासने कहा—

चौदह कोटि ग्यान तोहि भाखौं
सार सबद बाहर करि राखौं
धर्मदास तोहे लाख दुहाई
सार सबद बाहर नहिं जाई
आपन हो तो देहु बताई
दूजा हो तो लेहु छिपाई।

परन्तु, **अनापृष्ठमपि ब्रूयुः गुरवो दीनवत्सलाः।** दीन वत्सल जो गुरुजन हैं, अपने पिता हैं, अपने गुरु हैं वे देखते हैं कि यह हमारा शिष्य, हमारा पुत्र गलत मार्गपर जा रहा है, तो—

कं वार्थमाप्तो मनुजो लभेत निपात यन्नष्ट दृशं हि गर्ते।

अन्धेको गड्ढेमें गिरने दिया जाये? ऐसा कोई भलेमानुष कैसे चाहेगा? यह भागवतका श्लोक है।

तो भगवान् स्वयं बोलते हैं। कब ? कि जब हम चुप हो जाते हैं। जबतक हम बोलते रहते हैं तबतक भगवान् नहीं बोलते। हमारे मौनमें भगवान्‌की वाणी सुनायी पड़ती है। जब मध्यमा वाणी चुप, वैखरी वाणी चुप, तब परा वाणीमें-से निकलकर अन्तर्ध्वनि प्रकट होती है। भगवान् बोलते हैं।

नरके रथका सारथि कौन है ? स्वयं नर है कि नारायण है ? आप नर हैं न, नर हैं अर्जुन और नारायण हैं कृष्ण। आपके जीवन-रथके सारथि हैं भगवान्। आपने अपने घोड़ोंकी बागडोर भगवान्‌के हाथोंमें सौंप दी है कि नहीं ? आपने वह कथा सुनी होगी, गोपियोंने बाँसुरी चुरा ली, एकान्तमें ले गयी बाँसुरीको और पूछा कि अरी बाँसुरी, तेरे अन्दर क्या ऐसी विशेषता है कि भगवान् तुझे अपना अधरामृत पिलाते हैं और तेरे द्वारा गान करते हैं। बाँसुरीने

कहा कि मेरे अन्दर कोई योग्यता नहीं, मैं तो एक क्षुद्र वंशकी वंशी हूँ, गठीली हूँ, सूखी हूँ, पोली हूँ, छिद्रवाली हूँ, मुँहजली हूँ। परन्तु मेरे हृदयमें अपना कुछ नहीं है, उन्हींकी साँस मेरे शरीरमें चलती है। उन्हींका राग, उन्हींका ताल मेरे हृदयमें बोलता है। उनके सिवाय मेरा और कोई नहीं है। कुछ नहीं है। तो जिसके हृदयमें अपना कुछ नहीं होता, उसके हृदयसे भगवान्‌का संगीत गूँजता है। अर्जुन ऋजुस्वभाव, वासुदेव साक्षात् नारायण, अर्जुन नर। नरके हृदयमें नारायण बोलते हैं।

अच्छा, अब संस्कृतकी एक बात आप लोगोंको सुनाता हूँ। संस्कृत भाषाकी शैली। इसको बोलते हैं पदकृत्य। एक-एक पदके प्रयोगका प्रयोजन। माने इतने शब्द क्यों बोले गये। हमारा कोई शब्द व्यर्थ नहीं जाना चाहिए। तो *सः संन्यासी,* वह संन्यासी है। *सः निरग्निर्न भवति किन्तु संन्यासी भवति।* वह अग्निका परित्यागी नहीं है, उसके घरमें रोटी बनती है। उसके घरमें अग्निहोत्र होता है। पति-पत्नीका सहवास होता है। *योषा वाव गौतमाग्निः।* परन्तु वह संन्यासी है। *स अक्रियो न भवति किन्तु योगी भवति। अक्रियः क्रियारहितः वृत्तिरहितः कर्तृत्वादिशून्यः न भवति किन्तु योगी भवति।* वह कर्मरहित, वृत्तिरहित नहीं है; परन्तु योगी है। *अन्तःक्रिया भवति*—उसके अन्तरमें क्रिया होती है और *तस्य गृहे अग्नि प्रज्वलति*—उसके घरमें अग्नि प्रज्वलित होती है। परन्तु *स संन्यासी योगी च भवति। अहो आश्चर्यं। अहो आश्चर्यं।* यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है। सुन लो, यह क्या आश्चर्य है! बोले—बाबा! संन्यासी होगा तो कर्ता नहीं होगा। योगी होगा तो, निरोध समाधि लगाकर बैठा होगा। आसन बाँध लिया, सिद्धासन, वीरासन, पद्मासन, पीठकी रीढ़ सीधी की, प्राणायाम किया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि करके बैठा है यह योगीराज है। तो *स कर्म न करोति अयं तु ईदृग् योगी य करोति किन्तु योगी भवति*—यह तो ऐसा योगी है जो काम करता है; लेकिन योगी है। तो *कश्चित् संन्यासी भवति* कोई संन्यासी होता है, परन्तु *न करोति,* वह कर्ता नहीं है तब संन्यासी होता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।
नैन किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्॥ ५.१३

वह संन्यासी है; किन्तु करता नहीं। योगी तो वह है महाराज जो आसन न हिले।

तन थिर मन थिर नयन थिर सुरत निरत थिर होय।
कह कबीर वा पलक को कलप न पावे कोय॥

योगी तो वह है जिसका शरीर स्थिर हो, मन स्थिर हो, नयन स्थिर हो, ध्यान स्थिर हो, रति स्थिर हो।

तो संन्यासी कौन है? संन्यासी तो वह है जिसकी अन्तर्दृष्टि इतनी प्रज्वलित है कि किसी देश-विशेषमें, वस्तु-विशेषमें और व्यक्ति-विशेषमें आसक्ति न हो। इस अन्तर्दृष्टिका नाम संन्यास है। संन्यास माने छोड़ दिया— स्थान-विशेषमें कि यह मठ हमारा है, व्यक्ति-विशेषमें कि यह हमारा सम्बन्धी है और वस्तु-विशेषमें कि यह धन मेरा है। न धन मेरा है, न सम्बन्धी मेरा है, न स्थान मेरा है। स्थानसे अनासक्त, वस्तुसे अनासक्त, व्यक्तिसे अनासक्त *अनाच्छादनं चरति परमहंसः।* वह संन्यासी है।

अयं तु संन्यासी अयं तु करोति किन्तु योगी।

आश्चर्य तो यह है कि यह कर रहा है और संन्यासी है। कर रहा है और योगी है।

आविष्कृतः कोपि नवीनमार्गः।

भगवान्‌ने एक नये मार्गका आविष्कार किया।

अब **करोति**पर देखो—**कार्यं कर्म करोति यः** दूसरी ओरसे चल पड़े। उत्क्रम, व्युत्क्रम—ऐसे। *पाठक्रमात् अर्थक्रमो वलीयान्* पाठके क्रमसे अर्थका क्रम बलवान होता है। तो **यः करोति। किं करोति? यत्किञ्चित् करोति?** चाहे जो कुछ करता है? **कर्म करोति**। बोले कि जब कर्मफलका आश्रय छोड़ दिया, कुछ पाना ही नहीं है, तो चाहे जो करे। तो देखो, **'सजगतिं सप्रीति'** प्राप्ति हुई। चाहे जो खा ले। एक अध्यात्मवाद होता है न, चाहे जो खाओ, चाहे जो करो, चाहे जो बोलो, मौज हो ऐसे रहो और बोले—वाह हम तो सिद्ध हैं। क्या ये आध्यात्मिक हैं। आध्यात्मिक नहीं हैं। ऐसे लोग अपने देशमें भी क्या कम हैं? नहीं, इसीलिए देखो, *कर्म करोति*में *यत्किञ्चित् करोति* नहीं है। **कार्यं कर्म करोति यः**—कर्मका विशेषण है **कार्यम्**। इसीको हमलोग पदकृत्य बोलते हैं।

केवल कहा जाता कि वह कर्म करता है, तो यह बात आ जाती कि चाहे जो कुछ करता है। तो 'कार्यं' जोड़ देंनेसे यह निकला कि जो कर्तव्य कर्म है वही करता है अकर्तव्य कर्म, निषिद्ध कर्म नहीं करता है।

अब बोले—भाई, कोई कर्म तो करे, कर्तव्य कर्मका ही पालन करे, अनुष्ठान करे, परन्तु निष्प्रयोजन करे, आपके ध्यानमें है ? कि यह जो निष्काम कर्मी हैं ये कहीं अख़बारमें पढ़कर आते हैं और चाहे किसीके आख्यान-व्याख्यानमें सुन लेते हैं। तो ये जो अखबारी निष्कामकर्मी हैं। एक कदम अध्यात्मके मार्गमें बिना पथ-प्रदर्शकके चला नहीं जा सकता। एक तो अनमिला साजन है, अनजाना मार्ग भी है जिसके पास पहुँचना है वह तो देखा हुआ नहीं है और जिस रास्तेसे जाना होता है वह रास्ता देखा हुआ नहीं है। यदि पग-पगपर कोई बतानेवाला नहीं हो तो किसी दूसरेको ही अपना लक्ष्य मान लेनेकी सम्भावना है। लक्ष्य-भ्रष्ट हो जायेंगे और मार्गसे चूक जायेंगे। लक्ष्य-भ्रष्ट हो जायेंगे; क्योंकि मार्ग देखा हुआ नहीं है और लक्ष्य पहचाना हुआ नहीं है और चलना है उसी मार्गसे जिससे उसकी प्राप्ति हो। ऐसी हालतमें बतानेकी जरूरत पड़ती है। सीखनेकी जरूरत पड़ती है।

एक बात और यह है कि जिसके पास पहले तुम जाओगे, चाहे जितनी साधना कर चुके हो, वह न तुम्हारे जपको गिनेगा, न ध्यानको गिनेगा, न जीवन्मुक्तिको गिनेगा। वह तो पहले दिनसे अपना चेला बनाकर कहेगा कि अब हम तुम्हें आगे बढ़ाते हैं। तुम्हारे पीछेकी सारी साधनको वह चौपट करके तब आगे बढ़ायेगा। इसका कारण क्या है ? इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। यदि संशय न होता तुम्हारे पास तो दूसरेके पास जाते क्यों ? जब तुम्हारे अन्दर संशय था तभी न तुम दूसरेके पास गये। तो उसने कहा कि बाबा, अभी तो इसके मनमें न निष्ठा है, न दृढ़ता है, न अनन्यता है; यह तो संशयमें पड़ा हुआ है। तो आओ इसको फिरसे क ख ग घ से प्रारम्भ करवावें। सगुणवालेमें इसकी निष्ठा नहीं हुई, तो निर्गुणवाला करा दें, निर्गुणवालेमें निष्ठा नहीं हुई तो सगुणवालेमें करा दें, भक्तिमें निष्ठा नहीं हुई तो योग करा दें। वह तो तुम्हें संशय है, इसलिए, सन्देह होनेके कारण तुम दूसरेके पास गये। उसने कहा—**संशयात्मा विनश्यति।** अपने साधनमें इसकी निष्ठा नहीं है, आओ अब दूसरा प्रारम्भ करावें।

यह हमारे साधु सम्प्रदायकी रीति ही है कि मनुष्यके मनमें जरा भी दुविधा हो, तो उसको फिरसे कह देते हैं कि *पुनर्मूषको भव*। चलो बेटा, फिर अपनी पहली जगहपर चलो, वहाँसे प्रारम्भ करो।

अच्छा, अब आओ आपको सुनाते हैं निष्काम कर्म। एक तो ऐसे-ऐसे निष्काम कर्मी होते हैं कि दुकानपर बैठकर तो करते हैं ब्लैक और कहते हैं हम निष्काम भावसे कर रहे हैं। दूसरेकी गाँठ काट लेंगे, चोरी कर लेंगे, बेइमानी कर लेंगे। बोले—करते हैं निष्काम भावसे! छल, कपट व्यभिचार ये सब निष्काम भावसे नहीं होता। यह सब बिना मनमें कामना रहे होता ही नहीं। इसलिए **कार्यं कर्म करोति यः** में यह बात कही गयी कि कर्म होना चाहिए कर्तव्यसे। तो बोले—आओ भाई, निष्काम कर्म करना है तो चाहे जो करें, कुछ पाना है ही नहीं। तो यह भी एक बेवकूफीकी बात है। आपलोग सब बड़े बुद्धिमान हैं, बहुत समझदार हैं। हम तो रहे हैं फक्कड़ोंमें, फकीरोंमें और बिलकुल दो टूक बात आपको सुनाते हैं। न कोई लाग न लपट, न किसीका देना न लेना, न मीन न मेख; निष्काम और निष्प्रयोजन ये दोनों दो प्रकारके शब्द हैं। निष्काम भी सप्रयोजन होता है। निष्काम कर्म भी जहाँ अनुबन्ध नहीं होगा न, अधिकारी होना चाहिए, विषय होना चाहिए, सम्बन्ध होना चाहिए और प्रयोजन होना चाहिए। तो आप निष्काम-से-निष्काम कर्म करें; लेकिन उसके प्रयोजनपर पहले विचार करलें। यहाँ कामना और प्रयोजनमें क्या फर्क आया? जैसे देखो आप व्यापार करते हो, तो आपके मनमें कामना रहती है कि हम धन कमायें और आप अब निष्काम और निष्प्रयोजन चले चलो। कहाँ? कि एक लाठी ले लो और नदीका पानी चलकर पीटो। अब नदीका पानी पीटकर पाना तो आप कुछ नहीं चाहते हैं न, तो निष्कामकर्म कर रहे हैं! नहीं, वह निष्कामके साथ-साथ निष्प्रयोजन भी हो गया। इसलिए वह लाठीसे नदीका पानी पीटना जो निष्प्रयोजन है, वह आपका साधन नहीं होगा। वह भगवत्प्राप्तिकी ओर नहीं ले जायेगा। निष्प्रयोजन होनेसे काम नहीं बनता है, निष्काम होनेसे काम बनता है। यह निष्प्रयोजन क्या है? अब देखो, प्रयोजन बताते हैं। प्रयोजन क्या है?

अवगतं सत् आत्मनि इष्यते—जिसको जानकर हम अपनेमें रखना

चाहते हैं। निष्कामता भी प्रयोजन है जैसे हम कामनाओंको मिटाकर निष्कामताको अपनेमें रखना चाहते हैं। हम निष्काम रहना चाहते हैं। यह भी एक प्रयोजन होता है। तो **अनाश्रितः कर्मफलं** पर जरा ध्यान दो। ***'कर्मफलं अनिच्छन्'***—ऐसा नहीं बोला गया। ***कर्मफलं अनाश्रितः*** ऐसा बोला गया है। यह संस्कृत भाषाका चमत्कार है। कर्मफल मत चाहो—यह नहीं बोला गया। यह बोला गया कि कर्मफलके आश्रित मत हो जाओ, पराधीन मत हो जाओ। इसका क्या मतलब है ? देखो **सर्वधर्मान् परित्यज्य**। तो मधुसूदन सरस्वती कहते हैं *सर्वधर्मान् आश्रयत्वेन*। ब्रह्मचारी धर्म हमारा कल्याण करेगा, गृहस्थ धर्म हमारा कल्याण करेगा, वानप्रस्थ धर्म हमारा कल्याण करेगा, संन्यासी धर्म हमारा कल्याण करेगा, धर्म हमारा कल्याण करेगा, धर्मका आश्रय मत लो। धर्म करो परन्तु धर्मका आश्रय मत लो। आश्रय हमारा लो—यह **अनाश्रितः कर्मफलं**का अर्थ है। अच्छा, अब एक बारकी बात बताते हैं। एक पत्रिकामें काम करता था सम्पादनमें, बाल्यावस्थाकी बात है। एक महात्मा रूठ गये। लेख नहीं देते थे। तो मुझको भेजा गया कि महात्माको मनाकर लेख ले आओ। तो मैं गया महात्माके पास। उन्होंने कहा—मैंने सुना है कि तुम्हारी पत्रिकामें सब महात्मा-ही-महात्मा रहते हैं। मैंने कहा—महाराज बहुत अच्छे लोग रहते हैं। बोले—मैंने सुना है कि सब निष्काम कर्म करते हैं! हाँ महाराज, सब निष्काम कर्म करते हैं। कोई लौकिक इच्छा उनके मनमें नहीं है। मैंने कहा कि कोई पैसा कोई वृत्ति नहीं चाहते हैं, निष्काम हैं सब। बोले कि अच्छा, एक बात बताओ तुम, आज यदि सरकार तुम्हारी पत्रिकाको बन्द करदे, तो तुम्हारे संस्थापक, सम्पादक, संचालक, तुम्हारे मण्डलको कष्ट होगा कि नहीं होगा ? मैंने कहा—होगा महाराज! तो बोले कि यदि तुम निष्काम होते तो तुमको कष्ट क्यों होता ?

यह देखो, दूसरी ओरसे यह बात कही गयी। तो एक होती है फलासक्ति, एक होती है कर्मासक्ति और एक होती कर्तृत्वासक्ति और एक होती है अकर्तृत्त्वासक्ति। यह चार प्रकारकी आसक्ति होती हैं। चारोंके आठ भेद होते हैं, फिर आठोंके दो-दो भेद होते हैं, सोलह भेद होते हैं इसके। हमलोग तो गणितका प्रस्तार करते हैं न! बिना गणित विद्याके तो हमारा दर्शन विज्ञान कुछ नहीं चलता है।

तो **अनाश्रितः कर्मफलं**, देखो! हम अपना कर्म करके किसीसे धन तो नहीं चाहते हैं, लेकिन कर्म साङ्गोपाङ्ग पूरा होता रहे, यह चाहते हैं। अच्छा, कर्मके बारेमें भी हमारा हाथ तो है नहीं, कि पूरा होगा कि नहीं। किसीने पिस्तौल लाकर ताना कि उठाओ हाथ, उठा दिया बाबा, हमारा क्या रखा है, तत्काल कर्म बन्द कर सकते हैं।

हमको एक महात्माने कहा कि तुम कोई काम कर रहे हो, पाठ कर रहे हो और ईश्वरने कहा कि चुप, तूष्णीं, तो तुमको चुप होनेमें कोई आपत्ति है? मैंने कहा—नहीं महाराज! निष्काम—न हम फल पानेमें स्वतन्त्र हैं और न तो कर्मको पूरा करनेमें स्वतन्त्र हैं। अच्छा, तब यह अभिमान है कि मैं कर रहा हूँ। तुम क्या कर रहे हो, आकाश न होता, वायु न होती, रोशनी न होती, धरती न होती, शरीर न होता, ईश्वरकी कृपा-प्रकृति न होती, तो तुम क्या कर्म कर पाते? कर्तापनका अभिमान क्या? तो लो ठीक है, फलमें हमारा हाथ नहीं, कर्मको पूरा करनेमें हमारा हाथ नहीं और कर्तापनका अभिमान बिलकुल झूठा, तो आओ मैं अकर्ता। छाती तानकर बैठ गये कि हम अकर्ता। अरे, यह भी तेरे मनकी पकड़ है उल्लू! हमको ऐसे बोलते, हमारे गुरुलोग ऐसे बोलते। हम तो पढ़ रहे थे। सिद्धान्त कौमुदी पढ़ रहे थे, तो मैं बाँचता जाता और गुरुजी उसका अभिप्राय बताते जाते। तो उसमें ऐसा संयोग पड़ा, 'उल्लु' शब्द जब आया, 'उलूक' नहीं। संस्कृत भाषामें उल्लु शब्दका अर्थ दूसरा है और 'उलूक' का दूसरा। *उत्कृष्टं नाति इति उल्लु।* "'उल्लु' शब्द जब आया, तो मेरी दृष्टि चूक गयी। मैं उसको पढ़े बिना आगे बढ़ गया। तो गुरुजी बोले—छूट गया। मैंने कहा—क्या छूट गया? बोले कि जो तुम हो, सो ही छूट गया।

बड़े मजेदार थे। चौरानबे बरसकी उम्रमें वे सुन्दर थे और वे अपनी मूँछका एक-एक बाल सँवारते थे। और खूब सज-धजकर श्रृंगार करके निकलते थे। बड़े ही मलूक थे। तो यह देखो, हमारे गुरु लोग तो कटाकट बोलते थे। एक महात्माको मैंने कहा कि आप ऐसे क्यों बोलते हैं? बोले कि हमारी बात तुमसे सहन नहीं होती! अभी तो तुम्हारी उम्र बहुत पड़ी है। दुनियामें किसका-किसका सहन करना पड़ेगा जरा बापकी बात सहो! माँ की बात सहो, गुरुकी बात सहो, सहिष्णुता आवे कि दुनियामें कुछ सहकर निकल

सको। और, हमारी कड़ी बात तुमसे सहन नहीं होती है तो जीवनमें जब तुम्हारा दुश्मन गाली देगा, तो कैसे सहोगे? हम तो हितसे गाली देते हैं। हमारी सहन नहीं होती है तो जाओ बाबा!

अनाश्रितः कर्मफलं—देखो फलमें अपना हाथ नहीं है। वह तो जब ईश्वर देगा तब मिलेगा और कर्म पूरा तब होता जब काल हमारी मुट्ठीमें होता। और कर्तापनेका अभिमान बिलकुल झूठा है और अकर्तापनको लेकर बैठेंगे तो मनमें तनाव बैठेगा। तो इन चारों प्रकारके अभिमानोंको छोड़कर सप्रयोजन कर्म करो।

सप्रयोजन माने कर्म तो करो, और इस कर्मका फल अच्छा होगा। हमारा अन्तःकरण शुद्ध होगा, इससे ईश्वर प्रसन्न होगा। यह भी देखो, ऐसा काम मैं कर रहा हूँ जिससे ईश्वर मेरे ऊपर प्रसन्न होगा। यह प्रयोजन हुआ। **भगवत्प्रसादसिद्ध्यर्थम् अन्तःकरणशुद्ध्यर्थम्**—यह सप्रयोजन हुआ। देख लेना तुम जो भोजन कर रहे हो, वह भगवान्‌को भोग लग सकता है कि नहीं। अगर वह भगवान्‌को भोग नहीं लग सकता तो वह तुम्हारे खाने लायक नहीं है। यदि उससे तुम्हारे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती, तो वह तुम्हारे जीवनके लिए उपयोगी नहीं है। तब? **अनाश्रितः कर्मफलं**—कर्म करो और यह सोचकर करो कि इससे हमारा अन्तःकरण शुद्ध होगा! यशके लिए नहीं कर रहे, मानके लिए नहीं कर रहे, प्रतिष्ठाके लिए नहीं कर रहे, अपने अहंकी पूजाके लिए नहीं कर रहे, किसके लिए कर रहे हो? ***कस्मै देवाय हविषा विधेम?*** कर्म कर रहे हैं, हम अपने प्रभुको प्रसन्न करनेके लिए, किसी सेठको प्रसन्न करनेके लिए नहीं, किसी राजा-रईसको खुश करनेके लिए नहीं।

जां भेसां म्हारा साईं रीझै सोई वेष धरूँगी।

तो कर्मफलके आश्रित, कर्मफल पवित्र है, इसपर ध्यान रखना। यह जो कर्म हम कर रहे हैं, वह कर्म पवित्र है और इसका फल भी पवित्र है। बोले—हम निष्काम भावसे पाप कर रहे हैं। तो कर्म अपवित्र हो गया, उसका फल नरक अपवित्र हो गया। तुम निष्काम भावसे कर रहे हो। वह निष्कामता नहीं है, निष्कामताका ढोंग है।

अच्छा, यह सोच करके कि यह कर्म उत्तम है, इसका फल भी उत्तम है;

उसके आश्रित नहीं हो जाना, लटक नहीं जाना कि हमको यह फल मिले। एक भक्तसे किसीने पूछा कि भाई, तुम भगवान्‌का भजन क्यों करते हो? यह आँख बन्द करनेसे भजन होता है और खुली आँखसे भजन नहीं होता है। यह शुरू-शुरूका क ख है, यह अध्यात्मशास्त्रका क ख है! गरुड़ पुराणमें एक अध्याय है, *'सारोद्धार'* उसका नाम है। हमने गुरुड़ पुराण पचासों मर्तबा लोगोंको सुनाया है। उसमें लिखा है कि ये मेढक और मछली जन्मभर गंगाजीमें रहते हैं, तो क्या उनका कल्याण हो जाता है?

आजन्ममरणान्तं च गङ्गादितटिनीस्थिताः।
मण्डूकमत्स्यप्रमुखाः किं भवन्ति तपस्विनः।
पारावताः शिलाहाराः कदाचिदपि चातकाः।
न पिबन्ति महीतोयं व्रतिनस्ते भवन्ति किम्॥

चातक धरतीका पानी नहीं पीता, तो क्या वह व्रती हो गया? उससे भगवान् प्रसन्न होंगे उसके व्रतसे? उस मछलीसे भगवान् प्रसन्न होंगे? तो क्या हैं? कि भगवान्‌के भरोसेपर हो जाना माने अपने अहंका परित्याग कर देना।

एक महात्मासे किसीने पूछा कि तुम भगवान्‌का भजन क्यों करते हो? तो बोले कि भाई आदत पड़ गयी है। रहा नहीं जाता है। हम अपनी आदतसे लाचार हैं। जब मैं अपने गाँवमें था, तो एक महात्मासे दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा अध्यात्मके लिए ग्रहण की। वह जैसे संस्कार करानेके लिए, कुलगुरुकी जैसे दीक्षा ली जाती है ऐसे नहीं, भजन करनेके लिए। तो उन्होंने दीक्षा देकर कहा कि बेटा, अब तुम मुक्त हो। तो मारे खुशीके फूल गये कि हमारे गुरु महाराज कहते हैं कि तुम मुक्त हो गये। मैंने कहा—महाराज, मुक्त हो गये तो अब हमको भजन करनेकी क्या जरूरत है? अरे, मुक्ति ही तो है साध्य, तो आपने कहा, मुक्त हो। तो अब भजन करके क्या करेंगे? तो बोले कि समय भरनेके लिए, कालका पेट भरनेके लिए। श्रीवैष्णव सम्प्रदायोंमें इसको कालक्षेप बोलते हैं। कालको काटनेके लिए, कालका पेट भगवान्‌के भजनसे भरते हैं; भगवान्‌से मुक्ति नहीं लेना चाहते हैं। वैकुण्ठ नहीं चाहते हैं। नहीं कहते हैं कि हे भगवान्, हमको मुक्ति दे देना, कि अपने राज्यमें ले चलना, कि हमारी समाधि लगा देना। नहीं-नहीं, हमारा काल जो है भगवान्‌के बारेमें बोलकर, भगवान्‌के बारेमें

करके, भगवान्के बारेमें नाचकर, भगवान्के बारेमें रोकर, सबके रूपमें विराजमान भगवान्की सेवा करके समय बीतता है अपना। समय जा रहा है। समयका पेट भर रहा है। बढ़िया-से-बढ़िया एक-एक क्षणको भरते जाओ। बीत गया सो बढ़िया, आवेगा सो बढ़िया, राग-द्वेष बढ़ानेके लिए अगर समयका उपयोग करोगे, तो यह काल तुमको—

तानहं द्विषतः क्रूरान्। आसुरी योनियोंमें ढकेलेगा। १६.१९

अनाश्रितः कर्मफलः। अब चाहे जो काम करो! कि नहीं, **कार्यं कर्म करोति यः।**

अब आप देखो, एक टीकाकारकी महिमा आपको सुनाते हैं। अभी तो ऐसी टीकाकी चर्चा कर रहे हैं जो यहाँ नहीं है! हमारे पास गीताकी पच्चीस-तीस टीका संस्कृतकी तो यहाँ भी होंगी और वृन्दावनमें तो पचास साठ और गीता प्रेसमें तो डेढ़-दो सौ टीका थीं। संस्कृतकी भिन्न-भिन्न द्वीपोंमें भी छपी हुई हैं। बाली द्वीपमें भी छपी हुई है। स्याममें भी छपी हुई है। जावा सुमात्रा बोलते हैं न, गीता वहाँ भी छपी हुई है। प्राचीन टीकाएँ मिलती हैं। उनके छोटे संस्करण मिलते हैं। बड़े संस्करण मिलते हैं, सब सम्प्रदायोंके आचार्योंने गीताका आदर किया है।

आपका उधर ध्यान नहीं जाता होगा!

कार्यं करोति--कर्म करोति। अलग-अलग यह क्या है? कि शरीरके जो कर्तव्य हैं उनको भी करता है और योगीको जो कर्म करना चाहिए, सो भी करता है। संन्यासीके लिए तो कोई कार्य, कोई कर्तव्य नहीं होता और यह कार्य करता है फिर भी संन्यासी है। और समाधिमें कोई कर्म नहीं होता और यह कर्म करता है फिर भी योगी है। तो इसमें क्या कार्य है और क्या कर्म है। तो शरीर-निर्वर्त्य जो हैं सो तो कार्य हैं और जो चित्तके परिकर्म हैं उनको कर्म बोला गया है। योगशास्त्रमें एक परिकर्म शब्द जो है वह पारिभाषिक है। यह सब जगह व्यास भाष्यमें, वाचस्पति मिश्रकी टीकामें, भोजदेवमें, तत्त्व-वैशारदीमें, भोज-वृत्तिमें सर्वत्र यह परिकर्मका वर्णन है। परिकर्मका वर्णन यह है कि सुखीसे मित्रता करो, मैत्रीकी भावना करो, ईर्ष्या मत करो, स्पर्धा मत करो, डाह मत करो, नहीं तो मर जायेगा तुम्हारा योग। दुःखी पर करुणा करो।

पुण्यात्माको देखकर आनन्दित हो जाओ और दुष्टको देखकर उसकी उपेक्षा करदो। यह अपने मनकी सेवा है। अपने मनकी तुम सेवा करते हो कि नहीं? अगर दुष्टको देखकर उससे लड़ोगे और दंड दोगे तो तुम अपने मनकी कुसेवा करोगे। क्योंकि तुम्हारे मनमें घृणा, द्वेष बस जायेगा। जैन धर्ममें इसको '*भावहिंसा*' बोलते हैं। अपनी आत्माको दुःख पहुँचाना भी हिंसा है।

तो दुष्टको देखकर उसकी ओर नजर मत डालो, मन मत दो, उपेक्षा करदो। कोई सुखी हो तो उसकी ओर देखकर सुखी हो जाओ। खूब आनन्दसे। दुःखीको देखकर अपने हृदयकी करुणा उसपर उड़ेल दो।

एक बौद्ध गन्थमें कहा कि हमारे जो महात्मा हैं वे दुःखीको देखकर अपने हृदयकी शान्तिको भी उठाकर फेंक देते हैं। नहीं चाहिए हमको शान्ति, हम तो इस दुःखीपर करुणा उड़ेल देते हैं। तो जो अपनी शान्तिका भी परित्याग करके दूसरोंका भला करता है उससे बड़ा सृष्टिमें और कौन हो सकता है! कोई पैसा देता है, कोई शरीरका काम देता है। तो चित्तका जो परिकर्म है न मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा, यही चित्तकी सेवा है। अपनी चित्तकी सेवा है।

स्वामी प्रणवानन्दजी महाराज बोलते हैं कि अपने चित्तकी तो सेवा करो और शरीरके कर्त्तव्योंको पूर्ण करो और कर्मफल होगा कि नहीं, इधर ध्यान मत दो। अपना समय अच्छे कर्मोंसे भरते चलो। तो,

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।

बोले महाराज ये आग नहीं छूते हैं। एक साधुसे किसीने कहा, वे आग जलाये हुए थे, किं महाराज, आप आग छूते हैं संन्यासी होकर? बोले—अरे बाबा पञ्चभूतका बना हुआ शरीर है, इसमें तो आग पहलेसे है। यह आग ही आगको छू रही है। हम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा, हम कहीं अग्निका स्पर्श करते हैं! देखो, जठराग्नि है शरीरमें, वह तो अन्नको पचाती है। अग्नि है जीभके पीछे नोकपर बैठी हुई, तो जीभको बोलनेकी शक्ति देती है। अगर वाक् अधिष्ठातृ देवता अग्नि न हो तो जीभ बोल नहीं सकती। अच्छा, आँखमें सूर्याग्नि न हो तो आँख देख नहीं सकती। बोले, किस दृष्टिसे निराग्नि हैं? यह कपड़ा भी अग्नि है, इस शरीरमें पञ्चभूत अग्नि है, पाँच भौतिक अग्नि है, जठराग्नि है इसमें, वाग् अग्नि है इसमें, ज्योतिरग्नि

है इसमें और महाराज ये सब अग्नि तो हैं ही है, कामाग्नि है, क्रोधाग्नि है, तो **निरग्निः** बाहरसे अग्निका परित्याग मुख्य संन्यास नहीं है। यह दूसरेको जलानेवाली जो आग है न, जिससे हम दूसरेको जलाते हैं वह चिनगारी, फुफकारते हैं, वह आग जबतक नहीं जायेगी तबतक कोई भगवान्‌के दरबारकी ओर नहीं चल सकता। साधना माने कोई बहिरंगका दिखावा नहीं, साधना माने एक अन्तरंगकी स्थिति, भगवान्‌के लिए सिंहासन। साधना माने भगवान्‌के प्राकट्यका स्थान। भगवान्‌की अभिव्यक्तिका स्थल। साधना माने वह समय हमारे जीवनका, जिसमें हमारी पूर्णता अभिव्यक्त होती है। साधना माने हमारे जीवनका वह स्थान, अन्तर्देश जिसमें सूक्ष्मतम ब्रह्म प्रकट होता है। साधना माने हमारा वह सत्स्वरूप जो ब्रह्मसे अभिन्न हो जाता है। साधना माने हमारा वह सत्स्वरूप जो ब्रह्मसे अभिन्न हो जाता है। साधना माने वह वृत्ति जो ब्रह्मसे पृथक् अपनेको दिखाती ही नहीं है। तो आओ—

श्री भगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

भगवान् अकर्मण्यताको नापसन्द करते हैं। **मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।** आप कभी निकम्मे न हों; क्योंकि जब अपने हाथसे, पाँवसे, जीभसे, शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे बिल्कुल काम लेना बन्द कर देते हैं, तब तमस्‌की, मूढ़की अवस्थामें चले जाते हैं। हड्डी, मांस, चाम यही सब मूढ़ हैं। अपने शरीरमें मूढ़ रहते हैं। मूढ़ माने उनमें चेतना प्रगट नहीं है। तो जब हम निकम्मे होते हैं, तो हड्डी, मांस, चाम आदिसे बिलकुल एक हो जाते हैं, जड़-भावापन्न। यह स्थिति भगवान्‌को बिलकुल पसन्द नहीं है। इसको तो भगवान् तामस बोलते हैं। यहाँतक कि आलसीको, दीर्घसूत्रीको भी तामसी ही मानते हैं। आप देख लेना अट्ठारहवें अध्यायमें—

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥ १८.२८

जो हर समय रोते-रोते काम करे, करता भी जा रहा है, रोता भी जा रहा है। अरे जब करना ही है तो तुम हँसी-खुशीसे करो, रो-रोकर क्या करना!

कई लोगोंकी आदत होती है, रोज रोटी खाते हैं और कहते हैं भगवान्ने हमको रोटी नहीं दी। महाराज न खानेको रोटी है, न पहननेको कपड़ा है, न सोनेको जगह है। रोज खाते हैं, रोज पहनते हैं और भगवान्के ऊपर उलाहना भी रखते हैं। तो अपने आपको बिलकुल तत्पर रखना चाहिए। मूढ़ताके साथ अपनेको जो मिलावेगा, अच्छा मान लो उसी अकर्मण्यताकी स्थितिमें मरे तो उसकी क्या गति होगी? वह बेहोश दशामें चला जायेगा, माने मूर्च्छित हो जायेगा और बहुत दिनों तक वह जड़-भावापन्न रहेगा।

अच्छा, अब थोड़ा-सा और आगे बढ़ो। यहाँ तो ***करोति यः*** की बात है न! जब करने चले तब बुद्धिपूर्वक कर्म करते हैं कि एकदम निर्बुद्धि होकर कर्म करते हैं? जो लोग पाप करते हैं, निषिद्ध कर्म करते हैं, तो क्या होता है कि अपने चित्तमें अपने प्रति ग्लानि हो जाती है। आप देखना; जैसे चोरी करेगा, बेईमानी करेगा, व्यभिचार करेगा, हिंसा करेगा, तो बोले—भाई, उस समय तो नहीं, नहीं होता है। कि उस समय तो जोशमें रहते हैं, बहुत दिनोंतक नहीं होता, लेकिन जब शरीरके बन्धन ढीले पड़ने लगेंगे, मन कमजोर होगा, तब आपका मन मान लेगा कि हमने बुरा किया था। तो भला यह कोई नियम है कि मान ले? कि हाँ, इसका नियम है। नियम यह है कि आपके मनमें एक कानून, एक कायदा, एक मर्यादा पहलेसे है। वह क्या है? कि आपकी जेबसे कोई नोट काट ले, तो आप उसको चोर, पापी, बुरा समझते हैं कि नहीं? अच्छा, आपकी बहू-बेटीपर कोई बुरी नजर डाले, तो आप उसको अनाचारी, व्यभिचारी समझते हैं कि नहीं? देखो, कानून आपके मनमें है। आपको कोई गाली दे, मारे, तो आप तुरन्त फैसला दे देते हैं कि नहीं कि वह बुरा है। तो जिस कानूनके अनुसार आप दूसरेके बारेमें फैसला देते हैं, उसी कानूनको आप अपने ऊपर लागू नहीं कर रहे हैं, तो जितनी बुराई करेंगे वह इकट्ठी होती जायेगी, एक दिन आपपर हावी हो जायेगी और आप आँख बन्द किये, लेटे-ही लेटे, यह बात मान लेंगे कि यह बात कोई सुन नहीं रहा है, मैं चोर हूँ। किसीको मालूम नहीं है, पर मैं चोर हूँ। किसीको मालूम नहीं है, पर मैं हिंसक हूँ। किसीको मालूम नहीं है, पर मैं व्यभिचारी हूँ। यह बात आपके मनमें भीतर-ही-भीतर चुरेगी और जिस समय आप उस बुराईको अपने साथ जोड़ेंगे

उस समय वह अन्तःकरणमें आपके संस्कारके रूपमें बैठ जायेगी, रिकार्ड हो जायेगी। ईश्वरने यह कानून बनाया है कि जब आप स्वीकार करेंगे कि हाँ; आपको खुद ईश्वरने जज बना दिया है, अपना जज। लेकिन आप होश-हवासमें, जोशमें भले कुबूल न करें, जिस कानूनके अनुसार आप दूसरेको बुरा समझते हैं, उस कानूनको आप एक दिन अपने ऊपर लागू करेंगे।

बस, यही हमारे महात्माने कहा कि तुम अपनी नजरमें कैसे हो, इसको जाँच लो; दूसरेकी नजरसे देखनेंकी जरूरत नहीं है। बोले—हम अपनी नजरमें बहुत अच्छे हैं। उसी कानूनसे जाँचना अपनेको, जिस कानूनसे दूसरेको जाँचते हो। मनुजीने साफ लिखा है-

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं परित्यजेत्॥

यह मनुस्मृतिका धर्म कभी-कभी सुना देता हूँ। क्योंकि धर्मशास्त्र हमारा प्रधान विषय हमारी बाल्यावस्थामें रहा है तो वह भूलता नहीं है, भागवत धर्म आनेपर भी, औपनिषद धर्म आनेपर भी वह धर्मशास्त्रके जो संस्कार हैं, वे नहीं छूटते हैं। जो कर्म करते समय आपको आत्मतुष्टि होती है कि मैं ठीक कर रहा हूँ वह करना चाहिए। और, जिसमें आपको ग्लानि होती है, दुविधा होती है, वह काम नहीं करना।

अच्छा, तो जब आप स्वीकृति देंगे कि मैं चोर हूँ—**न तत्परस्य संद्धनात् प्रतिकूलं यदात्मनः**। अब देखो, पहले निकम्मापन सबसे बड़ा पाप, महापाप है, मनुष्य होकर ईश्वरका दिया हुआ दो हाथ, दो पाँव अगर कोई बेकार कर देता है तो वह महापापी है। परन्तु बेकार न करके यदि उसका दुरुपयोग करता है, अपनी ही मानी हुई मर्यादाके विपरीत आचरण करता है, तो जैसे उसने दूसरेको दुःख दिया है, वैसा ही, उसी जातिका दुःख उसको मिलेगा। यह उसकी बहुत बड़ी मर्यादा है, किस पापका क्या फल मिले, इसका भी एक विज्ञान है। ऐसे नहीं कि अण्ट-सण्ट चाहे जिस कर्मका जो फ़ल दे दिया, इसका एक विज्ञान है, इसकी एक संगति है कि यह कर्म करनेपर उसका फल किस ढंगसे मिलेगा। तो निकम्मेपनका फल तो है बेहोशी, मूर्च्छा, जड़ता और पापकर्मका जो फल है वह है दुःख। चूँकि तुमने दूसरेको दुःख दिया है,

इसलिए उसकी अन्तरात्मा भी तुम्हारी अन्तरात्मा है, उसका मन भी तुम्हारा मन है। इसलिए जहाँ तुमने दुःख पहुँचाया है, वह मन घूमते-फिरते एक दिन आवेगा तुम्हारे पास और चिपक जायेगा और तुमको भी दुःख भोगना पड़ेगा। यह कर्मकी मर्यादा है और जैन शास्त्रमें इसका जैसा विवेक देखनेको मिलता है, आश्चर्य है! आप लोग वैदिक अवैदिकका ख्याल नहीं करना, उनके पास तो कर्म ही है, ईश्वर नहीं है, ईश्वर फलदाता नहीं है, कर्म ही फलदाता है। वह महाराज आस्रवकर्म, निर्जर कर्म, सम्बर कर्म, मोहनीय कर्म, ऐसे-ऐसे कर्मोंके भेद उन्होंने बताये हैं।

अच्छा, अब आगे चलते हैं। अब तीसरी कक्षा लो। विहित कर्म करना। निकम्मापन महापाप है और निषिद्ध कर्म करना पाप है। इन दोनोंमें योगकी सम्भावना नहीं है। विहित कर्म माने जो कर्म करना उचित है, हमारे लिए विशिष्ट हितका दाता है, विधिसे उक्त है। विहित शब्दका अर्थ होता है वैध। आजकल वैध शब्दका प्रयोग समाचार पत्रोंमें करते हैं—वैधानिक संवैधानिक। संविधानिक शब्द संस्कृतका नहीं है, संवैधानिक है। तो वैध शब्द है। उसीको विहित बोलते हैं। व्याकरणके नियमानुसार विधका विहित हो जाता है। विहित माने जो विधिसे हमारे लिए समादिष्ट हो कि यह करो और वह भी हमारे पुरुषार्थकी दृष्टिसे, जिससे हमारे धर्मकी, अर्थकी, कामकी, मोक्षकी सिद्धि होती है, वह विहित कर्म करे।

अब देखो, इसमें, लोकके लिए विहित कर्म करते हो कि परलोकके लिए विहित कर्म करते हो? परलोकके लिए करते हो यज्ञ—यागादिरूप शास्त्रीय रीतिसे होगा। यह क्यों? कि इसका भी विज्ञान है कि जो फल तुम पाना चाहते हो वह लोकगम्य है कि शास्त्रगम्य है? यदि वह केवल शास्त्रगम्य ही है स्वर्ग तो किसीने देखा नहीं और स्वर्ग पानेके लिए कर्म करते हो तो शास्त्र-गम्य स्वर्गको प्रास करनेके लिए शास्त्रमें जो कर्म बताया गया है सो ही कर्म करना पड़ेगा, मनमाना कर्म करनेसे स्वर्ग नहीं मिलेगा, क्योंकि तुम्हारा देखा हुआ तो स्वर्ग है नहीं। जिसने स्वर्गका अता-पता बताया है कि स्वर्ग ऐसा है, ऐसा है, यहाँ है, वहाँ जानेका मार्ग भी शास्त्रने ही बताया है, उससे जाना पड़ेगा।

अब देखो लौकिक उन्नतिके लिए कर्म, उसमें भी एक और विभाग है।

अनेक देवताकी प्राप्ति होती है। इन्द्रको प्रसन्न करना, वरुणको प्रसन्न करना, पूषाको प्रसन्न करना, मित्रको प्रसन्न करना और उनके लिए अनेक कर्म करना। तो कर्म भी अनेक होगा और फल भी अनेक होगा।

अब देखो, पारलौकिक दृष्टिसे नहीं केवल लौकिक हितकी दृष्टिसे कर्म करना, उसमें भी-***श्रेयस्करत्वचोदनालक्षणोर्थो धर्मः।***

अर्थ शब्दकी व्याख्या करते हुए शबर स्वामीने श्रेयस्करत्वमें उसका उपसंहार किया है। बोले—भाई वेदमें तो एक जगह लिखा है कि अगर शत्रुको मारना हो तो ***'श्येनयाग'*** करना चाहिए।

श्येनेन अभिचरण श्येनेन यजेत्।

तो बोले कि यह धर्म है कि नहीं ? उन्होंने कहा, वेदमें करनेको लिखा है तब भी धर्म नहीं है। क्यों धर्म नहीं है कि इसका जो फल है—हिंसा, शत्रुकी मृत्यु, वह श्रेयस्कर नहीं है, उसका तो पाप लगेगा ही इसलिए विधिविहित होनेपर भी जो श्रेयस्कर नहीं है, वह धर्म नहीं होता, उसमें श्रेयस्करत्व होना चाहिए। शबर स्वामीने उपसंहार; विधि विहितत्वसे, श्रुतिविहितत्वसे प्रारम्भ किया और श्रेयस्करत्वमें उपसंहार किया।

अब देखो, और आगे चलते हैं। बोले—भाई, हम किसी देवताको प्रसन्न करनेके लिए अनेक कर्म नहीं करते हैं। काहेके लिए करते हैं ? कि हम निष्काम भावसे कर्म करते हैं। आगे आगे चलो ! अच्छा, निष्कामभावसे कर्म करते हैं ? तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर। बहुत बढ़िया, हम न स्वर्ग पाना चाहते हैं, न लोकमें धन कमाना चाहते हैं, न यश पाना चाहते हैं। अच्छा, तो अपने कर्त्तव्य कर्मको ही तो करते हो न ? हाँ। यह देखो, अपना कर्तव्य समझके करते हो कि ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए करते हो जिसकी प्रसन्नताके लिए करते हो उस पदार्थका शोधन भी होगा माने तत्पदार्थ ईश्वर क्या है, यह विचार होगा और करनेवाला मैं कौन हूँ, यह विचार होगा और कर्म क्या है, यह विचार होगा। बिना विचारका कर्म तो जड़ताकी ओर, मूर्खताकी ओर ले जानेवाला है। जिस कर्ममें बुद्धि नहीं है। बुद्धिपूर्वक जो किया हुआ काम है वही सफल होता है।

अब देखना कि कर्त्तव्य समझकर यदि करते हो तब तो वह कर्म तुम्हारे अन्तःकरणको शुद्ध करेगा और यदि ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए करते हो, तो

ईश्वरका ज्ञान भी करावेगा और अन्त:करणकी शुद्धि भी करेगा। ईश्वरकी प्रसन्नतामें भक्ति आगयी। अब ऊपरकी दो-तीन बात सुनाकर कर्मके सम्बन्धमें, फिर आपको जोड़ते हैं श्लोकके साथ।

अच्छाजी, आप निष्काम होकर तो कर्म करते हैं, तो इसकी कइं स्थिति होती है। देखो, कई लोग मनमें तो कामना रखते हैं, लेकिन बाहरसे कर्म नहीं करते हैं, तो उनको ढोंगी बोलते हैं—**मिथ्याचारः स उच्यते।**

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

तो ढोंगी मत बनना। बोले—अच्छा मनमें कामना भी है और कर्म भी है, तब संसारी हो गये। अब बोले—कामना नहीं है, पर कर्म है, तो साधक हो गये। आप तीन स्थिति देखो—(१) मनमें कामना तो है लेकिन कर्म नहीं है तो ढोंगी हो गये। (२) कामना कर्म दोनों है तो संसारी हो गये और (३) कामना नहीं है, कर्म है तो साधक हो गये।

अब इसके आगे और बात है। अच्छा, मान लिया कामना भी नहीं है, परन्तु कर्त्तापन है कि नहीं, कि मैं निष्काम भावसे कर्म करता हूँ, बोले—हाँ कर्त्तापन तो है। तो बोले-भाई कर्त्तापन तो है, तुम फल चाहो मत चाहो, जहाँ कर्त्तृत्व है वहाँ फलकी उत्पत्ति जरूर होगी। तो बोले—अच्छा, हम अब द्रष्टा हो गये अब कर्ता नहीं हैं। अच्छा, द्रष्टा हो गये, बहुत बढ़िया बात, एक सीढ़ी और कर्त्ताके ऊपर चढ़ गये। अब प्रश्न यह है कि द्रष्टा होकर तुम समाधिमें रहते हो तब तो तुम्हारा द्रष्टापन पक्का है और केवल समाधिमें ही द्रष्टापन पक्का है और केवल समाधिमें ही द्रष्टा रहते हो तो तुम्हारा द्रष्टापना कच्चा है। अच्छा, हम द्रष्टा हो गये, समाधि और व्यवहार दोनोंमें द्रष्टा हो गये। बहुत बढ़िया, तुम्हारी स्थिति बहुत ऊँची हो गयी। अब एक सवाल और है। यह जो तुम्हारा द्रष्टापन है, तुम तो द्रष्टा हो, कर्त्ता नहीं हो और यह तुम्हारे सामने तुम्हारा पुत्र है, तुम्हारा भाई है, तुम्हारी पत्नी है, ये सब तो कर्त्ता हैं न, कि हाँजी ये सब कर्त्ता हैं, अज्ञानी हैं और मैं तो अकर्त्ता हूँ, द्रष्टा हूँ। बोले कि भाई, अभी यह तुम्हारा जो द्रष्टापना है सो परिच्छिन्न है, अपरिच्छिन्न नहीं है, अभी वेदान्तकी छाया भी तुम्हारे जीवनमें नहीं आयी। अपरिच्छिन्न हो जानेसे क्या

हो जायेगा? सम्पूर्ण प्रपञ्च अपना स्वरूप और प्रपञ्च भी अपना स्वरूप। निष्प्रपञ्च भी अपना स्वरूप। वह जो मिथ्या होता है वह भी रज्जुस्वरूप ही होता है और जो मिथ्या सर्वातीत है सो भी रज्जु ही है। मिथ्या वस्तु अपने अधिष्ठानसे पृथक् नहीं होती है, यह नियम है। अध्यस्त अधिष्ठानसे पृथक् नहीं होती है—यह औपनिषद सिद्धान्त है।

तो अब देखो, पहले तो मैंने आपको अकर्मण्यतासे लेकर के अपरिच्छिन्न ब्रह्मतककी जो सोपना परम्परा है, सीढ़ी-दर-सीढ़ी है, वह सुना दी।

अब योगकी व्याख्या सुनो! तो योगकी व्याख्या क्या है? कि योग माने होता है साधन। बल्कि योग माने तो गीतामें ऐसी व्याख्या की है कि नहीं की है, मुझे नहीं मालूम; क्योंकि मैं सम्पूर्ण विश्व साहित्यके ज्ञानका दावा नहीं करता, परन्तु जितने धर्म, मजहबोंके बारेमें हमारी जानकारी है, योग साधनाके बारेमें जानकारी है, आपको योग ही गिनाने लग जायें न, तो योग, महायोग, हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग, राजाधिराजयोग, पूर्णयोग, महाराजाधिराज-योग, योगोंकी ही संख्या बहुत है, पर आपको योगकी एक व्याख्या जो गीतामें दी हुई है, वह पातंजलयोगसे विलक्षण है और उसकी तरफ मैं आपका ध्यान खींचता हूँ। योग माने दुःख आपको छू न सके—इसकी एककला। आपके जीवनमें एक ऐसी कलाका विकास। ऐसी माने एक ऐसा कौशल, एक ऐसी विद्या, एक चमत्कार, एक ऐसी जानकारी जिससे दुःख आपको कभी स्पर्श न कर सके। दुःखसे अछूते रहनेकी जो कला है, जो विद्या है उसका नाम योग है। अब आप लोग तो बड़े-बड़े विद्वान् हो और सारी दुनियाकी बात आप जानते हो, आप ढूँढना कि योगकी यह व्याख्या संसारमें कौन-सा मजहब, कौन-सा धर्म, कौन-सा साधन और कौन सा अभ्यास करता है। दुःखमें रहें और दुःख हमको छू न सके। बोले—यह लक्षण कहाँ है, पहले यह पहचान बताओ! गीतामें तो ऐसे ही बता दिया—**योगः कर्मसु कौशलम्**—ऐसे ही बताया है? कि नहीं, हम आपको सुनाते हैं, इसी अध्यायमें योगकी ऐसी परिभाषा की गयी है। परिभाषा माने लक्षण, पहचान, वह कला, जिसके प्राप्त हो जानेपर दुःख हमारा स्पर्श नहीं कर सकता। आप सब लोग चाहते होंगे कि हम दुःखी न हों जीवनमें। ऐसा है कोई दुनियामें? सुख मिले कि न मिले, इस बातको एक ओर अलग कर दें। वैसे

दुःख निवृत्ति और सुखावाप्ति–ये पुरुषार्थके दो अंश हैं। आप जानते हैं न, रोग निवृत्ति और स्वास्थ्य लाभ, रोग निवृत्ति हो जाती है, पर स्वस्थता धीरे–धीरे आती है। तो सुखावाप्ति और दुःख निवृत्ति। परन्तु आपको हम क्या बतावें भगवान् श्रीकृष्णकी यह विद्या—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योग संज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ ६.२३–२५

अच्छा, तो जो योगकी पहचान है, हम योग किसको कहते हैं, आप पहले ध्यान दो। '**दुःख-संयोग-वियोगं योग-संज्ञितम्।**' दुःखके संयोगके वियोगका नाम है योग। जल्दी ध्यानमें नहीं आवेगा। जब आप किस्से-कहानीकी तरह गीताको पढ़ेंगे। अच्छा हम आपसे पूछते हैं दुःखके संयोगका वियोग—ऐसा कहा हुआ है न, अगर ऐसा ही कहा जाता कि दुःखके वियोगका नाम संयोग है तो क्या आपत्ति होती? क्या कमी रह जाती? बड़ी भारी कमी रह जाती दुःखका न होना योग है, तो इसका अर्थ होता कि समाधिमें योग होता है। इसका अर्थ यह होता कि जब हमारा दुश्मन मर जायेगा, तब योग होगा। इसका अर्थ होता कि जब हमें मकान मिल जायेगा, तब योग होगा। **दुःखवियोगं योगसंज्ञितम्** बरसा न होगी या बरसा होगी तब हमें दुःखकी निवृत्ति होगी। नहीं—**दुःख-संयोग-वियोग योग-संज्ञितम्।** दुःख है, पर उसके संयोगका वियोग है।

हम लोग बच्चे थे। छह बरसकी उम्रसे लेकर आठ–नौ बरसकी उम्रतक पढ़ने जाते थे। एक डेढ़ मीलपर स्कूल था। गाँव है न, 'बस' 'BUS' तो हमने देखी ही नहीं थी कि कैसी होती है! पैदल जाते दौड़ते–भागते हुए काँखके नीचे बस्ता दबाते और लौटते हुए चले आते। तो जिस दिन बरसा होने लगती रास्तेमें, उस दिन बड़ी तकलीफ होती। जोरसे हवा चले तो छाता भी उड़ जाये और रेनकोट तो वहाँ मिलता ही नहीं था। तो महाराज, हमारे बाबाने कहा कि

देखो, बेटा, हम तुमको एक मन्त्र बताते हैं। जब बरसा होने लगे तो बस्तेको तो लटका लेना पीठपर और हाथसे ताली बजाना और मन्त्र बोलते हुए मजेसे चले आना, तुम्हारे ऊपर बरसा ही नहीं पड़ेगी। बरसा तो होती रहेगी लेकिन तुम भींगोगे नहीं। अब आपलोग कहोगे कि हमको वह मन्त्र बता दो; कोई-कोई कहेगा न! तो देखो जबतक हम आठ-नौ बरसके थे न, तबतक तो वह मन्त्र हमको काम देता था। जब बड़े हो गये तब उस मन्त्रने काम देना ही बन्द कर दिया। तो मन्त्र बोलकर ताली बजानेका अर्थ यह था कि बरसा तो हो रही है, बरसा बन्द नहीं होती है। लेकिन अपने ऊपर बूँद नहीं पड़ रही है। तो यह योग क्या है, शरीरमें रोग भी हो रहा है, अपने सम्बन्धियोंका वियोग भी हो रहा है, जो मरनेवाले हैं वे मर भी रहे हैं, गरीबी भी आती जाती रहती है; लेकिन यह जैसे आपलोग घड़ीको वाटरप्रूफ और शॉकप्रूफ करवा लेते हैं, वैसे अपना दिल-दिमाग दुःख-प्रूफ हो जाता है। दुःख तो हो, पर दुःखका असर न पड़े। संयोग भी हो, दुश्मन सामने आ जाये, गाली भी दे दे, चोरी भी कभी हो जाये, कभी कोई रोग भी हो जाये कोई मर भी जाये, लेकिन अपनेको दुःख न हो। इस दुःख संयोग-वियोगका नाम योग है। दुःखकी परिस्थितिमें रहकर दुःखके संयोगका वियोग हो जानेका नाम ही योग है।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

मैंने इस परिभाषाका पदकृत्य आपको सुना दिया। आप दुःखको मत मिटाइये। परन्तु दुःख आपको छू न सके, ऐसा आप अपनेको बना लीजिये। तो वह दुःखसे अपनेको सुरक्षित करनेकी जो विद्या है, उसमें पहली बात यह कही, **कर्म करोति**। अच्छा, मान लो सिर्फ करोति कहा जाता—'करता है', तो कोई कह देता **उपासनां करोति**। कोई कहता—**ध्यानं करोति**। उपासना करता है, ध्यान करता है। तो बोले—नहीं-नहीं, **कर्म करोति**। कर्म करता है और योग होता है। बड़ा ही आश्चर्य है! बोले—कर्म करेगा तो दुःख भी आयेगा, क्योंकि कभी गल्ती भी हो जायेगी।

एकबार महाराज मैंने देखा एक बड़ा-सा बिच्छू, काला-काला, डंक मारेवाला। तो उसको देखकर गुस्सा आया। हमारे हाथमें जो लठिया थी, उससे उसके बड़े भारी डंकको दबा दिया। डंक टूट गया तो उसमें-से पानी

सरीखा, उसके शरीरमें-से निकलने लगा। अब महाराज उसके बाद दिन भर मुँहमें पानी आवे, मुँहका जायका ही बिगड़ गया। ग्लानि पैदा हो गयी। तो मैंने गलत कर्म किया। उससे हमारा न राग, न द्वेष, न दुश्मनी, हम वहाँसे चले जाते, वह हमको कभी काटने भी नहीं आता। अब क्या हुआ कि वह गलत काम जब किया तो **कर्म करोति**, पर **कार्यं कर्म करोति** गलत काम करोगे, दुःख आवेगा। कर्म नहीं करोगे तब भी दुःख आवेगा, और कर्म करोगे लेकिन गलत काम करोगे तो भी दुःख आवेगा। अच्छा लो, अच्छा-अच्छा काम करें, लेकिन उससे चाहोगे फल, तो **अनाश्रितः कर्मफलं** फल पाना तुम्हारे हाथमें नहीं है, काम करना तुम्हारे हाथमें है। तो फल छोड़कर कर्म करो।

अब देखो, विद्या हम आपको सुनाते हैं। दुःख क्या है, इसपर पहले ध्यान दो! दुःख एक होता है सात्त्विक, एक राजस और एक होता है तामस। तो-

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्य — प्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥

निद्रा, आलस्य और प्रमादसे जो सुख होता है वह तामस सुख है और उसमें पहले भी दुःख है और बादमें भी दुःख है। तो जिसके पहले दुःख और बादमें दुःख और बीचमें निद्रा, आलस्य, प्रमाद, वह काहेका सुख, वह तो मोहन है, वह अपनेको नशेमें डालकर जैसे कोई स्वर्गका ख्वाब देखे, वैसे यह मोहिनी विद्या है। यह स्वर्गका ख्वाब देखना, रहना नरकमें। हमने सुना है कि शराबी लोग नशेमें नालेमें पड़ जाते हैं, पनालेमें गिर जाते हैं और वे कहते हैं, आहाहा, हम बड़े मजेमें हैं, हम स्वर्गमें पड़े हुए हैं। उनके मुँहका ढंग दूसरा होता है। बोलनेका ढंग दूसरा होता है, अरे क्या दुर्दशा नशेने हमारी कर दी, मोहका सुख है संसारमें। यह मोहका सुख मोहनका सुख है।

और, राजस सुख क्या है? जो पहले तो वासनाकी पूर्ति होनेसे सुख मालूम पड़े और परिणाममें? **विषोपमम्।**

यत् तदग्रे अमृतमिव परिणामेविषोपमम्।

पहले तो मालूम पड़े बड़ा मीठा, हमारी वासना पूरी हुई, बादमें बड़ा दुःख हुआ। आदमीको नतीजेका, परिणामका विचार करना चाहिए। प्रत्येक

वस्तुका परिणाम होता है। कितना गर्म घी है, इसका विचार किये बिना, पूरी बेलकर डाल दो बहुत गर्म घीमें, तो पूरी जल जायेगी कि नहीं ! सूजी डाल दो उसमें तो भस्म हो जायेगी कि नहीं, और घी कच्चा होगा तो पूरी भी कच्ची रह जायेगी कि नहीं, कि पूरी पक जायेगी इस गर्मीमें, यह विचार करके पूरी पकानी पड़ती है। तो जो परिणामका विचार किये बिना, कर्म करते हैं, उनको बादमें दुःख मिलता है। यह राजस सुख है।

सात्त्विक सुख क्या है कि कुद हम अपने जीवनमें अच्छे-अच्छे अभ्यास डाल लेते हैं। बिना अभ्यासके अच्छा सुख नहीं मिलता। जो लोग आपसे कहते हैं न कि साधन छोड़ दो, भजन छोड़ दो हमारे पास एक सज्जन ऐसे आये, बोले कि ईसा गलत, बहुत बढ़िया, बुद्ध गलत, कि बहुत बढ़िया, मुहम्मद गलत कि बहुत बढ़िया, शंकराचार्य गलत, कि बहुत बढ़िया मैंने मान लिया कि सब गलत हैं, कि किसीका अनुयायी नहीं होना चाहिए कि यह भी बहुत बढ़िया। अब आप क्या चाहते हैं ? कि लोगोंके जीवनमें ईसा न रहें। बुद्ध न रहें, मुहम्मद न रहें, शंकर न रहें, तो सब पशुवत् उच्छृंखल होकर रहें कि आपके बताये हुये धर्मपर चलें ? नहीं, मैं जो बोल रहा हूँ वह सबसे अच्छा है। हे भगवान्, यह कहीं किसीने शैतानको मूर्तिमान् करके तो नहीं भेज दिया है ! जो बुद्धको, ईसाको, शंकरको, मुहम्मदको, सबको तो बतावें कि ये पापी नरकमें जायेंगे, इन्होंने गलत रास्ता बताया और हम जो बता रहे हैं, शंकर रामानुज निम्बार्क सब गलत और हम जो बताते हैं सो सही। एक बात मनुष्यके जीवनमें, जो तुम्हारे साधनसे तुमको वंचित करता है, वह तुम्हारा मित्र नहीं है, वह तुम्हारा शत्रु है। बाल अपने आप उगते हैं, उनको सँवारना पड़ता है, काटना पड़ता है। मैल अपने आप शरीरमें निकलती है, उसको धोना पड़ता है। जो बुराईके संस्कार अपने हृदयमें हैं, उनमें जो बुरे कर्मकी वासना उठती है, उनकी धुनाई करनी पड़ती है। इसलिए जीवनमें अभ्यासकी जरूरत है।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्॥

अपने हृदयमें निर्मलता आती है और अभ्याससे बढ़िया-बढ़िया आदतें अपने जीवनमें डालनी पड़ती हैं। देखो, घुटनेके बल अपने आप बच्चा चल

लेता है, लेकिन उसको खड़ा करके चलना सिखाना पड़ता है। अपने आप गाँव-पाँव खा लेता है; लेकिन पवित्रतासे खाना चाहिए। यह उसको सिखाना पड़ता है। वह किसी भी चीजको लेकर मुँहमें डाल लेता है; परन्तु क्या खाना चाहिए यह उसको बताना पड़ता है। तो यह आभ्यासिक जो सुख है, यह सात्त्विक सुख होता है।

बोले—अब, सच्चा सुख क्या है यह बता दो। तो सच्चा सुख यह है—

सुखमात्यन्तिकं यत् तत् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यन्ते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण चेतसा॥

असली सुख क्या है ? असली सुख है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

वह सुख कैसा है ? कि **बुद्धिग्राह्यम्**। माने मोहन नहीं है, तमोगुणी नहीं है, इसलिए बुद्धिग्राह्य है। तमोगुणी, सुख बुद्धिग्राह्य नहीं होता है नशेमें, निर्बुद्धितामें होता है। और विषयेन्द्रिय संयोगजन्य नहीं है इसलिए अतीन्द्रियम् कहा, माने वह राजस सुख नहीं है। और, अभ्यासजन्य जो सुख होता है, वह नाशवान होता है, इसलिए आत्यन्तिक कहा।

आत्यन्तिकं कहा माने कालसे अपरिच्छिन्न कहा। बुद्धिग्राह्य कहा माने देशसे अपरिच्छिन्न कहा और अतीन्द्रियम् कहा माने विषयसे अपरिच्छिन्न कहा।

एक माताका छोटा-सा एकलौता बेटा मर गया, तो बड़ा भारी मोह, गोदमें उठा लिया और वह घूमे कि कोई इसको जिन्दा कर दे, घर-घर जाये। तो किसीने कहा—देखो आजकल सबसे बड़े महात्मा बुद्ध हैं, उनके पास जाओ, सिद्ध पुरुष हैं, तुम्हारे बच्चेको जिन्दा कर देंगे। बुढ़िया लेकर गयी कि महाराज हमारे बेटेको जिन्दा कर दो। बुद्धने कहा कि मैया, तेरा बेटा जिन्दा तो हो जायेगा, पर किसी ऐसे परिवारसे, ऐसे गोत्रसे एक मुट्ठी सरसोंका दाना ले

आओ, जिसमें कभी किसीकी मृत्यु न हुई हो। अब वह बुढ़िया गाँवमें जब सरसोंका दाना लेने गयी, तो कोई ऐसा परिवार ही नहीं मिला, कोई बोले हमारा बाप मर गया, हमारा दादा मर गया, हमारा भाई मर गया, हमारी माँ मर गयी, नानी मर गयी, पत्नी मर गयी, बेटा मर गया। हमने अपने घरमें देखा, हमारे पन्द्रह बरसके भाई, हमसे बड़े थे, हमारे सामने मर गये, हमारे पिता मर गये, हमारी उम्र जितनी थी उस समय, उससे सात गुणी उम्र थी उनकी। हमारे भाईकी मृत्यु हुई, तो जितनी हमारी उम्र थी, उससे दुगुनी उनकी उम्र थी, मर गये। पर कोई मरना रोक सकता है क्या ? तो यदि तुम यह सोचोगे कि जब दुनियामें मरना रुक जायेगा, तब हम सुखी होंगे, यह विद्या गलत है। तुम्हारा सोचना ही गलत है। तुम सोचोगे कि हमारे धनकी हानि कभी नहीं होगी। तब हम सुखी होंगे। गलत सोचते हो, तुम्हारी बुद्धिमें दोष है। तुम सोचते हो हमारे शरीरमें कभी रोग नहीं होगा, तब हम सुखी होंगे। तो भाई धनमें भी चढ़ाव-उतार होगा, जवानीमें भी चढ़ाव-उतार होगा, इज्जतमें भी चढ़ाव-उतार होगा, कुर्सीमें भी चढ़ाव-उतार होगा। रिश्तेदार छूटेंगे और मिलेंगे। दुनियाको बनाकर तुम सुखी नहीं हो सकते तब ? कि आओ तुमको वह विद्या बतावें जिससे सुखी हुआ जाता है, वह कला। उस कलाका नाम योग है; जिससे काजलकी कोठरीमें जायें और काजलकी एक लकीर भी अपने शरीरमें न लगे।

हमलोग बचपनमें बड़े उपद्रव करते थे। आप लोग मोटा देखते हैं न, बचपनमें मोटे थोड़े ही थे। यह तो महाराज, जबसे भक्तोंका संसर्ग हुआ, इन लोगोंने घी पूरा खिला-खिलाकर मोटा कर दिया और वह भी नहीं पचा। बचपनमें महाराज वह उपद्रव करते थे, अरहर जब कट जाती खेतमें-से, बोले—आओ दौड़ें। वह खूँटी होती है महाराज, अगर पाँवमें गड़ जाये, नंगे पाँव। वह गड़ जाये तो आरपार हो जाये; लेकिन दौड़ते, सावधानी तो यह है कि हम अरहरकी खूँटियोंमें दौड़ेंगे और हमारे पाँवमें कोई खूँटी नहीं गड़ेगी। और ईश्वर कृपासे कभी नहीं गड़ी। जब दीवालीके दिन आते न, और घरकी लिपाई-पोताई होती, तो पुराने जमानेके लकड़ीके खम्भे होते बैठकमें। पत्थरके भी होते, लकड़ीके भी होते, तो उनमें कोलतार जो यहाँ सड़कपर बिछाया जाता है, यह डामर उन खम्भोंमें लगाया जाता, किवाड़ियोंमें लगाया जाता, तो

हम कहते—आओ, अब शर्त बदो, पचास मर्तबा हम भीतर घुसेंगे और बाहर निकलेंगे हमारे कपड़ेमें न लगे तो हम जीत गये। तो यह जो जीवन है न, इससे चाहे कालिखके भीतरसे निकलना हो, चाहे अरहरकी खूँटीमें-से निकलना हो, चाहे दुःखोंके अम्बारमें-से निकल जाना हो, पर यह जो भगवदंश है, भगवान्‌का अंश है, भगवान्‌का स्वरूप है, यह जो स्वच्छ निर्मल चेतन है, इसको दुनियाका दुःख छू न सके। अगर यह विद्या आप सीख लें, इसी विद्याका योग है। यह गीताके छठें अध्यायमें इसी विद्याका, इसी कलाका, इसी कौशलका, इसी चमत्कारका वर्णन है कि मनुष्य यदि इस कलासे परिचित हो जाये, तो कभी उसको दुःखकी परिस्थितिमें रहनेपर भी, आगमें हाथ डालनेपर भी आग न जलावे। उसके लिए थोड़ी-सी बुद्धि, थोड़ी-सी जानकारी चाहिए। हमारे एक न्यायके बहुत बड़े विद्वान् हुये, रंगनाथ शिरोमणि उन्का नाम था। न्याय चिन्तामणि बड़ी भारी न्यायकी वह पुस्तक पढ़कर लोग नैयायिक विद्वान् बनते हैं। एक अनाथ विधवाके बेटे थे। कोई नहीं था घरमें। माँ को पड़ी आगकी जरूरत, बोली—बेटा, सार्वभौमके घरसे आग लेके आओ। वह पाँच बरसका लड़का, शरीरपर कोई कपड़ा नहीं, नंगा ही दौड़ गया। और जाकर सार्वभौमजीके सेवकसे उसने कहा कि आग दे दो। तो सेवक बड़ा नाराज हुआ। आग काहेपर ले जायेगा, कुछ लाया तो है नहीं? लो हाथपर आग! और चिमटेसे आग उठाकर देने लगा। बच्चेने इधर-उधर देखा, तो देखा वहाँ राख पड़ी हुई थी, झट दोनों हाथसे राख उसने उठाई और कहा—दे दो हमारी हथेलीपर और हथेलीपर ले लिया आग। देखो न, आगसे बचनेकी युक्ति पाँच बरसके बच्चेको मालूम है, परन्तु दुःखसे बचनेकी युक्ति आपको नहीं मालूम है। आप तो दुःखको कहते हैं कि आ बैल मोहे मार। अरे आरे दुःख मुझसे चिपक जा।

जब वह आग लेकर चला तब सार्वभौमजीने उसका पीछा किया। उसकी माँके पास गये। बोले कि ऐसा होनहार बेटा, जिसकी प्रतिभा ऐसी है, यह बेटा हमको दे दो, हम पढ़ावेंगे और रंगनाथ शास्त्री शिरोमणी, वे हुये न्याय शास्त्रके विद्वान्। तो आपको वह कला चाहिए। योगशास्त्र एक ऐसी साधन कला है, एक ऐसा कौशल है—

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

सुख और दुःखमें, सिद्धि और असिद्धिमें, समता और असमतामें जीवन और मरणमें, जड़ता और चेतनतामें समाधि और विक्षेपमें आपको ऐसी समत्वकी कला यह योग देता है कि सुख आपका स्पर्श न करे।

ऐसी युक्ति बतायी भगवान्‌ने कि काम करते रहो, पर काममें संशोधन कर दिया। संशोधन यह किया कि जो कर्तव्य कर्म है वही करना है, निषिद्ध कर्म नहीं करना है। कर्म-विषयक संशोधन एक दूसरा संशोधन किया—भाव विषयक। जहाँतक संशोधन किया जा सकता है वहींतक तो संशोधन करेंगे न! तो कर्ममें संशोधन क्या है कि कर्म जो हो वह तो अपना कर्तव्य हो—**कार्यं कर्म करोति यः**। नहीं तो दो शब्दका प्रयोग नहीं हो सकता। संस्कृतकी प्रकृति कहती है कि वैसे तो **यः करोति** इतना ही बोलना चाहिए, बहुत बढ़ा दिया तो **कर्म करोति यः** कह दिया। पर उसके आगे भी **कार्यं कर्म करोति** कर दिया। तो इसका अर्थ है कि सब कर्म करनेकी छुट्टी नहीं है, अपने कर्तव्य कर्म करनेकी छुट्टी है। माने जिस कर्ममें हमारे भीतरसे औचित्य बुद्धि हो, कि यह कर्म करना उचित है। अगर अपनी ही दृष्टिसे जो कर्म अनुचित है वह करोगे तो ग्लानि हो जायेगी।

अच्छा दूसरा संशोधन यह किया कि **कर्मफलं अनाश्रितः**—कर्मफलपर लपको मत। कर्मका फल होवे कि न होवे; कर्मका फल न हो इसकी भी जिद्द नहीं रखनी है और कर्मका फल हो, इसका भी आग्रह नहीं रखना है। *अनाश्रितः*का अर्थ है कि अपने कर्तव्य कर्म करो; परन्तु कर्मफलके भरोसेपर मत रहो। कर्मफल हो नहीं, यह बात नहीं कही गयी, कर्मफलका आश्रय मत लो, किसीका सहारा लेना दूसरी चीज है। जैसे किसीसे मिल आना या उसका अपने घर आ जाना, यह दो चीज है। आप उसके घर हो आये या वह हमारे घर हो गया; लेकिन हम किसीके गुलाम हो गये—यह दूसरी चीज हो गयी न! उसके घर तुम हो आओ, वह तुम्हारे घर हो जाये, लेकिन तुम किसीके गुलाम मत बनो, पराधीन मत बनो। तो **अनाश्रितः** का अर्थ यह है कि तुम कर्मफलके गुलाम मत बनो। तुम्हारे घरमें कर्मफल आवे नहीं, कि तुम्हारे मनमें कभी कर्मफलकी कल्पना ही न हो—यह भी नहीं। कर्मफलकी कल्पना

होती है तो होने दो और कर्मफल यदि कभी आता है तो उसको भी आने दो, परन्तु कर्मफलके पराधीन मत हो जाओ। आश्रित मत हो जाओ। आश्रित होना दूसरी चीज है। माने उसके गुलाम मत हो जाओ।

'शृ' धातु जो है संस्कृतमें वह सेवाके अर्थमें है *'श्री देवाय'* तो उसके तुम सेवक मत बन जाओ, गुलाम मत बन जाओ कि कर्मफल मिलेगा तब हम जिन्दा रहेंगे, नहीं मिलेगा तो हम मर जायेंगे। अरे, ये कर्मफल कितने आये हैं और कितने नहीं आये हैं और तुम्हारे इस अनन्त जीवनमें कोई कीमत नहीं है, उनपर लटकनेकी कोई जरूरत नहीं है। न अटकनेकी जरूरत है, न उनके लिए भटकनेकी जरूरत है। आओ तो आओ, जाओ तो जाओ। एक तो हुआ कि कर्तव्य कर्म करते रहो। दूसरा यह हुआ कि कर्मफलकी कभी इच्छा हो जाये और चाहे कर्मफल कभी आ भी जाये, लेकिन उनके पराधीन मत बनो, गुलाम मत बनो। गुलामीसे स्वतन्त्र हो जाओ।

अब तीसरी बात यह बतायी कि इस ढंगसे जो कर्म करता है वह संन्यासी है और योगी है। तो कोई ऐसी बात होनी चाहिए कि जो योग और संन्यासमें होती है, वह इस कर्म करनेवालेमें आगयी, तो वह बात ऐसी है 'कर्मफलके अधीन न होना।' यदि तुम फलके पराधीन नहीं हुए तो तुम संन्यासी भी हो और योगी भी हो।

अब यह फलकी पराधीनता क्या है-इस बारेमें थोड़ी-सी बात आपको बताकर आगे बढ़ते हैं। एक विचार तो आप यह करो कि आप वस्तु चाहते हो कि वस्तुका सम्बन्ध चाहते हो! माने आपको धरती चाहिए कि धरतीसे सम्बन्ध चाहिए, कि धरती मेरी हो जाये। ये दुनियादार लोग फँसे कहाँ हैं—आप देखो, धरती तो सब जगह है। मकान कहाँ नहीं है? बच्चे कहाँ नहीं हैं? लेकिन उसके साथ जो सम्बन्ध होता है वह नहीं है। मेरापना नहीं है। इसीलिए तो दुःखी हैं न! यह जो सम्बन्धसे दुःखी होनेकी आदत पड़ गयी है, यह हमारे जीवनमें बन्धकी सृष्टि करती है। सम्बन्ध और बन्धन यह तो एक ही चीज है। **सम्यक् बन्धन=सम्बन्ध**। वह तो बन्धनमें जो बन्ध है वही सम्बन्धमें बन्ध है। तो बन्धनमें रस्सीसे, जंजीरसे बाँधते हैं और सम्बन्धमें मनसे बाँधते हैं। इसलिए वह जरा कड़ा बन्धन होनेके कारण सम्बन्ध हो जाता है।

अब आप देखो, इसका फल बताते हैं। यदि आप वस्तु चाहते हो, तो आप शरीर छोड़कर जड़ हो जायेंगे, बेहोश हो जायेंगे, मूर्च्छित हो जायेंगे, वस्तुको प्राप्त हो जायेंगे। एक ऐसी चीज आप चाहते हैं जिसमें होश नहीं है। सोना, चाँदी, धरती, मकान, आपके उस जड़ वस्तुको चाहनेके कारण जड़ता पर्यवसायिनी गतिको प्राप्त होंगे, माने मूढ़ अवस्थामें चले जायेंगे।

अच्छा, अब दूसरी वस्तु देखो! आप भोग चाहते हैं। भोगके लिए तो होशमें रहना जरूरी है। यदि होशमें नहीं रहेंगे तो भोग कहाँसे मिलेगा? तो यदि भोग चाहते हैं तो आपका होश बना रहेगा। लेकिन यदि भोग चाहनेमें योग आजायेगा तब भी आप होश खो देंगे। जैसे काम, क्रोध, लोभ। इनके योगमें आप भोग चाहेंगे तो पशु हो जायेंगे। फिर जड़ता होगी। एक तो यह बात हुई कि जड़ताकी धारामें बह रहे हैं और एक ऐसी गति हुई कि काम, क्रोध, लोभकी धारामें बह रहे हैं और एक ऐसे आये कि होशमें रहकर दुनियाकी वस्तुओंको चाहते हैं। तो अब इन तीनोंको हम अपनी साधना पद्धतिसे न्यारी कर देते हैं। हमको यह-यह-यह चाहिए, चाहनेमें तो कोई कायदा नहीं है। इसको भी एक नियन्त्रणमें लेना पड़ता है। धर्मके द्वारा नियन्त्रित होना चाहिए। इसीको विहित कर्म कहेंगे।

अब आप चलो, इन तीनोंको छोड़ दो, कि ये कहाँ जा रहे हैं, भगवान् ऐसे लोगोंपर थोड़ा नाराज हैं। वे कहते हैं कि भाई इनको वस्तु चाहिए, तो जाओ वस्तु लो! इनको सम्बन्ध चाहिए तो जाओ सम्बन्ध लो, इनको भोग चाहिए तो जाओ भोग लो! वह तो पता लग जाता है कि इस आदमीको क्या चाहिए! तो लो तुम अपनी इच्छा पूरी करो! भगवान् कहते हैं हम तटस्थ होकर, कूटस्थ होकर देख रहे हैं, तुम्हारी अगर ऐसी इच्छा है, तो करो बाबा! एक बच्चा बार-बार आगके पास जाता तो एक सज्जन मना करते। अरे मत जा आगके पास, जल जायेगा। तो दूसरेने कहा कि एकबार जाने दो! हमारी आँखके सामने है जरा जाने दो, थोड़ा जब जलेगा तब अपने आप कभी नहीं जायेगा। अभी पाँच-सात दिनकी बात है, एक बच्ची थी। वह आइसक्रीम खानेकी बहुत शौकीन है, तो घरके लोगोंने मना किया कि बेटी; दिनमें भले खा लिया करो, पर रातमें मत खाया करो। अब वह नहीं मानी। अब वह एक-दो

दिन रातको आइसक्रीम खायी तो फ्लू हो गया, घरवालोंने कहा—देखा न, हमारी बात नहीं मानी, तो तुमको फ्लू हो गया। हाँ ठीक है, अब हम आइसक्रीम नहीं खायेंगे। उसने खाना छोड़ दिया। उसकी समझमें आ गया कि आइसक्रीम खानेसे फ्लू होता है। जो उड़कर लगे उसका नाम फ्लू। यह '*फ्लू*' धातु है संस्कृत भाषामें, *प्लवते*। **मण्डूकः प्लवते**—मण्डूक उछलता है ना, **प्लवः**। तो यह उछलकर लगता है। छींकमें-से निकलता है, एक दूसरेको लग जाता है, इससे इसे फ्लू बोलते हैं।

अच्छा देखो, अब आपको यह बात सुनाते हैं, भगवान् क्यों नाराज होते हैं। हमलोग कहते हैं, जो आपको यह सिखाते हैं कि नैसर्गिक रीतिसे जीवनको बहने दो। नैसर्गिक माने प्राकृतिक, स्वाभाविक, यदृच्छया, जहाँ जाये वहाँ जाने दो, जहाँ बहे वहाँ बहने दो। तो आप समझते होंगे कि आहा-हा हमारे कितने हितैषी हैं। हमको तो इन्होंने स्वतन्त्र कर दिया। उच्छृंखल कर दिया। हमको तो घरमें रहते जीवन्मुक्त बना दिया। जीवन्मुक्त नहीं बना दिया आपको, हमेशा संसारमें रहनेका द्वार उन्होंने प्रशस्त कर दिया। **जायस्व म्रियस्व**। भोगो, करो, मरो और पैदा हो, बस! यह संसारमें-से छूटनेका उपाय नहीं है। संसारमें-से छूटनेका उपाय यह है कि बहती हुई प्रकृतिमें-से तटस्थ हो जाना। यह जिसको स्वभाव कहते हैं, यह हमारे साधकके जीवनमें क्या है—इसपर थोड़ा ध्यान देना, बारम्बार-बारम्बार जब हम कोई काम करते हैं तब उसकी आदत पड़ जाती है और आदत पड़ जाती है, तो हम कहते हैं कि अब तो यह किये बिना नहीं रहा जाता। असलमें जिसको हम स्वभाव कहते हैं, आदत कहते हैं, वह हमारे पूर्वजन्मके और इस जन्मके कर्मसे बनी हुई चीज है, इसलिए यदि स्वभावपर ही अपनेको छोड़ना है, तो आप जड़ हो जायेंगे। क्योंकि जड़ वस्तुको चाहते हैं और इच्छा आपको गति देती है। यह हमारा हाथ क्यों उठा? इच्छा करनेसे उठा। हम अपने स्थानपरसे यहाँ कैसे आये? इच्छा करनेसे आये, हमारी जीभ क्यों बोल रही है? इच्छा करनेसे बोल रही है। जहाँ पहुँचनेकी हम इच्छा करेंगे, जड़ वस्तु तो हमारे पास आयेगी नहीं, जड़ वस्तुके पास हमको जाना पड़ेगा। जब हम जड़को चाहेंगे, तो जड़से एक हो जायेंगे और जब हम किसीके साथ बँधना चाहेंगे, उसके साथ सम्बन्ध

चाहेंगे, तो उसके साथ बँध जायेंगे। जब हम अपने स्वभावको कामी बना लेंगे, तो बकरेकी तरह, बैलकी तरह कामी हो जायेंगे। यदि हम अपनेको क्रोधी बना लेंगे, तो बिच्छूकी तरह, साँपकी तरह क्रोधी हो जायेंगे और यदि अपनेको कायदेमें रखेंगे, क्योंकि न तो सब कर सकते, न सब बोल सकते, न सब भोग सकते, न सब इकट्ठा कर सकते। तो एक संहिता जीवनमें, एक कायदेकी तो जरूरत है और उस कायदेको ही धर्म कहते हैं।

अच्छा, अब आगे आपको ले चलते हैं। अब आगये कायदेमें। तो विहित कर्म, वैध कर्म जो आप अपने जीवनमें करते हैं, उसके आप तीन हिस्से बनालें। आप कामनाकी पूर्तिके लिए अपने कर्तव्यकर्म करते हैं, कि निष्काम होकर अपने कर्तव्यकर्म करते हैं, कि निष्काम होकर निवृत्तकर्म करते हैं? यह आपको कर्मका व्याकरण बताता हूँ, जैसे 'रामः रामौ रामाः' होता है न, वैसे सब चीजका व्याकरण होता है। ज्ञानका व्याकरण है, योगका व्याकरण है, कर्मका व्याकरण है। उसके नियम होते हैं कि इस नियमसे इसके फलकी अभिव्यक्ति होती है। जबतक आप उसको नहीं समझेंगे तबतक अललटप्पू यह करनेसे यह हो जायेगा, यह करनेसे यह हो जायेगा, ऐसा कुछ नहीं होता।

तो देखो, यदि आप अपनी कामनापूर्तिके लिए कर्म करते हो, तो संकल्प करके करोगे कि यह संकल्प करनेसे हमारी अमुक कामना पूर्ण होगी। जैसे कर्मकाण्डी लोग पशुयाग करेंगे, सोमयाग करनेसे हमको स्वर्गकी प्राप्ति होगी। तो कर्मकाण्डमें यह माना जाता है कि जबतक संकल्प करके कर्म नहीं करेंगे, तबतक उसका फल नहीं मिलेगा। आपका पुरोहित कर्मकाण्ड तो बहुत करवावे, परन्तु आपको संकल्प ही न करवावे, तो संकल्प हीन कर्मको विधिहीन कर्म मानेंगे।

विधिहीनं असृष्टान्नं मन्त्रहीनं अदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

तो संकल्पपूर्वक, कर्तृत्वपूर्वक, कर्म किया जायेगा। यह कर्म किसलिए कर रहा हूँ कि मुझे यह फल मिले। जिस फलके उद्देश्यसे आप कर्तव्य कर्म करेंगे, वह उत्तम फल आपको प्राप्त होगा। आप धन चाहेंगे, धन मिलेगा, धनकी प्राप्तिके लिए कर्म होता है। हम ऐसे मन्त्र, ऐसे अनुष्ठान, ऐसे यज्ञ एक

नहीं, अनेक देख चुके हैं, जिनके करनेसे कामनाकी पूर्ति होती है। परन्तु उसका रहस्य हम लोग जानते हैं, करनेवाले नहीं जानते हैं। हम जानते हैं कि उस कामनको पूर्ण करनेका व्याकरण क्या है, हम पहले ही जान जाते हैं कि इस कर्मसे क्या होगा? यह कर्म अभिमानपूर्वक हुआ, यह कर्म आग्रहपूर्वक हुआ। कर्ममें महत्त्वबुद्धिसे हुआ, कि विधिमें महत्त्व-बुद्धिसे हुआ, कि गुरुशास्त्रमें महत्त्वबुद्धिसे हुआ। वे सब उसके भेद होते हैं, यह नहीं है कि कोई अपने आप करता जाये और उसमें सफलता मिलती जाये, उसका विधान होता है, पूरा करना पड़ता है।

देखो, ब्राह्मण बृहस्पति-सव करे, राजसूय करेगा ब्राह्मण तो उसको स्वर्ग नहीं मिलेगा, और क्षत्रिय वृहस्पति-सव करेगा, तो उसको स्वर्ग नहीं मिलेगा और वैश्य, वैश्यस्तोम करेगा तब स्वर्ण मिलेगा, राजसूय, बृहस्पति-सव करनेसे नहीं मिलेगा और शूद्र निषादस्थपति याग करेगा तब उसको स्वर्गकी प्राप्ति होगी, बृहस्पति-सव करनेसे नहीं होगी। तो जिस कर्मसे जो फल विहित है, उसका अधिकारी हो, संकल्पपूर्वक उसको करे, राग-वश, द्वेष-वश कर्म न करे, शान्तिसे करें और उसमें भी गुरुका आश्रय हो, ईश्वरका आश्रय हो, उसके विरुद्ध किसीका संकल्प न हो, इसीसे गुप्त रखा जाता है। तब जाकर अनुष्ठान पूरे होते हैं। यह बात भी जरूर है कि सकाम अनुष्ठान भी होते हैं और वे पूरे होते हैं, परन्तु वे परमार्थकी प्राप्तिके लिए नहीं होते हैं। वे तो बिलकुल लौकिक दृष्टिसे हैं, अब उनको छोड़ दो! लेकिन उसमें भी धर्म है। धर्म क्या है? धर्म यह है कि जो शास्त्रोक्त कर्म हैं वही आप करते हो कि मनमाना, वासनाके अनुसार तो नहीं करते हो न! एक पति-पत्नीका जो समागम है उसमें और एक बाजारू औरतके समागममें फर्क है कि नहीं है। फर्क यह है कि एक जगह कायेदेके अनुसार धर्मके अनुसार नियन्त्रित हैं और एक जगह नियन्त्रित नहीं हैं। तो अनियन्त्रित होनेसे उच्छृंखल है, वह बन्धनमें डालेगा और नियन्त्रित होनेसे पति-पत्नीका जो सहवास है, क्रिया तो एक ही है, भोग तो एक ही सरीखा है, परन्तु एक धर्मानुसार होनेसे अपने मन और इन्द्रियोंको रोकनेवाला है और एक धर्मानुसार न होनेसे मन और इन्द्रियोंको स्वच्छन्द कर देनेवाला है।

अब कर्तव्यकर्म देखो दूसरा; निष्काम भावसे करते हैं। आप यज्ञ कीजिये, परन्तु निष्काम करिये। असलमें अन्तःकरणकी शुद्धि माने और कुछ नहीं, आपको हम बतावें यह आध्यात्मिक जो पदार्थ होता है, वह परोक्ष नहीं होता है। आपको मालूम है कि नहीं है! न मालूम हो तो मालूम कर लो! जो भी आध्यात्मिक पदार्थ होता है वह मरनेके बाद नहीं मिलता है, वह स्वर्गमें नहीं मिलता है। आध्यात्मिकं माने शरीरके भीतर—इसी समय *आत्मनि इति अध्यात्मं*—जो शरीरके भीतर है, यह आँख अध्यात्म है, मन अध्यात्म है, बुद्धि अध्यात्म है, अहंकार अध्यात्म है, चित् अध्यात्म है, वाक् अध्यात्म है, श्रोत्र अध्यात्म है। इसीका नाम अध्यात्म है। यह हाथ भी अध्यात्म है, यह पाँव भी अध्यात्म है, तो जब आप निष्काम होते हैं, निष्कामता तो आध्यात्मिक है न, अन्तःकरणमें कामनाका होना ही तो अन्तःकरणकी अशुद्धि है और जब आप कर्म कर रहे हैं, और कामना है नहीं, कामना न होना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है। जब आप निष्काम भावसे कर्म करने लगे—तो आपका अन्तःकरण अपने आप ही शुद्ध हो गया। माने निष्काम कर्म करनेका फल अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं है। आप देख लो निष्काम कर्मके अनुष्ठान कालमें ही आपका अन्तःकरण शुद्ध है।

अब कोई बोले—महाराज, हम निष्काम भावसे ब्लैक मार्केट करते हैं, निष्काम भावसे दूसरेको ठगते हैं, निष्काम भावसे दूसरेका जेब काटते हैं, निष्काम भावसे हर साल बच्चे पैदा करते हैं, वह बात जो है न निष्काम कर्मवाली, वह किताबी और अखबारी जो निष्काम कर्म है, उसकी बात मैं नहीं बताता, आप हर बातको समझिये—

जो अपने हृदयके भीतरकी बातको नहीं समझता, वह कर्मफलके रहस्यको भी नहीं समझता।

अच्छा तो आओ, निष्कामता तो आ गयी और कर्म हो रहा है, अब हम एक जगह आपको ऐसा कहेंगे कि यह निष्काम कर्मी संन्यासीसे भी उत्तम है। लो, डर जायेंगे, संन्यासी लोग तो नाराज ही हो जायें महाराज! अच्छा तो इसमें क्या बात है कि एक आदमी बाहरसे तो कर्म नहीं करता है और भीतरसे कर्मकी, भोगकी, अर्थकी वासना लिये बैठा है, तो वह तो ढोंगी हुआ, वह

सच्चा संन्यासी नहीं हुआ। तो उस ढोंगीकी अपेक्षा, जो हृदयमें कामना नहीं रखता है और बाहरसे कर्म करता है, वह श्रेष्ठ हुआ। ढोंगी संन्यासीकी अपेक्षा निष्काम भावसे कर्ममें प्रवृत्त जो व्यक्ति है, वह बिलकुल श्रेष्ठ है।

अब इसमें एक भूमिका और है। निष्काम कर्म दो तरहका होता है, एक तो अन्तःकरणकी शुद्धि करके अपने स्वरूपमें बैठनेके लिए और एक अन्तःकरण-शुद्धिके द्वारा भगवान्‌को प्रसन्न करके उनके साथ मिल जानेके लिए। तो भगवत्प्रसाद-सिद्ध्यर्थ निष्काम कर्मका अनुष्ठान और अन्तःकरण शुद्धि-पूर्वक स्वरूपानुसन्धानके लिए निष्काम कर्म—ये दो प्रकार इसके होते हैं। लेकिन एक तीसरा प्रकार और है, वह अभी आपको सुनाते हैं—कर्म निष्काम भी हो और यज्ञयागादिमें प्रवृत्त न हो, क्या हो? कि निवृत्ति-कर्मका सेवन करे। निवृत्ति कर्म क्या है? **शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।** सन्ध्यावन्दन कर लिया, स्नान कर लिया, भगवद्भजन कर लिया, वेदान्तका स्वाध्याय किया, निवृत्ति-कर्ममें संलग्न रहे। तो निष्काम होकर कर्त्तव्यके विस्तारमें पड़ना दूसरी बात है और निष्काम होकर निवृत्ति कर्ममें रहना—एक दूसरी बात है।

अब आपको इनसे विलक्षण—सकाम भावसे शास्त्रोक्त कर्म करना और निष्काम भावसे शास्त्रोक्त कर्म करना, भगवत्प्रीत्यर्थ निष्काम कर्म करना, स्वरूपावस्थित्यर्थ निष्काम कर्म करना और निवृत्ति कर्म करना, इनसे भिन्न एक और अवस्था है, वह बड़ी विलक्षण है। अधिकांश समाधिमें रहना और प्रवृत्ति कर्म और निवृत्ति कर्म दोनोंसे अलग रहना, तो बस, क्या हो गया परमार्थ? कि नहीं, अभी नहीं, यह निष्काम भावसे भगवान्‌के लिए कर्म करना, निष्काम भावसे स्वरूपमें बैठनेके लिए कर्म करना, निवृत्ति कर्ममें रहना, और निवृत्ति कर्मकी पराकाष्ठा, शान्ति, दान्ति, समाधानमें जाकर बैठ जाना, बोले—यह सब व्यक्तिगत स्थिति है। अभी तत्त्वका स्पर्श नहीं हुआ। तत्त्व तो बिलकुल इससे न्यारा है, निराला है। तो कई लोगोंको भ्रम होता है। आपको एक भ्रमका उदाहरण सुनाते हैं। एक था हमारा मित्र, सन् इक्तीस-बत्तीसमें हम लोगोंका साथ हुआ। तो उसका हमसे प्रेम हो गया, तो प्रेम होनेपर उसने तीन शर्त रखी। देखो प्रेमकी शर्त आपको सुनाते हैं, वह कहता था या तो भगवान्‌का दर्शन हो

जाये तो मैं आपको छोड़ सकता हूँ और या तो ध्यानमें मैं तन्मय हो जाऊँ तब आपको छोड़ सकता हूँ। और नहीं तो जो मैं कहूँगा सो आपको करना पड़ेगा और हमेशा मेरे साथ रहना पड़ेगा, माने वह हमको पराधीन बनाकर रखना चाहता है। एक बार अनशन कर दिया, गंगाजीके किनारे बैठकर। काशीमें एक गुफा थी घाटके पास, जाकर उसमें बैठ गया, खाना-पीना छोड़ दिया। गौरीशंकर गोयनाका काशीके बड़े भारी विद्वान्, मारवाड़ियोंमें बड़े भारी विद्वान् थे, उनके पास खबर गयी। उन्होंने जाकर उसको मनाया और अपने घरमें लाकर रखा और हमको तार दिया कि आओ स्वामीजी, आओ पंडितजी! मैं पंडित था उस समय। गया, तो मैंने कहा कि अच्छा, ये तीनों इच्छाएँ जो हैं तुम्हारे मनमें, इनको छोड़ दो, तो कोई-न-कोई बात तुम्हारी पूरी हो जायेगी। अब देखो, भ्रम कैसे होता है यह आपको सुनाता हूँ। उसने कहा—अच्छा, लो हमने छोड़ दी, तीनों इच्छा छोड़ दी, अब तो हमारी इच्छा पूरी होगी? हाँ भाई, अब पूरी होगी, अब दस-पन्द्रह दिन हो गया, उसने कहा—हमने सब इच्छा छोड़ दी, अब कोई इच्छा हमारे मनमें नहीं। पन्द्रह-बीस दिनके बाद फिर आकर हमारे पास बैठ गया। बोले—पन्द्रह-बीस दिनतक मैंने अपनी इच्छा छोड़कर रखी और अभीतक पूरी नहीं हुई, तो अब मैं फिर अपनी इच्छा करता हूँ। फिर उसके बाद भाईजी हनुमान प्रसादजीके पास गये, तो उन्होंने कहा—अच्छा तू मेरा कहा एक अनुष्ठान कर, तो तुझे सफलता मिलेगी। अब महाराज, वह झूसीमें रहकर अनुष्ठान करने लगा। वह छह महीने तक जप किया होगा, फिर संयोगवश हमको झूसी जाना पड़ गया और उससे हो गया मिलना, तो उसने कहा—मैंने तो ऐसे-वैसे कामके लिए अनुष्ठान नहीं किया था, मैंने तो इसीलिए किया था कि तुमको मजबूर होकर हमारे पास आना पड़े और आखिर आ गये ना तुम, तो हमारा अनुष्ठान सफल हो गया। फिर ईश्वर कृपासे उसका ब्याह हो गया, तो दो तीन बच्चे हो गये, फिर धीरे-धीरे उसके मनमें जो आसक्ति थी ना, वह छूट गयी।

अच्छा, वह जो कहता था कि मैंने पन्द्रह-बीस दिनके लिए इच्छाएँ अपनी छोड़ दीं और अभी तक पूरी नहीं हुई तो मैं फिर करता हूँ, तो क्या उसने अपनी इच्छाएँ छोड़ दी थीं? नहीं, वह इच्छाका छोड़ना नहीं हुआ। यह

आदमीको भ्रम होता है कि हम कोई इच्छा नहीं करते हैं, हम कुछ नहीं चाहते हैं। तो ढोंग नहीं करना चाहिए, अपनी इच्छाको ठीक-ठीक समझना चाहिए और इच्छाओंको ठीक दिशा देनी चाहिए। ठीक दिशा देनेका क्या अर्थ है ? जैसे गंगाजीकी धारा आ रही है, बहती हुई, तो उसको कोई चाहे कि हम बाँध दें, नहीं बहने देंगे, तो बाँध नहीं सकते, कितना भी बड़ा बाँध लगाओ वह तोड़ देगी।

एक बार सन् सोलहमें क्या हुआ कि धौली गंगा आती हैं मठचट्टीकी ओरसे, चमौलीके और ऊपर। एक पहाड़ गिर पड़ा धौली गंगामें। बड़ा भारी पहाड़ गिरा, तो धौली गंगाका रास्ता बन्द हो गया। अब वह पानी भरने लगा, भरने लगा, ब्रिटिश सरकारका समय, किसीने महाराज ध्यान नहीं दिया कि क्या होगा! लोग समझते थे कि इतना बड़ा पहाड़ ज़ब गिर पड़ा है, तो यह धौली गंगा क्या करेगी ? थोड़े दिनोंके बाद महाराज, जब इकट्ठा हुआ पानी, तो उसने पहाड़को ढकेला और जिस दिन वह पहाड़को ढकेला और उसकी बाढ़ आयी, तो ऋषिकेशका वह टीला जिसपर डेढ़ सौ महात्मा थे, वह सारा-का-सारा टीला ही बह गया और वे महात्मा लोग भी गंगाजीमें बह गये। तो गंगाजीकी धाराको रोकनेका यह तरीका नहीं है कि उसको रास्ता ही न दिया जाये। उसमें-से जब नहर निकालते हैं, तो एक ओरसे बाँधते हैं तब एक ओरसे नहर निकालते हैं। इच्छाएँ प्रकृतिकी धारामें बहती रहती हैं इनको बिलकुल रोक देना चाहोगे, तो ये नहीं रुकेंगी। तो यह ब्याह क्या है ? कि अपनी भोगकी जो इच्छा है उसको उच्छृंखल बहनेसे रोक करके एक जगह उसको बाँधे। हमारा प्रेम इधर-उधर भटकता रहता है। यह एक इष्ट बनानेका क्या अर्थ है ? कि एक इष्टसे प्रेम करें और बाकी और बहता हुआ जो प्रेम है उसको बाँध दें। वैराग्यसे भी राग होता है, वैराग्यसे भी प्रेम होता है, ब्रह्मसे भी प्रेम होता है, आत्मासे भी प्रेम होता है, तो सबसे बड़ी बात क्या है ? सबसे बड़ी बात यह है कि अपने व्यक्तित्वमें जो अहं है, उस अहंको यदि ब्रह्मके साथ जोड़ दिया जाये तो व्यक्तित्व बाधित हो जायेगा और यदि अहंको जड़ प्रकृतिके साथ मिला दिया जाये तो जड़ हो ज़ायेगा। जो चार्वाक है वह अपने अहंको जड़ प्रकृतिमें डाल देता है। जाओ जड़ हो जाओ, जन्मके पहले तुम कुछ नहीं थे और

मरनेके बाद कुछ नहीं रहोगे। तुम मिट्टी हो, जाओ मिट्टीमें मिल जाओ! वेदान्ती कहता है कि हे अहं, तुम परिच्छिन्नताको छोड़कर देखो, तुम तो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हो और इससे परिच्छिन्नता बाधित हो जाती हैं। तो काम और कर्म उभयसे युक्त है प्रकृतिकी धारा और काम और कर्म उभयसे विनिर्मुक्त है ब्रह्मस्वरूप। यह जो हमारी साधनकी पद्धति है, वह ब्रह्मस्वरूपसे मिलानेके लिए है, तो कोई ऐसी चीज होनी चाहिए जिसमें योग और संन्यास दोनों एक हो जाते हों।

स संन्यासी च योगी च—एक चीज ऐसी होनी चाहिए कि एक ही व्यक्ति संन्यासी भी हो जाये और योगी भी हो जाये। तो बोले कि हाँ, एक चीज ऐसी है—**अनाश्रितः कर्मफलं** कर्मफल पर लटको मत। कर्मफलपर लटकना क्या है? कि कर्मफलके गुलाम मत बनो, मिले कि नहीं मिले, अपना काम करना। भाई, एक आदमी था, रोज सबेरे उठकर सूर्य भगवान्‌को हाथ जोड़ता, लेकिन महाराज उसका घर ऐसी गलीमें था जहाँ दिनभर अन्धेरा ही रहता था, सूर्यकी रोशनी पहुँचती ही नहीं थी उसके कमरेमें। रोज सबेरे उठकर घरसे बाहर जाता और कहता कि हे सूर्य भगवान् मैं तुमको हाथ जोड़ता हूँ, हमारा इतना तो एहसान मानो कि हमारे घरमें रोशनी कर दिया करो! अब वे सूर्य भगवान् क्या करें, कई बरस हो गया, रोशनी नहीं आयी उसके घरमें। तो उसने कहा—जाओ-जाओ, ऐसे सूर्यको नमस्कार करनेसे क्या फायदा है, जो हमारे अन्धेरे घरको उजाला नहीं देता है।

तो क्या हुआ, कर्मफलपर आश्रित होनेके कारण, उसको जो सूर्यको नमस्कार करनेका उत्तम कर्म था, वह छूट गया। सूर्यको नमस्कार इसलिए नहीं किया जाता कि वह हमारे घर-घरौंदेमें लाकर रोशनी डाले। हमारी आँखको देखनेके लिए, सारे जगत्‌को रोशनी दे रहा है सूर्य, उसके प्रति कृतज्ञ होकर झुक जाना, यह भगवत्प्रीत्यर्थ, जो हमारी बुद्धिको, हमारे अन्तःकरणको ज्ञानका प्रकाश दे रहा है, उसके प्रति कृतज्ञ हो जाना और जो हमारे अन्तःकरणको आत्मदेव प्रकाशित कर रहे हैं, कामना और कर्मफलके अधीन हो करके, उनसे विमुख न होना, उनके सम्मुख रहना, यह कर्मका साक्षात् कर्मफल है।

आपको एक बात सुनाता हूँ, एक दिन मैं स्वर्गाश्रममें बैठा था, चाँदनी रात थी, गंगाजीके किनारे बैठ गया। तो एक आया हमारा मित्र उसने कहा कि स्वामीजी, संसारमें मेरी किसीसे आसक्ति नहीं है और मैं कुछ भी नहीं चाहता हूँ, यह शरीर भी मैं छोड़नेके लिए तैयार हूँ। आप आज्ञा करो तो इसी समय मैं गंगाजीमें कूद सकता हूँ, इस शरीरसे मेरा कोई लोभ नहीं है, न आसक्ति है; लेकिन मुझे आनन्द चाहिए। मुझे बस आनन्द मिल जाये और कुछ नहीं चाहिए। ब्याह नहीं किये हुए था। आप कहो तो ब्याह कर लें। यदि आनन्द मिलता हो ब्याहसे, तो ब्याह कर लें, आप कहो तो भूखे रहें, आप कहो तो पहाड़ परसे कूद पड़ें, लेकिन हमको तो आनन्द चाहिए, बस आनन्दके सिवाय कोई कामना मेरे हृदयमें नहीं है। मैंने कहा कि यह बात ईमानदारीसे बोलते हो? कि बिलकुल ईमानदारीसे, बिलकुल सच्ची। मैंने कहा कि अच्छा, बैठ जाओ। वह महाराज, मेरे सामने आसन बाँधकर बैठ गया। मैंने कहा कि अच्छा, जो मैं कहूँगा सो करोगे? हाँ, करेंगे। तो मैं यह कहता हूँ कि यह जो आनन्दकी इच्छा है, वह तुम छोड़ दो। उसने कहा—अच्छा छोड़ दिया, मैंने आपकी बात मानी, आनन्दकी इच्छा छोड़ दी और फिर महाराज, पहले उसके शरीरमें थोड़ा कम्प हुआ, उसकी आँखसे चार-छह बूँद आँसू टप-टप गिरे और जैसे चन्द्रमा चमकता है, वैसे उसका शरीर चमक गया और वह तो महाराज ऐसा समाधिस्थ हुआ कि आपको क्या बतावें! आध-पौन घण्टेतक मैं भी वहाँ बैठा रहा और वह भी बैठा रहा और उसके बाद जब उठा तो बोला—मुझे आनन्दकी झाँकी मिल गयी, मैं समझ गया कि आनन्द कैसा होता है। यह है आनन्द।

असलमें यह जो इच्छा है, इच्छाएँ जो हैं ये आनन्दकी आच्छादिका हैं। यह ब्रह्मज्ञानकी जो धारा है, उसका जो आच्छादन कर दे, चाह। यह इच्छामें-से 'इ' का लोप हो गया तो रह गया 'च्छा', वही 'चाह' बन गया। वही इच्छाका ही 'चाह' बना हुआ है। आपको सुनाया ही होगा कि ब्रह्माजीने 'आह' बनायी सृष्टिमें। आह जानते ही हैं आप, *आहन्ति, आह समन्तात् हन्ति* अथवा *आह ईषत् हन्ति,* जो मारे, चोट करे उसका नाम आह! आह-आह करके दुनियाका आदमी कराहता है; उसीको तो आह बोलते हैं। तो ब्रह्माजीने अब आह बनायी। आहने कहा—महाराज, आपने बेटी तो पैदा कर दी, हमारा

किसीसे ब्याह भी करो। बोले—जा बेटी, दुनिया भरमें चाहे किसीसे ब्याह कर ले। अब वह गयी महाराज, तो कोई उससे ब्याह ही न करे। बोले—आहसे कौन ब्याह करेगा। फिर गयी ब्रह्माजीके पास कि मुझसे कोई ब्याह नहीं करता। ब्रह्माजीने चकारकी चादर ओढ़ा दी उसके मुँहपर कि बेटी घूँघट काढ़कर जा, तब तुझको लोग चाहेंगे। जो आहके मुँहपर चकारकी चादर पड़ी, तो उसका नाम चाह हो गया, तब लोग उसको अपने हृदयमें बसाने लगे। असलमें यह जो हमारे मनमें प्राप्तका तिरस्कार करके अप्राप्तके लिए संकल्प है, प्राप्त जो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा नित्य प्राप्त अपना स्वरूप है, इसका तिरस्कार करके जो अप्राप्तके लिए चाह है, इच्छा है, संकल्प है, वही हमारे जीवनको दुःखी बनाये हुए है, अज्ञानी बनाये हुए है अज्ञान माने क्या? नित्य प्राप्तका तिरस्कार करके अप्राप्तको चाहना, इसीका नाम अज्ञान है। इसीका नाम दुःख है। इसीका नाम मृत्यु है, यही असत्, अचित् और दुःख है।

: २ :

संन्यास और योग दोनों कहाँ मिलते हैं ? बोले—संन्यास और योग तो दोनों एक ही हैं। बोले—दोनों एक कैसे हैं ? लो बताते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥

बिना संन्यासके कोई योगी होता है ? बिना योगके कोई संन्यासी होता है ? अरे संन्यास और योग दो नहीं हैं भाई, संन्यास और योग तो एक ही है। बोले क्या है ? कि संकल्पका तो संन्यास है और आत्माका योग है। जहाँ नित्य योगमें ही अयोगका भ्रम हो गया है, वहाँ केवल अयोगका भ्रम ही मिटना चाहिए। तो **नह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।**

देखो, आप संकल्प करते हो। संन्यस्त और संकल्प, संन्यास और संकल्प—ये दोनों परस्पर विरोधी शब्द यदि नहीं होंगे तो संकल्पका परित्याग किये बिना कोई संन्यासी या योगी नहीं होता, यह बात नहीं कही जायेगी। संन्यास और संकल्प, ये हमारे मनुजी महाराज तो कर्मके बड़े पक्षपाती हैं, कहते हैं हाँ, कर्म तो करना ही चाहिए, परन्तु वे कर्मके त्यागका भी तो विधान करते हैं—

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद् वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥

हो ब्राह्मण, छोड़ दे अग्निहोत्र, छोड़ दे यज्ञ-यागादि और रहे ब्राह्मण, यज्ञोपवीत रखे, शिखा रखे, ब्राह्मण वर्णमें रहे और अग्निहोत्रादिका परित्याग कर दे, तब करे क्या? बोले—प्रयत्न करे, ब्राह्मण ब्राह्मण रहे और अग्निहोत्रादि कर्म विस्तारका परित्याग कर दे और करे क्या? बोले—तीन काम करे—**आत्मज्ञाने यत्नवान् स्यात्। शमे यत्नवान् स्यात्। वेदाभ्यासे यत्नवान् स्यात्।** आत्मज्ञानके लिए यत्न करे। शान्तिसे बैठनेके लिए यत्न करे और उपनिषदोंके अभ्यासमें यत्न करे। तीन यत्न ब्राह्मण करता रहे, इसको कर्मके विस्तारकी कोई जरूरत नहीं है।

अच्छा तो आओ संकल्पकी बात आपको सुनावें। संकल्प और संन्यास—

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।

जबतक संकल्पका त्याग नहीं करेगा तबतक कोई योगी नहीं होगा।

मन न रँगाए, रँगाए जोगी कपड़ा
अरे मुखड़ा क्या देखे दर्पणमें,
तेरे दया धर्म नहीं तनमें!

मन अगर ठीक नहीं हुआ, *'मन चंगा तो कठौती में गंगा।'* श्रीमद्भागवतमें तो ऐसे कहा है—**यतेराश्रमः प्रायः** संन्यासी कोई आश्रमी थोड़े ही हैं। यह संन्यास आश्रम नहीं है, यह तो त्यागकी पराकाष्ठा है। त्यागकी पराकाष्ठा क्या है? अद्वैतके बोधसे जो द्वैतका नितान्त बाध है, द्वैत भ्रान्तिकी नितान्त निवृत्ति ही संन्यासकी पराकाष्ठा है। यह छोड़ दिया और यह पकड़ लिया, इसको संन्यास नहीं बोलते हैं।

अच्छा, तो संकल्प शब्दको लें। इसमें दो अवयव हैं—एक तो *सं,* माने सम्यक्, भली भाँति। और एक है *कल्प* माने कल्पना। संकल्प क्या है? जब हमारे बारेमें किसी चीजकी अच्छाई-पर-अच्छाई आने लगे कि यह बहुत बढ़िया है, दुनियामें किसी चीजके सम्यक्त्वकी जो कल्पना है, बहुत मीठी लगती है। एक बार एक महात्मासे किसीने पूछा कि महाराज, पहले लोग

भजन करते थे, तो अप्सराएँ विघ्न डालनेके लिए आया करती थीं। तो बोले— वे तो अब भी आती हैं। ये जो मधुर-मधुर कल्पनाएँ होती हैं, चित्तमें, ये करेंगे तो यह पावेंगे-यह पावेंगे और महाराज वर्तमान खो जाता है। इन मधुर कल्पनाओंमें सार क्या है? कि इतना ही कि वर्तमान तुम्हारा नष्ट हो गया। ये अप्सरा हैं। अप्सरा माने जिससे हमारे भीतरकी जो वीर्यशक्ति है, गतिशक्ति, वह नष्ट हो जाये। हमारी वीर्यवत्ता जिससे नष्ट हो जाये। *अप* माने पानी, अप माने वीर्य, अप माने हमारे अन्दर जो गतिशील ऊर्जा है, यह 'ऊर्जा' शब्द तो हमारा वैदिक है न, ***इषेत्वा ऊर्जेत्वा*** यजुर्वेदके पहले ही मन्त्रमें ऊर्जा शब्दका प्रयोग है। जिसको आजकल अणुशक्ति बोलते हैं न, ***ईषेत्वा ऊर्जेत्वा,*** यह ऊर्जा जो है हमारे अन्दर, जो वीर्य है, बल है, जो हमारी मानसिक, तो सम्यक्त्वकी कल्पना करनेमें, यहाँ सम्यक् नहीं है, वहाँ सम्यक् है। इस लोकमें तो कुछ अच्छा नहीं है, तब कहाँ है? बोले कि जब बहिश्तमें जायेंगे तो वहाँ कितनी दूर और कितने दिनमें मिलेंगे। आप लोग शायद जानते नहीं होंगे, जब स्वर्गमें जायेंगे तो वहाँ बिना दाढ़ी-मूँछके किशोर बालक मिलेंगे और वहाँ सुन्दर किशोरियाँ मिलेंगी और अमृत पीनेको मिलेगा, विमान चढ़नेको मिलेगा और अपार्क पार्क मिलेगा। अपार्क माने जिसमें सूर्यकी रोशनी न पहुँचती हो, बिलकुल चाँदनी छिटकती रहती हो, अपार्क बोलेंगे उसको। अपार्कमें-से 'अ' का लोप हो गया तो पार्क हो गया।

तो ऐसे मिलेंगे नन्दनवन। माने इस लोकमें तो कुछ है ही नहीं। गये, जिन्दगीसे गये। जिसके जीवनमें स्वर्गकी कल्पना भर गयी, उसके इस जीवनमें जो माधुर्य था न, वह सूख गया। तुमको इस जीवनमें माधुर्य था न, वह सूख गया। तुमको इस जीवनमें माधुर्य लेना हो, इस जीवनके सौन्दर्यका अनुभव लेना हो, तो मरनेका अमंगल उसके साथ मत जोड़ो कि मरनेके बाद मिलेगा। हम आपको साँची-साँची बात बोलते हैं।

अच्छा, तो देशान्तरमें नहीं फेंका। जब तक पेरिस नहीं जायेंगे, तबतक क्या सुख है! जबतक अमेरिका नहीं जायेंगे तबतक क्या सुख है! मर गये। यहाँका समुद्र उतना अच्छा नहीं है। कहाँ? तो बोले भाई-लन्दनका जो समुद्र है न, वह देखनेमें बहुत अच्छा है। हे भगवान्! समुद्र तो समुद्र ही है।

वहाँकी चाँदनी अच्छी होती है, वहाँकी हरियाली अच्छी होती है, यह जो कल्पना है न, यहाँको जो नष्ट कर दिया न, यहाँ तो पहले तुमने समुद्रपार फेंका और समुद्र पारसे यह नीलिमाको उसके ऊपर फेंक दिया। लेकिन इतनी ही बात नहीं है, कालके पार फेंक देते हो, यह आज नहीं है, कल आवेगा। आज यदि तुम्हारे जीवनमें माधुर्य नहीं है, आज ही माधुर्यकी सृष्टि कर लो न! संकल्प माने क्या? यही स्वर्गकी अप्सराका नाम संकल्प है। यह अमेरिका, पेरिसमें सुख मिलेगा इसका नाम संकल्प है, देशान्तरमें सुख है, स्वर्गमें या धरतीपर और कालान्तरमें सुख है, अब नहीं है तब है और अपनेमें नहीं, दूसरेमें है; यह सत्यानासी प्रक्रिया, इसीका नाम संकल्प है। अपने आपमें अभावकी सृष्टि करन, हमारे अन्दर सुख नहीं है, सुख तो दूसरेके अन्दर है। अरे हम उसको सुख देंगे,जिसको छुयेंगे उसको सुख देंगे। जिसको छुयेंगे उससे सुख लेंगे नहीं, जिसको हम छुयेंगे उसको सुख देंगे कि अच्छा, यह लेने-देनेका व्यापार बन्द करो। तुम सुखके बिलकुल समुद्र हो। मैंमें सुख नहीं है तुममें सुख है, यहाँ सुख नहीं वहाँ सुख है, अब सुख नहीं तब सुख है, इसमें सुख नहीं है, उसमें सुख है। यह संकल्प है। सम्यक्त्व कल्पना। अन्यमें जो सम्यक्त्वकी कल्पना है इसीका नाम, संकल्प, जबतक इसको नहीं छोड़ेगा कोई, तबतक संन्यासी हो ही नहीं सकता और जब यह छूट गया, तो महाराज, देखो नित्य योग, स्वयं परमात्मा है, स्वयं आत्मा है, स्वयं परब्रह्म है, स्वयं परमानन्द है। तो जिसने संकल्पका त्याग कर दिया वह संन्यासी भी है और योगी भी है। इसलिए संकल्परहित जो अन्य देशमें, अन्यकालमें, अन्य वस्तुमें, अन्य व्यक्तिमें सम्यक्त्वकी कल्पना करके जो अपनेको हीन बना रहे हो, अपनेको अभावग्रस्त कर रहे हो, हम ऐसे कहाँ सुखी हैं? जब वैसे होंगे तब सुखी होंगे। लो ऐसे सपनेका जो इस समय ईश्वर है उसका तो तिरस्कारकर दिया, तो सुखी कहाँसे होओगे तुम? तो जिसकेजीवनमें संकल्पका त्याग आगया वह सच्चा संन्यासी हो गया, वह सच्चा योगी हो गया।

हमारे एक मित्र बहुत समझदार हैं। एक दिन वे पूछने लगे कि स्वामीजी, जब ब्रह्म सब समय है, सब जगह है, सब है, सर्वातीत है,

सर्वधिष्ठान है, सर्वप्रकाशक है, सर्वात्मा है, स्वात्मा है, स्वरूप है, सबका अपना आत्मा है, तो उसका साधन सब कुछ क्यों नहीं हो सकता? उसका साधन तो चलना भी होना चाहिए खाना भी होना चाहिए, करना भी होना चाहिए। असलमें जो चीज सब समय, सब जगह, सर्वात्मा, सर्वातीत सर्वप्रकाशक, स्वयं प्रकाश होती है, वह केवल अज्ञानसे ही अन्तर्हित होती है और किसी प्रकार नहीं होती है। यदि और किसी प्रकार छिपी हो, तो और किसी प्रकार वह जाहिर की जाये, वह तो केवल न पहचाननेसे ही छिपी है, इसलिए एक चोट मारी अज्ञानपर और जाहिर हो गयी। लेकिन फिर भी मैंने उनसे जो जवाब दिया, ठीक है, इसीसे सनातन धर्मके जितने पंथ हैं, जितने ग्रन्थ हैं, तन्त्रोंको भी अधिकारी विशेषके लिए, स्थान विशेषमें उपयोगी मानते हैं, सबकुछ साधन है, यात्रा भी साधन है—तीर्थयात्रा। कर्म भी साधन है। पंचमाहुति भी साधन है। माने जो सब कुछ है उसके लिए सब कुछ साधन है। पर जो सब कुछ है वह अनमिला क्यों है? तो अनमिला न पहचाननेके कारण है और इसलिए 'न पहचानना' मिटानेके लिए जो पहचाननेकी तलवार है वही साक्षात् साधन है। वह तलवार चाहे जैसे प्राप्त हो।

अच्छा, अब आपको साधनकी बात सुनाते हैं। अभिनव गुप्ताचार्य कश्मीरी शैवोंमें बड़े प्रबल विद्वान् हुए हैं। और वे सब विषयके विद्वान् थे क्या तन्त्रके, क्या दर्शनके, क्या गीतादिके, क्या काव्यके। भरत नाट्यमपर तो उनकी वृत्ति ही है, गीतापर भी उनकी टीका है। तो वे कहते हैं—योग है सिंहासन और संन्यास है साम्राज्य पदका अभिषेक तो जैसे बिना सिंहासनके कोई राजा नहीं हो सकता वैसे ही बिना योगके कोई संन्यास नहीं कर सकता। तो योग और संन्यासका कोई नियत सम्बन्ध होना जरूरी है।

आओ, अब नियत सम्बन्ध सुनाते हैं। आपको ईश्वरकी प्राप्तिकी लालसा है? आप आत्मसाक्षात्कार चाहते हैं? परमात्माका अनुभव चाहते हैं? आप अपने प्रीतमसे मिलना चाहते हैं? प्रीतमके घर जाना चाहते हैं? वह तो बोली है बाबा! कभी दूसरे ढंगसे बोलते हैं और हमारे वृन्दावनके रसिक दूसरे ढंगसे बोलते हैं। क्या आप रसके समुद्रमें गोता लगाना चाहते हैं? क्या आप अनन्त

चिदाकाशमें सम्पूर्ण दृश्यप्रपंचको बाधित कर देना चाहते हैं ? तो आइये इसमें हम आपको गोते लगवाते हैं।

आप कोई भी साधन करेंगे तो थोड़ी-सी निवृत्ति आपको करनी पड़ेगी, यह आप देख लो। प्रीतमसे मिलना है तो दुश्मनकी ओरसे मुँह मोड़ना पड़ेगा। ऐसा समझो, एक ओर तो दुश्मन खड़ा है और एक ओर प्रीतम खड़ा है, यदि आप दुश्मनको देखोगे तो प्रीतम आपका नहीं दिखेगा, ये दुनियामें जितने प्रीतम हैं, उनको दुनियामें नोटिस दे देनी चाहिए कि यदि तुम हमारे दुश्मनको देखोगे, तो हम तुमको अपना प्रेमी नहीं समझेंगे, हम तो अपने दुश्मनका प्रेमी समझेंगे; क्योंकि तुम उसकी ओर देख रहे हो, उसकी याद कर रहे हो, उसके ख्यालमें डूबे हुए हो, उसकी याद कर रहे हो, उसके ख्यालमें डूबे हुए हो। जितने प्रीतम हैं उन्हें चाहिए कि अपने प्रेमियोंको कायदेसे यह सूचना दे दें कि देखो, अगर हमसे प्रेम करना चाहते हो, तो दुश्मनकी ओर मत देखना, नहीं तो तुम्हारा दिल कड़वा हो जायेगा और मैं उसको स्वीकार नहीं करूँगा। याद करो सौतकी और प्यार करना चाहो पतिसे! यह नहीं हो सकता। जो सौतको याद करता है वह पतिका प्रेमी नहीं है।

अच्छा तो जिससे बात करनी पड़ती है उसीकी भाषामें बोलना पड़ता है न! क्षमा करना, देखो, एक चीजको देखना होता हैं तो दूसरी ओरसे नजर हटाना पड़ता है। एक ओरसे जो नजर हटायी गयी उसका नाम हुआ निवृत्ति और जिसपर नजर डाली गयी उधर हुई प्रवृत्ति। कोई भी साधन प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप दो पंखके बिना नहीं चल सकता। कोई भी साधन नहीं चल सकता। तो बिना संन्यासके कोई साधन हो ही नहीं सकता, पहले यह लो, संन्यास तो आपको करना पड़ेगा। सौतका संन्यास करो और पतिसे प्रेम करो— यही साधन है। तो धर्मसाधन क्या है ? एक हमारी बहुत आत्मीय लड़की है। हम जानबूझकर उसका नाम-पता नहीं बोलते हैं, आप लोगोंको शायद अच्छा नहीं लगे, यह बात रिकार्ड की जाती है न, तो घूम-फिरकर उनके पास पहुँच सकती है, इसलिए नहीं बोलता हूँ। उसके पतिकी तनख्वाह बढ़ गयी जब थोड़ी, तो वे शराब पीयें और कुछ वहाँ ऐंग्लोइंडियन लड़कियाँ थीं तो उन्हींमें रहें। वह लड़की बहुत परेशान हुई तो उसने पूछा कि क्या करें! तो मैंने कहा तूँ

तो उनकी सेवा कर, उनसे यह भी कह दे कि आपको छुट्टी है, उस लड़कीको आप घरमें भी लाकरके रखें, तो रख लें! तू अपना अभिमान छोड़ दे। और कह दे जैसा आपके घरमें दासी रहती है, बर्तन माजेगी, कपड़ा धोयेगी, खाट बिछावेगी, ऐसे ही मैं रहूँगी। क्योंकि अब सनातन हिन्दू धर्मके अनुसार हम आपका घर छोड़कर कहीं जा नहीं सकती।

नारायण, वह करने लगी ऐसा। थोड़े दिनोंमें श्रीमानको भगन्दर हो गया। तब वह जो ऐंग्लोइंडियन लड़की थी, वह उन्हें छोड़कर किसी दूसरेके साथ चली गयी और वे गये अस्पताल और वे कराहें, दो महीना अस्पतालमें रहना पड़ा। वो कराहें और वे चिल्लायें, बड़ा भारी भगन्दर। उत्तरप्रदेशकी बात है, कोई बम्बईमें अपने ऊपर न घटा ले, इसलिए बोलता हूँ।

एक दिन रातको जब वे अस्पतालमें बड़े जोरसे चिल्लाने लगे, तो लड़कीने कहा कि देखो, जब चिल्लाते ही हो तो भगवान् जो करनेवाले हैं सो तो होगा ही, मुँहसे चिल्लाते ही हो, आओ भगवान्‌का नाम चिल्लायें। मैं भी तुम्हारे साथ बोलती हूँ। अब वे दोनों मिलकर—हरे राम, हरे राम, हरे राम ऐसे बोलने लगे, थोड़ी देरमें उनको नींद आ गयी। बड़ा आराम मिला उस रातको और उसके बाद ऐसा लगा कि रोग अच्छा हो रहा है। तब वह लेकर द्वादशाक्षर मन्त्रकी माला जपने लगे। लड़कीने ही उनको बताया। उनको मन्त्र-तन्त्रका भी कोई ख्याल नहीं था। वे द्वादशाक्षर मन्त्रकी माला फेरने लगे। पाँच-दस दिनमें ठीक होकर अस्पतालसे निकल आये। फिर मेरे पास आये, मुझसे लिया मन्त्र, मेरे बने चेले। और अपने सब पापोंका प्रायश्चित किया। उसके बाद यह तय हुआ कि जब रुपया उनके पास आयेगा तनख्वाहका, तब लाकर वे लड़कीको दे देंगे। असलमें जो अपने हृदयको ठीक रखेगा, वह तो धर्ममें, भक्तिमें, व्यवहारमें सफल होगा और जो अपने दिलको बिगाड़ लेगा, वह तो अपने आपको ही बिगाड़ लेगा, तब दूसरेको सुधारेगा कहाँसे? दूसरेको सुधारनेके लिए अपनेको ठीक रखना तो जरूरी है न!

अच्छा भाई, तो अब आपको जहाँ संन्यास और योग दोनों मिलते हैं, वहाँ आपको ले चलते हैं। यदि आपको धर्मयोग करना है तो पापसे निवृत्त

होना होगा, पापका परित्याग करना होगा और पुण्यको ग्रहण करना पड़ेगा। तो पापसे निवृत्ति और पुण्यमें प्रवृत्ति—इसका नाम धर्म होगा।

अच्छा अब देखो, भक्तियोग कब होगा? भक्तियोग तब होगा जब प्रपंचकी ओरसे निवृत्ति और ईश्वरमें प्रवृत्ति होगी। प्रवृत्ति तो बनी रहेगी, ऐसा कोई साधन नहीं होगा, वेदान्त साधन नहीं है, वेदान्त तो प्रमाण है। तो भक्तियोगमें क्या होगा कि अपने इष्टदेवमें प्रवृत्ति और अन्यसे निवृत्ति। यह जो इष्टदेवमें प्रवृत्ति है—यह योगांश है और जो अनिष्टसे निवृत्ति है वही संन्यास है। पापसे निवृत्ति संन्यास है और पुण्यमें प्रवृत्ति योग है। और, इष्टसे जो निवृत्ति है सो संन्यास है और इष्टमें जो प्रवृत्ति है सो योग है। भक्तिमें यह हो गया।

अब योगाभ्यासमें देखो क्या होगा? आपको योगाभ्यास करना है, योगमें स्थिति प्राप्त करनी है तो क्लिष्टवृत्ति और अक्लिष्ट वृत्ति, जो वृत्तियोंमें विषय है उसका परित्याग करना पड़ेगा और स्वरूपमें अवस्थान करना पड़ेगा। तो योगाभ्यासमें क्या होगा? कि दृश्यसे संन्यास होगा और स्वरूपमें योग होगा। यह आप देख लो—ऐसा कोई साधन नहीं होगा जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों नहीं चलेगी। योग स्थितिरूप है और संन्यास त्यागरूप है। योग और संन्यास दोनोंमें कोई झगड़ा है कि दोनोंमें समन्वय है कि दोनोंमें झगड़ा नहीं है, समन्वय है। जैसे आप कर्मयोग करेंगे तो कामनाका परित्याग करके योग करेंगे, तो कामनाका हो गया संन्यास। गोपियोंके लिए संन्यास शब्दका प्रयोग आता है। कोई क्रमसे संन्यास करता है माने पहले ब्रह्मचर्य किया, फिर गृहस्थाश्रममें आया, फिर वानप्रस्थाश्रममें आया, फिर संन्यासाश्रममें आया। इसको वर्णाश्रमधर्मके अनुसार क्रम संन्यास बोलते हैं। और एक आदमी बुड्ढा हो गया, वर्णाश्रमके पालनका सामर्थ्य नहीं है तो वय-संन्यास, बड़ा होनेके कारण उसने संन्यास ले लिया। उसमें भी एक कुटीचक संन्यास, बहूदक संन्यास, एक हंस संन्यास, एक परम हंस संन्यास और एक पंचमाश्रम होता है। उसको बहुत लोग नहीं जानते हैं, शास्त्रमें उसका भी वर्णन है। उसको अतिवर्णाश्रमी बोलते हैं। ऐसे ही गुणातीत, अवधूत, जीवन्मुक्त, वह आश्रमका लिंग धारण किये बिना भी संन्यासी होता है इसका तो इतना प्रपंच है, वह तो

आप लोगोंके कामकी चीज नहीं है। इसलिए कभी इसका वाग्विस्तर आपको नहीं सुनाते हैं। ज्यादा विस्तार नहीं करते हैं।

अब आप देखो, आपको चाहे योग करना है, चाहे संन्यास, आँखसे बाहर देखना प्रवृत्ति है और आँख बन्द कर लेना निवृत्ति है। और फिर मनसे भीतर देखना निवृत्ति है। साधनका अर्थ ही यह होता है कि असाधनसे निवृत्ति और साधनमें प्रवृत्ति। यह हमारे भारतमें साधनके नाम हिप्पीवाद आगया है, नशा पीके धरे ध्यान। जो चाहे जो खाओ जो पीयो, चाहे जो करो, रोक-टोक नहीं, थोड़ी देर तक आँख बन्द करके जरा तटस्थ होकर बैठ जाओ। रहो तो पनालेमें और सोचो स्वर्गकी, कि हम तो सबसे बाहर हैं, तटस्थ हैं, यह हिप्पीवादाका नाम संन्यास नहीं है, न हिप्पीवादका नाम साधन है। अच्छा तो—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥

पाण्डव कहते हैं आनुवंशिक शुद्धिसे सम्पन्न जो पुरुष है, **पाण्डुः श्वेतः धवलः**। पाण्डु उसको कहते हैं कि जो श्वेत हो, धवल हो, उज्ज्वल हो। और जिसकी पण्डा माने बुद्धि बड़ी प्रबल हो। *पण्डा— सद् असद् विवेकिनी बुद्धि।* तो पाण्डव शब्दका अर्थ होता है, जिसका जीवन हो निर्मल, धवल, उज्ज्वल, सात्त्विक और जिसकी बुद्धि हो तीव्र। एक तो तीव्र बुद्धिवाले लोग होते हैं—ये बैरिस्टर, वकील आदि, इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र होती है। तो ये दुनियादार लोग देखते हैं, कि ये बैरिस्टर साहब इस बातपर श्रद्धा नहीं करते हैं, तो यह ठीक नहीं होगी, उनको अध्यात्ममें प्रमाण मान लेते हैं। यह बात बिलकुल गलत है। वह जज है, कि कलक्टर है, कि बैरिस्टर है, कि मिनिस्टर है और वह कितना बुद्धिमान है इससे कोई मतलब नहीं। उसकी बुद्धि होनी चाहिए धवल, माने निर्मल—उज्ज्वल, सात्त्विक। बुद्धि सात्त्विक हुए बिना, वह इस विषयका प्रमाण नहीं हो सकता। और किसीकी बुद्धि तो बड़ी निर्मल है, उज्ज्वल तो है, धवल तो है, पर तीक्ष्ण नहीं है, तो उसकी समझमें ही नहीं आवेगा। तो बुद्धि होनी चाहिए चमकदार और नुकीली, जैसे बन्दूकके ऊपर संगीन हो, चमाचम चमकती हो और नुकीली हो और एक चोटमें महाराज आर-पार कर जाये।

ऐसी बुद्धि जिसमें रजोगुणकी जंग न लगी हो, तमोगुणकी कालिख न लगी हो, सत्त्वगुणकी तो श्वेतिमा हो उसमें और नुकीली ऐसी हो कि लक्ष्यवेध करे। तो बैरिस्टरकी बुद्धि तो उज्ज्वल नहीं है और जिसकी उज्ज्वल है उसकी नुकीली नहीं है। तो दोनों अनधिकारी हो गये। योग बुद्धिको उज्ज्वल करता है और संन्यास नुकीली बनाता है और दोनों मिलकर लक्ष्यवेधके अनुरूप बुद्धिको बनाते हैं।

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

इसीको बोलते हैं सूक्ष्मया बुद्धि और एकाग्रया बुद्धि। ये दोनों जब हो, तब काम बने। इसलिए यद्यपि आदमी भोला-भाला है, परन्तु बुद्धि नुकीली नहीं है और बुद्धि खूब नुकीली है, परन्तु सरल, निर्मल, सात्त्विक नहीं है; तो दोनों चाहिए। दोनोंके लिए महाराज, शान धरानेके लिए दूसरी चीज़ होती है और मैल छुड़ानेके लिए दूसरी चीज होती है। यह दोनोंकी दो दवा है, मैल छुड़ानेकी दवा है योग और नुकीली बनानेकी विद्या है संन्यास।

तो पाण्डव शब्दका क्या अर्थ हुआ? मैंने आपको सुनाया, एक तो सद् असद् विवेकिनी बुद्धि पण्डा है, और एक पाण्डु धवल है। और इन दोनोंसे जो '**पाण्ड**' हुआ न, '**पाण्डम् वहति, पाण्डम् वाति**' उज्ज्वल। तो हे अर्जुन! तुम सीधे सादे धवल। अर्जुन वृक्ष होता है न, वह उज्ज्वल-धवल भी होता है और लम्बा-ऊँचा भी होता है।

एकने वृन्दावनमें सुना था कि भगवान् मिलते हैं। अब वहाँ घूमने लगा तो कहीं कृष्णका दर्शन तो न हो, तो इधर उधर थोड़ी देर तक भटकता रहा, व्याकुल हुआ, फिर देखा कि गाय चरा रहे हैं कुछ चरवाहे, उनसे पूछा कि भाई कृष्ण कहाँ मिलेंगे यहाँ? तो बोले—वह देखा, ऊँचा-ऊँचा जो वृक्ष देखते हो न, जिसका तना उज्ज्वल-सफेद है—**अर्जुन तरोः** अर्जुन वृक्ष है वह। यह अर्जुन वृक्ष दिख रहा है, लम्बाईमें भी अच्छा है और धवल-धवल है। ऋजु भी है और उज्ज्वल भी है। बोले—बस उसीके आगे आप जाओगे तो संगीतमय एक ध्वनि सुनायी पड़ेगी आपको। वह ध्वनि क्या है, वंशीका गीत कहो अथवा भगवद्गीता कहो, वह अर्जुनके पास जानेपर वहाँ मिलेगी उस ध्वनिको पकड़ना और जहाँसे वह आ रही है, उधर जब चलोगे, तो

जहाँसे वह गीताका संगीत, गीताकी ध्वनि आ रही है वहाँ तुमको मिलेगा एक साँवरा-साँवरा, बस। वह जब मुस्कुरायेगा तब बिजली चमक जायेगी। जब वह देखेगा तो उसीमें चेतना रहेगी। तुममें नहीं रहेगी। ऐसा है वह।

अच्छा तो हे पाण्डव, **यं संन्यासमिति प्राहुः विद्वान्सः श्रेयान्सः प्रेयान्सः** श्रेयान्, प्रेयान् महापुरुषोंने जिसको संन्यास कहा है **तं योगं विद्धि**— उसको तुम योग समझो। **यं योगं प्राहुः संन्यासं विद्धि**। क्योंकि दोनों एकात्मक हैं भला! यह योग और संन्यास। आओ बड़ी सरलतासे आपको सुनाते हैं-संन्यासी कौन? योगी कौन?

एक महात्मा थे हमारे बेख्वाहिश, बेपरवाह उनका नाम था। जाकर पेड़के नीचे बैठते ध्यान करनेके लिए, भजन करनेके लिए। उठे, लघुशंका करने गये। अब फिर उस पेड़के नीचे आवेंगे—यह बात पक्की नहीं थी। अरे जिधर मुँह हुआ उधर ही चले गये। अपना कोई संकल्प ही नहीं। जिसने खिला दिया उसका खा लिया। जहाँ रात हुई वहाँ सो गये—

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः।
यत्र क्वचनशायी च तं देवाः ब्राह्मणं विदुः॥

चाहे जो कुछ ओढ़ लिया, जो कुछ पहन लिया, चाहे जिस किसीने खिला दिया, चाहे जहाँ कहीं सो गये। खानेके बारेमें, सोनेके बारेमें पहननेके बारेमें, कहाँ जाना है, कि कोई संकल्प नहीं, सबेरे उठे गंगा किनारे चल पड़े, महाराज कहाँ जा रहे हो? कि कहाँ जाना है, गंगा किनारे घूम रहे हैं। यह देखो, संकल्पका जब संन्यास करेंगे, तभी तो संन्यासी होंगे।

अच्छा, अब योग देखो। बैठा कोई योगाभ्यास करने। यदि मनमें संकल्प उठता रहा, अच्छा आप भलेमानुस सोचो कि मनमें जब कोई संकल्प उदय होता है, तो संकल्प मन-ही- मन है कि उसमें कोई विषय रहता है? किसका संकल्प उठा? बोले—धनका संकल्प उठा, संकल्प निर्विषय नहीं होता। स्त्रीका संकल्प उठा, पुरुषका संकल्प उठा, कहीं जानेका संकल्प उठा, जब संकल्प होगा, तब उसमें कोई-न-कोई विषय होगा, वृत्ति तदाकार होगी। आज क्या संकल्प है महाराज? कि कढ़ी खानेका है। तो देखो, तुम्हारे

मनमें क्या चीज है उस समय? कढ़ी है। अब आप कहो कि हम अपने स्वरूपमें स्थित हो जायें, तो तुम अभी कढ़ीमें स्थित हो, जबतक कढ़ीका संकल्प छोड़ोगे नहीं तबतक अपने स्वरूपमें कैसे स्थित हो जाओगे? संकल्पवानकी स्थिति उसके संकल्पके विषयमें है।

एक राजा साहबके बारेमें बताया गया कि ध्यान कर रहे हैं। नहीं वे ध्यानमें नहीं हैं, चमारकी दुकानमें जूता खरीद रहे हैं। क्यों? वे तो अपने मन्दिरमें बैठे हैं। अरे भाई, शरीर मन्दिरमें बैठा है, उनका मन जूतेकी दुकानमें बैठा है।

देखो, आपकी समझमें यह बात साधारणरूपसे आजाये कि असलमें मनुष्य वहाँ नहीं रहता, जहाँ उसका शरीर है। जहाँ उसका संकल्प होता है वहाँ वह रहता है। जो मनमें भरा हुआ है, वही उसके पास है। अब आप मनमें तो रखो संकल्प और कहो कि हम वृत्तिका निरोध करेंगे। वृत्ति एकाग्र ही नहीं होगी, निरोध कहाँसे करोगे?

एक आदमी गंगा किनारे-किनारे मुजफ्फरपुरकी तरफ जा रहे थे। रास्तेमें देखा एक साधु पड़ा है, गन्दा है शरीर, उसके शरीरपर मक्खी भिनभिना रही थी। उसने कहा—ऐ बाबाजी, जरा नहा लेते, मक्खी उड़ा देते, देखो न तुम्हारे ऊपर मक्खी भिनभिना रही हैं! बोले—हमारे बाहर ही हैं, भीतर नहीं हैं और बाबा, तुम्हारे तो भीतर ऐसी घुसी हैं कि तुम मुज़्ज़फरपुर जा रहे हो लीची खानेके लिए।

मुज़्ज़फरपुरकी लीची बहुत मशहूर होती है, लोग रसगुल्ला खानेके लिए कलकत्ता जाते हैं। एक हमारे मित्र हैं, साधु हैं वे, हँड़िया रखते थे मिट्‌टीकी, अभी जिन्दा हैं ईश्वर-कृपासे, तो एकबार वे गये लाहौर, उनकी हँडिया फूट गयी। हँडिया बड़ी नफीस रखते, अच्छी-से-अच्छी। तो वहाँसे ट्रेनमें बैठे **'चुनार'** आये, वहाँसें हँड़िया खरीदकर फिर लाहौर चले गये।

यह देखो, अब ध्यान लगावें कि समाधि, संकल्प तो इतने प्रबल-प्रबल, मनमें संकल्प रहता है, वह काटता रहता है। वृत्ति विषयाकार रहती है।

अब योगदर्शनीकी एक बात सुनाऊँ! आप कभी भजन करने, ध्यान करने बैठते होंगे, आप बैठते होंगे, हम ऐसा समझते हैं जो एक घण्टा

प्रवचनमें बैठ जाता है, उसका सम्बन्ध कट जाता है। ढाई घण्टेके लिए कम-से-कम भाई-भतीजेका सम्बन्ध कट जाता है, रुपये-पैसेका सम्बन्ध कट जाता है, स्त्री-पुरुषका भी सम्बन्ध कट जाता है, अब ऐसे लोग होते हैं, लड़की-लड़के, एक साथ बैठनेका मौका नहीं मिले और सत्संगमें आकर ही बैठ जायें। वे तो संकल्प लेकर ही बैठेंगे, उनकी समझमें सत्संग नहीं आवेगा। हम तो सत्संगको योग समझते हैं। इसके बिना तो न भक्तियोग हो सकता, न कर्मयोग हो सकता, न ज्ञान योग हो सकता। क्योंकि जिस योगके माहात्म्यका आपको पता ही नहीं कि उसकी क्या महिमा है, वह योग आप कैसे करेंगे ? माहात्म्य-ज्ञानके बिना तो योगमें प्रवृत्ति ही नहीं होती जो लोग सत्संगके विरोधी हैं वे तो साधनके विरोधी हैं, धर्मके विरोधी हैं, निष्काम कर्मके विरोधी हैं, भक्तिके विरोधी हैं, ज्ञानके विरोधी हैं, समाधिके विरोधी हैं। जो सत्संगके विरोधी हैं वे तो इस जीवन-कलाके ही विरोधी हैं।

अच्छा, तो आप समझ लो ध्यान करने बैठे हो। आपने यह बात जरूर सुनी होगी, तो यह संकल्प कर लेते हैं कि घण्टे भरमें हमारी समाधि जरूर टूट जाये। तीन घण्टेमें टूट जाये, छह महीनेमें टूट जाये, ऐसी भी होती हैं। तो जैसा संकल्प करके बैठते हैं, उसी संकल्पके अनुसार समाधि टूट जाती है। यह क्या आश्चर्य है कि समाधिमें भी संकल्प है! वह जैसे कोई लोहेको मोड़कर तोड़ दे और फैलते-फैलते समयपर अपनी जगहमें आजाये। यह घड़ी घूमती है ? इसके भीतर वह चाबी घुमानेवाली चीज है, वह फैलती ही तो रहती है, तभी तो घड़ीकी चाबी घूमती है। यह संकल्प जो है स्प्रिंगकी तरह लग जाता है भीतर और वह समयपर समाधिको तोड़ देता है। तो योग-दर्शनने मना किया कि यदि आप भजन करने बैठें, तो भजनके साथ हमको क्या काम करना है, इसका संकल्प बिलकुल न रखे **'प्रयत्न शैथिल्य'** इसका नाम रखा है। यदि आप सोचेंगे कि जब भजन करके उठेंगे तब जायेंगे दुकानमें और वहाँ जाकर यह-यह चीज देखेंगे और यह गाना सुनेंगे और एयरकंडीशनमें इतनी देर बैठेंगे और यहाँ बैठेंगे, वहाँ बैठेंगे और कोका-कोला पीयेंगे और देखेंगे कि कैसे कैसे फैशनकी साड़ी और कैसे फैशनके पर्स और जूते बाजारमें आ गये हैं, यह सब सोच-सोचा कि

घण्टेभर बाद जाना है और बैठ गये भजनमें! आप समझते हैं कि अब आपके ध्यानमें गाढ़ता आयेगी? प्रयत्न-शैथिल्यके बिना भजनमें गाढ़ता नहीं आती। अब आप सोच लो कि आप लेना चाहते हो भजनका स्वाद, भजनका रस और भजनके बादके लिए रखते हो संकल्प।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।

पहले करना पड़ता है संकल्पका संन्यास। अरे यह कर्म-संन्यास बादमें होगा, भोग-संन्यास बादमें होगा, गृह-संन्यास बादमें होगा, पहले जरा संकल्प-संन्यास तो करके देखो बाबू! यह तो बड़ा आसान है, मनसे ही तो हटाना है। हजार तो संकल्प बना रखे हैं और कहते हैं भजनमें मन नहीं लगता है।

आप एक रजिस्टर बना लीजिये और अपने संकल्पोंकी गिनती लिखिये कि दिनमें कितने आते हैं। *'सम्यक् रज्ज्वां सर्पादिप्रत्ययवत् कल्प्यन्ते प्रपंच-प्रत्ययाः यस्मिन्।'* जैसे रस्सीमें सर्पादिके प्रत्यय उदय होते हैं, इसी प्रकार शुद्ध परब्रह्म परमात्मामें यह कल्पनात्मक प्रपञ्चका जो उत्थान हो रहा है, इसका नाम संकल्प है।

अब आप पहुँचो वहाँतक। कोकाकोलाका संकल्प छोड़ा नहीं जाता है, परब्रह्म परमात्मामें होनेवाले निखिल प्रपंचके संकल्पका परित्याग *रज्जौ सर्पादि प्रत्ययवत्* प्रपंच प्रत्यय जिसमें कल्पित होते हैं। प्रत्ययका अर्थ है आपके ज्ञानमें बाहरसे आयी हुई जो चीजें हैं उनको छोड़ दीजिये। प्रत्यय माने बाहरसे आयी हुई चीजें हैं। आपका ज्ञान है, ज्ञान आपका स्वरूप है और इन इन्द्रियोंने बाहरसे उठा-उठाकर कुछ कूड़ा आपके ज्ञानमें डाला है।

पञ्चनद्यः सरस्वतीमपियन्ति सस्रोतसः। सरस्वती तु पञ्चधा सो देशे भवत् सरित्—यह आपका दिल पंजाब बन गया है ये पाँचों ज्ञानकी इन्द्रियाँ, यह विपाशा, यह रावी आदि पाँचों नदियाँ बाहरसे कूड़ा लेकर भीतर डाल रही हैं। आपका यह जो ज्ञान-सरोवर है, इनमें यह इन्द्रियोंसे जो कुछ डाला जाये उससे आप अपने ज्ञानको जरा निथार लीजिये, अलग कर लीजिये। माने शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, यह तो डाला है इन्द्रियोंमें, इनकी किस्में, इनकी जातियाँ और फिर इनके अभावकी संवित् भी भाव सापेक्ष ही है। तो

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध इनके प्रकार, इनसे होनेवाले सुख-दुःख और इनका अभाव, सुख-दुःखका अभाव जो कुछ आपके ज्ञानमें बाहरसे डाला हुआ है, जरा उसको छोड़कर देखिये कहाँ देश है। कहाँ काल है, कहाँ वस्तु है, कहाँ द्विजाति है। कहाँ स्वगत है? यह जो ज्ञानस्वरूप है—***ज्ञानस्वरूपमखिलं निर्मलं परमार्थतः।*** यह जो परमार्थतः निर्मल ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है जरा इधर ध्यान तो दो—

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।

तो संकल्पका संन्यास होना इसमें क्या हुआ? योगी होओगे तो वृत्तियोंको निवृत्त करना पड़ेगा कि नहीं? और संन्यासी होओगे तो संकल्पोंका, विषय-विषयक संकल्पोंका त्याग करना पड़ेगा कि नहीं? जब विषय-विषयक संकल्पोंका त्याग करोगे तब तो होओगे संन्यासी और वृत्तियोंका निरोध करना होगा तो होओगे योगी, तो दोनोंमें भेद कहाँ रहा? एक ऐसी अवस्था, एक ऐसी स्थिति जहाँ द्वैतकी बिलकुल गन्ध नहीं है और सारा व्यवहार हो रहा है। व्यवहारका तो लोप नहीं हुआ, नीलिमा ज्यों-की-त्यों है और आकाश अखण्ड है। आपने कभी इसपर ध्यान दिया? आकाश तो अखण्ड है, यह नहीं कि नीलिमाके भीतरवाला आकाश दूसरा और नीलिमाके बाहरवाला आकाश दूसरा। आकाश अखण्ड है और नीलिमाको धोनेकी जरूरत नहीं, ब्रह्म अखण्ड है और प्रपंचरूप नीलिमाको धोनेकी जरूरत नहीं। पर संकल्पमें जो विषय है, उसका संन्यास करना पड़ता है। संन्यासीको और विषयका संन्यास होनेपर संकल्प संकल्प नहीं रहता ज्ञानमात्र हो जाता है। और भिन्न-भिन्न वृत्तियोंका निरोध करना पड़ता है योगीको, तो जबतक विषय रहेंगे वृत्तियोंमें, तबतक निरोध कैसे होगा, तो दोनों कहीं-न-कहीं एक भूमिकामें हैं। तो भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।

अरे समझ ले अर्जुन, एक ऐसा स्थान है जहाँ संन्यासी और गृहस्थका भेद नहीं रह जाता है। वह कर्मकाण्डका स्थान नहीं है, वह ज्ञानका स्थान है। एक ऐसा स्थान है जहाँ संन्यास और योगका भेद नहीं रह जाता। दृष्टि अन्तरंग होनी चाहिए जहाँ संन्यास और कर्मयोगका भेद नहीं है, जहाँ

गृहस्थ और संन्यासीका भेद नहीं है। जहाँ एक ऐसी स्थितिमें पहुँचते हैं महात्मा लोग—

जहाँ ऊँच नीचका भेद न हो।

ऊँच-नीचका आपको क्या सुनावें, संन्यासकी बात सुना देते हैं। जन्म और मरण—यह क्यों आपको प्राप्त हुआ? क्योंकि आप कालके पंजेमें आगये और लोक-परलोक आपको क्यों प्राप्त हुआ? क्योंकि आप देशके पंजेमें आगये और आपका संकल्प बिंखर क्यों गया, विकीर्ण क्यों हो गया? क्योंकि आप वस्तुओंके पंजेमें आगये। जहाँ आप ज्ञानस्वरूप न वस्तुओंके पंजेमें हैं, न स्थानके पंजेमें हैं, न कालके पंजेमें हैं। तो,

जहाँ ऊँच नीचका भेद न हो।

ऊँचा क्या है? कि स्वर्ग। नीचा क्या है? कि नरक। जहाँ नरक-स्वर्ग समान हो जाता है—

स्वर्ग नरक अपवर्ग समाना।
जहँ तहँ दीख धरै धनुबाना॥
जहाँ ऊँच या नीचका भेद न हो
जहाँ जात या पाँतकी बात नहीं।
न हो मंदिर मस्जिद चर्च जहाँ
न हो पूजा नमाजमें भेद कहीं॥
जहाँ सत्य ही सार हो जीवनका
रिझवार सिंगार हो त्याग यही।
जहाँ प्रेम ही प्रेमकी सृष्टि मिले
चलो नावको ले चलें खेके वहीं॥

तो एक ऐसा स्थान है जहाँ संन्यासी और कर्मयोगी, जहाँ गृहस्थ और संन्यासी, जहाँ ईश्वर और जीव, जहाँ ऊपर और नीचे, जहाँ दाहिने और बायें, जहाँ भीतर और बाहर एक हो जाता है। आकाश एक हो गया और नीलिमा ज्यों-की-त्यों रह आयी यह क्या आश्चर्य है। अन्तर हुआ तो केवल इतना, पहले समझते थे कि नीलिमा सच्ची है। अब जानते हैं कि यह नीलिमा आकाशसे जुदा नहीं है। तो संकल्प इसीको बोलते हैं। संकल्पमें असलमें

कामका निवास है। भगवान्‌ने कामके बापका जो नाम लिया न, आपके ध्यानमें होगा—

संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।

कामके बापका क्या नाम है? कि संकल्प! ***'संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।'*** संकल्पमें-से कामकी उत्पत्ति होती है। महाभारतमें एक कामगीता है। जैसे रामगीता होती है। कृष्णगीता होती है। भगवद्गीता भी तो महाभारतमें है न! तो काम-गीताका नाम *'मंकीगीता'* है वह सांख्य पर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्ममें है। उसमें क्या बोलते हैं, एक महात्माने कामको ललकारा—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायसे।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि॥

अरे काम सुन मेरे सामने छगड़-बगड़ मत करना। हमको तुम ऐसा-वैसा मत समझ लेना। क्या है? ***'काम जानामि ते मूलं'***—तुम्हारी माँको तुम्हारे बापका नाम भले ही मालूम हो चाहे न हो, हमको तुम्हारे बापका नाम मालूम है। मैं तुम्हारी जड़ जानता हूँ, कहाँसे पैदा हुए हो तुम! तुम संकल्पसे पैदा हुए हो। मैं कभी तुम्हारा संकल्प नहीं करूँगा। इसलिए *ते न मे न भविष्यति*—जब तुम्हारा बाप ही नहीं रहेगा मेरे हृदयमें, तो तुम कहाँसे आओगे, तुम्हारी जड़ निकालकर फेंक देंगे।

संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

अभी यह संकल्प कहाँसे आता है। दुनियामें जब किसी चीजको हम अच्छी समझेंगे कि यह हमारे शरीरके लिए बहुत सुखदायक है, बड़ा हितकारी है तो उसकी प्राप्तिका संकल्प झट उठ जायेगा। सम्यक्त्व कल्पनामें-से ही संकल्पका उदय होता है। वस्तुनिष्ठ गुण दोषको माननेवाला संकल्पसे मुक्त नहीं हो सकता! जब संकल्पनिष्ठ गुण-दोषको मारेगा, तब संकल्पसे मुक्त होगा। वैज्ञानिक संकल्पसे मुक्त नहीं होगा, तत्त्वज्ञ संकल्पसे मुक्त होगा।

गीताका स्वाद तब आता है जब उसमें सम अपने ठीक स्थानपर होता है। अगर सम बेसुरा हो जाये, तो संगीतका मजा नहीं आता है। ऐसे कर्म करनेका मज़ा तब आता है जब उसमें अपना मन सम बना रहे।

समत्वं योग उच्यते। जैसे संगीतका स्वाद होता है। तबला बजाते हैं सम आता है, सितार बजाते हैं सम आता है, ऐसे हम काम करें और वह घूम-फिरकर बिलकुल एक ठिकानेपर पहुँच जाये—

एवं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।

योग माने हमारे चित्तकी समता बनी रहे, चाहे सामनेसे शत्रु निकल जाये, तो मुँहका जायका न बिगड़े, मित्र आ जाये सामने तो उसका पक्षपात मनमें न आवे और अपना दिल ही बिगड़ गया तो क्या साधन! जीभ कड़वी हो गयी तो चाहे भोजन कुछ भी करो, तो वह कड़वा हो जाता है, तो अपना दिल कड़वा न हो।

असलमें दुःख किसको कहते हैं? धन जानेका नाम दुःख नहीं है। किसीके बिछुड़नेका नाम दुःख नहीं है। धन-हरण, जन-मरण, भवन-दहन, वन-गमनका दुःख नहीं है। अपने दिलका कड़वा हो जाना ही दुःख है। जिसका दिल कड़वा है, वह दुःखी है। क्योंकि दुःख बाहर कहीं नहीं होता, न सोनाको दुःख होता, न चाँदीको दुःख होता, न शत्रुको दुःख होता, न मित्रताको दुःख होता, दुःख तो अपने दिलको होता है।

दुष्टानि खानि इन्द्रियाणि यस्मिन् तद् दुःखम्।

जिसमें हमारी इन्द्रियाँ दूषित हो जाती हैं, हमारी आँख कड़वी हो गयी, हमारे कान कड़वे हो गये, जीभ कड़वी हो गयी, उसका नाम दुःख है।

दुष्टं खं हृदयाकाशः यस्मिन् तद् दुःखम्।

ख माने हृदयाकाश। दिलमें एक आकाश है। वह गरम हो गया, तो हम गरम हो गये और वह ठण्डा रहा तो हम ठण्डे रहे। तो दिलको ठण्डा रखना।

सुष्ठु खं यस्मिन् तत् सुखम्। दुष्टं खं यस्मिन् तद् दुःखम्।

हमारा हृदयाकाश बढ़िया रहे, चाँदनी छिटकी रहे उसमें। बस, दिल ठीक है तो दुनिया ठीक है!

एकबार काशीमें सब आचार्य इकट्ठे हुए थे, शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क। तो एक आचार्यका व्याख्यान मुझे अभी तक याद है—

रक्षत रक्षत कोषानामपि कोषं हृदयम्।
यस्मिन् सुरक्षिते सर्वं सुरक्षितं स्यात्॥

बचाओ-बचाओ, खजानों-का-खजाना अपना दिल। यदि यह बचा रहेगा तो सारी दुनिया बची रहेगी।

तो यह जो हमारा अध्यात्मयोग है यह दुनियाको बदलनेका योग नहीं है। ये समाजसेवी लोग दुनिया बदलते हैं, सुधारक लोग दुनिया बदलते हैं, भोगी लोग दुनिया बदलते हैं और हमारी साधनाके मार्गमें चलनेवाला अपना दिल बदलता है। जो दुनिया बदलना चाहता है और अपना दिल बदलना नहीं चाहता, वह हमारे साधन-मार्गका साधक नहीं है। योग माने अपने हृदयके परिवर्तनकी युक्ति—**योगो युक्ति**—युक्ति, तरकीब। किस चीजकी तरकीब? अपने हृदयके परिवर्तनकी युक्ति।

तो इसमें प्रकृति-सिद्ध, निसर्ग-सिद्ध, दो बात पर आप ध्यान दो। सूर्योदयके साथ हमारे कर्म प्रारम्भ होते हैं। सन्ध्या-वन्दन करते हैं कि नहीं? अभ्युदनीय कर्म। प्रकाशका आदर, ज्ञानका आदर। जिस समय सूर्य उदय होता है उस समय हाथ जोड़के खड़े होते हैं। हम प्रकाशका आदर करनेके लिए तत्पर हैं और जब सूर्यास्त होता है तो हाथ जोड़के उसकी बिदाई करते हैं। तो ज्ञानके साथ-साथ हमारे कर्मकी परम्परा प्रारम्भ होती है और चलती है। और जब अन्धेरा होता है, तो उस समय हम भी आँख बन्द करके विश्राम करते हैं। माने दिनमें हमारे लिए कर्म है और रात्रिमें हमारे लिए विश्राम है। हमारे जीवनके दो पहलू हैं—एक जागरण और एक निद्रा। ये दोनों प्राकृत हैं। जागना और सोना, कर्म करना और विश्राम करना। यह प्रकृतिनें, निःसर्गने हमारे जीवनमें दिया है। अब इन्हीं दोनोंको अगर हम ठीक रास्तेपर ले चलें तो जैसे जीवनकी सफलताके लिए काम करना और विश्राम करना दोनों आवश्यक है, वैसे परमार्थके साक्षात्कारके लिए कर्म करना और विश्राम करना दोनों आवश्यक हैं।

योग माने कोई नई चीज नहीं, हमारे जीवनकी एक विवेकपूर्ण प्रक्रिया, शैली, ढंग। तो कर्म ऐसा करें जो हमें आत्माके सम्मुख उपस्थित कर दे। हमारे हृदयाकाशको स्वच्छ कर दे। और हम विश्राम भी ऐसा करें कि उसमें मलिनता न आवे।

आप देखो, जब हम सोते हैं, तो नींदका अन्धेरा, नींदकी मलिनता हमारे ऊपर हावी हो जाती है। अज्ञानान्धकारमें हम डूब जाते हैं, तब विश्राम होता है। और जब कर्म करते हैं तब वस्तुओंकी वासनासे, विषयभोगकी वासनासे आक्रान्त हो जाते हैं। तो विषयभोगकी वासनासे जब कर्म करते हैं तब वासना हमारे परिश्रमको मलिन कर देती है। और जब हम शयन करते हैं तब तमः, अन्धकार, अज्ञान हमारे विश्रामको मलिन कर देता है। अब क्या कोई ऐसा उपाय, ऐसी युक्ति, ऐसा योग, ऐसीं तरकीब हो सकती है, कि हमारे कर्ममें तो वासना न हो और हमारे विश्राममें अन्धकार न हो! जब विश्राममें अन्धकार नहीं होगा तो उसका नाम होगा समाधि और जब हमारे कर्ममें वासना नहीं रहेगी तब उसका नाम होगा निष्काम कर्म। ये दोनों हमारे जीवनके लिए प्रकृति-प्रदत्त, नैसर्गिक साधनकी परम्परा है। थोड़ा-सा संशोधन करनेसे हम प्रकृतिसे पार परमार्थमें स्थित हो जाते हैं और संशोधन न करनेपर हम संसारमें बैठे रहते हैं। संसारमें डूब जाते हैं।

अच्छा तो आओ अब थोड़ा इसपर विचार करें।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥

यह कहते हैं आप कर्म कीजिये और योगी हो जाइये। कहते हैं हमारे दोनों हाथमें लड्डू—

उभय हाथ मुद मोदक मोरे।

हमारे दोनों हाथमें आनन्दके लड्डू हैं। गृहस्थाश्रम तो छोड़ना न पड़े और कर्म तो छोड़ना न पड़े और परमार्थका आनन्द, परमेश्वरका आनन्द आ जाये और विश्राम हमारा बना रहे और समाधि हो जाये। बोले—देखो भाई इसके लिए आपके मनमें जो संकल्प है, जरा उसकी तरफ ध्यान दो कि आप क्या चाहते हैं? हमलोग ईश्वरको बड़ी दुविधामें डाल देते हैं तब, जब हम

ईश्वरको अपने सुझावपर सुझाव देने लगते हैं। यदि हम ईश्वरसे कहें कि हे ईश्वर! हमको सुख चाहिए। कोई बात नहीं, ईश्वरको सुख देनेमें कुछ लगता थोड़े ही है, उसके पास सुखकी कमी नहीं है। वह सुखका समुद्र है। वह सुखका अनन्त आकाश है। वह सुखका पर्वत है, वह सुखकी हवा है। वह सुखकी सुगन्ध है। उसमें-से सुखकी सुगन्ध फैलती रहती है। सुखका स्वाद आता रहता है, सुखकी रोशनी फैलती रहती है। सुखकी हवा चलती रहती है और सुखका संगीत निकलता रहता है। सुखका, परमानन्दका ही नाम ईश्वर है। ईश्वरको सुख देनेमें कहीं कोई एतराज ही नहीं है, कहीं कोई आपत्ति नहीं है, विप्रतिपत्ति नहीं है। आपको बिना माँगे वह अपना समूचा सुख देनेको तैयार है।

अब एक सज्जनकी बात आपको सुनाते हैं। वे गये हमारे वृन्दावनमें बिहारीजीका दर्शन करनेके लिए। बिहारीजी तो चुपचाप खड़े रहते हैं, आप जानते हो वे हमलोगोंसे तो कभी-कभी बात करते हैं, लेकिन सब लोगोंसे बात नहीं करते हैं, चुपचाप रहते हैं। हमारे पास तो कभी आ भी जाते हैं, कभी हम उनके पास चले जाते हैं। हमसे बातचीत भी कर लेते हैं। परन्तु उनसे जब सीधी-सीधी बात की जाये न! उनसे कह दो आप—हमको सुख चाहिए, तो कहते हैं—लो सुख, हमने सुखका खजाना तो तुम्हारे दिलमें भर रखा है, लो सुख, लो सुख! फिर कहते हैं—चाहते क्यों हो बेटा, तुम्हारे अन्दर तो सुखका समुद्र भरा है, लो सुख! तो एक सज्जन गये, कहा—बिहारीजी हमको सुख चाहिए, बोले—जितना सुख चाहिए, उतना ले न! बोले—नहीं महाराज, सुख हमको चाहिए कि हमारी गोदमें एक बेटा आजाये, तब हम सुखी होंगे। तब बिहारीजी चुप हो गये कि जरा इसके प्रारब्धमें देखना पड़ेगा कि बेटा है कि नहीं है। कर्मानुसार बेटा देना पड़ेगा। बोले—नहीं, कर्ममें न हो तब भी हमको बेटा दो! बोले—अच्छा, विचार करते हैं। बोले—नहीं, सब नियम तोड़कर हमको दो, विचार कुछ नहीं करो, हमको बारह महीनेके भीतर दो! अब बिहारीजी और दुविधामें पड़े कि एक तो इसको सुख चाहिए और वह भी केवल सुख चाहता तो इसको हम कैसे

भी दे देते, समाधिका सुख दे देते, इसके दिलमें सुखकी फुरफुराहट दे देते, अरे हम इसके दिलमें खड़े होकर थोड़ा नाच देते, थोड़ा गा देते, थोड़ा इसीको छातीसे लगा लेते, यह सुखी हो जाता, इसको ऐसा सुख नहीं चाहिए। इसको तो गोदमें खिलानेके लिए बेटा चाहिए और वह तो कर्मके अनुसार देना पड़ेगा और यह कहता है कि नहीं, कर्मकी मर्यादा भंग करके दो! फिर भगवान्‌ने कहा कि अच्छा, हम कर्मकी फाइलको भी थोड़ा आगे-पीछे पलटें, वह भी इसके लिए कर दें। वह बोला—नहीं, बारह महीनेके भीतर। अभी महाराज बिहारीजी चुप ही हैं। तबतक बोला—देखो महाराज, गोरा-गोरा हो, और जरा मजबूत भी हो, हमारी सेवा भी खूब करे और कमाऊ भी हो और उसके भी बेटा हो! अब बिहारीजीने कहा—हे भगवान्। यह सुख नहीं माँग रहा है, इसको सुख नहीं चाहिए। सुख अगर यह चाहता तो हम इसको चूमकर दे देते, नाचके दे देते, इससे एक होकर दे देते, सुख तो हम इसको कैसे भी दे देते! इसीका नाम संकल्प है, जब हम ईश्वरके साथ अपने संकल्पको जोड़ते हैं।

एक महात्मा देख रहे थे कि यह आदमी बिहारीजीके सामने खड़ा होकर इतनी देरसे क्या बातचीत कर रहा है। तो वे अपने मनमें समझ गये कि यह क्या कह रहा है। बिहारीजी भी उदास-उदास दिखने लगे, वे भी फिकरमें पड़ गये कि कैसे इसकी इच्छा पूरी करें। तो वे सोचने लगे कि बिहारीजी इसको देखकर दुःखी कैसे हो गये! बोले—इसने कुछ किया जरूर है, ध्यानसे देखा। बोले—अरे ओ सुन, तुम ईश्वरके सामने खड़े हो कि तुम ईश्वरको अपना नौकर समझते हो! तुम जो ईश्वरको अपना नौकर बनाना चाहते हो, यही तुम्हारे जीवनका दुःख है। तुम्हारे जीवनका दुःख यह है कि तुम ईश्वरके संकल्पके अनुसार राजी नहीं हो। ईश्वरको अपने संकल्पके अनुसार चलाकर राजी होना चाहते हो! तो असलमें योगी कौन है? संन्यासी कौन है? प्रकृतिने रास्ता बता दिया, जबतक तुम होश-हवासमें हो, शक्ति है, कर्म करो। दिन-दिनका सदुपयोग करो। रात्रि हो तो विश्राम करो, परन्तु विश्राममें अज्ञान और कर्ममें वासना तुमको दुःख देती है तो तुम कर्ममें जब वासना छोड़ दोगे, तब तुम्हारा

अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा और शुद्ध अन्तःकरण होनेपर ज्ञान होकरके अज्ञान निवृत्त हो जायेगा। तो तुम्हारा विश्राम भी ज्ञानस्वरूप हो जायेगा और तुम्हारा कर्म निर्वासन होनेसे जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख हो जायेगा, इतनी-सी तो बात है।

यह महाराज, ईश्वरको सुझाव दे-दे करके, चाहता है, कहता है, हे महाराज, आज हमको सुख तब मिलेगा जब हमको मीठा खानेको मिलेगा। ठीक है! तुमको मीठा मिलेगा, भगवान्ने कहा। वैसे तो हम तुमको सुख दे देते, लेकिन अब तुम चाहते हो मीठा, तो भगवान् सोचने लगे कि इसको कौन-सा मीठा दें, गुड़से जो बनता है सो दें कि अंगूरसे जो बनता है सो दें। कौन-सा मीठा इसको दें। तबतक उसने कह दिया कि महाराज, हमको तो खजूरवाला मीठा दो! तो भगवान्ने कहा—ठहरो बेटा, जब हमारे हाथमें खजूर आवेगा, तुम्हारे हिस्सेका, तब तुमको देंगे। तबतक तुम खजूरके लिए रोते रहो, कभी बाजारसे मँगा लेंगे तब देंगे तुमको। तो यह संकल्प-संन्यासीका अर्थ है—

नह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।

योगीका अर्थ आपको पहले सुनाया था।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

दुःखकी धारा बहती रहे, धन-हरण हो, जन-मरण हो, शत्रुका संयोग हो, मित्रका वियोग हो, शरीरमें रोग हो, कभी रोटी मिले, कभी न मिले, पर अपने हृदयमें ऐसी समता आजाये—

योऽयं योगः त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
'समत्वं योग उच्यते, योगः कर्मसु कौशलम्।'

ऐसे ढंगसे, काम करनेकी वह कला कि सब कुछ प्रकृतिमें बह जाये; लेकिन हमको कुछ न छूये, इसको बोलते हैं योग।

एक सज्जन हमारे पास आये। बोले—महाराज हमें 'योगा' सिखाओ। मैंने कहा—अरे भाई, 'योगा'का अर्थ है कि तुम भगवान्का नाम जप करो। यह जपयोग, मन्त्रयोग हुआ न, योगका भेद एक मन्त्रयोग है। बोले—ना महाराज! यह 'योगा' हमको नहीं चाहिए। अच्छा भाई, यह योग करो तुम

कि एक अहंका बिन्दु है और तुम्हारे चारों तरफ वृत्तियोंकी परिधियाँ हैं और तुम्हारा अहं अहं अहं जो फुर रहा है, उससे वृत्तियाँ सारी-की-सारी चमक रही हैं। बोले—नहीं महाराज! यह योग भी हमें नहीं चाहिए। बोले—अच्छा, भाई तुम मिट्टीको आगमें, आगको पानीमें लीन कर लो, यह लययोग हुआ। बोले—नहीं, महाराज, यह 'योगा' भी हमको नहीं चाहिए। तब तुमको कौन 'योगा' चाहिए? कि हमको ऐसा 'योगा' बताओ जिसमें साँसको ऐसे-ऐसे चलाते हैं। माने हठयोग चाहिए। अरे बाबा, तू आराम कुर्सीपर बैठ जा और देख, तेरे सामने परमेश्वर हँस रहा है। बोले—न-न, महाराज! हमको यह भक्तियोग नहीं चाहिए, यह तो विश्वास है, यह तो कल्पना है।

अच्छा, तो देख तेरी आत्मा सारी सृष्टिमें भरपूर हो रही है। बोले—यह 'योगा' हमको नहीं चाहिए, हमको तो वही 'योगा' चाहिए जिसमें साँस नाभिको हिलाता है। अच्छा, लो वही बताते हैं। तो यह महाराज, न जाने कहाँसे 'योगा' सुनकर आते हैं, इनको न हठयोगका पता, न मन्त्रयोगका पता, न लययोगका पता, न राजयोगका पता। योग एक व्यावहारिक विद्या है, आप गीता पढ़ो, योग माने आप व्यापार करो, कर्तव्य बुद्धिसे करो। देखो, तुमको रोटी व्यापार शुरू करनेसे पहले मिलती थी, व्यापार करनेपर भी खानेको रोटी मिलती है, कदाचित् व्यापार बन्द हो जायेगा, तब भी तुमको रोटी खानेको मिलेगी, जिसने तुमको पेट दिया है, जिसने तुमको मुँह दिया है, जिसने तुमको जीवन दिया है, जिसने तुमको पाचनशक्ति दी है, वह तुम्हारे जीवन-निर्वाहका तो उसने ठेका ले रखा है। आपको महाराज, जीवन-निर्वाहके लिए तो एक गोली काफी है। बोले—नहीं, हमारे पेटमें तो आज डेढ़ किलो वजन नहीं गया। दुःख तो इस बातका है कि हमारे पेटमें डेढ़ किलो वजन नहीं गया, जीनेके लिए हम थोड़े ही दुःखी होते हैं। तो यह दुनियाकी चीजोंको, आदमियोंको, भोगोंको जब अपने मनके अनुसार हम पाना चाहते हैं। घरमें लड़ाई क्यों होती है? हम चाहते हैं कि जो हमारे मनमें है सो हो जाये और दूसरेका मन तो कुछ नहीं, फालतू है।

एक घरमें लड़ाई हुई, काहेके लिए? एकने कहा कि आज हम उड़दकी दाल खायेंगे, दूसरेने कहा कि हम मूँगकी दाल खायेंगे। अब दोनोंके मन बड़े, उसने कहा हम अपना मन नहीं दबावेंगे। उसने कहा—हम अपना मन नहीं दबावेंगे, हमारे ही मनका होगा। दोनोंमें हो गयी लड़ाई। दूसरे दिनसे महाराज, दो रसोई घरकी जरूरत पड़ गयी।

देखो भाई, दुनियामें तुम्हारा ही मन तो नहीं है न, यदि अपने मनको शान्त रखनेका तुमको अभ्यास रहेगा। बोले—भाई, आज उसके मनका होने दो, कल तुम अपने मनका कर लेना। यह अपना मन ही असलमें दुःख देता है। विवाह असफल क्यों होते हैं? कि एक व्यक्ति चाहता है कि हमारे ही मनका हो, दूसरेका मन कुछ नहीं। बाप-बेटेमें झगड़ा क्यों होता है? भाई-भाईमें झगड़ा क्यों होता है? तो दुनियामें केवल अपना ही मन तो नहीं है न, दुनियाँमें चीजें थोड़ी हैं और एक-एक मनको बहुत चाहिए, तब वह दूसरेकी जेबमें-से निकालनेकी कोशिश करता है; यही तो दुनियाका झगड़ा है न, तो असलमें दुनियामें सुखी कौन रहेगा? जो अपनी वासनाको, अपने संकल्पको इतना कम करके रखेगा। तो संकल्पको कहाँ डाल दें?

एक आदमीने एक दिन हमको पूछा, जीभपर कन्ट्रोल माने? दो तरहका कन्ट्रोल, बोलनेपर और खानेपर। तो हम भोजनपर नियन्त्रण कैसे करें? मैंने कहा कि घरमें आज क्या बनेगा, इसके लिए आर्डर कभी न दो और जबतक थाली सामने न आजाये तबतक मालूम मत करो कि आज घरमें क्या आया है! और जब थाली सामने आवे, तब उसको भगवान्‌का प्रसाद समझकर लो। वह तुम्हारे मनसे नहीं आया है, तुम्हारे प्यारेके मनसे आया है। उसको अपने प्यारेका प्रसाद समझकर खाओ! निश्चय कर लो कि हम कभी आर्डर ही नहीं देंगे कि आज हमको क्या खाना है। देखो, तुम्हारी भोजनकी वासना; कहाँसे आवेगी? देखो, इसके लिए कैसी लड़ाई होती है।

अच्छा महाराज, यह बोलना है, मनुस्मृतिमें लिखा है कि चाहे कोई कुछ बोले, कोई बुरा-से-बुरा बोले, पर जो धर्मका प्रेमी है उसको कैसे बोलना चाहिए—

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद् भद्रमित्येव वावदत्।

उसके मुँहसे निकलना चाहिए—भद्रं-भद्रं। ***अभद्रमिति भद्रमिति ब्रूयाद्।*** बोले—मंगल है, मंगल है। यह भी मंगल है, यह भी मंगल है। यह भी भला है, यह भी भला है। अपने मुँहसे भला बोलना चाहिए।

असलमें गौतम धर्मसूत्रमें एक सूत्र है। वह सूत्र तो है—***अभद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्।*** पर मनुस्मृतिमें मनुजीने कहा—***भद्र-भद्रमिति ब्रूयाद्*** ***'अभद्रम् अपि भद्रं इति ब्रूयाद्।'*** कुल्लूक भट्टने बिलकुल ऐसी व्याख्या की है। मेधातिथिने ऐसी व्याख्या की है। अभद्रको भी 'मंगलं मंगलं' ही बोलो। माने जबतक मनुष्य अपने मनको प्रधानता देता रहेगा तबतक दूसरेका मन उसका दुश्मन होकर उसको दुःख पहुँचाता रहेगा। आखिर सामनेवालेका मन कहाँ जायेगा! और जब तुम उसके मनको, अपने मनको एक कर लोगे—मंगल-मंगल कर दो। बुरी बात कभी बोलना, दूसरेको उकसाना, इसका तिरस्कार कर दो, ऐसी बात अपने मुँहसे जानबूझकर बोलना कि उसको दुःख पहुँच जाये—ऐसा नहीं बोलना, यह कहाँसे आता है? यह संकल्पसे नहीं आता है, यह दुस्संकल्पसे आता है। अच्छा, दुःसंकल्प अपने आश्रयको पीड़ा देता है, अपने विषयको पीड़ा नहीं देता है। वह तो जिसके मनमें उठेगा उसीको तकलीफ देगा, दुर्वाणी वक्ताको कष्ट देगी, वाच्यको कष्ट नहीं देगी। संस्कार तो उसका वक्तामें ही जमा होगा, कर्तृत्व वहीं आवेगा और जिस अन्तःकरणमें दुःसंकल्पका संस्कार इकट्ठा होगा उसको कष्ट देगा। अच्छा भाई, दुःसंकल्प तो तकलीफ देता है।

एक आदमीने कहा कि देखो भाई, ये बड़े राजा-महाराजा हैं, इनके हाथ पाँवमें हथकड़ी-बेड़ी डालनी है तो लोहेकी हथकड़ी-बेड़ी इनके स्वरूपके अनुरूप नहीं रहेगी अब राजाको हथकड़ी-बेड़ी पहनाना तो सोनेकी जंज़ीर बनाओ इनके लिए। तो बाबा सोनेकी जंजीर होगी तब भी तो पाँव बँधेगा, हाथ बँधेगा ही। सोनेकी जंजीर क्या हाथ पाँवको नहीं बाँधती है? महाराज, हमारी ये श्रीमती लोग होती हैं अब तो खैर ज़ेवरका समय बीत गया, हमने देखा है श्रीमती लोग पहले एक किलो वज़न उठाकर नहीं चल सकती थीं, उनको अगर सोना-चाँदीका जेवर पहना दिया जाये, तो दस किलोका पहनकर धमाधम चलती थीं। अभी मैं राजस्थानमें गया था, तो वहाँ एक

सज्जनके घर पुराने ज़ेवर रखे हुए थे, तो उन्होंने कहा—महाराज! आप देखो, पुराने ज़ेवर कैसे होते थे। तो उन्होंने अपनी बहुओंको अँगूठेसे लेकर जो पहनाना शुरू किया तो उँगलियोंमें, फिर पंजेके ऊपर और फिर टखनेपर, यह कड़ा है, यह छड़ा है, और यह पायजेब है, तो ऊपरतक पहुँच गया। उधर सेना पहना जाता है पाँवमें, वे महाराज! लाख-लाख, दो-दो लाखके ज़ेवर, इतने पहनकर भला चलते कैसे हैं?

तो मैं आपको यह सुना रहा हूँ कि जैसे लोहेकी जंजीर बाँधती है, वैसे सोनेकी जंजीर भी बाँधती है। अच्छा, तो आप दुस्संकल्प करेंगे, कुसंकल्प करेंगे, तो वह भी आपको बाँधेगा और सुसंकल्प करेंगे, अच्छा संकल्प करेंगे तो वह भी आपको बाँधेगा। असलमें आप हैं संकल्पके आश्रय और बिलकुल स्वच्छन्द हैं, असंग हैं, असम्बद्ध हैं, जब आप दूसरेको चाहेंगे, दूसरी चीजको चाहेंगे, हमको ऐसा वस्त्र मिले, ऐसा मकान मिले, ऐसा फर्नीचर मिले, ऐसी स्त्री मिले, ऐसा पुरुष मिले, सिनेमा घरको जब आप अपने घरमें लानेकी कोशिश करेंगे तब क्या होगा कि वह जो दृश्य विषय है, उसके साथ, उसके और आपके बीचमें मन सम्बन्ध बनाकर भासेगा। तो जैसे बुरे संकल्प दुःख देते हैं, वैसे अच्छे संकल्प भी दुःख देते हैं। तो क्या करना चाहिए कि संकल्पको छोड़ना। धर्म केवल इतना कहता है कि बुरे संकल्प छोड़ दो, इसका नाम धर्मयोग है। और, प्रेम केवल इतना कहता है, अपने प्यारेके लिए जो उपयोगी संकल्प है, सो तो करो और जो दूसरेके लिए है वह मत करो। किसीका बुरा भी मत चाहो, किसीका भला भी मत चाहो और अपने लिए भी कोई संकल्प मत करो। देखो, प्रेमकी यह महिमा है, प्रेम कहता है अपने लिए भी नहीं, दूसरेके लिए भी नहीं, जो कुछ है सो सब हमारे प्राण-प्यारे प्रभुके लिए, केवल ईश्वरके लिए संकल्प करो, एकसे बँधोगे, बाकीसे छूट जाओगे—

हरिसों जोरि सबन सों तोर्यो।

इसका नाम भक्तियोग है। और अपनेमें स्थित होनेके लिए संकल्प करो, इसका नाम आत्म-योग है। मनको मनमें रोक लेना इसका नाम आत्मसंयम योग है और मनको भी छोड़कर अपनेमें बैठ जाना इसका नाम आत्मयोग है।

और आत्मा-परमात्माके भेदको छोड़ देना तत्त्वज्ञान है, अस्पर्श योग है। वृत्तिका स्पर्श ही मत करो। तो जबतक संकल्पको, कल्पनाके ताने-बानेको नहीं छोड़ेंगे, तबतक दुनियाके जालमें फँसे रहेंगे। दुनियाके जालमें हमको फँसाता कौन है ? अपनी कल्पना। और यह ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी होती है कि यह बड़ा भारी दुःख देती है और ऊटपटाँग होती है। अनदेखी चीजके बारेमें जैसा हम सोचते हैं वैसी नहीं होती है। सोचते हैं कुछ, निकलती है कुछ! दूसरेके दिलके बारेमें हम सोचते हैं कि यह गोरा होगा, पर निकलता है काला और सोचते हैं कि इसका दिल काला होगा तो निकलता है गोरा। क्योंकि दिल तो आँखसे नहीं दीखता है न! असलमें यह अदृश्य वस्तु—परोक्ष वस्तुके बारेमें जब हम कल्पना करते हैं तब हमारे मनकी शक्तिका अपव्यय होता है। इसलिए न कोई कल्पना करें और न किसी कल्पनाको अपने साथ जोड़ें। अच्छा भाई, कल्पना छोड़ें तो कर्म भी छोड़ दें! नहीं, कर्म तो करते रहिये। कि कर्म किसलिए करें ? कि निस्संकल्प होनेके लिए।

: ३ :

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

अब सीढ़ी बताते हैं। कि अभी तो भाई योग नहीं मिलता है। ऐसी चीजसे योग करोगे जो छूट जाये—

ऐसे बरको के बरौं जो जन्मे औ मर जाय।
बर बरिये गोपाल जू म्हारो चुड़लो अमर ह्वै जाय॥

तो जब सीढ़ीपर चढ़ना होता है, तब पाँव रख-रखकर चढ़ना पड़ता है। लिफ्टसे चढ़े तब भी स्विच दबाकर उसको ऊपर ले जाना पड़ेगा, और वह जो हेलीकाप्टर होता है वह पहाड़ी जगहमें झट एकसे दूसरेपर पहुँचा दे, उसको भी तो चलाना पड़ता है। यदि आपको ऊपर चढ़ना है तो सीढ़ी-दर-सीढ़ी कर्म करके ऊपर हो जाइये। और यदि आप चढ़ चुके तो? वहाँ बैठकर आराम करिये, विश्राम कीजिये, वहाँका आनन्द लीजिये। अब यह नहीं है कि जिन्दगी भर चढ़ते ही रहें। चढ़ना होता है घ़रमें पहुँचनेके लिए। यह कर्म शरीरम्मे होता है। मनमें तो क्या-क्या चीज आ जाती है, उसकी कुछ ज्यादा परवाह नहीं करनी चाहिए। जैसे सपने आते हैं और भूल जाते हैं। हम यदि आये हुए सपनोंको याद करना चाहें तो हमारे पास ऐसी कोई मशीन नहीं है कि हम आये हुए सपनोंको याद कर सकें। ऐसे हमारे जीवनमें जो मनोराज्य

होते रहते हैं, उनको ज्यादा महत्त्व नहीं देना चाहिए। अरे, मनमें एक चीज आयी चली गयी, हमको कभी-कभी पछताना पड़ता है। कब ? कि जब मनमें कोई उड़ती हुई चीज आती है और हम किसीसे कह देते हैं कि हमारे मनमें ऐसा आया, तो वह आदमी कोशिश करता है कि ये ऐसा चाहते हैं। इसलिए ऐसा करके इनको देना चाहिए। अब हम देखते हैं कि वह बेचारा बहुत परेशान हुआ और हमारे मनमें तो यह फुरती हुई चीज आयी थी, उसको कह दिया, वह उड़ गयी, फिर लौटकर आवेगी कि नहीं आवेगी ! इसका कुछ पता नहीं है। एक मनोराज्य आया था, चला गया; एक सपना आया था चला गया। असलमें दुःखी कौन लोग होते हैं ? जो अपने मनमें आयी हुई चीजको वज्र रेखा समझ लेते हैं—व्रजलीक। कि अब हमारे मनमें आ गयी तो यह होना चाहिए। अरे बाबा, ईश्वर भी सृष्टि बनाता है, खिलाता-पिलाता है, फिर कहता है कौन हमेशा इसमें लगा रहे, छोड़-छाड़कर सो जाता है-प्रलय हो जाती है। तो तुम्हीं ऐसे कहाँसे आ गये, ईश्वरसे भी बड़े कि अपने संकल्पको बज्र रेखा मान लेते हो ! अरे, मनमें कोई बात आयी तो जिद्द मत करो उसे पूरा करनेकी—**बुद्धेः फलं अनाग्रहः**। अक्लमन्दीका फल यह है, अकलकी निशानी यह है कि आदमी जिद्दी न हो। क्योंकि जिद्दी आदमी ही दुनियामें दुःखी होता है। अरे भाई, घड़ीकी सूई बदल गयी, जब यहाँ आकर बैठे थे तो साढ़े छहपर थी, अब साढे सातपर पहुँच गयी, सेकिण्ड बदल गये, मिनट बदल गये, घण्टा बदल गया, घड़ीकी सुई बदल गयी, अन्धकार प्रकाशमें फर्क पड़ गया। जो लोग दाहिने नहीं थे, वे आकर दाहिने बैठ गये, भर गया, जो लोग बायें नहीं थे वे आकर बायें बैठ गये, भर गया, देखो परिवर्तन होता है। जैसे सारी सृष्टिमें परिवर्तन हो रहा है, वैसे अगर तुम्हारे मनमें भी परिवर्तन हो रहा है, तो तुम उस परिवर्तन होनेको रोकते क्यों हो ? बदलता है तो बदलने दो जिद्द क्यों करते हो ? यह जो आग्रह-दुराग्रह है, आपको मालूम है यह कौन-सा दुराग्रह है ? यह राहु है कि केतु है, शनिश्चर है ? पापग्रह होता है और उपग्रह भी होता है। जैसे आकाशमें ग्रह होते हैं, ऐसे अपने मनमें भी ग्रह होते हैं यह संग्रह, परिग्रह, आग्रह है, ये सब राहु, केतु, शनिश्चर ही हैं। यह आग्रहमें जो ग्रह है पूर्वाग्रह, इसको यदि तुम छोड़ दो—

जा भेसाँ म्हारा साईं रीझे सोई भेष धरूँगी।

जो–जो दोगे, सो–सो खाऊँगा, जो पहनाओगे, सो पहनूँगा, जहाँ रखोगी वहाँ रहूँगा, मारोगे तो मरूँगा, जिलाओगे तो जीऊँगा। मैं तुम्हारा एक खिलौना, जैसे खिला रहे हो, आत्मदेवकी दृष्टिमें, परमात्मदेवकी दृष्टिमें अपने संकल्पको पकड़ करके रखना, यह दुःखको शैतानको आमन्त्रित करके अपने घरमें रखना है। यह सद्ग्रह नहीं है, यह पापग्रह है।

जैसे जैसे रखिअत हो, तैसे तैसे रहियत हौं हे हरि।

यह हरिदासजी महाराजका पद व्रजमें 'षोडशपदी'में है।

जैसे राखो वैसे ही रहौं।

प्रेमसे जो दिन आवे, बदलनेकी कोशिश मत करो कि सोमवार आवे, तो बदलकर उसका नाम शनिवार रख देंगे। एक दिन एक लड़का घरमें बैठकर प्रार्थना कर रहा था कि हे भगवान् जापानकी राजधानी *'हांगकांग'* कर दो। तो माँने पूछा कि बेटा यह क्या कर रहा है? तो बोला कि परीक्षामें पूछा गया था कि जापानकी राजधानी कहाँ है? तो हमको टोकियो याद नहीं आया तो हमने हांगकांग लिख दिया। तो अब हम भगवान्‌से प्रार्थना कर रहे हैं कि जैसा मैंने लिख दिया है, वैसा कर दो। तो ये हमारे बच्चे ऐसा ही कहते हैं भगवान्‌से कि हमने जो सोचा, हमने जो कहा, हमने जो बनाया, वैसा ही हे भगवान् कर दो! यह अपने संकल्पकी जो पकड़ है यह छोड़कर **सर्व- संकल्पसंन्यासी,** देखो आनन्द! भगवान्‌के मनमें अपना मन मिला दो, प्रकृतिमें अपना मन मिला दो, धर्ममें अपना मन मिला दो, गुरुमें अपना मन मिला दो, पतिमें अपना मन मिला दो, माँमें अपना मन मिला दो। यह जो अपना अहं है उसके साथ हम अपना मन मिलाकर रखते हैं, यही बहुत तकलीफ देता है।

यह है नरके लिए नारायणका उपदेश। माने जीवके लिए ईश्वर बोल रहा है। यद्यपि ईश्वर न रथी है न सारथि है, दोनोंका प्रकाशक स्वयंप्रकाश अधिष्ठान है; परन्तु रथाभिमानी रथीपर अनुग्रह करके वह सारथिके रूपमें उसके सम्मुख प्रकट हो गया है। वह दृङ्मात्र है, न द्रष्टा है न दृश्य है। वह दृश्य होकर द्रष्टाको रथाभिमानी, रथीको उसके स्वरूपका साक्षात्कार करा रहा है। ***यः***

परमेश्वरः प्रयोजनं यस्य स पार्थः। पार्थ किसको कहते हैं? कि जिसके जीवनका परम प्रयोजन हो परमेश्वर। ***परमः अर्थो यस्य अर्थः प्रयोजनं।*** जो सच्ची वस्तुको पाना चाहता हो, उसका नाम है पार्थ। जो झूठेमें रम जाये उसका नाम पार्थ नहीं। किसीने कहा—बाबा हमें सच्चे झूठेसे क्या मतलब, हमें मजा चाहिए, सुख चाहिए। अर्जुनने कहा—नहीं, राज्यमें भले सुख हो, पर ***किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।***

हम राज्य लेकर क्या करेंगे? हम भोग लेकर क्या करेंगे? हम जीकर क्या करेंगे? हमको मजा नहीं चाहिए, हमको तो सत्य चाहिए, पार्थ चाहिए। तो यह जो परमार्थका प्रेमी अर्जुन है, विवेक-वैराग्य सम्पन्न जीव और जिसने अपने रथके घोड़ोंकी बागडोर श्रीकृष्णके हाथोंमें अर्पित कर दी, उसके प्रति श्रीकृष्णका उपदेश है भगवद्गीता।

गीता पौरुषवादी शास्त्र है। यह प्रारब्धवादी शास्त्र नहीं है। एकने कहा, भाई, ईश्वरको प्राप्त करनेके लिए कुछ साधन-भजन करते हो? तो दूसरे सज्जन बोले—प्रारब्धमें होगा तो ईश्वर अपने आप ही मिल जायेगा। अरे, प्रारब्ध भी तो करनेसे बनता है बाबा! पूर्वजन्ममें यदि साधन किया होगा तब न प्रारब्ध बनेगा और नहीं किया होगा तो कहाँसे बनेगा? और प्रारब्धसे संसारका सुख-दुःख मिलता है, कर्मसे जो चीज बनती है वह बिगड़ती है। तो जो कर्मसे दुःख आता है वह चला भी जाता है, और जो कर्मसे सुख आता है वह चला भी जाता है; इसलिए प्रारब्धसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है। किसीने कहा—जब हमारा केतु ग्रह उत्तम स्थानपर बैठेंगे तब मोक्ष हो जायेगा।

ये एट्ठे ग्रह अगर मुक्ति देने लगते तो बस जिसके-जिसके ग्रह हों, मुक्ति उसको अपने आप ही मिल जायेगी। यह तो चलना है धरतीपर और देखते हैं आसमानकी ओर, तो उसमें गिरनेका ही ज्यादा डर रहता है। प्रारब्धसे ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती है, संसारके सुख-दुःखकी प्राप्ति हो सकती है। और पूर्वके जन्मानुसार जो ग्रह कुण्डलीमें पड़े हैं, वे प्रारब्धके सूचक हो सकते हैं और गोचरमें जो ग्रह होते हैं वे उत्पातके सूचक हो सकते हैं। एक जन्मलगनके द्वारा ग्रह देखते हैं और एक गोचरके द्वारा ग्रह देखते हैं। चालू ग्रह तो

औत्पातिक होते हैं और जन्मलग्नके अनुसार जो ग्रह होते हैं वे पूर्व जन्मार्जित कर्मके अनुसार होते हैं। वे जीवनमें सुख-दुःख, रोग-वियोग—इनकी सूचना मात्र देते हैं और शान्ति कर्मको भी वे केवल ढो सकते हैं। इनका बड़ा विचार है, जब हम कभी ज्योतिषपर कटाक्ष कर देते हैं थोड़ा बहुत तो लोग कहते हैं—अरे बाबा, ये सनातन धर्मी भी हैं या नहीं! वास्तवमें हम तो ज्योतिषका जो मूल तत्त्व है स्वयंज्योति परमात्मा, जिससे ये सब ज्योतियाँ निकलती हैं, उसका प्रतिपादन करते हैं और उससे हमारी जान-पहचान है।

अच्छा, तो एकने कहा—ठीक है जी, ग्रहसे, प्रारब्धसे तो परमात्मा नहीं मिलेगा, अपने आप कभी रास्तेमें चलते-चलते मिल जायेगा। इसका अर्थ है कि तुम धनके लिए काम करना चाहते हो, बच्चेके लिए काम करना चाहते हो, भोगके लिए काम करना चाहते हो; लेकिन परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए कोई साधन-भजन नहीं करना चाहते! न तो परमेश्वरकी प्राप्ति होगी ग्रहसे, न प्रारब्धसे, न अपने आप। बोले—एक दिन कृपा करके ईश्वर आयेगा, हमसे मिल जायेगा। माने तुमको तो ईश्वरकी कोई चाह नहीं, जब उसको चाह होगी, तब वह तुम्हारे पास आवेगा। उसीको तुमसे मिलनेकी चाह होगी, ऐसे सुर्खाबके पर लगे हैं तुमको कि तुम्हारे देखे बगैर ईश्वरके मनमें चैन नहीं होगा और तुमको देखे बिना उससे रहा नहीं जाता होगा, तो वह तुमको देखनेके लिए आवेगा। कौन-सी चीज है तुम्हारे अन्दर जिसके लिए ईश्वर चलकर तुमसे मिलनेके लिए आवे?

असलमें जिस वस्तुको हम पाना चाहते हैं, उसके लिए थोड़ा हाथ-पाँव पीटना होता है। ये जो गंगाजीमें तैरनेवाले मल्लाह लोग होते हैं, उनको धाराका पता होता है कि यदि हम यहाँ धारामें पड़ जायें, तो कहाँ जाकर किनारे लगेंगे। लेकिन उस धाराको पकड़नेके लिए थोड़ा हाथ-पाँव मारके किनारेसे उस धारामें जाकर अपनेको डाल देना होता है। फिर तैरो चाहे मत तैरो, हाथ-पाँव मारो चाहे मत मारो, वह धारा ले जाकर बहाती है, ले जाकर उस किनारेपर डाल देती है जहाँ वे लगना चाहते हैं, पर उस किनारेपर पहुँचानेवाली धाराकी पहचान होनी चाहिए और चार बार हाथ-पाँव मारकर वहाँतक पहुँचना चाहिए। हमने पुराने जमानेकी बात पढ़ी है कि पहले लोग बोतलमें चिट्ठी

डालकर समुद्रकी उस धारामें डाल.देते थे जो उसी किनारेपर जाकर फेंकती हो। समुद्रकी धाराकी पहचान होती थी। और चिट्ठी बोतलमें डालकर पहुँचाना होता, वहाँ पहुँचा देते। धाराकी पहचान होनी चाहिए, अपना पौरुष होना चाहिए।

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि॥

यह हमारी वासनाकी नदी बह रही है। कभी शुभ मार्गसे बहती है, कभी अशुभ मार्गसे बहती है, हमें इतना ही पौरुष करना है कि हमारी वासनाकी नदी शुभ मार्गमें बहने लगे। बिना यत्न किये, बिना पौरुष किये जीवनमें कोई सफलता नहीं प्राप्त हो सकती।

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ—नपुंसक, नामर्द मत बनो।

यह क्लीव शब्द है न संस्कृतमें.उसका अर्थ है जो धृष्टता न करे। नपुंसक, अधृष्ट। तो जो ईश्वरकी प्राप्तिके लिए पहल न करे, अपनी ओरसे जो ईश्वरकी प्राप्तिके लिए पहल न करे, उसका नाम क्लीव। ऐसे समझो कि ईश्वर एक परम सुन्दर, परम मधुर, परम रसमय, परम लास्यमय एक श्रेष्ठतम नायिका है, उसकी प्राप्तिके लिए जिसके मनमें पौरुषका उदय नहीं होता, वह नपुंसक है।

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ जाना यह जिज्ञासु पुरुषका लक्षण नहीं है भक्तका लक्षण नहीं है। उसको तो *हस्तैर्हस्तान् समापीड्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च।*

हाथ-से-हाथ पीड़ित करके, दाँत-से-दाँत दबाकर, दाँत कटकटाकर अपने लक्ष्यको अभी प्राप्त करेंगे, ऐसा संकल्प होना चाहिए। यह हृदयमें जो क्षुद्र दुर्बलता है, इसको छोड़ देना चाहिए। यह गीता पौरुषका ग्रन्थ है। मत प्रारब्धपर छोड़ो, मत कर्मपर छोड़ो, मत 'अपने आप पर छोड़ो। भगवान्‌की जब मर्जी होगी तब आकर मिलेंगे—इस बातपर भी मत छोड़ो। बोले कि यहाँ तो तुम्हारे दरवाजेपर आकर बैठे हैं, कफन सिरपर लपेटकर (ऐसा वर्णन करते हैं)। अब तो तुमसे मिलेंगे, बस!

यह बात आपको सुनायी। महात्मा बुद्ध बैठे, उन्होंने संकल्प किया—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं।
त्वगस्थि - मांसानि निलयं प्रयान्तु।
अप्राप्य बोधं बहुकल्प - दुर्लभम्।

वे कहते हैं—इस आसनपर बैठे-बैठे मेरा शरीर सूख जाये, हमारी चमड़ी, हड्डी, मांस खाकमें मिल जाये, लेकिन अब तुमसे मिले बिना यह शरीर इस आसनसे उठेगा नहीं। बैठ गये सो बैठ गये। कहनेका अर्थ है कि गीता पौरुषका ग्रन्थ है, **कर्मण्येवाऽधिकारस्ते। नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।** यह आलसियोंका ग्रन्थ नहीं है, प्रारब्धवादियोंका नहीं है, ग्रहवादियोंका नहीं है, भूतवादियोंका नहीं है। स्वभाव, यदृच्छा, प्रकृतिवादियोंका यह ग्रन्थ नहीं है। जैसे ईश्वर निरन्तर पौरुष कर रहा है, वैसे जीव निरन्तर पौरुष करके ईश्वरकी ओर चले।

बोले—भाई, कबतक पौरुष करे? अपनी ओरसे हाथ-पाँव पीटना चाहिए? जिसको हम चाहते हैं, उससे मिलनेके लिए अपनी ओरसे प्रयत्न करना चाहिए। यह वृन्दावनमें जो अभिसारका सिद्धान्त है, वह यही तो है। माने यमुनाजी समुद्रकी ओर बह रही हैं—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे गच्छन्ति।

यमुनाजी आप क्यों बह रही हो? कि समुद्रमें मिलकर उसमें विलीन हो जानेके लिए। कि गंगाजी क्यों बह रही हैं? उसमें मिलकर विलीन हो जानेके लिए। ऐसे ही हमारी चित्तवृत्तिकी धारा दुगुनी-तिगुनी होकर अपने परम प्रियतम इष्टदेवकी ओर प्रवाहित होवे। गोपी अपना घरद्वार छोड़कर, रिश्तेदार-नातेदार छोड़कर, संन्यासिनी होकर, प्रेमके कारण संन्यासिनी होकर, अर्थ, धर्म, काम, छोड़कर और मोक्ष तकका परित्याग करके प्रेमरसकी प्राप्तिके लिए जो अवतरित हुई, यह वृत्ति चाहिए परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए। इसका अर्थ है कि हमें साधन-भजन करना चाहिए, हाथ-पाँव पीटना चाहिए। बोले—हमारे हाथ-पाँव पीटनेसे परमात्मा मिलेगा? यह बात हम कर्मयोगियोंसे, जो कर्मयोगके Authority हैं, उन लोगोंसे मिल-मिलकर हमने यह बात की है

आप जानते होंगे हम शांकर सम्प्रदायके संन्यासी; वहाँ तो *ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽताया।* वहाँ कर्मका क्या अर्थ होता है।

परन्तु जो मैल लगा है वह कर्मके बिना छूटेगा नहीं। जो लोटेमें, गिलासमें, आपको पानी पीना है, तो जो मैल लगा है न, जबतक उसमें और माटी और पानी और उबसन डालकर उस बर्तनको माँजेंगे नहीं, तबतक वह छूटेगा नहीं।

हमारे मोकलपुरके बाबा कहते थे कि जैसे लोटेके भीतर मैल लगी होती है तो थोड़ा पानी, थोड़ी मिट्टी, थोड़ा कंकड़, थोड़ा घास-फूस डालकर उसको हाथसे खूब मलते हैं और फिर उसको धो देते हैं। डालते हैं उसमें मैल और मैल लोटेके मैलको लेकर निकल आती है। लोटा साफ हो जाता है।

तो नारायण, यह भीतर जो मैल भरा हुआ है, यह काहेका है? यह कर्मका ही तो लगा है ना! वे तो कहते थे कि यह जो हमलोग भोजन करते हैं, यदि अन्न-पानी बिलकुल बन्द कर दें, तो नसें बिलकुल सूख जायेंगी और सिकुड़ जायेंगी और उनमें जो जहर है, उनमें जो मैल है, वह बाहर नहीं निकलेगा तो विष बढ़ जायेगा और आदमी मर जायेगा। इसलिए हमलोग जो अन्न-पानी भीतर डालते हैं, यह भी हमारे नस-नाड़ियोंकी सफाई करता हुआ, उनको स्वच्छ बनाता हुआ बाहर निकलता है। यह हमारा खाना-पीना भी आत्मशुद्धिके लिए है।

तो बाबा, अब यह बात हुई कि हमारे कर्ममें इतनी शक्ति है कि परमेश्वरकी प्राप्ति हो जाये! तो यह बात साफ है कि कर्ममें इतनी शक्ति तो नहीं है कि उससे परमेश्वर मिल जाये। हम कर्मयोगी महात्माओंसे मिले और उनसे प्रश्न क़िया कि एक तो हम अल्प शक्ति हैं, अल्पकरण हैं और अल्पसंकल्प हैं—अल्पशक्ति, अल्पज्ञान, अल्पकरणसे जो कर्म होगा उससे अनन्त परमात्माकी प्राप्ति कैसे होगी? उन्होंने कहा—देखो पण्डित जी, सगुण सिद्धान्तमें जबतक परमात्मा अज्ञात है माने आत्मत्वेन ज्ञात नहीं है, तबतक आप उसको सगुण मानते हो कि नहीं? आत्माके रूपमें जबतक परमात्माका

साक्षात्कार नहीं हो गया, तबतक आपकी दृष्टिमें यदि वह निर्गुण भी है तो निर्गुणता भी एक गुण है। और जब आत्माके रूपमें है तबतक वास्तविक निर्गुण है। तो जबतक आपने आत्माके रूपमें उसका साक्षात्कार नहीं किया तबतक वह सगुण है। इस बातपर ध्यान दो!

तो आपके अल्पज्ञान, अल्पसंकल्प, अल्पशक्ति, अल्पकरणके द्वारा, अल्पकर्मके द्वारा अनन्त परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह बात सही है। परन्तु जब परमात्मा देखेगा कि मेरी प्राप्तिके लिए यह छटपटा रहा है, अपना हाथ-पाँव पीट रहा है, मेरी प्राप्तिके लिए कर्म कर रहा है, तब वह परमात्मा प्रसन्न होकर आपके सामने अपने आपको क्या अभिव्यक्त नहीं कर सकता? वह सगुण है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

हमारे एक मित्र हैं वे कहते हैं कि च, च, च ज्यादा नहीं बोलना, *'तुष्यन्ति चरमन्ति च', चरमां वृत्तिं अनुभवन्ति, चरमवद् आचरन्ति, चरमन्ति।'* चरम अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

तो **'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।'** भगवान् कहते हैं कि जब हमारे लिए कोई चलता है—सुदामाजी अपने घरसे चले, भगवान्‌ने देखा कि यह दुबला ब्राह्मण, मुट्ठी भरकी तो कमर, हड्डी दिख रही है, लठिया टेक रहा है। यह तो साठ कोस पहुँचनेमें बेचारा मर जायेगा। तो जब विश्राम करनेके लिए सुदामाजी पेड़के नीचे बैठे, आँख लग गयी। तो जगनेपर क्या देखते हैं कि हम तो द्वारकामें हैं। यह इतना रास्ता क्या हो गया कि भगवान्‌ने खुद खींचकर उनको द्वारकामें बैठा लिया। यही है अनुकम्पा।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

जब मनुष्य भगवान्‌के लिए चलता है। परिक्रमा करनेके लिए गणेशजी बेचारे चूहेपर ही चल पड़े, कि हम तो पृथ्वीकी परिक्रमा करेंगे,

भगवान्‌को हँसी आगयी कि भाई इनका चूहा पृथ्वीकी परिक्रमा कबतक करेगा? कार्तिकेयका मोर तो भला उड़कर परिक्रमा भी कर लेगा। यह मुर्गन जो हैं महाराज! दक्षिणमें मुर्गन बोलते हैं, *म्यूरेन गच्छति इति म्यूर-नगनमुर्गन।* ये मुर्गन तो उड़कर चले जायेंगे और ये मूषकारूढ़ गणेशजी कबतक जायेंगे। उपाय बता दिया। आकर नारदके रूपमें उपाय बता दिया कि माता-पिताकी परिक्रमा कर लो, हो गया। भगवान्‌के नामकी परिक्रमा कर लो, हो गया। तो यह बुद्धि जो है, भगवान् दे देते हैं। हमने देखा बच्चा नन्हा-सा है। उठनेकी सामर्थ्य नहीं है। चलनेकी सामर्थ्य नहीं है, ललकता है माँकी गोदमें जानेके लिए, जब वह बारम्बार हाथ उठाता है और रोने लगता है। उसमें सामर्थ्य नहीं है, लेकिन माँ-में तो सामर्थ्य है न, बच्चा नहीं चल सकता तो वह उसको उठा ले। तो ठीक है कर्ममें सामर्थ्य नहीं है। न हाथमें सामर्थ्य है कि ईश्वरको पकड़ ले, न पाँवमें सामर्थ्य है कि चलके उसके पास पहुँच जाये, न जीभमें सामर्थ्य है कि बोलकर उसका वर्णन कर ले, न मनमें सामर्थ्य है कि उसका ध्यान कर ले; लेकिन जब ईश्वर देखता है कि यह जीव हमारे अभिमुख हुआ, तो ईश्वर ही कृपा करके जीवके साधनको परिपूर्ण कर देता है। इसलिए आप अपने कर्मकी अल्पताको मत देखो, भगवान्‌के महान् अनुग्रहको देखो, जब तुम उसके लिए चलते हो। हमको एक महात्माने कहा था कि एक कदम तुम चलो तो ईश्वर भी तुम्हारे लिए एक कदम तो चलेगा न, कि इसमें भी कोई सन्देह है?

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

तुम चलो एक कदम ईश्वरकी ओर और ईश्वर चले एक कदम तुम्हारी ओर, तो तुम्हारा कदम तो छोटा और ईश्वरके एक कदममें क्या तुम मिले बिना रह जाओगे? एक कदम चलो तो! इसीको कहते हैं ईश्वरकी प्राप्तिके लिए कर्म। तो गीताका कहना है कि तुम ईश्वरकी प्राप्तिके लिए कुछ करो—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।

तो अब बात यह हुई कि यह जो हमारा कर्म है, यह ईश्वरकी प्राप्तिका साधन हो सकता है। कैसे हो सकता है? कि यदि ईश्वर तत् पदार्थ है तो हमारे शुभ और निष्काम कर्मसे; यदि हम कर्मको बेच न दें तो ईश्वरका प्रसाद प्राप्त

होगा और वह स्वयं अनुग्रह करके मिलेगा। अच्छा यदि हम तत् पदार्थके लिए कर्म न करें और निष्काम भावसे कर्म करें, तब क्या होगा? तब हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा और हम अपने स्वरूपमें स्थित हो जायेंगे। तो कर्मके दो पहलू हैं। सकामको छोड़ दो। यदि सकाम करोगे तो जिस वस्तुकी प्राप्तिके लिए करोगे, वह मिलेगा और ईश्वरके लिए करोगे, तो ईश्वर प्रसन्न होकर खुद आकर मिलेगा। लेकिन यदि ईश्वरके लिए भी न करो और दूसरोंके लिए भी न करो, केवल निष्काम भावसे, कर्तव्य बुद्धिसे अपने कर्म करो, तो देखो कर्म तुम्हें कहाँ ले जायेगा? कि जहाँ तुम हो वहीं तुम्हें बैठा देगा। स्वरूपस्थ कर देगा तो—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

लोग कहते हैं कि आत्माकी प्राप्तिके लिए कुछ मत करो, विश्राम। यह 'कुछ मत करो' में जो 'करो' रूप विधानं है न, वह क्या है? कुछ न करना भी जान-बूझकर करना है। वह भी एक प्रकारका साधन है, जबतक परमात्मा मिल नहीं गया, कर्तृत्व बना हुआ है, तबतक करोगे तब भी करना है और न करोगे तब भी करना है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

तो आओ, अब आपको **आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं**, आप योगा प्राप्त करना चाहते हो? शर्माजी कहते हैं कि 'योगा' क्यों बोलते हो? आजकल अंग्रेजी बाबू लोग जब योगाका उच्चारण करते हैं न, तो इसीलिए मैंने 'योगा' बोल दिया, वह नकल है समझो। हमारे तो 'योग' शब्दका अर्थ है—'दुःख संयोग-वियोग'। हम व्यवहार करें, आँख हमारी खुली हो और दुःख हमको छू न सके, हम बोल रहे हों और दुःख हमको छू न सके। हमारे सामने संयोग हो, वियोग हो, हरण हो, मरण हो और दुःख हमको न छू सके, ऐसी विद्या, ऐसी कलाका नाम योग है। हमको दुःखसे बचानेवाली कला जिससे हमको दुःख होता हुआ भी छू न सके। तो आओ, योगपर चढ़ना चाहते हो? तो बोले—पहली बात है कि थोड़ा विचारशील होना भी जरूरी है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

तीन बात चाहिए, एक तो आरोहणकी इच्छा हो, **आरुरुक्षोः**का अर्थ है *आरोढुम् इच्छु आरुरुक्षुः तस्य आरुरुक्षोः।* जो योगके वैकुण्ठमें पहुँचना चाहता है, योगके पारमेष्ठ्य पदपर पहुँचना चाहता है, सबसे ऊँचा पद है योग, इसके आचार्य हैं—हिरण्यगर्भ, इसलिए इसमें आरूढ़ होना है। आरूढ़ होना है क्या? यह देखो, कि विषयमें स्थिति, इन्द्रियमें स्थिति, अन्तःकरणमें स्थिति, ज्ञातामें स्थिति और सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध होकर द्रष्टाका स्वरूपमें स्थित होना। आरूढ़का अर्थ सामनेकी ओर जाकर छतपर बैठना नहीं है, आरूढ़का अर्थ है निवृत्ति क्रमसे अपने स्वरूपमें बैठना। जैसे तुम अवरूढ़ हुए हो वैसे आरूढ़ हो जाओ। आरोह-अवरोहसे सितार बजाते हैं, जैसे उँगलियोंका ऊपर जाना, नीचे जाना, ध्वनिका ऊर्ध्व और निम्न होना, मन्द मध्यम होना, तो जिस क्रमसे तुमने अवरोहण किया है उस क्रमसे तुम आरोहण कर लो। तुम हो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा, तो अन्तःकरणमें प्रवेश करके तुम मनमें आये, इन्द्रियोंमें आये, देहमें आये, विषयोंमें गये, नीचे उतर आये न, बहुत नीचे उतर आये! कहाँ तो तुम निर्मल ज्ञानस्वरूप परमार्थ और कहाँ विषयोंमें होकरके वह तुमको चूस रहा है; जैसे लोग आपको चूसते हैं, वैसे तुम्हारे शरीरको भी चूसते हैं। कोई तुमको आँखसे चूस रहा है, कोई मुँहसे चूस रहा है, सृष्टिके लोग तुम्हारा शोषण ही तो कर रहे हैं। क्यों कर रहे हैं शोषण? क्योंकि तुम बहुत नीचे उतर आये हो। जैसे नीचे उतर आये हो वैसे सीढ़ी-दर-सीढ़ी, विषयको छोड़ो एक ओर, शरीरमें आजाओ और शरीरको छोड़ो एक ओर, इन्द्रियोंमें आ जाओ, इन्द्रियोंको छोड़ो एक ओर, अन्तःकरणमें आ जाओ, अन्तःकरणको छोड़ो एक ओर अपने स्वरूपमें बैठ जाओ। जब अपने स्वरूपमें आगये, तब? बोले कि बस, पीछे थोड़े ही हटना है, अपने स्वरूप तक ही गति होती है। इसके पीछे जो चीज हैं वह कल्पित है। इसलिए यदि परमात्मा होगा तो अपने स्वरूपमें जो परिच्छिन्नताकी कल्पना है, उस कल्पनाके बाधित होनेसे अपना स्वरूप ही परमात्मा निकलेगा। अपने स्वरूपके पीछे यदि परमात्मा होगा तो कल्पित होगा और अपने स्वरूपके सामने परमात्मा होगा तो दृश्य जड़ होगा, अनात्मा होगा। स्वरूपत्वेन जब परमात्माका साक्षात्कार होगा और उसकी

विषयता और परिच्छिन्नता दोनों बाधित हो जायेगी और छूट जायेगी परोक्षता। अतः अपने स्वरूपमें आकर बैठ जाओ।

अपने स्वरूपमें बैठनेके लिए क्या करना पड़ेगा? तो देखो निवृत्ति हुई न! कर्म तो करना ही पड़ा। पहले तो तुम आलसीपनेमें पड़े थे, कर्म करो वहाँसे जगो। फिर पापकर्ममें पड़े थे, पुण्यकर्म करके वहाँसे जगो। पुण्य कर्ममें सकामतामें फँसे थे, उससे निष्कामतामें आ जाओ। निष्कामतामें भी कर्तापनमें फँसे थे, उसको छोड़ो और अकर्तापनेमें भी, भोक्तापनेमें फँसे थे उसको भी छोड़ो और ऐसे शुद्ध-बुद्ध होकर बैठो, अपने पदपर बैठ जाओ। कि पहुँच गये? कि हाँ पहुँच गये। कैसे पहुँचे? बोले—**कर्म कारणमुच्यते। आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं**—एक तो होनी चाहिए आरुरुक्षा माने आकांक्षा, कि हम अपने स्वरूपभूत पदपर आरूढ़ हो जायें। इच्छा ही नहीं होगी महाराज तब क्या होगा? दूसरी बात होनी चाहिए मनन, **मुनेः** अपना स्वरूप क्या है, यह जानकारी होनी चाहिए, नहीं तो कहीं बैठोगे और समझ लोगे कि हम अपने स्वरूपमें बैठे हैं। तीसरी बात होनी चाहिए कर्म, माने उसके लिए साधन। तो इच्छा होनी चाहिए, जानकारी होनी चाहिए और उसके लिए साधन होना चाहिए। और तब आप बैठ गये **योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।** बोले—अब क्या करें? कि अब करनेकी जरूरत नहीं, प्रयोजन पूर्ण हो गया—

हीरा पायो, गाँठ गठियाओ, बार-बार वाको क्यों खोले।

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले?

एक सज्जन थे वृन्दावनमें, मेरे पास आकर एक कविता सुनाया करते थे। बड़ी बढ़िया कविता थी, पर अब बीस-पच्चीस वर्ष हो गया है तो अब भूल गयी—**मैं क्यों गाऊँ?** मुझे गानेकी क्या जरूरत है। मैं क्यों बोलूँ? तो जो बात करनेसे मिलता है, जो गानेसे मिलता है, जो बोलनेसे मिलता है, वहाँ आकर बैठ गये। तो **आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं,** जानकार आदमी जब सीढ़ीके रास्ते चढ़ता है तो चढ़नेमें उसको कर्म करना पड़ता है, लेकिन जब चढ़कर ऊपर पहुँच गया तो अब वहाँ क्या करना है? बोले—वहाँ तो विश्राम करना है, वहाँ तो आराम-ही-आराम है, आनन्द करो! बोले—कई लोग वहाँ पहुँचकर भी विश्राम नहीं करते हैं। तो अभी योगारूढ़ नहीं हुए, पलंगपर बैठ गये और वहाँ

कोई-न-कोई काम कर रहे हैं, वहाँ गंजी सी रहे हैं, सुई-डोरा चल रहा है, वहाँ किताब ही पढ़ रहे हैं कि वह भी काम है, वहाँ खा ही रहे हैं। तो उन्हें उस पलंगपर पहुँचनेका आनन्द नहीं आया, उन्हें पलंगपर बैठकर यदि खा रहे हैं तो भोगका आनन्द है और यदि पलंगपर बैठकर कुछ कर रहे हैं, तो कर्मका आनन्द है। अच्छाजी, दोनों काम नहीं कर रहे हैं। तब क्या कर रहे हैं? कलके लिए कोई प्लान बना रहे हैं, योजना बन रही है, संकल्प हो रहे हैं। कल कोई ग्राहक आवेगा, तो उसको ऐसे ठगेंगे। तो वे विश्राम कर रहे हैं? कि नहीं, उनके मनको बड़ा भारी परिश्रम हो रहा है। तो तुम अपने पदमें बैठे हुए हो, इसकी क्या पहचान—तुम योगारूढ़ हो गये? तो देखो, पहुँचनेके लिए तो तीन चीज चाहिए—आकांक्षा, जानकारी और साधन और पहुँचनेपर तुम्हारे अन्दर क्या होगा? कि तीन बात नहीं होगी कि हमको भोग मालूम नहीं पड़ेगा कि कर्म मालूम नहीं पड़ेगा, सो बात नहीं। भोग भी मालूम पड़ेगा, कर्म भी मालूम पड़ेगा। मजा तो तब है, जब एक कहे और दूसरा समझे, अपना कहा अगर आप ही समझे तो क्या समझे? आजकल कवि लोग जो कविता बोलते हैं न, तो अगर खुदा भी सौ बार सिर मारे, तो भी समझे कि न समझे। कि—

धू-धू करके जला रही है अन्तर तमकी ज्वाला।

वाह-वाह, क्या पूछना है, जला भी रही है और गाते भी जा रहे हैं!

: ४ :

पहुँच जानेकी पहचान क्या है ? कि—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्व-संकल्प-संन्यासी योगारुढस्तदोच्यते॥ ४॥

अच्छा आरुरुक्षुके लिए तो तीन चीज चाहिए—इच्छा, जानकारी और साधन। और आरूढ़के लिए शम है। माने न तो इच्छाकी जरूरत है, न जानकारी पानेकी जरूरत है और न तो साधनकी जरूरत है। अब पहुँच गये अपने घरमें; शमः माने कर्मकी शान्ति। आकांक्षाकी शान्ति दृष्टि ज्ञान

आदिकी शान्तिका नाम शम है। शास्त्रार्थके झगड़ेमें बिलकुल पड़ना ही नहीं। हम सब आचार्योंको बचाकर, आपको इसका अर्थ सुनाते हैं, आचार्योंमें जो मतभेद है वह बिलकुल अलग चीज है।

तो बोले कि अच्छा कैसे पहचानें कि अब पहुँच गये। आओ पहुँचे हुएको पहचानें। नाव तो तभी तक है, जबतक नदीके पार न जायें। वर्णन आता है शास्त्रमें कि यदि आपको मन्दिरमें जाना हो तो खड़ाऊँपर चढ़कर खटाखट करते हुए न जायें, जूता पहनकर भी नहीं जायें। जापानी लोग जो कपड़ेका जूता पहना देते हैं, पाँवमें वह भी नहीं पहनकर जाना, पाँव धोकर जाये। हमारे शिष्टाचारमें वह भी नहीं है, नंगे पाँव जायें। तो जब मन्दिरमें पहुँच गये तो जूतेकी भी जरूरत नहीं है। खड़ाऊँकी जरूरत नहीं है। यानपर आरूढ़ होकर भगवान्‌के सामने नहीं जाया जाता, अब आप पहुँच गये—

यानैर्वा पादुकैर्वापि गमनं भगवद् गृहे।

यह सेवापराध है। पाँवपर पाँत रखकर बैठना अपराध है और दूसरेसे बात करना भी अपराध है। हमारा तो रसोईघर भी मन्दिर है। भोजनके समय अन्न ब्रह्मका ध्यान करना चाहिए, जो खा रहे हैं वह मालूम पड़े और उसका स्वाद आवे। तो स्वाद आवे तो आनन्दका अनुभव हुआ और मालूम पड़ा तो चित्‌का अनुभव हुआ और अन्न जो है वह सत् है। तो भोजन करते समय सच्चिदानन्दका अनुभव होना चाहिए। स्त्रियाँ भोजन करते समय प्रायः घरों में, जो घरकी समस्या होती है, वह अपने पतियोंके सामने रख देती हैं, आज हमारी सासने यह कह दिया, देवरानीने यह कह दिया, देवरने यह कह दिया, अब पतिजीका ध्यान भोजनमें-से हटकर कहीं गुस्सा आया, अपनी पत्नीपर गुस्सा आया, चाहे अपने भाई पर गुस्सा आया या माँपर गुस्सा आया, अब गुस्से में भोजन जहर हो गया। बनाया तो इतने प्रेम से, पर भोजनको इन्होंने ज़हर बना दिया। क्योंकि भोजनमें जो सच्चिदानन्द है, वहाँसे नजर हटा दी।

हमारे भोजनके समय जब लोग इकट्ठे हो जाते हैं, तो ऐसी-ऐसी बात कहाँकी शुरू कर देते हैं, तो हम कहते हैं अच्छा, तुम चिड़ियाकी तरह चीं-चीं करो, हम नहीं सुनते तुम्हारी। हम तो पहले अन्न ब्रह्मका समादर करके, आराधन करके,पा लें। भोजन करते समय उसकी निन्दा भी नहीं करनी चाहिए, चाहे नमक कम हो चाहे ज्यादा, उठाकर फेंक नहीं देना चाहिए, जली रोटीमें भी परमेश्वर रहता है। ***अन्नं न निन्द्यात् तद् व्रतम्।*** उपनिषद्में आया—***अन्नं न परिचक्षीत***—अन्नकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। तो यह देखा, हमारा तो रसोई घर भी मन्दिर है। हमरा निवासस्थान भी मन्दिर है! जहाँ हम शयन करते हैं, परमात्मामें शयन करते हैं, वह अकबक करनेकी जगह नहीं है।

अच्छाजी तो आओ पहुँचे हुएकी पहिचान—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।

इन्द्रियके जो विषय हैं, जो सामने आये, उनका उपयोग करते जाओ, परन्तु उनमें भोक्तव्यता बुद्धि, कि हमको तो इसीका भोग करना है, यह बन्धन नहीं होना चाहिए। और कर्म आवे उसमें कर्त्तव्यता-बुद्धिका अनुबन्ध नहीं होना चाहिए। उसमें उतर मत जाओ। दो बात हुई—भोगासक्ति और कर्मासक्ति दोनोंसे मुक्त हो जाना, यह पहुँचे हुएका लक्षण है। बोले—फिर बैठकर योजना बनातें होंगे महाराज! यह महाराज, योजना बनाना जो है, वह प्रपंचमें सत्यत्व बुद्धिका लक्षण है। साधककी बात हम कर रहे हैं, दुनियादारोंकी बात हम नहीं कर रहे हैं। उनको तो योजना बनाकर सब काम करना ही चाहिए।

अब एक, *निकले थे हरिभजनको ओटन लगे कपास,* भगवान्के भजनके लिए निकले थे। तो सर्व-संकल्प-संन्यासीका अर्थ है कि भगवान्की ओरसे जो किरण आ रही है, उसका आदर करो। तुम्हारे ऊपर भगवान्की

सन्मयी, चिन्मयी, आनन्दमयी रश्मिमाला निरन्तर उतर रही है। उसका आदर करो।

तो कर्मासक्ति माने हम तो इस कर्मको पूरा करके छोड़ेंगे। पूरा करना अपने हाथमें थोड़े ही है। उसके लिए तो काल चाहिए, बोले इस समय हम कर रहे हैं, अपना टाईम हम भर रहे हैं बिलकुल ठीक-ठीक परन्तु हुकुम आजाये-बन्द करो! तो छोड़ो।

हरिबाबाजी कहते थे कि आज पाँच बजकर उनतीस मिनटपर कथा बन्द होनी चाहिए। बोले—तीस हो जाये तो असावधानी हो जायेगी न! सावधान, हमको तीसवें मिनटसे क्या आपत्ति है। घड़ी बोल गयी टन, और खत्म, काम खत्म। क्यों एक मिनट ज्यादा बोलें? अपने कर्ममें लगे हैं, अब यही कर्म हम करेंगे दूसरा नहीं करेंगे या हम दूसरा ही करेंगे यह नहीं करेंगे—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।

आज एक बड़ी मजेदार बात मालूम हुई, एकको मिठाई खानेकी आदत है। तो उसके बड़े-बूढ़ोंने कहा कि मिठाई मत खाओ—तो उसने कहा—भले हम मर जायेंगे, लेकिन मिठाई नहीं छोड़ेंगे। देखो, है न मजा! हम शास्त्रकी बात नहीं मानेंगे, गुरुकी बात नहीं मानेंगे, लेकिन हम यह काम जरूर करेंगे। तो यह हुआ क्या कि कर्ममें आसक्ति हो गयी। भोगमें आसक्ति हो गयी। आपने वह सुना होगा, गुरुनानक वाली बात। एक चेला, एक बेटा, दोनोंसे बनवायी वेदी, सत्संगके लिए वेदी। शामको बोले ठीक नहीं बनी वेदी, बिगाड़ दो। बिगाड़ दिया। दूसरे दिन बनवायी, बिगाड़ दिया। तीसरे दिन भी बनवायी, बिगाड़ दिया। दिन भर बनायी, चौथे दिन बिगाड़ दिया। अब जो वह बेटा था, उसने कहा कि जब बिगड़वाना ही रहता है रोज, तो बनवाते काहे को हो? दिनभरकी मेहनत खराब जाती है, हम नहीं बनावेंगे,

अच्छा बाबा, मत बनाओ! चेलेसे पूछा भाई, तेरी क्या राय है? तो उसने कहा कि देखो महाराज, हमको तो जिन्दगी भर आपकी आज्ञाका पालन करना है, रोज आप आज्ञा दे दिया करते हो कि यह वेदी बना दो, मैं बना दिया करता हूँ और शामको आप ही आज्ञा देते हो कि तोड़ दो, तो तोड़ देता हूँ। हमको तो आपकी आज्ञासे मतलब है, आपकी आज्ञा हमारे लिए है, यह वेदी हमारे लिए थोड़े ही है। वेदी हमारी नहीं है, आप हमारे हैं, आपकी आज्ञा हमारी है। रोज बनावें रोज तोड़ दें! तो कर्मासक्ति, भोगासक्ति, और संकल्प आखिर होता काहे का है? भोग और कर्मका ही तो संकल्प होता है। तो संन्यासका अर्थ यह नहीं है कि मनमें कोई कल्पना नहीं उठे, अरे, जैसे सपनेमें बहुत सारी कल्पनाएँ आती हैं, ऐसे आती हैं जाती है, कई लोगोंको तो महाराज मिर्चा इतना प्रिय होता है कि उसको नहीं छोड़ सकते। हम लोगोंकी दृष्टिसे तो वह बिलकुल कड़वी चीज है। एकके घर महाराज हम गये भोजन करने, तो कह दिया था कि हम लहसुन और प्याज नहीं खाते हैं, बहुत पुरानी बात है। तो उन्होंने हमारे लिए बनाया तो बिना प्याज-लहसुनका, लेकिन बोले कि महाराज आप बिना प्याज-लहसुनके खाते हैं तो आपको स्वाद कैसे आता है, आप क्या पानी-पानी की तरह यह रोज़ खाते हैं, इसमें क्या स्वाद है। अब देखो न, उनको बिना प्याजके भोजन अच्छा नहीं लगता होगा तभी तो ऐसा कहते होंगे न!

तो यह जो वस्तु-विशेषमें, कर्म-विशेषमें, व्यक्ति-विशेषमें, भोग-विशेषमें जो हम लोगोंकी आसक्ति हो जाती है, वह इस बातको बताती है कि यह जो मैल लगा है मनमें, इसको छोड़ानेकी जरूरत है और जब मैल छूट गया और अपने घरमें बैठ गये तो **योगारूढस्तदोच्यते**। अरे भाई—हमारे कहनेका कोई अर्थ नहीं है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

जब तुम स्वयं चाहोगे तब इस कीचड़से उठ सकोगे और स्वयं नहीं

चाहोगे तो और धँसते जाओगे, और कोई कहेगा तो तुम कहोगे वाह, हमारी आलोचना करते हो ? तुम हमारा दोष देखते हो ? उसकी भलाई के लिए कोई बात बताओ, तब भी उसको यह लगेगा कि यह हमारा दोष देखता है। तो यह संसारमें जब भोगासक्ति, कर्मासक्ति, पदार्थासक्ति, व्यक्त्यासक्ति हो जाती है तब मनुष्यको बताया भी नहीं जा सकता। जब यह स्वयं बचनेकी इच्छा करेगा और बचानेकी कोशिश करेगा तब बचा सकेगा, इसलिए यह गीता पौरुषवादी ग्रन्थ है, ध्यानयोग, आत्मसंयम योग छठें अध्यायका नाम है। आत्मसंयम माने अपनी मनोवृत्तियोंको समेटना।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

स्वयं अपनेको ऊपर उठाये। उत्कृष्टं धारयेत्। माने यह बात मैंने पहले महात्माओंसे सुनी थी कि जो स्वयं अपनी मदद नहीं करता, दूसरा कोई उसकी मदद नहीं कर सकता। अपनी सहायता स्वयं करनी चाहिए। यहाँ आत्मा शब्दका अर्थ है स्वयं। तो यह स्वयंका अर्थ क्या है? यह स्वयं भी एक सर्वनाम है, चाहे सर्वनामोंकी लिस्टमें यह शिलष्ट हो कि न हो! स्वयं, अव्यय है, यह बात दूसरी है, परन्तु अव्यय भी इसीलिए है कि यह 'मैंने स्वयं यह काम किया, तुमने स्वयं यह कहा, वह स्वयं वहाँ गया।' तो मैं, तुम, वह तो अलग–अलग है पर स्वयं सबमें एक है। तो यह जो अनेकमें एक है, वही तो स्वयं है।

तो 'आत्मना आत्मानं उद्धेरद्'। तुम भी स्वयं अपना उद्धार करो। वह भी स्वयं अपना उद्धार करे। मैं भी स्वयं अपना उद्धार करूँ। अपने उद्धारके लिए परावलम्बनका जीवन व्यतीत नहीं करना चाहिए। तुम तो जीभ न हिलाओ और दूसरेसे कहा कि हमारे कानमें मन्त्र पढ़ दो, हमारा उद्धार हो जायेगा! जीभ हिलानेमें तो आलसी, हाथ हिलानेमें तो आलसी, हाथमें बैठे हुए भगवान्‌को निष्क्रिय कर दिया—*अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे हस्तो भगवत्तरः।* श्रुति कहती है यह मेरा हाथ भगवान् है। तो अपने शरीरमें बैठे हुए भगवान्‌को निष्क्रिय कर दिया और दूसरेको कहते हैं कि तुम हमारी मदद करो। इसीको बोलते हैं आलसी, अरस, अलस, आलस्य। जिसको अपने काममें रस न आवे सो अरस, अरस हो गया अलस। तो *अलसस्य भावः आलस्यः।*

हमारे गुरुजीने पहली बात हमको यही बतायी थी कि—'आलस्य मुक्तवार्य' हमारी कापीमें लिखा था, बिना पढ़े लिखे मैंने परीक्षा देनेका फार्म भर दिया, वे बोले—

श्रमो विधेयो भवता तितीर्षुणा सुदुस्तरं वारिधिमन्तरा तरिम्।
आलस्यमुत्सार्य समाश्रयेस्तथाविदां धियं नीतिमतां च दक्षताम्॥

बिना नावके तुम सुदुस्तर समुद्र पार करना चाहते हो तो तुम्हें श्रम करना चाहिए। आलस्य छोड़ो।

अच्छा, उद्धरेद्का दो अर्थ है, एक तो तुम दूसरेके हाथमें पड़ गये हो। आप देखो उद्धरेद्में दो धातु है। एक तो धृ धातु है, एक हृ धातु है। उत् उपसर्ग जुड़ने पर उत्+हरेत् का भी उद्धरेद् हो जायेगा, उत्+धरेत्का भी उद्धरेद् हो जायेगा। तो ऐसा लगता है कि तुम किसी दूसरेके हाथमें पड़ गये हो! तो उद्धरेद्का अर्थ है कि वहाँसे अपनेको छीन लो। दूसरेके हाथमें मत पड़ने दो। और ऐसा लगता है कि जैसे किसी गड्ढेमें गिर पड़े हो, वहाँसे अपनेको निकाल लो। ऊर्ध्वं धरेत्। अपनेको निम्न इन्द्रियोंमें मत जाने दो, ऊपर उठाकर अपनेको पकड़ो। अपनेको बुद्धिके साथ जोड़ो, अपनेको अन्तःकरणके साथ जोड़ो, अपनेको निम्न इन्द्रियोंके साथ मत मिलने दो—**उद्धरेदात्मानात्मानम्।**

अब एक उद्धारकी प्रक्रिया आपको सुनाता हूँ। यदि आप वस्तुका आलम्बन लेंगे तो वह वस्तु कभी मिलेगी, कभी नहीं मिलेगी और व्यक्तिका आलम्बन लेंगे तो कभी उससे वियोग हो जायेगा, कभी अनबन भी हो सकती है। कभी वह मर भी सकता है। कभी वह परदेश भी जा सकता है! तो व्यक्तिका सहारा न लें, वस्तुका सहारा न लें कि अमुक चीज खायेंगे। एक सज्जन जब ध्यान करने बैठते थे तो मुँहमें मिश्रीकी छोटी-सी डली डाल लेते थे तो मुँहमें स्वाद आता रहता था और बैठकर ध्यान करते, बड़ा मजा आता, अब एक दिन ध्यान करनेके लिए जब बैठे तो मिश्री नहीं मिली, अब बिना मिश्रीके ध्यान ही न लगे।

यहाँ तक कि क्रियामें भी पराधीन नहीं होना चाहिए। एक सज्जन भजन करने बैठते तो झूमते। एक दिन एकने कहा कि क्या 'झूमन बैल'की तरह हिल-हिलकर भजन करते हो? तो बेचारे स्थिर हो गये, तो उस दिन भजनका मजा ही नहीं आया।

अपनेको पराधीन नहीं करना चाहिए। यह खायेंगे तब ध्यान लगेगा, इनके आश्रित रहेंगे तब ध्यान लगेगा और इस जगहपर बैठेंगे तब ध्यान लगेगा, स्थानकी भी पराधीनता नहीं होनी चाहिए। जहाँ रहें वहीं ध्यान लग जाना चाहिए। और अमुक कालमें ही ध्यान लगेगा, इसकी भी पराधीनता नहीं होनी चाहिए। कालसे, स्थानसे, वस्तुसे, व्यक्तिसे, क्रियासे बचाकर ध्यानको

स्वावलम्बी बना दो। जहाँ तुम हो, जैसे तुम हो, जब तुम हो, जब जरा गर्दन झुकाई देख ली। *दिलके आइनेमें है तस्वीरे यार।* **उद्धरेदात्मनात्मानं।**

आत्मनाका अर्थ है अपने ही शरीरसे अपना काम करो, अपने ही इन्द्रियसे अपना काम करो, अपने ही मनसे अपना काम करो, अपनी बुद्धिसे अपना काम करो। अपने मनको, अपनी बुद्धिको शरीरको काबूमें कर लो और जहाँ तुम गिरे हो वहाँसे अपनेको उठाओ। **आत्मनात्मानं।** असहाय न बनना, दूसरेकी मदद लिए बिना उठा लो!

नात्मानमवसादयेत्—अपने जीवनको अवसन्न मत करो। इस अवसादनमें तीन बात रखी है, एक तो अपनेको बिखेर मत दो। अवसादनका पहला अर्थ है-*सदिन्द्रिय-विशरण-गति अवसादनेषु।* अपनेको बिखेरो मत। बिखेरनेका क्या अर्थ है, थोड़ा यह चाहिए, थोड़ा यह चाहिए, थोड़ा यहाँ, थोड़ा वहाँ, जैसे बच्चे लोग सिनेमाका गीत गाते हैं, *कुछ यहाँ गिरा कुछ वहाँ गिरा।* ऐसा अपनेको विकीर्ण मत करो। अपनेको थोड़ा-थोड़ा बाँटो मत, अपनेको बिखेर देना, अपने मनको, इन्द्रियोंको **नावशीर्येत वाङ्मना;** वाणी अपने हाथमें नहीं, चाहे जो बोल देती है, मन अपने हाथमें नहीं, चाहे जो सोचने लगता है, हाथ अपने काबूमें नहीं, चाहे जो करने लगता है। अपनी वाणी, अपना मन विकीर्ण न हो, यह विकीर्ण होना अवसादन है। एक बात।

दूसरा, यह स्वर्ग-नरकमें जो आना-जाना है, यह भी अवसादन ही है। तो सद्भावमें त्रुटि होनेसे विकीर्ण होता है और चिद्भावमें त्रुटि होनेसे गमनागमन होता है और अवसादन माने अपनेको दु:खी करना, प्रसाधन और अवसादन। अपनेको नीचे गिरा लेना, अपनी नजरमें अपनेको नीचे गिरा लेना। दु:खी करना अपनेको। यह आनन्दभावके विपरीत है। देखो तुम सद्भाव सम्पन्न हो, चिद्भाव सम्पन्न हो और इससे जब अपनेको गिराते हो, तब अवसादन कर देते हो। तो अपनेको अवसन्न, उत्सन्न, विषण्ण मत करो। प्रसन्न निर्मल चित्त रहो। नात्मानमवसादयेत्।

अच्छा अब इसकी प्रक्रिया क्या है? जो लोग प्रतिदिन स्वाध्याय करते हैं विषयका, उनको ज्ञान है। ऐसा नहीं कि ऊपर-ऊपर आप बाँच जायें आप देखो, धर्मका सार कहाँ है? कि देहात्माको विश्वात्माके साथ एक करना। तैजसात्माको हिरण्यगर्भात्माके साथ एक करना, यह भक्तिका सार है। और

प्राज्ञात्माको ईश्वरके साथ एक करना, यह योगका सार है और तुरीयका तुरीयसे ऐक्यका जो बोध है, तुरीयात्माका तुरीय ब्रह्मसे जो ऐक्य बोध है यह ज्ञानका सार है। यह *उद्धरेदात्मनात्मानम्*में 'उद्धरेद्'का क्या अर्थ है? यह साढ़े तीन हाथका है देह, हड्डी-मांस-चामका बना हुआ पिंजरा, इसमें तो कर लिया मैं और कुछ इसको और कुछ इसके सम्बन्धवाली वस्तु और व्यक्ति हैं, उनको मैं-मेरा कर लिया, तो यह क्या है? यह तो हो गया अवसादन। अब उद्धारका अर्थ है कि देह और देहको सम्बन्धमें जो मैं और मेरा है, उसको उठाकर *सप्तांग एकोनविंशतिमुख* जो विराटात्मा है उसके साथ एक करो— ***अहमेवेदं सर्वम्।***

यह क्या हुआ? कि यह उद्धार होगा अपना। उद्धार क्या होगा कि देहमें मैं और देहके सम्बन्धियोंसे मेरा करनेमें जो पक्षपात होता है और जो क्रूरता होती है अपने जीवनमें उससे ऊपर उठना द्वेष कहाँसे आता है? देहाभिमानसे। और राग होकर पक्षपात कहाँसे होता है? कि देहाभिमानसे। इसलिए पहला कदम, पहला पाद धर्मका यह है कि विश्वात्मासे एक हो जाओ। तो सबको सुख पहुँचाना, सबका हित चाहना सबके हितमें अपना हित, सबके सुखमें अपना सुख, सबके स्वार्थमें अपना स्वार्थ, न उसमें प्रान्तीयता है, न उसमें राष्ट्रीयता है, न जातीयता है न साम्प्रदायिकता है, न ब्रह्माण्डीयता है। परिवारका विकसित रूप मानवता है। और ग्रहीयताका विकसित रूप अन्तरराष्ट्रीयता है। व्यक्तिगत धर्मका विकसित रूप समष्टि धर्म, विश्व धर्म है। तो अपनेको विराट् विश्वात्मासे एक करनेमें जो व्यक्तिगत धर्म मददगार है वह तो धर्म है। और जो विराट् विश्वात्मासे एक होनेमें बाधक है वह धर्म नहीं है। ***'धर्मबाधो विधर्मः स्यात्।'*** यह देखो धर्मात्माका सार है। और भक्तिका सार क्या है? तैजसात्माका हिरण्यगर्भात्मासे एक होना। माने जो हमारे सूक्ष्म शरीरसे मिला-जुला हुआ चैतन्य है, मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा चित्त, मेरा अहंकार यह जो मैं-मेरा है न, इसको हिरण्यगर्भात्मासे एक करदो, अर्थात् नारायण मेरे, कृष्ण मेरे, राम मेरे, शिव मेरे, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिसके एक-एक रोमकूपमें, वह प्रभु मेरा—यह हिरण्यगर्भात्मासे एक होना है। और योगसे अपना जो प्राज्ञ सुषुप्त जो चेतन है उसको ईश्वरसे एक कर देना यह योगका सार है। और तुरीयात्मा तुरीय ब्रह्मसे एक है, यह ज्ञानका सार है। तो **उद्धरेदात्म-नात्मानं**का अर्थ है इस व्यक्तित्वके

बन्धनसे मुक्त करके विराट् ब्रह्मसे एक करो, हिरण्यगर्भ ब्रह्मसे एक करो, ईश्वर ब्रह्मसे एक करो, शुद्ध ब्रह्मसे एक करो। धर्म जो है वह अध:पतनीय कर्मका हेतु न बने, **एष हेतुर्विधुनाः**। ब्रह्मका नाम श्रुतिमें विधुरण है। तब ?

धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति।

बोले यहाँ धर्मका नाम क्यों लेते हो? कि **उद्धरेद्**में जो ***धृ*** धातु है न, वह धर्म ही तो है और क्या है? **उद्धरेद्**में ***उत्*** उपसर्गपूर्वक जो ***धृ*** धातु हैं वह *धरतीति धर्मः*, वही तो धर्म है ना। तो **उद्धरेद्** माने ***धर्मात्मा भवेत्***। दूसरेको दुःख पहुँचाना, दूसरेके जीवनमें बाधा डालना, दूसरेके ज्ञानमें बाधा डालना, दूसरेके आनन्दमें बाधा डालना और अपने जीवनमें, अपने ज्ञानमें और अपने आनन्दमें बाधा डालना इसका नाम अधर्म है और अपने और दूसरेके जीवनमें, ज्ञानमें, आनन्दमें हेतु होना—इसका नाम धर्म है।

दूसरे पर जब अपनेको छोड़ देते हैं महाराज, तो उनके मनमें तो पता नहीं कब धर्म आये, कब अधर्म आये, वे तो अपने मनसे ही चलायेंगे, पराधीनता स्वयं धर्मके विरुद्ध है। **नात्मानमवसादयेत्**—अपनेको अनेक विषयोंमें बिखेरो मत, अपने आपको कालधाराका साक्षी बना दो। और अपनेको किसी स्थानमें कैद मत करो। अपनेको स्थानमें कैद करोगे या कालके खिलौने बन जाओगे या विषयासक्त बन जाओगे, तो अपने आपको तुम अवसन्न कर दोगे। बोले—भाई, दूसरा कोई हमारे लिए कर दे? कि नहीं करेगा।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः—*हि यतः* क्योंकि आत्मा ही आत्माका हितकारी है। यह आत्मा शब्द विश्वात्मा, तैजसात्मा, प्राज्ञात्मा और तुरीयात्मा, सबके लिए लिए आत्मा शब्द चलता है। जो आँखसे देखता है, कानसे सुनता है, जीभसे स्वाद लेता है, नाकसे सूँघता है, त्वचासे छूता है, हाथसे करता है, पाँवसे चलता है इसके भीतर जो चेतन बैठा हुआ है, वह विश्वातमा है। वह विश्वात्मासे बिलकुल एक है। अलग बिलकुल नहीं है। इसलिए जो दूसरेकी जलता हुआ, आगका गोला उठाकर फेंकेगा, उसका हाथ पहले जलेगा; उसका दिल पहले जलेगा और दूसरेको वह बादमें लगेगा।

देखो किसीको गाली देना चाहो तो गाली पहले तुम्हारे हृदयमें आयेगी और बोलोगे तो तुम्हारी जीभपर आयेगी, पहले तुम्हारे कानमें व्याप्त होगी, बादमें दूसरे कानमें जायेगी। क्योंकि पास तो सबसे अपना ही कान होगा।

पण्डित मोतीलालने मालवीयजीसे कहा कि मालवीयजी आप मुझको सौ गाली दो, तब भी मैं बर्दाश्त कर लूँगा। मालवीयजीने कहा कि चुप रहो, मैं अपनी जीभ गन्दी क्यों करूँगा ? अगर तुम अपनेको खुद सँभालोगे तब तो तुम सँभल सकते हो और जो नहीं सँभालेगा अपनेको महाराज, छोड़ देगा तो आप जानते ही हो संस्कार करना पड़ता है, विकार स्वयं होता है। बाल खुद उगते हैं, सँवारना अपनेको पड़ता है। पसीना खुद आता है, धोना अपनेको पड़ता है। विकार स्वयं होते हैं और संस्कार करने पड़ते हैं।

तो आओ, आप अपने बारेमें कितने सावधान हो? यह तो पौरुषका शास्त्र है। **उद्धरेदात्मनात्मानं**—तुम्हारे लिए कोई खा सकता है दूसरा? भोजनका समय हो और तुम कह दो कि मेरे लिए खाकर आओ। है ? नहीं होगा। अच्छा, तुम्हारे लिए कोई मलमूत्रका त्याग करके आ सकता है? नहीं। तो तुम्हारे लिए साधन कोई दूसरा करे, त्याग कोई दूसरा करे और तुम्हारा उद्धार हो जाये, ऐसा नहीं होगा। साधन स्वयंको करना पड़ता है।

बन्धुका अर्थ है हितकारी। तुम स्वयं अपना हित कर सकते हो, यदि करना चाहो। और, दूसरा करोड़ चाहे कि हम हित करेंगे, हम एक ब्रह्मचर्याश्रमकी बात जानते हैं महाराज वहाँ दस बरससे लेकर अट्ठारह वर्षकी आयुके बच्चोंको रखते थे। बच्चे ही बच्चे, सब अज्ञान। यह हुआ कि सबका ब्रह्मचर्य बिलकुल ठीक होना चाहिए। तो एक सज्जन चारों ओर बालक सोते और वे बीचवाले एक तख्तेपर सोते थे कि हम देखभाल करेंगे। वे जब सो जाते महाराज, तो बच्चे एक तख्ते परसे दूसरे तख्तेपर चले जाते, दूसरेसे तीसरेपर चले जाते, उन लोगोंने हाथ जोड़ लिया महाराज, कि लंगोटी पकड़कर किसीको ब्रह्मचारी नहीं बनाया जा सकता। पहले इनके मनमें आना चाहिए कि हम ब्रह्मचारी बनें। इनके मनमें जबतक संकल्पका उदय नहीं होगा, तबतक दूसरा कोई देखभाल करके क्या ब्रह्मचारी बनायेगा! तो

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः, आत्मैव रिपुरात्मनः।

अब उसके बाद बताया कि किसका आत्मा अपना बन्धु है और किसका आत्मा अपना शत्रु है।

: ६ :

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

जिसने स्वयं अपने शरीरको, इन्द्रियको, मनको अपने नियन्त्रणमें ले लिया, वह तो अपना हितकारी बन्धु है और **अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्**—जिसने अपने आपको अपने नियन्त्रणमें नहीं लिया उसका जीवन स्वयं उसके लिए शत्रु हो जाता है। तो,

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।

यह आगे बात आनेवाली है। तो बोले भाई, यह अपनेको नियन्त्रित करनेवाला मामला है, यह बड़ा कठिन है।

अति कठिन है निगम पथ चलिबो।

इसीसे जब कोई आकर कहता है जैसे एक हमारे मित्र हैं, यहाँ बैठे हुए हैं, राजा हैं, एकबार उनसे किसीने कहा कि हम स्वामीजीके पास चलना तो चाहते हैं, लेकिन वे हमारे व्यक्तिगत खान-पानमें कोई हस्तक्षेप न करें, तब तो सत्संग करेंगे। माने मनुष्य जहाँ फँस जाता है, जिस बातमें आबद्ध हो जाता है, उससे छूटनेमें भी उसको तकलीफ होती है। अपने बन्धनसे ही प्यार करने लगता है, इसके लिए निराश, उदास नहीं होना चाहिए।

आशा प्रतीक्षे संगतम्—वेद भगवान् कहते हैं कि अपने जीवनमें आशा रखो और प्रतीक्षा करो—**क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ,** नपुंसक मत बनो, जब फलकी प्राप्ति अनिश्चित होती है, कि कब होगी काल निश्चित है तब तो उसकी आशा रखी जाती है, और जब आसन्नकाल होता है तब उसकी प्रतीक्षा की जाती है। जरूर मिलेंगे भगवान्, जरूर मिलेगी पूर्णता, जरूर मिलेगी सफलता। निश्चय, निश्चय, निश्चय।

शरीरं वा पातयामि कार्यं वा साधयामि।

या तो शरीर जायेगा या सफलता मिलेगी, तब इस मार्गमें चलना होता है। एक तो आशा रखो और थोड़ा प्रयत्न करो, **अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण।**

अभ्याससे क्या साध्य नहीं है? हमारे एक अच्छे सत्पुरुष थे, उनकी जवानीकी बात है। एक भैंस ब्यायी उनके घरमें, तो 'पाड़े'को उस दिन उन्होंने उठा लिया। शुरू-शुरूमें बच्चे नहीं उठते हैं, तो उनको उठानेकी जरूरत पड़ती है। दोनों हाथसे उसके पाँव बाँधकर उन्होंने उठा लिया। भैंस चलने लगी, वे भी उसके साथ चलने लगे। उनके मनमें एक शौक समाया कि जैसे आज उठाया, वैसे कल भी उठावेंगे। अब वह कल भी उठाया, परसों भी उठाया। अब बच्चे तो भैंसके बहुत जल्दी बढ़ते हैं। छह महीना हो गया, एक बरस हो गया, अब वह पाडा बीस सेरका तो पैदा हुआ था और हो गया दो मनका, रोज-रोज वे उठाते रहे। रोज वह एकाध पौंड बढ़े और उतनी उठानेकी शक्ति भी उनकी बढ़ जाये। वह पाँच मनका हो गया और वे उसको पकड़ें, वह चुपचाप खड़ा हो जाय और दोनों हाथसे पकड़ें और तौल लें उसको। यह

शक्ति उनके अन्दर कहाँसे आयी? यह रोज-रोजके अभ्याससे आयी। रोज-रोजके सामर्थ्यसे आयी। रोज-रोज सामर्थ्य थोड़ा-थोड़ा बढ़ता गया। अपना खाना बढ़ाओ, बढ़ जायेगा बहुत। और थोड़ा-थोड़ा घटाओ बहुत कम हो जायेगा। बोलनेकी आदत बढ़ाओ बढ़ जायेगी, घटाओ घट जायेगी। तो एक अभ्यासकी जीवनमें आवश्यकता है। यह देह मैं हूँ, यह भी एक अभ्यासजन्य वासना है।

शुद्धचितयो केवलं आधिभौतिकतां नीतम्।
पद्याभ्यास विजृम्भितम्

जो केवल चिद्व्योम है, वह देह-भावको प्राप्त हो गया। तो कैसा अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास माने आप यह न समझें कि क्या होता है। व्याकरणमें तो बड़ा सीधा है—जैसे '*भू*' धातु है तो उसकी *अभ्यास संज्ञा* जब होती है, तो *भू-भू* दो बार हो जाता है और एक *भू* का *ब* हो जाता है-*बभूव, भू-भू,* अभ्याससे चर-चर तो अभ्यास माने दुहराना। हम लोग पढ़ते थे, तो कल का पढ़ा हुआ आज फिरसे पढ़ते थे। तो बोले, कि क्या कर रहे हो भाई? कि दुहरौनी कर रहे हैं। तो अभ्यास माने क्या होता है? नामका अभ्यास, आसन का अभ्यास, *दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवित,* ज्यादा दिन तक करना चाहिए, आदरसे करना चाहिए और श्रद्धासे करना चाहिए, लगातार करे, तोड़-तोड़कर नहीं करे, चार दिन किया, चार दिन नहीं किया—ऐसा नहीं, नैरन्तर्य और दीर्घकाल तक करना चाहिए और सत्कारसे करना चाहिए, यह नहीं कि भाई नेगचार करना है। तो क्या अभ्यास करना चाहिए? अपनी इन्द्रियको वशमें करनेके लिए, मनको बस में करनेके लिए, शरीरको काबूमें करनेके लिए क्या अभ्यास करना चाहिए, इसीका मुख्य रूपसे निरूपण करना चाहिए। इसीका मुख्य रूपसे निरूपण करनेके लिए यह छठा अध्याय है। क्योंकि जिसका शरीर, इन्द्रिय, मन नियन्त्रित नहीं होगा, उसके अन्दर साम्ययोग प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

योऽयं योग प्रोक्तं साम्येन मधुसूदन।

वह कैसे समता बरतेगा? वह कहीं पक्षपातमें बह जायेगा, कहीं शत्रुतामें बह जायेगा, समता कैसे बरतेगा? तो देह भी काबूमें हो।

हरिबाबाजी महाराज कहते थे—शरीर स्वस्थ हो, चरित्र शुद्ध हो और मन पवित्र हो। यह तीन बात अगर किसीके जीवनमें है, तो हम उसको सत्पुरुष मानते हैं। मनमें पवित्रता माने सद्भाव हो, अमृत-ही-अमृत भरा हो, किसी का बुरा न चाहता हो, किसीके प्रति दुर्भाव न हो, बुरा चाहनेवालेका भी भला ही चाहता हो—उसीको हम सत्पुरुष बोलते हैं। तो अभ्यास क्या करना? वही अभ्यास तो गीताके छठें अध्यायमें बताना है। इस ध्यान योग आत्मसंयम योगका जरा नमूना आपको सुनाते हैं।

योगी युञ्जीत—आत्मशुद्धये॥ १०-१२

क्या आप अपने अन्त:करणका शोधन करना चाहते हैं? अगर ऐसा चाहते हैं तो आप जरा योग कीजिये, **योगी युञ्जीत सततं आत्मानं, योगी युञ्जीत**—यह तो पुनरुक्ति हो गयी पहले, जो योगी है सो तो **योगी** है ही है, फिर **युञ्जीतकी** क्या आवश्यकता है? देखो, यहाँ योगी शब्दका अर्थ है वही, **जो सर्व-संकल्पसंन्यासी, योगारूढ़स्तदोच्यते**। जहाँ यह नहीं कहते हैं कि तुम भोग छोड़ दो, खाओ मत, पहनो मत-यह नहीं बोलते। और यह नहीं कहते कि कर्म मत करो। कहते हैं कि—**'इन्द्रियार्थेषु नानुषज्जते, कर्मसु नानुषज्जते'**—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध इन्द्रियोंके जो विषय हैं उनमें आसक्ति न हो और कर्मासक्ति न हो। किसीको फलासक्ति होती है, किसीको कर्मासक्ति होती है, किसीको भोगासक्ति होती है। तो आसक्तिको मना करते हैं। तो बोले, आसक्तिहीन होकर जो कर्म कर रहा है, कर्म तो कर रहा है, परन्तु अपने समयको ठीक अच्छे कर्मसे भरता जा रहा है, इसका फल क्या होगा? इससे मतलब नहीं, कब होगा फल इससे मतलब नहीं और यह कर्म पूरा ही हो जाये—इसका आग्रह नहीं। सबसे बढ़िया तो कर्मफल यह है कि हमारा यह मिनट, यह घण्टा एक अच्छा काम करते हुए बीता, एक अच्छे कर्मसे हमने अपने समयको भर दिया, इससे बढ़िया और क्या चाहिए? यह नहीं कि कर्मके फल पर विचार न करें; जो अच्छे फलवाला कर्म होता है वह भी करना चाहिए, परन्तु वह फल मिले ही, ऐसी आसक्ति, ऐसा आग्रह नहीं रखना चाहिए, नहीं तो कर्म जब निष्प्रयोजन हो जायेगा तो तामस हो जायेगा *अनुबन्धं क्षयं हिंसां अनवेक्ष्य च पौरुषं मोहादारभ्यते कर्म,* एक आदमी जंगलमें

चला, तो यह सोचकर चला कि जंगलमें शाकम्भरी देवीका मन्दिर है, वहाँ पहुँच जायेंगे, दर्शन करेंगे, लेकिन महाराज कहीं रास्ता भटक गया, तो किसी पेड़के नीचे आसन बाँधकर बैठा और शाकम्भरी देवीका ध्यान किया। बोला—चलो आँखसे दर्शन नहीं हुआ—तो ध्यानमें दर्शन हुआ और प्रसन्न हो गया—आनन्दमें आ गया। परन्तु चला था शाकम्भरी देवीके दर्शनके लिए। यदि वह कहेगा कि हम जंगलमें कहीं भी भटकेंगे, तो उस वैद्यकी सी दशा हो जायेगी—

यस्य कस्य तरोर्मूलं यस्मै कस्मै प्रदातव्यं
यद्वा तद्वा भविष्यति

वैद्य दवा दे तो यह सोचकर दे कि यह दवा इस रोगपर लाभ करेगी, रोगी स्वस्थ हो जायेगा। निष्काम कर्मका अगर यह अर्थ हो कि रोगी पर इस दवाका चाहे कुछ भी असर हो, हम तो निष्काम भावसे दवा देते हैं, तो वह वैद्य मूर्ख होगा, प्रयोजनवत् कर्म ही कर्तव्य होता है, निष्प्रयोजन कर्म कर्तव्य नहीं होता है।

तो प्रयोजनका विचार करना दूसरी वस्तु है, अब वह दवा देनेपर भी यदि उसने लाभ नहीं पहुँचाया तो उसमें वैद्यका कोई दोष नहीं है और उसके लिए दुःखी नहीं होना चाहिए। वह बात दूसरी हुई। निष्काम कर्मका केवल इतना ही अर्थ होता है।

तो फलानुबन्ध भी नहीं चाहिए और कर्म हमारा पूर्ण हो जाये—यह अनुबन्ध भी नहीं चाहिए। अपना समय भरता जाये और सत्कर्म करते जायें। **सर्वकर्मसंकल्पसंन्यासी**। बोले—ऐसा कर्म होगा कैसे? बोले—देखो हम तुमको एक उपाय बताते हैं कि चौबीस घण्टेमें घण्टे भर, आध घण्टे, पन्द्रह मिनट सतत प्रतिदिन यह काम कर लो। तो वही जो योगी है वह प्रतिदिन थोड़ी देरतक एकान्तमें बैठकर शक्ति सञ्चय कर लेगा। योगकी अति न करे। अति करनेसे तो योग भी हानिकारक हो जायेगा।

नात्यश्नंतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

६.१६

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा॥

यदि 'युक्तचेष्टस्य' नहीं रहेगा तो काम नहीं करेगा, बोले—हम तो अब योगा करेंगे और योगा करनेके लिए महाराज आसन बाँधकर बैठ गया कि हम तो चौबीसों घण्टे करेंगे। तो वात बढ़ जायेगा, बैठे-बैठे गर्मी बढ़ेगी बवासीर हो जायेगा। पाँव ज्यादा बाँधके बैठनेसे वात रोग होनेकी सम्भावना रहेगी। सो तो मर्यादाके अनुसार ही करना पड़ेगा। तो बोले—यह योग तुम बता क्या रहे हो? **आत्मानं युञ्जीत**—अपने आपके साथ मिलो थोड़ी देर तक। इसका अर्थ क्या है? अपना आप कहीं खो गया है क्या? कि हाँ वही तो खो गया है। तुमको दिन भरमें शत्रु कई बार मिल जाता है, मित्र कई बार मिल जाता है। भोजन कई बार मिलता है, मोटर कई बार मिलती है, मशीन कई बार मिलती है, स्त्री-पुत्र-धन कई बार मिलते हैं, पर अपना आपा कितनी बार मिलता है तुमको? जरा थोड़ी देर अपने आपसे भी मिल लिया करो। हमारे एक मित्र हैं वे बोले कि महाराज पत्नी हमसे नाराज़ रहती है, कि तुम सत्संगमें जाते हो, वह नहीं चाहती है कि हम सत्संगमें जायें। ऐसी पत्नी भी आती हैं जो कहती हैं हमारे पति नाराज होते हैं सत्संगमें जानसे और ऐसे पुरुष भी आते हैं जो कहते हैं हमारी घरवाली नाराज होती है, हमारा बेटा नाराज होता है कि महाराज जाकर सत्संगमें बैठ जाते हो! तो मैंने उनसे कहा कि चौबीस घण्टेमें घण्टे भर तुम अपनी पत्नी-पुत्रके साथ बैठकर उनका सुख-दुःख, उनकी समस्या, उसके बारेमें कभी चर्चा करते हो? बोले—सो तो महाराज समय नहीं मिलता है। बोले—यह गलत है, पत्नीके पास भी बैठो, उसका सुख-दुःख, उसकी समस्या भी सुनो, उसकी आवश्यकता भी पूरी करो, बच्चेकी बात भी सुनो, तब आत्मकल्याणके लिए सत्संगमें जाओ तो वे भी आयेंगे। उनके साथ सद्भावका बर्ताव करोगे तो उनको क्यों नहीं अच्छा लगेगा? और तुम तो सत्संगमें आकर उनकी उपेक्षा कर देते हो, तो उनको कैसे अच्छा लगेगा?

अच्छा भाई, तो बात देखो यह है कि **आत्मानं युञ्जीत**—तुम सबसे तो मिलते हो, परन्तु अपने आपसे नहीं मिलते हो। प्रतिदिन थोड़ा-सा समय ऐसा

रखों, जिस समय किसी दूसरेसे न मिलो, सिर्फ अपनेसे मिलो। 'आत्मानं युञ्जीत', अपने आपमें बैठो। और, प्रतिदिनके लिए वह समय निकालो। 'सततं' माने प्रतिदिन। कहाँ निकालें ? कि 'रहसि'—ऐसी जगह निकालो, जहाँ दूसरा कोई मिलनेवाला; बातचीत करनेवाला न हो। अच्छा महाराज, सोकर निकाल लेंगे ? कि नहीं, सोके निकालना नहीं। सोनेपर नींद आती है। अच्छा चलते चलते निकाल लेंगे। चलते-चलते कभी आँख बन्द हो जायेगी। हमारे एक मित्र चलते-चलते ध्यान करते थे, सो एक दिन चलते-चलते सड़कपर ध्यान कर रहे थे, कोई गड्ढा आया तो पट्टसे गिर पड़े तो, दाँत ही टूट गये दोनों आगेके। इसीसे ***आसीनसंभवात्***—वेदान्त दर्शनका सूत्र है, बैठकर ध्यान करना चाहिए।

अच्छा, सोकरके ध्यान करने लगे, नींद आगयी, उठे तो बोले—हम आज छह घण्टे ध्यान करते रहे, क्योंकि नींदके समयका तो पता ही नहीं लगेगा। इसलिए सोकर नहीं, चलते हुए नहीं, बैठकर और एकान्तमें और उस समय दूसरेसे मत मिलो, अपने आपसे मिलो। अच्छा, अकेलेमें तो बैठते हैं, पर एक घण्टी रख लेते हैं भीतर, और एक नौकर बैठा देते हैं बाहर, जब जरूरत पड़ेगी, अरे भाई एक इलायची दे जा, घण्टी बजायी, कि एक गिलास पानी दे जा! जब सेवकको साथ लेकर बैठते हैं तो भरोसा सेवकपर हो जाता है। 'एकाकी'—माने मददगार कोई नहीं होना चाहिए।

एकाकी यतचित्तात्मा—अब शरीरको भी स्थिर करना चाहिए और मनको भी स्थिर करना चाहिए। और यह बोले कि भाई, बैठ तो गये अकेलेमें, अपना ध्यान भी कर रहे हैं और हमको यह चाहिए यह चाहिए की कामनाएँ करने लगे क्या ? कि कल तो यह खायेंगे, आज एकादशी- व्रत है। अब कल तो कुट्टूके पकौड़े बनेंगे और आलूका हलंवा बनेगा और कर रहे हैं एकादशी। तो ऐसा नहीं।

अपरिग्रह—अच्छा भाई, नौकर भी नहीं रखते और कलके लिए कल्पना भी नहीं रखते, लेकिन अपने आसपास पहलेसे थोड़ी-सी चीजें रख लें कि जब जरूरत पड़ेगी तब हाथसे निकालकर मुँहमें डाल लेंगे।

शीशा ही रख लें कि हमारे मुँहपर कैसी रौनक आयी, जरा बीच-बीचमें देखते तो जायें। तो ऐसे नहीं इसमें चाहिए अपरिग्रह। हमारे एक मित्र थे, वे गायत्रीका जप करते। गायत्रीके जपसे एक प्रकारका प्रसाद आता है मुखपर। बड़े ब्रह्मचारी थे। विद्वान् भी थे, संयमी भी थे, । गायत्रीका जप करते। बड़े सुन्दर थे, स्वस्थ और गौर वर्ण, कन्याकुमारीके थे ब्राह्मण। अब वे शीशा पास रखकर बैठते, एक माला गायत्रीका जप करते तो फिर देखते कि कितनी चमक चेहरेपर पड़ी। यह अपरिग्रह नहीं हुआ। जहाँ भजन करने बैठे वहाँ दूसरी कोई चीज रखकर न बैठे।

अब ध्यानका तो रहस्य है। इसमें सबसे समता भरी हुई है। **नात्युच्छ्रितं**—ऊँचा आसन नहीं और **नातिनीचं** नीचा नहीं, अर्थात् सम होना चाहिए न! **समं काय-शिरोग्रीवं**—शरीर भी सम हो तब जीवनमें समताका अविर्भाव होता है। इस तरहकी रोज-रोजकी साधनासे अपने जीवनमें समत्वका आवाहन होता है।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।

मनुष्य स्वयं अपना मित्र है और स्वयं अपना शत्रु है। बन्धु कहते हैं उसे जो प्रत्युपकारकी अपेक्षा किये बिना मनुष्यकी सहायता करे। अपने उपकारके द्वारा जो बाँध ले, उसका नाम बन्धु होता। *बन्धनात् बन्धुः, बध्नाति*। बाँध लिया। कैसे बाँध लिया? सेवासे बाँध लिया। सौहार्दसे बाँध लिया, प्रेमसे बाँध लिया। जो रस्सीसे बाँधे सो दुश्मन। जो डण्डेसे बाँधे सो दुश्मन और जो प्रेमसे, उपकारसे, हितसे बाँध ले सो बन्धु। बाँधनेका काम तो दोनों ही करते हैं। चोर-डाकू भी भुजपाशमें बाँध लेता है और पति-पत्नी भी परस्पर एक दूसरेको भुजपाशमें बाँध लेते हैं, परन्तु दोनोंमें बहुत फर्क है न! एक शत्रु है *शातनात् शत्रुः*! जो सतावे सो शत्रु। और जो प्रेमसे बाँध ले सो बन्धु। हितकारी हो सो बन्धु। तो बोले—हमारा हितकारी कौन? बोले—अपना हित तुम स्वयं जब करोगे तब तुम्हारा हित होगा। जो स्वयं अपना हित करनेके लिए उद्यत नहीं है उसका हित दूसरा कोई नहीं करता। अपना अहित कब होता है? जब हम पराधीन हो-जाते हैं। पराधीनता वस्तुकी भी होती है, व्यक्तिकी भी होती है।

अपनी आदतोंकी भी पराधीनता होती है, अपने देह, अपनी इन्द्रियोंकी भी पराधीनता होती है। शरीरको ऐसी आदत डालनी चाहिए, अमुक वस्तुके बिना भी यह रह सकता है। एक साधुकी बड़ी प्रशंसा होती थी, किसीने बताया कि महाराज सब कुछ तो ठीक है, परन्तु जबतक दूध न पीयें तबतक टट्टी नहीं उतरती। तो उड़िया बाबाजी महाराजने कहा कि बस अब उसको किसी सेठके घरमें रहना पड़ेगा कि रोज समयसे दूध मिल जाये, तब टट्टी उतरे और हुआ ऐसा ही। एक सेठके घरमें उनको रहना पड़ा कि रोज दूध मिले। आदत माने करते-करते जिसको हम स्वीकार कर लेते हैं स्वीकृति दे लेते हैं वह हमारे लिये आदत हो गयी। ऐसा कोई आदान, ऐसा कोई ग्रहण, ऐसी कोई बुरी आदत अपने जीवनमें नहीं आनी चाहिए कि उसके बिना हम नहीं रह सकते। अपनी आदतके पराधीन भी नहीं हों। तो इसके लिए क्या करना चाहिए? बोले—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।

अपने आपके साथ अपने आपको जोड़ो। माने दूसरेका सम्पर्क किये बिना रहो। इसका अर्थ यह हुआ।

अब यह बात कही कि क्या आप चाहते हैं कि आपका प्रियतम प्रभु आपसे मिलनेके लिए आये? उसके लिए आप कहाँ रहकर उसका इन्तज़ार करते हैं। तो किसी पार्कमें, कि बसके अड्डेपर, कि रेस्ट्राँमें वह प्रतीक्षा करने योग्य नहीं है। **रहसि स्थितः** उसके लिए अपनेको एकान्तमें कर लो! और एक बात है एकान्तमें बैठकर कहीं आँख मत बन्द कर लेना, कहीं सो मत जाना, सावधान रहना, **स्थितः**। पता नहीं किस क्षण किस वेशमें वह आ जाये!

आये मोरे सजना फिरि गये अँगना मैं बौरी रहि सोय री।

पता नहीं वह पवित्र क्षण कब जीवनमें आयेगा! जब हमारे शान्त शुद्ध अन्तःकरणमें अपने परम प्रेमास्पद सच्चिदानन्दघन अद्वैत आत्मदेव अभिव्यक्त हो जायें। पता नहीं वह पवित्र क्षण जीवनमें कब आयेगा? तो उसके लिए सावधान रहना चाहिए, अब आया, अब आया, अब आया! इसी पवित्र

क्षणमें वह आ सकता है। तो बोले—सावधान रहो भाई परमात्मा तो तुम्हारे पास है। अपने आपको तो काबूमें करो।

एक लड़केकी किसी लड़कीसे सगाई होनेवाली थी। एक दिन उसने चुपके-से देखा कि जरा-सा कोई दुःख पड़ा, तो चिल्ला-चिल्लाकर रो रही है, हाथ-पाँव पीट रही है लड़की। उसके मनमें आया कि ब्याहनेपर हमारे घर आयेगी, तो ऐसे ही थोड़े-थोड़ेमें यह चिल्लायेगी। एक दिन उसने देखा कि थोड़ी गर्मी पड़ी, तो कपड़े ही उतारकर फेंकने लगी। बोले—हे राम, यह तो गर्मी भी नहीं सह सकती है। एक दिन उसने देखा किसीसे मतभेद हो गया तो मारपीट करने लगी, लड़ाई करने लगी। तो जब लड़केने दो-चार बार देख लिया, तो कह दिया कि अब हम इसके साथ ब्याह नहीं कर सकते। अस्वीकार कर दिया।

क्या आप परमेश्वरसे मिलना चाहते हैं? यह चाहते हैं कि परमेश्वर आपको पसन्द करे? तो आपके जीवनमें थोड़े-से सद्गुण आने चाहिए, उनपर ध्यान दो! वे सद्गुण कब आयेंगे? कि जब—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

शीतोष्ण-सुख दुःखेषु जितात्मनः तथा मानापमानयोः प्रशान्तस्य, परमात्मा समाहितो भवति। यथाक्रम अन्वय करो। **शीतोष्णसुखदुःखेषु।** थोड़ी ठण्डी भी सह लो। स्वामी विवेकानन्दजी, जब उनका नाम नरेन्द्र था, अपने कमरेमें बैठकर पढ़ रहे थे। देखा एक आदमी वर्षामें भींगता हुआ और काँपता हुआ आया और बरामदेमें खड़ा हो गया। उन्होंने देखा कि थर-थर काँप रहा है। किवाड़ी खोलकर निकले, देखा। वह डर रहा था कि ये कहीं कह न दें कि निकलो,तो वर्षामें कहाँ जायेंगे! वे बोले कि आओ-आओ अब तुम बहुत वर्षा सह चुके, बहुत ठण्ड खा चुके, आओ, आओ तुम हमारे पलंगपर सो जाओ। अब वह पलंगपर सो गया। नरेन्द्रने देखा कि अभी तो इसको ठण्ड लग रही है, ठिठुर रहा है तो उन्होंने जो अपने ओढ़नेकी शाल थी, वह उसको उढ़ा दिया और स्वयं बरामदेमें खड़े हो गये कि देखें ये लोग ठण्डमें रहकर कितनी और कैसे टण्ड सहते हैं, उसको आज अनुभव तो करें न! अब उसको नींद आ गयी और वह सो गया।

आप देखो! वे भी एक मनुष्य थे, बादमें महात्मा हुए। अब आप अपने बारेमें सोचो कि गरीबको देखकर, ठण्ड खाते आदमीको देखकर, स्वयं ठण्ड खा लेनेकी इच्छा कभी होती है? और उसको आराम देनेकी इच्छा होती है? यहीं तो मनुष्यताकी अभिव्यक्ति होती है।

अब महाराज! रातभर वे खड़े रहे बरामदेमें, उसको खूब आरामसे सोने दिया कि खटपट नहीं हो। अब रात भर उनके जागरणके बाद प्रातः जब वह गरीब आराम करके उठता है और उसके चेहरेपर एक प्रसन्नताका, शान्तिका दर्शन होता है तो उसके आराममें, उसकी शान्तिमें, उसकी प्रसन्नतामें

परमात्माका दर्शन होगा। परमात्मा कोई सातवें आसमानसे आवेगा, तब आप उसको देखोगे। तो **जितात्मनाः**। कहाँ? **शीतोष्णसुखदुःखेषु।**

आप जानते हैं जब गाँवकी माताएँ अपने बच्चेको गोदमें लेकर चलती हैं, तो ऐसे ढंगसे चलती हैं कि जो सूर्यकी धूप आ रही है, वह हमारे पीठपर, हमारे सिरपर लगे, लेकिन हमारी गोदमें जो बच्चा है उसपर न लगे। एक माँ अपने बच्चेके लिए कितनी गर्मी सहती है, कितनी सर्दी सहती है, क्या आप परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए कुछ गर्मी-सर्दी सहनेको तैयार हैं?

मैं बौरी ढूँढन चली, रही किनारे बैठ।

मैं बौरी परमात्माको ढूँढनेके लिए निकली और किनारेपर बैठकर रह गयी,

जिन ढूँढा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।

जिन्होंने परमेश्वरको ढूँढ़ा, गहरे पानीमें पैठकर, उन्होंने पाया।

शीतोष्णसुखदुःखेषु-दुनियामें कभी सुख आता है, कभी दुःख। कभी धूप, कभी छाया। इस धूप और छायाकी गति जीव और ईश्वरतक है। उपनिषद्में वर्णन आया है—**छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति**। जीव छाया है और परमात्मा आतप है। जैसे विम्ब-प्रतिबिम्ब होता है, जैसे आभास और शुद्ध चैतन्य होता है, इस प्रकार *छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति*। यह अन्तः-करणमें जो तुम्हारी चेतनता है, यह किसी अनन्त परमात्माकी, चेतनताकी प्रतिच्छाया तुम्हारे अन्तःकरणमें पड़ रही है। अरे ढूँढ़नेकी जगह तो यही है। परमेश्वरको कहाँ तुम ढूढ़ते हो?

मुझको क्या तू ढूँढे बन्दे मैं तो तेरे पास में।

श्रीमद्भागवतमें बताया गया कि किसी घरमें भीतपर रोशनी पड़ रही थी, उन्होंने कहा-भाई यह भीतपर रोशनी कहाँसे आ रही है! सूर्य तो कहीं दिखायी नहीं पड़ता, रोशनी आ रही है। तो उन्होंने जो तलाश की तो एक थालीमें पानी रखा हुआ था, वह थालीके पानीमें-से रोशनी पड़ रही थी भीतपर। तो बोले कि यह थालीके पानीमें रोशनी भला कहाँसे आयी? तो वह देखा कि आसमानमें जो सूर्य है वह थालीके पानीमें प्रतिविम्बित हो रहा है और वहाँसे रोशनी व[illegible] होकर भीतपर पड़ रही है। तो यह हमारी आँखमें

चेतनता कहाँसे आती है? कानमें कहाँसे आती है, नाकमें यह ज्ञान कहाँसे आता है कि गन्धको यह पहचाने, जीभमें यह ज्ञान कहाँसे आता है कि स्वादको पहचाने, त्वचामें यह ज्ञान कहाँसे आता है कि यह स्पर्शको पहचाने। बोले कि यह तो हमारे हृदयकी थालीमें जो अखण्ड चैतन्यका आभास पड़ रहा है वही इन्द्रियोंके द्वारा जाहिर होता है। इन्द्रियोंमें जो ज्ञान है उसके द्वारा हृदयमें पहुँचो और हृदयमें जो प्रकाश है वह कहाँसे आ रहा है इसकी खोज करो, परमात्माको प्राप्त कर लो। लेकिन यदि थोड़े ही सुखमें पागल हो जाओगे तो परमेश्वरकी ओरसे नजर हट जायेगी, अपनी दृष्टिको हटाना नहीं–*जितात्मनः*, अपनी इन्द्रियोंको भी वशमें रखो। थोड़ी ठण्डी पड़नेपर घबरा न जायें, थोड़ी गर्मी पड़नेपर घबरा न जायें। यह ठण्डा और गर्म प्रकृतिकी धारामें बहता रहता है। कभी ठण्डा आवेगा, कभी गर्म। इसमें यदि अपनेको सन्तुलित नहीं रखोगे तो परमात्मा कहेगा बाबा—

क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टा, रुष्टा तुष्टा क्षणे क्षणे।

ये क्षणमें रुष्ट हो जाती हैं, क्षणमें तुष्ट हो जाती हैं। क्या ठिकाना है, इनके संग हमको क्या आनन्द आयेगा! तो परमात्मा भी जरा अपनेको सँभालकर रखता है। और दुःख-सुखका कोई तुम्हारे ऊपर असर न पड़े, मालूम पड़े कि इनकी प्रीति एकरस, इनकी स्थिति एकरस, इनकी गति एकरस है। जरा अपने जीवनमें एकरसता आने दो, तो एक रस परमात्माका अनुभव होगा।

जितात्मनः—शरीर प्रभावित न हो, इन्दियाँ प्रभावित न हों और मन प्रभावित न हो। वही आत्मा शब्दसे कहा गया है—*आत्मा देहे धृतौ, यत्ने स्वभावे परमात्मनि*। आत्मा शब्द अनेक प्रकारसे आता है। अब दूसरा देखो—**तथा मानापमानयोः प्रशान्तस्य**। कोई मान करे तब भी फूल मत जाओ। छोटे आदमीको महाराज कभी सम्मान मिलता है, तो वह समझता है कि बस इन्द्रका सिंहासन यही है, ब्रह्मा भी हमसे छोटे हैं, हमारे सामने विष्णु क्या होता है! थोड़ा-सा सम्मान मिला और महाराज वह उछलने कूदने लगता है।

ये जो विद्वान् लोग होते हैं, वे इसका बड़ा फायदा उठाते हैं। तारीफ करके शोषण करते हैं।

अच्छा! एक बात आपको सुनाता हूँ—एक बार मेरे शरीरमें कोई तकलीफ थी, लोगोनें एक डॉक्टर बुलाया। वह डॉक्टर ज्यादा दवा-दारू करनेवाला नहीं था। आया और हमको जरा देखा सिर देखा, पेट देख लिया, उसने कहा—स्वामीजी, आपका शरीर तो दिव्य है, इसमें-से दिव्यताकी किरणें निकल रही हैं। आहाहा, हमारे ऊपर तो इसका प्रभाव पड़ रहा है, कोई रोग नहीं है आपको! मैंने उससे पूछा कि तुम हमारी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा करने आये हो कि हमारे शरीरमें जो रोग है उसकी दवा करने आये हो! माने हमारी तारीफ कर दो हम खुश हो जाये, थोड़ी देरके लिए हमको अपनी तकलीफ भूल जायें। हमको आयुर्वेद शास्त्रका थोड़ा ज्ञान है। वैसे हमने कभी चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट, कश्यप-संहितामें क्या लिखा है और माधव निदान, चक्रदत्त सारंगधर संहिता, एक दृष्टिमें जैसे दूसरे ग्रन्थ पढ़े, वैसे अपने आप बाँच गया, गुरुसे नहीं, किसीसे सविधि नहीं पढ़ा। उसमें यह बात लिखी है कि चतुर वैद्य वह है जो आधा रोग अपनी वाणीसे मिटाता है, तीसरा हिस्सा रोगका युक्तिसे मिटाता है और चौथे हिस्सेके लिए दवा देता है। जो पूरा-का-पूरा रोग दवासे मिटाना चाहता है वह निपुण वैद्य नहीं है। उसकी वाणीमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि ऐसी बात रोगीके साथ करे कि उसके मनमें आश्वासन मिल जाये कि रोग दूर हो गया। तो जो निपुण लोग होते हैं वे जाते हैं सेठोंके पास, तारीफ करते हैं—तुम तो बड़े भारी धर्मात्मा हो, तुम्हारा शील-स्वभाव ऐसा है और तुम तो वैकुण्ठसे खुदाका फरिश्ता ही जैसे आये हो, ऐसे आये हो धरतीपर। अब वह कुछ-न-कुछ उसे दे ही देगा। देना तो अच्छा है भला, पर यह लेनेका तरीका अच्छा नहीं है।

सुखकी बात सुनकर मनका सन्तुलन बिगड़ जाता है और दुःखकी बातसे मनका सन्तुलन बिगड़ जाता हैं, यह अपने हृदयमें बैठे हुए परमात्मासे अलग कर देता है।

मानापमानयोस्तुल्यः—संसारी लोग अपमानसे दुःखी होते हैं और मानसे सुखी होते हैं। यह संसारीका लक्षण है और साधकका लक्षण है कि मानसे तो वह समझता है कि हमारा पुण्य क्षीण हुआ और अपमानसे हमारा पाप क्षीण हुआ। बोला चलो आज अपमान मिला तो पाप ही कट गया और मान मिला तो पुण्य कट गया। इसीसे ब्राह्मणका लक्षण मनुजीने लिखा—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानं द्विजोत्तमः॥

ब्राह्मणको जब सम्मान मिले तो समझे कि कोई ज़हर पिला रहा है। क्योंकि इससे हमारा पुण्य क्षीण हो जायेगा और अपमानको अमृत समझे; क्योंकि उससे पाप क्षय होता है। भक्त लोग भी ऐसा ही कहते हैं—

भ्रातस्तिष्ठ तले तले विटपिनां ग्रामेषु भिक्षामट
स्वच्छन्दं पिब यामुनं जलमलं चीराणि कन्थां कुरु।
सम्मानं कलयाति घोरगरलं नीचापमानं सुधां
श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज॥

पेड़के नीचे रह लो, गाँवमें भीख माँगकर खा लो, यमुनाजीका जल पी लो, चीरका कन्था बना लो और सम्मानको विष और अपमानको अमृत समझो, श्रीराधामुरलीका भजन करो और वृन्दावन मत छोड़ो।

यह स्वामी प्रकाशानन्द सरस्वती महाराज 'वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली'के कर्ता, वेदान्तमें दृष्टि-सृष्टिवादका, जीववादका जो अनुपम ग्रन्थ है, बेजोड़ ग्रन्थ है वेदान्तमें। वे स्वामीजी महाराज ऐसा बोलते हैं।

अब देखो उलट गया, संसारीको चाहिए सम्मान, अपमान नहीं चाहिए और साधकको चाहिए अपमान, सम्मान नहीं चाहिए। बोले—यह तो ठीक है, संसारी हो गया! जो पतित है, वह स्वयं अपमानित है, दूसरोंका भी अपमान ही पसन्द करता है। दूसरेका अपमान देखकर खुश होता है। वह तो पतित है, पामर है। एक पामर हुआ जिसको अपमान-ही-अपमान पसन्द है और एक विषयी हुआ जिसको सम्मान प्रिय है और अपमान दूषित है, एक साधक है जिसको अपमानप्रिय है और सम्मान दूषित है। सिद्ध कौन है? कि सिद्ध है वह है जो—

मानापमानयोस्तुल्यः तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।

जो मान और अपमानमें समान है उसको बोलते हैं सिद्ध।

अब यह देखो, क्या कहते हैं कि जरा अपने सन्तुलनको, तराजूका जो पलड़ा है, तराजूकी तुलाको तुल्य रखो, मान और अपमानमें किसीकी ओर झुके नहीं। **प्रशान्तस्य**—चाहे कोई प्रशंसा करे, चाहे निन्दा। प्रशंसा करनेवालेको रोकना चाहोगे तब भी विक्षेप होगा। एक और दृष्टिकोणसे

आपको सुनाते हैं। हमारे सेठ जयदयालजी गोयन्दका थे। उनका बड़ा बल था इस बात पर, अपनी प्रशंसा, अपनी स्तुति बिलकुल नहीं सुनना चाहिए या प्रतिष्ठा बिलकुल नहीं करानी चाहिए। कभी-कभी कहा करते थे कि जो महात्मा लोग हैं अगर वे लोगोंका मुँह पकड़ने लगेंगे कि ऐसे मत बोलो, तो वे कैसे शान्तिसे बैठेंगे, वे तो विक्षिप्त हो जायेंगे! संन्यासी होनेके पहलेकी बात है। एक उनके भक्त निकल आये। ऐसे भक्त निकले कि अब तो उनका आसन हर समय लगे, पीठकी रीढ़ सीधी और आँख अधखुली और बोले कि सेठजी तो सूर्यमण्डलसे निकलकर आये हैं और वे साक्षात् नारायण हैं। वह जो उन्होंने भरी सभामें लोगोंके बीचमें कहना शुरू किया। सेठजी अब उनको गाली भी दें, उनका तिरस्कार भी करें, उनकी निन्दा भी करें, बोले—यह नरकमें जायेगा, जो इसकी बात मानेगा वह भी नरकमें जायेगा। लेकिन महाराज, कोटि यत्न करके हार गये, उनके जीवनकालमें यह आदमी नहीं माना, उसके सैकड़ों अनुयायी हो गये, हजारो लोग उसके पीछे चलने लगे। अब हमने पूछा कि सेठजी उसका मुँह बन्द करो! बोले—उसका मुँह बन्द करनेमें तो हम ही विक्षिप्त हो जायेंगे, अब जाने दो जो बोलता है सो बोलने दो! हम दूसरेकी जीभ पकड़कर चुप नहीं करा सकते। जब सम्मानमें हम चुप नहीं करा सकते हैं, वह मित्र है अपना, तो अपमान करनेवाला तो शत्रु है, उसको हम कैसे चुप करा सकते हैं! तो इसका सीधा रास्ता यह है कि–

तेरे माने जो करो, भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठकर अपनो भवन बुहार॥

तुम अपने हृदयको शान्त रखो।

हमको एक महात्माने कहा था—भाई, तेरे बारेमें जो कोई कुछ कहता है उसको कहने दो, सफाई दनेकी जरूरत नहीं है। सफाई देना माने तुम निन्दासे बचना चाहते हो, अरे तुम्हारे स्वरूपको किसीने देखा ही नहीं, तो वह तुम्हारी निन्दा करता है तो उसकी निन्दाका क्या महत्त्व है? और जिसने तुमको देखा ही नहीं, वह तुम्हारी तारीफ करता है, तो भी उसका क्या महत्त्व है? एक आदमी आया कि हम सेठ जयदयालजीके पाससे आये हैं, उन्होंने आपके पास भेजा है, आप हमारा यह काम कर दो!

हम जानते थे कि सेठजी इस कामके लिए हमारे पास नहीं भेज सकते। मैंने कहा भला तुमने सेठजीका दर्शन किया है? बोले—हाँ दर्शन क्यों नहीं किया है, उन्होंने तो भेजा ही है। कि कैसे हैं सेठ जी? बोले—गोरे-गोरे हैं, पीताम्बर धारण करते हैं, चम-चम शरीर चमकता है। मैंने कहा—भलेमानुस तुमने उनको कभी देखा ही नहीं है, उनकी तारीफ करो तो भी नहीं देखा है, निन्दा करो तो भी नहीं देखा है।

तो जीवरूपसे हमको किसीने नहीं देखा। जीव कभी यन्त्रका विषय नहीं हुआ, इन्द्रियका विषय नहीं हुआ। मनका विषय नहीं हुआ, आत्मा कभी इन्द्रियका विषय नहीं हुआ। बुद्धिका विषय नहीं हुआ। तो हमारी कोई क्या निन्दा करेगा और क्या स्तुति करेगा! उसकी वाणीने देखा नहीं, मनने देखा नहीं। तो तुम्हारे बारेमें जो कोई कुछ कहे उसको कहने दो और दुनियामें जो कोई कुछ करता है, उसको करने दो और जो कुछ होता है उसको होने दो। सृष्टि हो कि प्रलय। प्रलयकी गर्जना हो रही है, कि होने दो, स्तुति हो रही है, कि होने दो, निन्दा हो रही है, कि होने दो! बोले—बस! कि नहीं थोड़ा सुधार करो। अरे कुत्तेकी पूँछ बारह बरस सीधी करके बाँसकी नलीमें रखो और फिर निकालो तो ज्यों-का-त्यों। जिसकी जैसी आदत पड़ गयी है, वह बदलेगी नहीं। अपनेको ठीक किया जाता है, दूसरेको ठीक करनेमें साधककीजो साधना है, वह विक्षेपोन्मुख हो जाती है। **समाहितः प्रशान्तस्य**। मान हो अपमान हो, अपनेको शान्त रखो। शान्त नहीं, प्रशान्त रखो। कि इससे क्या होगा? **परमात्मा समाहितः**। यहाँ परमात्मा शब्दका क्या अर्थ है? तो भले हमलोग तो परमात्माका अर्थ परमानन्दस्वरूप परमेश्वर ही करते हैं, श्रीरामनुजाचार्यजीने यहाँ परमात्मा शब्दका अर्थ आत्मा-प्रत्यगात्मा किया है। प्रत्यगात्मा माने अपना आत्मा। यह बहुत मजेदार है। वेदान्ती लोग जहाँ परमात्माका अर्थ ब्रह्म करने लगते हैं, वहाँ श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज आत्मा उसका अर्थ कर देते हैं। जैसे दूसरे अध्यायमें जितना परमात्माका वर्णन है, उसको श्रीरामानुजा-चार्यजी महाराज कहते हैं कि यह स्वस्वरूप आत्माका वर्णन है। स्वतत्त्वका वर्णन है परतत्त्वका नहीं। वे कहते हैं आत्मज्ञ दूसरी चीज है, परमात्मज्ञान दूसरी चीज है। यह जो योग है छठें अध्यायमें यह तो

आत्मज्ञानके लिए है, अपने स्वरूपके ज्ञानके लिए है, क्योंकि आप ज़ानोगे कि मैं कैसा हूँ, तो,

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

बोले—तब परमात्माका वर्णन कहाँ है?

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

जब आत्मज्ञान प्राप्त हो जायेगा तब परमेश्वरकी भक्ति होगी, वहाँ परमात्माका वर्णन है। यहाँ परमात्मा कौन है? यहाँ तो परमात्मा अपना ही आत्मा है। बोले—भला अपने आत्माका नाम परमात्मा? बोले—जरूर। ये अन्य जो देह-इन्द्रिय आदि हैं, इनकी अपेक्षा परम होनेके कारण आत्माको ही परमात्मा कहते हैं।

समाहितः—परम आत्मा, अपना परम प्रेमास्पद आत्मदेव कैसा है? बोले—**समाहितः**। आप लोग विधिपूर्वक कभी भगवान्‌की पूजा करते हो, तो पहले जब आवाहन करते हैं, तो बोलते हैं—'***एहि***'—आओ, प्रभु आओ! प्राणनाथ पधारो, पधारो। '***सम्मुखीनो भव***'—अपना मुँह मेरी ओर कर लीजिये, प्रसन्न हो जाइये।

एहि एहि सन्निधेहि सम्मुखीनो भव।

'आइये, पास आइये! आइये-आइये पास सरक आइये और जरा मेरी ओर मुँह करके बैठ जाइये!'

तो यह जो '**सन्निधेहि**' है, सान्निध्य, इसीको यहाँ 'समाहितः' शब्दके द्वारा कहा गया है। यह समाधानका ही समाहित हो जाता है, 'ध' का 'ह' हो जाता है, व्याकरणके नियमानुसार।

भगवान् कहाँ हैं? भगवान् बिलकुल अपने पास है, परमात्मा अपने पास है। एक महात्मासे किसीने कहा—महात्मन्! हम परमेश्वरका दर्शन करना चाहते हैं। अच्छा, बड़े सुख, सौभाग्यकी बात है! तुम्हारा परमेश्वर कैसा है? बोले जो सारी सृष्टिका कर्ता, भर्ता, संहर्ता, अभिन्न-निमित्तोपादान कारण, सच्चिदानन्दघन चिन्मात्र, अद्वय वस्तु है, वह परमात्मा है।

अच्छा, उसको देखना चाहते हो? कि हाँ। तुमने, यह ज़ो साढ़े तीन हाथके भीतर है, उसको देखा? बोले—इसको तो नहीं देखा साढ़े तीन हाथके भीतर जो है उसको तो देखा ही नहीं, अब सारे विश्वके भीतर जो है उसको कैसे देखोगे? अरे पहले बाबा अपनी मशीनकी परीक्षा कर लो, तुमको खुर्दबीनसे कोई चीज देखनी है, अरे हमारे यहाँ तो ऐसा करना पड़ता है कि चश्मेसे पढ़ना होता है, तो यह देखना पड़ता है कि यह दूरसे पढ़नेवाला चश्मा है कि पाससे पढ़नेवाला चश्मा है। जैसे अभी यहाँ पुस्तक रखी है मेजपर और मैं बैठकर पढ़ रहा हूँ और एक पुस्तकको हाथमें लेकर तब पढ़ना होता है। और एक दूरकी चीज देखनेका होता है, तो कौन-सा चश्मा है, जब यह देख लोगे, वह किसी वस्तुको दिखाता है तो कितना गुणा करके दिखाता है, दस हजार गुणा करके दिखाता है। खुर्दबीन है, क्षुद्रवीक्ष्ण यन्त्र है कितना गुणा करके दिखाता है। डाक्टरोंके पास महाराज ऐसे-ऐसे खुर्दबीन होते हैं कि एक चीजको दसलाख गुणा करके दिखा दे या दसलाख गुणा कम करके दिखा दे। हम जब पहाड़को देखते हैं तो कितना गुणा कम करके देखते हैं दूरसे और निकटसे दिखता है तो कितने गुणा होकर दिखता है! तो हम जब परमात्माका दर्शन करते हैं, तो हमारी बुद्धि और मन कितनी अपनी वासना उसमें डाल देते हैं और अपनी वासनाको हटाकर देखनेपर परमात्मा कैसा दिखता है। यदि हम उपाधिका तिरस्कार करके या उपाधिकी परीक्षा करके परमात्माको नहीं पहचानेंगे, तो सच्चे परमात्माको कैसे पहचान सकेंगे? इसलिए अपने आपको देखो कि तुम क्या देखते हो और कैसा देखते हो!

अरे, तुम्हें तो गाली देनेकी आदत पड़ी है और कोई नहीं मिलेगा तो परमेश्वरको ही गाली दे लोगे और तुम्हारी तो दुलार करनेकी आदत पड़ी है, तो और कोई नहीं मिलेगा तो दुश्मनको ही दुलार कर लोगे। जरा आदतसे मुक्त होकर अपनेको देखो, संस्कारोंसे मुक्त होकर। अभी तुम विकृतमें हो और ज़ब साधन करोगे तो संस्कृतमें चले जाओगे और जब तत्त्वज्ञान प्राप्त करना होगा तो विकार और संस्कार दोनोंका निराकरण करके परमात्मामें बैठ जाओगे। देखो, संसार ही है परमेश्वर! नहीं, यह विकार है, पर परमेश्वर है। वह लाल है, काला है, पीला है, छोटा है, बड़ा है, स्त्री है, पुरुष है, यह क्या

है? कि यह संस्कार है। और जब असली परमात्माका साक्षात्कार करना होगा, तो विकार और संस्कार दोनोंका निषेध करके परमात्माका साक्षात्कार करना होगा! तो जब **जितात्मनः** होओगे, प्रशान्त होओगे, तब तो परमात्माको देख सकोगे। कहाँ परमात्मा है; तुम्हारे भीतर ही आहित है। अरे वह तो डला हुआ है—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

घड़ा बना तो घड़ेके भीतर जो आकाश दिखता है, वह घड़ा बननेके पहलेसे ही मौजूद था। जब तुम्हारा अन्तःकरण बना, तो तुम्हारे अन्तः-करणकी व्यक्तता और अव्यक्तता, दोनोंके पूर्वसे चैतन्य परमात्मा वहाँ मौजूद है। तो जब विकारको दूर करनेके लिए जितात्मा बनोगे और संस्कारको दूर करनेके लिए प्रशान्तात्मा बनोगे, तो अपने हृदयमें परमात्माका अपने आप ही साक्षात्कार हो जायेगा। बोले—आओ योगी किसको कहते हैं! तो महाराज लोग अपने बेटेका भी नाम तो योगी रख लेते हैं। कई लोग, अपनेको मशहूर करना होता है, तो अखबारोंमें अपने नामके साथ योगीराज, सिद्ध योगी आदि लगा लेते हैं। जिनको मालूम नहीं है कि योग माने क्या होता है, वे लोग अपने साथ योगी-शिरोमणि, योगी-शिखामणि, योगीराज ऐसे खिताब जोड़ लेते हैं। तो *अकृत्वा तत्र संहामगत्वाखिल-भूश्रियम्। राजाहमि इति शब्दान्नो राजा भवितुम् र्हति।* दुश्मनको तो मारा नहीं और धरतीपर एक कदम भी कब्जा हुआ नहीं और बोलते हैं-मैं राजा, मैं राजा। एक कदम तो धरती नहीं, शत्रुको मारा नहीं, खजाना नहीं, सेनापति नहीं, रानी नहीं, राजपुत्र नहीं, कोषाध्यक्ष नहीं, कोष नहीं, धर्माध्यक्ष नहीं और बोले—हम राजा। तो मुँहसे राजा कहनेसे कोई राजा नहीं हो जाता। जरा विचार करना पड़ेगा कि योगी होता कौन है? अपने बेटेका नाम किसीने योगी रख दिया तो योगी नहीं होता है। आजकल तो महाराज जो जन्तर-मन्तर-तन्तर, चमत्कार, करिश्मा जो दिखावे उसको बोलते हैं योगी। हे भगवान्!

आप योगीकी पहचान देखो ना, भगवान्के मुखसे सुन लो न!

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥८॥

बोले—युक्त किसको कहते हैं? युक्त उसको कहते हैं जिसको युक्ति मिल गयी। *युक्ति अस्य अस्ति।* *मत्वर्थी अच् प्रत्यय* हो गया, *युक्तः* शब्द बन गया। भक्त किसे कहते हैं? कि *भक्ति अस्यास्ति,* जिसमें भक्ति हो उसे भक्त कहते हैं, जिसको युक्ति है उसको युक्त बोलते हैं। युक्ति क्या है? युक्ति यह है कि कालिखकी कोठरीमें जाकर, बिलकुल कालिखको छूने न दे! श्रीकृष्ण भगवान्‌का ऐसा वर्णन आया है—

रेमे स्त्रीरत्र कूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा। १.११.३५

× × ×

तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम्।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः॥ १.११.३७

मनुष्य कृष्णको कृष्णके रूपमें नहीं जानता है, यह कृष्णका स्वरूप है। **युक्त इत्युच्यते।** पहले इसके बारेमें दो एक बात सुनाकर फिर यह व्याख्या सुनाते हैं। एक तो आप देखो आगे आवेगा—**'युक्ताहारविहारस्य युक्त-चेष्टस्य कर्मसु'**—जिसका आहार युक्ति-युक्त है, अयुक्त आहार नहीं करता। यह नहीं कि खानेका संकल्प नहीं है पर खानेको बैठे, जीभको आया स्वाद, ज्यादा खा गये। काम करने लगे तो करते ही चले गये, फिर बीमार पड़ गये—ऐसे नहीं। आहार-विहार जिसका युक्त हो। एक तो युक्त माने जिसका आचरण युक्त है, वह युक्तियुक्त होये। युक्तियुक्तका अर्थ है हृद्य हो, अनवद्य हो—ऐसा आचार-विचार हो, अब दूसरा देखो! गीतामें युक्त उसको कहते हैं कि—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

काम-क्रोधके जो वशीभूत न हो, उसको युक्त कहते हैं। यह युक्तका पहला लक्षण आया। अच्छा जी आप देखो; एक दूसरा लक्षण देखो—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

उसको युक्त कहते हैं। जो कर्म करते हुए भी उससे लिप्त नहीं है। और जो जानता है कि हाथ-पाँव समेटके बैठना भी एक कर्म है। कर्तृत्वपूर्वक जो हुआ वह कर्म है, बैठो तब भी, पीठकी रीढ़ सीधी करो तब भी, आँख बन्द करो तब भी, दिलको पकड़ो तब भी, वह तो कर्म ही है। कर्तापनसे किया गया तो कर्म है। युक्त वह है जो कर्तृत्त्वके अभिमानसे मुक्त है, वह चाहे कर्म करता हुआ हो, चाहे कर्मसे निवृत्त हो। जो कर्तृत्वके अभिमानसे मुक्त है वह युक्त है। जो काम-क्रोधको अपने वशमें करके रहता है वह युक्त है।

एक तीसरा लक्षण देखो। इसीको हमलोग बोलते हैं 'स्वयं विमर्शभाष्य'। गीता अपनी व्याख्या, अपने शब्दोंकी व्याख्या कैसे करती है, अपने द्वारा प्रयुक्त शब्दोंकी परिभाषा कैसे करती है? गीतामें किसी भी शब्दका प्रयोग हुआ है तो कहीं-न-कहीं उसकी व्याख्या कर दी गयी है।

अब युक्त शब्दकी एक और व्याख्या लो—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

जब चित्त विषयोंसे निःस्पृह होकर अपने घरमें रहने लगे, तब उसे युक्त कहते हैं। जब कुत्ता खानेके लिए दरवाजे-दरवाजे जाये, भटके तो समझना कि इसके मालिकके घरमें इसको पूरा भोजन नहीं मिलता है। जब ये मनीराम स्वाद लेनेके लिए इधर-उधर विषयोंमें भटकें तो समझना आत्मतृप्ति नहीं है। तो मनीराम अपने आपमें बैठ, यह युक्तका लक्षण है।

युक्त आसीत मत्परः। भगवत्परायण होकर, युक्त होकरके बैठो। तो ये सब कोई साधकका लक्षण है, कोई सिद्धका लक्षण है। अब यहाँ देखो युक्तका क्या लक्षण भगवान्‌ने बताया, बिलकुल समाधिस्थ है।

ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥

यह समाधिमें है कि व्यवहारमें? बोले—यह समाधिमें भी है और

व्यवहारमें भी है। व्यवहार कैसे है? कि **समलोष्टाश्मकाञ्चनः।** अगर व्यवहार नहीं होता तो यह लक्षण नहीं होता। उसके लिए मिट्टीका ढेला, पत्थरका टुकड़ा और सोना बराबर है। यह तो जब व्यवहारमें तीनों उसके सामने होंगे, ये कैसे बराबर होंगे? सोना तो पीला-पीला महाराज, रक्तिमासे मिश्रित, पीतिमासे युक्त चमकता हुआ बड़ा ही कठोर दिखायी पड़ रहा है, अकाट्य है, परन्तु चमक कैसी है, तैजस है। सोना भी देख रहा है और हीरा भी देख रहा है, पत्थरका टुकड़ा देख रहा है और मिट्टीका डला देख रहा है। न तो उसको हीरेंका जेवर बनाना है, न सोनेको बेचना है, न मिट्टीके ढेलेमें खेती करना है तो सब बराबर ही हो गया न!

आपने वह सुना होगा, राँका बाँका दोनों जा रहे थे, एक आगे, एक पीछे। आगे वालेने तो सामने देखा कि सोनेकी मोहर पड़ी है, तो उन्होंने सोचा पीछे आ रही हैं श्रीमतीजी, कहीं सोना देखकर उसके मनमें आ न जाये कि उठालो, तो उसपर माटी डालने लगे। तो श्रीमतीजीने कहा कि भगतजी माटी-पर-माटी क्यों डाल रहे हो? एक कदम और आगे बढ़ गयीं। उन्होंने तो सोने और माटीका भेद समझकर सोनेको मिट्टीसे ढका और श्रीमतीजीने कहा कि माटीको माटीसे क्या ढक रहे हो! यह दृष्टि है। क्योंकि निष्प्रयोजन है न! यदि हमें मिट्टीमें खेती करनी होती, यदि सोना बाजारमें होता, यदि हीरेका जेवर पहनना होता, यदि पत्थरका मकान बनाना होता तो वे हमारे लिए प्रयोजनीय होते और अलग-अलग होते। तो इसके लिए तो व्यवहार है। और देखो,

कूटस्थो विजितेन्द्रियः। ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा।

उसकी तृप्ति अपने ज्ञान-विज्ञानमें है। संसारके लोग तृप्त कहाँ होते हैं? कुछ खाने-पीनेको मिले तब तृप्त होते हैं।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्।

कभी जाते हैं हम किसी गाँवमें, तो लोग पूछते हैं—महाराज, आपने हमको पहचाना कि नहीं पहचाना। अब देखो, क्या मजा आता है। अब भाई देखो पण्डा लोग तो अपने सब यजमानोंको पहचानते हैं और पंसारी लोग अपनी दूकानकी सब चीजोंको पहचानते हैं। तो हम तो जिस शहरमें जाते हैं,

वहाँ कम-से-कम सैंकड़ों आदमी ऐसे मिलते हैं जिनसे पहचान है। प्रायः भारतके सभी शहरोंमें जाते हैं, पर जब नहीं पहचानमें आता है, तब मजाक करते हैं उससे कि तुमने कभी हमको रोटी खिलाई है कि नहीं ? बोले कि नहीं महाराज, वह सौभाग्य तो हमको नहीं मिला। तो बिना रोटी खिलाये हम पहचानते नहीं हैं। वैसे कहीं देखा है, यह बात तो ठीक है—

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः वृत्तः सनौ संगतयो र्वनान्ते।

बातचीत एकबार कर ली, जान-पहचान हो गयी, सम्बन्ध हो गया। परन्तु यहाँ तो महाराज, तृप्ति जो है वह खाने-पीनेकी तृप्ति नहीं है, अन्नरसादिकी तृप्ति नहीं है। तुष्टि, तृप्ति और रति तीन चीज होती है न, यह आपको मालूम है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टः.....।

रति होती है स्त्री-पुरुषकी। तृप्ति है खा-पीकर और सन्तोष है धनादिकी प्राप्तिसे। लोभकी निवृत्तिसे सन्तोष है, कामकी निवृत्तिसे रति है और क्षुधा-पिपासा आदिकी निवृत्तिसे तृप्ति है। बोले—यहाँ महाराज तीनके लिए, तीन चीजकी जरूरत नहीं है। काहेसे तृप्त हैं महाराज ? कि, **ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा**। अपने ज्ञान-विज्ञानसे ही तृप्त हैं। यह ज्ञान-विज्ञानसे क्या तृप्त हैं ? अनेकमें एकको देखना ज्ञान है और एकको अनेक रूपमें देखना विज्ञान है। प्रकृतिकी नकल कर लेना, कागजपर मोर बना देनेका नाम कला है और प्रकृतिपर ऐसा आधिपत्य प्राप्त कर लेना, इसका नाम विज्ञान है। छिपी हुई बिजलीको जाहिर करके उससे मशीन चला लेना इसका नाम विज्ञान है। और पेड़-पौधा, मोरकी आवाजकी नकल कर लेना कला है। हमलोग एकबार गये मध्यप्रदेशके जंगलमें, वहाँ रातको जब ठहरे तो गाँवके सब लोग आये, काले- काले लंगोटी पहने, तो यह हुआ कि स्वामीजीका मनोरंजन करो। तो महाराज गीदड़की तरह बोलने लगे। उनकी आवाज सुनकर सचमुच जंगलमें जो गीदड़ थे वे उनके साथ बोलने लगे और गाँवके कुत्ते भूँकते हुए वहाँ आ गये। इसका नाम कला है। माने गीदड़की आवाजकी ऐसी नकल की कि गीदड़ोंको भी भ्रम हो गया कि गीदड़ बोल रहा है और कुत्तोंको भी भ्रम हो गया कि गीदड़ बोल रहे हैं। यह

कला है। और प्राकृत वस्तुको, जलको, विद्युतको, वायुको वशीभूत कर लेना, इसका नाम विज्ञान है। और एक ही वस्तु सबमें अनुस्यूत है, सबका एकमें लय होता है, एकमें उदय होता है, इस एकत्वको पहचान लेना ज्ञान है। अनेकमें एकको पहचानना ज्ञान है, एकत्वसे अनेकका विकास कर लेना विज्ञान है और जैसा है उसकी नक़ल कर लेना, इसका नाम कला है।

तो यह महात्मा कैसा है? बोले—**ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा**, वह देख रहा है अनेकमें एक है, एकमें अनेक है। जो अनेक है सो एक है, जो एक है सो अनेक है, सबमें सब है। स्त्रीमें पुरुष है, पुरुषमें स्त्री है।

हमारे भगवान् श्रीकृष्ण यह बात कह रहे हैं कि आप देखो अपने आपमें कि आपको तृप्ति कहाँसे मिलती है। किसीको भोजनसे तृप्ति मिलती है, जलसे तृप्ति मिलती है। भोजन और जल तो जीवन-निर्वाहके लिए आवश्यक है, परमावश्यक है क्योंकि ईश्वर हमारे लिए आवश्यक है, इस बातको सूचित करनेके लिए है। कैसे? हमारा नन्हा-सा पञ्चभूतका बना हुआ शरीर है। इसमें मिट्टी है, पानी है, आग है, हवा है आसमान है। तो इस नन्हेंसे मिट्टी, पानी, आग, हवाके पुतलेको महान् पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाशकी अपेक्षा होती है। माने छोटा जो है वह बड़ेके आश्रयसे ही उज्जीवित होता है। यदि मिट्टीका अन्न न मिले तो शरीर नहीं रहेगा, पानीका पानी न मिले तो शरीर नहीं रहेगा। अग्निकी गर्मी न मिले तो शरीर नहीं रहेगा। हवा न मिले, तो शरीर नहीं रहेगा। छोटी चीज बड़ेका आश्रय लेकर रहती है। तो पञ्चभूतका बना हुआ शरीर पञ्चभूतका सेवन किये बिना जीवित नहीं रह सकता। जो लोग कहते हैं कि हम खाते नहीं हैं, पीते नहीं हैं, साँस लेते नहीं हैं, उनके शरीरमें कुछ ऐसे छिद्र बन जाते हैं कि वे वातावरणमें-से ही अपने लिए खाना-पीना, गर्मी, हवा खींच लेते हैं। परन्तु बिना पञ्चभूतसे अपना भोजन लिये किसीका शरीर रह नहीं सकता। इसका अर्थ यह है कि हमारी बुद्धि महतत्त्वका आश्रय लिये बिना जीवित नहीं रह सकती, और उसके आश्रय से प्रकट है कि जीव ईश्वरका आश्रय लिये बिना जीवित नहीं रह सकता। इसका अर्थ है कि हमारा परिच्छिन्न अहं अपरिच्छिन्न परमात्मासे एक हुए बिना जीवित नहीं रह सकता।

यह तो बिलकुल पक्की बात है कि यह जो हमारे शरीरको अन्न-पानीकी

आवश्यकता है वह क्षण-क्षणमें यह बताती है, यह साँसकी जो जरूरत है, यह क्षण-क्षणमें बताती है कि जीवको ईश्वरकी आवश्यकता है। इसके बिना तो मनुष्यका जीवन कुछ नहीं है, पर बात इससे आगेकी है। जीवन-निर्वाह तो आप करो, आपकी तृप्ति कहाँ है ? तो बोले—हमारी तृप्ति है भोजनसे। कि तृप्तिको भोजनमें मत रखो, वह निर्वाहके लिए तो ठीक है। जिनसे मैंने संन्यास ग्रहण किया था, स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर, वे कहते थे कि कई काम जीवन-निर्वाहके लिए आवश्यक होनेसे ही करने पड़ते हैं, उनमें रति, तृप्ति या सतुष्टि होती हो, सो बात नहीं है। जैसे रोज शौचालयमें जाना पड़ता है—यह तो जीवन-निर्वाहके लिए आवश्यक है। नहीं तो यह कोई शौकका काम थोड़े ही है कि जाकर हम पन्द्रह मिनट या आधा घण्टा शौचालयमें बैठें। एकबार हमारे गुरुजीको शौचालयमें जाना था, हमने जाकर, पहलेसे जो शौचालयमें बैठा हुआ था; खटखटा दिया। तब गुरुजी धीरेसे हमको बुलाया। दूर बुलाकर कहा—हमारी तुम्हारी आवाज सुनायी नहीं पड़नी चाहिए, नहीं तो मालूम हो जायेगा कि मैं आया हूँ, तो वह बेचारा शौच पूरा हुए बिना ही निकल आयेगा। वे बोले कि देखो वह कोई वहाँ आराम थोड़े ही कर रहा है, कि कोई सुख थोड़े ही ले रहा है। वह तो बेचारा आवश्यकतासे शौचालयमें बैठा है। उसको खटखटाके उद्विग्न मत करो। जब उसका प्रयोजन पूरा हो जायेगा तो अपने आप ही निकल आयेगा। किसीको उद्विग्न करनेके लिए किवाड़ी खटखटानेकी जरूरत नहीं है। जबान भी खटखटानेकी जरूरत नहीं है। वह तृप्तिका स्थान नहीं है, वह जीवन निर्वाहके लिए आवश्यक है। इसी प्रकार रोज-रोज दाल पकाओ, गेहूँ पिसवाओ, आटा गूँधो, रोटी बेलो, पकाओ, खाओ। यह कोई किसीका शौक थोड़े ही है। यह तो शरीरके लिए जरूरी है इसलिए करते हैं। तृप्ति कहाँ है ? यह देखो! तो अब आपको एक गुरकी बात बता देते हैं, सिद्धान्तकी। ये जो हमारे जीवनमें संकल्प हैं, इच्छाएँ हैं, वासनाएँ हैं, वही हमारे जीवनकी सारथि हैं। अच्छा, मरनेके बाद कौन जड़ हो जायेगा और कौन चेतन हो जायेगा, कहो तो इसका सिद्धान्त हम आपको सुना दें। जो इस जीवनमें जड़ वस्तुको चाहता है, वह मरनेके बाद जड़ हो जायेगा। जो चाहते हो, उसीके साथ जाकर मिलोगे। इसीसे जो स्त्रीके अत्यन्त

प्रेमी–स्त्रैण होते हैं, वे उत्तर जन्ममें स्त्री होते हैं—ऐसा वर्णन आता है। जो मांसके प्रेमी होते हैं, वे मांस खानेवाले जानवर होते हैं। जो चाहोगे उसीके साथ मिल जाओगे। यदि ईश्वरको चाहोगे तो ईश्वरके साथ मिल जाओगे। साधनाका भी असर पड़ता है। इष्टाकार वृत्ति करोगे तो अपने इष्टदेवसे मिलोगे और धर्मके द्वारा अनेक देवोंकी उपासना करोगे तो स्वर्गमें नन्दनवन, अप्सरा, इन्द्रादि देवता मिलेंगे और जड़ वस्तुओंको चाहोगे तो जड़ हो जाओगे। स्त्री-पुरुषको चाहोगे तो स्त्री–पुरुष हो जाओगे।

यह मैं फैलाकर बात इसलिए सुनाता हूँ कि आप थोड़ा अपनी तृप्तिका अनुसन्धान कीजिये कि वह कहाँ है? स्त्री–पुरुषमें रति, धनकी प्राप्तिमें सन्तुष्टि और अन्नरसादिसे तृप्ति—श्रीशंकराचार्य भगवान्ने—

यस्त्वात्मरतिरेवस्यात् आत्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ ३.१७

में बताया कि तुम रतिको स्त्री-पुरुषमें मत ले जाओ, आत्मामें रखो। तृप्तिको भी अन्न–रसादिमें मत ले जाओ, अपनेमें रखो। और सन्तुष्टिको धनादिमें मत ले जाओ, अपनेमें रखो।

अपनेमें ही रति, अपनेमें ही तृप्ति, अपनेमें ही सन्तुष्टि और '**तस्य कार्यं न विद्यते**', अब तुम्हें क्या पानेके लिए क्या करना है। मौजसे जो चाहिए सो करो। ड्यूटी (Duty) नहीं है तुम्हारी, तुम्हारी मौज है कि कुछ करो—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

कार्य माने *कर्तव्यं न विद्यते,* कर्तव्यका बन्धन तुम्हारे लिए नहीं है।

तो अब देखो कि हमारे कोई साधक हैं। हमको एक बात समझमें आयी। क्या? बोले—भाई ब्रह्मा-ब्रह्मा तो बहुत देरसे पढ़ते हैं, तो ब्रह्माका शरीर लाल क्यों हैं? बोले—भाई सृष्टिकर्त्ता होनेसे रजोगुण–प्रधान ब्रह्माका शरीर है, इसलिए लाल है। बोले—चार मुँह क्यों हैं? बोले—समष्टि अन्तःकरणमें देवतारूप होनेसे समष्टिका जो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार है वही ब्रह्माके चार मुख हैं। चार वेद धारण करते हैं। अच्छा, ब्रह्माका हंस वाहन क्यों हैं? बोले—बिना विवेकके सृष्टि नहीं होगी। तो हंस-विवेक उसका आधार है। सरस्वती-विद्या उनकी अर्द्धांगिनी है। मुखमें वेद है। बोले—भला ब्रह्माकी ही पुत्री,

ब्रह्माकी ही अर्द्धांगिनी, क्या मतलब? बोले—अन्तःकरणकी वृत्ति विद्या है और अन्तःकरणके देवता ब्रह्मा हैं। जिस अन्तःकरणकी वृत्ति होती है, उस अन्तःकरणका जो जीवात्मा होता है, वही उसका भोक्ता होता है।

आहा, यह बात समझमें आयी, अब साधकजी महाराज तो जाकर एकान्तमें बैठ गये। बोले—आओ, आओ, ऐसा ब्रह्मा! पुराणमें जिस ब्रह्माका वर्णन है, उसके लाल रंगका यह अर्थ है! चार सिरका यह अर्थ है! और चारों वेद हैं, उनके हंस वाहनका यह अर्थ है! सरस्वती-विद्या पत्नीका यह अर्थ है! और विष्णुकी नाभिसे निकले। विष्णु सत्त्वमें चले गये। सत्त्वसे रजस प्रकट होता है, रजसकी उपाधिसे ब्रह्मा होते हैं।

अब यह सुनकर उस साधकको जैसे समाधि लग गयी हो, अरे आज तो एक नयी बात समझमें आयी, एक नया ज्ञान हुआ, एक नया विज्ञान हुआ। एक वैयाकरण है, उसको बोलनेमें अगर आधा मात्राका लाघव हो तो पुत्र जन्मोत्सवमें जैसा सुख होता है वैसा सुख। और एक ज्ञान-विज्ञानका जो प्रेमी है, जिस दिन वैज्ञानिक एक नयी वस्तुका आविष्कार करता है, उसको कितनी तृप्ति होती है। जिस दिन एक जिज्ञासुको कोई उलझी हुई ग्रन्थि सुलझ जाती है, उस दिन उसको कितना सुख होता है। तो हमें कुछ वस्तु प्राप्त करनेमें सुख नहीं है, कोई व्यक्ति प्राप्त करनेमें सुख नहीं है, कोई स्थिति प्राप्त करनेमें सुख नहीं है। यह जो हमारा स्वरूप है ज्ञान और उसका जो निरन्तर अखण्ड अनुभव हो रहा है, यही हमारी तृप्ति है। हम ज्ञान-तृप्त है, हम विज्ञान-तृप्त हैं। हम द्रव्य-तृप्त नहीं है, हम भोग-तृप्त नहीं हैं, हम सम्बन्ध-तृप्त नहीं है, हम स्थिति-तृप्त नहीं हैं। क्या ज्ञानका निर्मल प्रकाश जगमग-जगमग हो रहा है और उसमें यह समूची सृष्टि जगमग-जगमग हो रही है। माने ज्ञान ही रस है।

ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा-का क्या अर्थ हुआ? कि ज्ञान ही रस है। जिसका ज्ञान अलग और रस अलग, वह पराधीन। यह देखो, वेदान्तका तत्त्व, वेदान्तका सार हम बता रहे हैं। जहाँ ज्ञाता अलग है, ज्ञान अलग है और ज्ञेय अलग है वहाँ रस तो छिन्न-विच्छिन्न हो गया और जहाँ ज्ञान ही रस है; ज्ञेय रस नहीं है, ज्ञाता रस नहीं है, ज्ञान ही रस है—**ज्ञानतृप्तात्मा**।

अब पण्डिताईकी बात भी सुना देते हैं तो **ध्यायो ध्येतव्यः** इस विधिसे

जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसे ज्ञान कहते हैं। और ***आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः***–इस उपनिषद्–वचनसे जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसका नाम विज्ञान है।

अच्छा, अब देखो भागवतमें ज्ञान–विज्ञानकी व्याख्या, ग्यारहवें स्कन्धमें क्या ज्ञान है, क्या विज्ञान है? वे कहते हैं कि ज्ञानके बिना कुछ सिद्ध नहीं हो सकता। एक बार हम एक महात्माके पास गये। ऋषिकेशमें चन्द्रभागा नदी बहती है। गर्मीका दिन था, सूखी हुई नदी थी, उसके किनारे–किनारे थोड़ा ऊपर जानेके बाद एक नालाकी जगह थी, वहीं उँचाईमें एक झोपड़ी लगी हुई थी, मैं गया तो वे बोले कि तुम तो परिच्छिन्न नहीं हो, ज्ञानस्वरूप हो, अद्वय ब्रह्म हो! मैंने कहा—नहीं महाराज, मैं तो अज्ञानी हूँ। वे बोले—अच्छा, जो जिसको जानता है वह उससे अलग होता है, यह नियम तुमको मालूम है? कि हाँ, मालूम है, जो घड़े को जानता है, वह घड़ेसे अलग होता है। तब? तुम अपने अज्ञानीपनेको जानते हो, इसलिए तुम अज्ञानी नहीं हो, अज्ञानीके साक्षी हो। अब तुम इसको काटो! तुम अज्ञानी नहीं हो। तुम तो तुम्हारे भीतर जो अज्ञानी बैठा हुआ है, उसके तुम ज्ञानी हो अपनी अज्ञानताको जाननेवाले हो, इसलिए तुम ज्ञान–स्वरूप हो!

तो अब देखो, भागवतमें जो ज्ञान–विज्ञानका लक्षण है, बड़ा विलक्षण है। ज्ञानसे सबकी सिद्धि होती है। कुछ भी, जैसे घड़ी है यह कैसे मालूम पड़ती है? ज्ञानसे। रोशनी जल रही है, यह कैसे? कि ज्ञानसे। हम बोल रहे हैं, यह? कि ज्ञानसे। आप सुन रहे हैं, यह? कि ज्ञानसे। अच्छा, परमेश्वर है, यह? यह भी ज्ञानसे मालूम पड़ता है। और सब कुछ न हो, तो सब कुछ नहीं है यह कैसे मालूम पड़ेगा तो सब कुछका होना और न होना, दोनों जिस ज्ञानसे मालूम पड़ता है, उसको बोलते हैं ज्ञान। विज्ञान किसको कहते हैं? जिस अखण्ड ज्ञानमें दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, यह भागवतकी व्याख्या है ग्यारहवें स्कन्धमें। जिस अखण्ड अद्वय तत्त्वमें दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, उसको बोलते हैं विज्ञान।

अपनी तृप्ति कहाँ है? हमसे ही सब प्रकाशित है, सबका प्रकाशक स्वयं प्रकाश साक्षी–इस ज्ञानमें और मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं है—इस विज्ञानमें जो तृप्त है, उसका नाम होगा **ज्ञान–विज्ञानतृप्तात्मा।**

अच्छा अब यह तो हो गया विद्याकी बात। अब कहो व्यवहारकी बात—**कूटस्थो विजितेन्द्रियः**। कूटस्थका अर्थ होता है कि जैसे कोई पहाड़की ऊँची चोटी होती है, उसको कूट बोले हैं। कई-कई पत्थरोंसे वह अपने आप ही बन गयी होती है—त्रिकूट, चित्रकूट, यहाँ कूट शब्द चोटीका वाचक है, पर्वत शिखरका। तो **कूटस्थः**का अर्थ क्या है ? जैसे पहाड़की चोटी रहती है सिर उठाकर खड़ी और कहीं बादल आते हैं बरस जाते हैं, वह ज्यों-की-त्यों झुकी नहीं, अपनी महिमामें मगन। और कभी गर्मी आयी तो पेड़-पौधे सूख गये, चोटी ज्यों-की-त्यों। कभी ठण्ड आयी तो चोटी ज्यों-की- त्यों। यह हम लोगोंके तो चोटी सिरपर होती है न हिन्दुओंके, यह भी शिखर है। यह हमारा शरीर मन्दिर है, इसके हृदयमें भगवान् हैं और मन्दिरका जैसे शिखर होता है, वैसे यह शरीररूप मन्दिरपर यह शिखर बनाया हुआ है कि तुम्हारा यह शरीर शरीर नहीं, मन्दिर है, इसमें रहते हैं भगवान् और यह शिखा जो है यह शिखर है। यह कर्मकाण्डके लिए नियमका बन्धन है। इसमें भी कई पद्धति है—एक शिखा है, तीन शिखा है, पाँच शिखा है शाखाके भेदसे है वह कर्मकाण्डकी बात आपसे क्या सुनायें !

तो यह जो पहाड़की चोटी है वह गर्मी-सर्दी बरसातमें एक रस रहती है, ऐसे ही महाराज, तुम्हारे जीवनमें भी कभी गर्मी आ जायेगी, कभी कोई गर्मागर्म आकर मिलेगा अब आगसे आग जलती है। कभी ठण्डक आ जायेगी, कभी बरसा आ जायेगी। माने कभी आँसू गिरने लग जायेंगे, कभी चिनगारी निकलने लगेगी, कभी एयर कण्डीशन हो जायेगा जीवन। यह तो जबतक शरीर है, तबतक इसमें ठण्डी-गर्मी-सर्दीका प्रकोप होता ही रहेगा। इसमें तुम पर्वत-शिखरके समान कूटस्थ हो—अप्रकम्प्य हो। गर्मी आयी-गयी, सर्दी आयी-गयी, बरसा आयी-गयी, और तुम ज्यों-के-त्यों। देखो, नींद आयी-गयी, सपना आया-गया, जागृति आयी-गयी, तुम ज्यों-के-त्यों। इसको बोलते हैं कूटस्थ। बचपन आया-गया, जवानी आयी-गयी, अगर तुम भी आने-जाने वालेके साथ आने-जाने लगोगे, तो बह गये, ऐसे रहो महाराज ! कि किसीका कोई असर ही न पड़े। और असर पड़े तो बह जाये फिर टिके नहीं।

कहते हैं मनुष्यका अन्तःकरण तीन तरहका होता है, एक तो होता है

पत्थरकी तरह जैसे उसपर लकीर खींच दो, तो जल्दी मिटती नहीं है, बनी रहती है। कोई गाली देकर गया, अब महाराज, जिन्दगी भर याद है कि इसने हमको गाली दी थी, कि कोई तारीफ करके गया, अब वह तारीफ ऐसी रँग गयी दिलपर कि छोड़ती नहीं है। तारीफ करनेवालेके गुलाम बन गये। और निंदा करनेवाले के दुश्मन बन गये। यह पत्थरका अन्तःकरण है, जिसमें लकीर खिंची गयी। तो खिंच गयी।

दूसरा अन्तःकरण बालूकी तरह होता है। बालूपर लकीर तो खिंच जाती है, लेकिन जब हवा आयी तो अपने आप ही मिट गयी। तो लकीर तो राग-द्वेषकी खिंचती रहती है, लेकिन सत्संगकी हवा जब लगती है, तो सब मिट-मिटाकर बराबर हो जाती है।

एक महाराज पानीकी तरह अन्तःकरण होता है, तो उसमें लकीर खींचो तो खिंचे ही नहीं। तुम लकीर खींचते-खींचते परेशान हो जाओ। कई लोगोंका ऐसा स्वभाव होता है कि हम तो इनका दिल बिगाड़कर छोड़ेंगे। उनको कितना भी सावधान किया जाये कि बाबा, किसीका दिल बिगाड़नेसे तुमको कुछ नहीं मिलेगा, बिगाड़नेवाला बिगड़ जायेगा, जिसका दिल बिगाड़ते हो, उसका दिल भी बिगड़ जायेगा, दोनों ही बिगड़ जायेंगे, लेकिन अपनी आदत आदमी छोड़ नहीं सकता। जिसका हृदय गंगाजलके समान निर्मल है और कोई रँग उसमें डालकर जलको रँगना चाहे, तो नहीं रँगा जायेगा। उसमें कालिख डालकर काला करना चाहो तो नहीं होगा, क्योंकि वह तो गंगाजीकी धारा बह गयी। ऐसे अन्तःकरणमें वृत्तियाँ जो बह रही हैं, वे आयीं-गयीं, आयी-गयी, कोई लकीर खिची नहीं, ऐसा अन्तःकरण। इसीको कूटस्थ बोलेंगे। महात्माको कैसे होना चाहिए? बोले—कूटस्थ।

बोले—ये क्या करते हैं? कहते हैं कि तुम सहिष्णुताका और अभ्यास करो। हमारी बात सुनकर तुमको गुस्सा आता है? अभी सहिष्णुताका और अभ्यास करो। जैसे गुरु लोग डाँट-डाँटकर, मार-मारकर अपने शिष्योंको ठीक-ठाक रखते हैं, अब महाराज, गुरु न करे तो शिष्य ही करले, वह तो पासा बदलता रहता है। पहले गुरु लोग मार-पीटके चेलोंको ठीक रखते थे। अब चेले लोग गुरुओं को कहते हैं—महाराज, महात्माकी तरह रहो। तुमको गुस्सा

आगया! राम, राम, कैसे महात्मा हो? इसको बोलते हैं **कूटस्थः**। कूटस्थ रहो।

हमने धर्मशास्त्रकी पुस्तक पढ़ी थी, हमारे घरमें ऐसी-ऐसी पुस्तक थीं धर्मशास्त्रकी, हस्तलिखित थीं। अब हम सूची पढ़ते हैं कभी-कभी, कोई पुस्तक देखने पर उनका नाम आता है, वह ग्रन्थ देखनेमें नहीं आता। एक '**त्रिंशत श्लोकी**' नामका ग्रन्थ था, बड़ा विशाल खण्ड था, तो उसमें धर्मशास्त्रका सार आया हुआ था; तीस श्लोकमें धर्मशास्त्रका सार। बड़े-बड़े श्लोक। आपको क्या बतायें, 'कूट साक्षी' शब्द था उसमें। कूट साक्षी माने झूठा गवाह। यदि कोई न्यायालयमें जाकर न्यायाधीशके सामने झूठी गवाही दे तो उसका नाम क्या है? कूट साक्षी। तो कूट माने झूठ। झूठ बोलनेवाले गवाहका नाम है कूट साक्षी।

'याज्ञवल्क्यस्मृति' के 'मिताक्षरा भाष्य' में कूटसाक्षीका प्रसंग आता है।

तो अब कूटस्थ देखो! 'कूट' माने झूठ। और 'स्थ' माने स्थिर। दुनियाके झूठ बदलते रहते हैं और वह बदलते हुए झूठोंमें एक सरीखा स्थिर सत्य है। इसीलिए आत्माको कूटस्थ कहते हैं। ब्रह्मको कूटस्थ कहते हैं।

कूटस्थोऽक्षर उच्यते—कूटस्थ बोलते हैं। तो कूट बोलते हैं निहाय—जो लोहारके घरमें लोहा गढ़नेके लिए होती है, उसको निहाय बोलते हैं जिसपर सुनार लोग, लोहार लोग सोना-लोहा हथौड़ेसे मार-मारकर गढ़ते हैं। तो ये दुनियाकी घटनाएँ कैसी हैं? जैसे हथौड़ेसे तोड़-तोड़के तुम्हारे ऊपर जेवर और औजार बनते हों। जाने कितने गहने बने और टूटे-पीटे, और निश्चल ज्यों-की-त्यों घरमें पड़ी रहती है। तो तुम कैसे? बोले-कूटस्थ, वैसे स्थिर हो जाओ मध्वाचार्यजी महाराजने-**खे कूटं**—कहा। खे माने आकाश, जैसे बादल आया कि नहीं आया, आकाश ज्यों-का-त्यों। ऐसे तुम संसारके परिवर्तनोंमें रहो ज्यों-के-त्यों।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थः।

पर यह स्थिति कब आयेगी? जब **विजितेन्द्रियः सम-लोष्टाश्म-काञ्चनः** हो जायें। ये बाहरकी जो चीजें हैं, वे तो **लोष्टाश्मकाञ्चनः**, सब चीजें बराबर हो जायें और इन्द्रियाँ अपने वशमें हो जायें। तो बोले—जब हो जायेंगी तब करेंगे! कि ऐसे नहीं; इसके लिए अभ्यास करना चाहिए, अपने

जीवनमें। बुराई अपने आप नहीं छूटती। आपलोगोंने हमारे शास्त्रका अध्ययन किया होगा, सुना होगा—**ज्येष्ठाः असुराः देवाः कनिष्ठाः।**

असुर ज्येष्ठ हैं—बड़े भाई हैं और देवता लोग छोटे भाई हैं। मनमें बुराईका भाव स्वयं आ जाता है। कामका उदय, क्रोधका उदय लोभका उदय भीतरसे होता है और सद्गुणोंको अपने जीवनमें विकसित करना पड़ता है, धारण करना पड़ता है, उनका अभ्यास करना पड़ता है, इसलिए इन्द्रियोंके पीछे मन न चले, इन्द्रिय और मनके पीछे बुद्धि न चले और उसके पीछे इन्द्रियाँ चलें, तब मनुष्यके जीवनका निर्माण होता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

अच्छा, आप देखो, आप साड़ी खरीदते हो, तो कैसे खरीदते हो? श्रीमतीजी लोग एक नजर डालें इस बातपर कि आपके घरमें एक दर्जन साड़ी है, सौ साड़ी है, पाँच सौ साड़ी है। आप प्रतिदिनके हिसाबसें एक साड़ी भी अगर पहनकर छोड़ दें तो प्रति दिन नयी साड़ी पहन सकती हैं। तो आवश्यकताकी दृष्टिसे आपको नयी साड़ी खरीदनेकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु जब बाजारमें गये और नयी डिजाइनकी साड़ी देखी तो देखते ही आँख लुभा गयी कि ऐसी तो हमको चाहिए। आँख लुभाई और मनने कहा कि जरूर-जरूर हम इसको खरीदेंगे और बुद्धिसे बोले कि भाई पैसा? पैसा तो अपने खर्चमें-से, सौ-दो सौ रुपया लगा देंगे तो नहीं बनेगा। अच्छा तो सेठके जेब ही से रातको निकाल लेंगे। अब देखो, यह क्या हुआ? आज जरूरत नहीं है, लेकिन आगे-आगे चली इन्द्रिय, उसके पीछे चला मन, मनके बाद बुद्धिने अकल लगा ली और दूसरे दिन जाकर साड़ी खरीद ले आये। तो,

तदस्य हरति प्रज्ञां

आपने सौ रुपये लूटा नहीं, आपने साड़ी लूटी नहीं, आपकी बुद्धि लुट गयी। आपने सेठकी जेबसे सौ रुपया नहीं लूटा, आपने दूकानदारकी दूकानसे सौ रुपयेकी साड़ी नहीं लूटी, असलमें आपकी बुद्धि लुट गयी। तो इन्द्रियोंके पीछे अपनी बुद्धिको नहीं चलाना, बुद्धिके पीछे मन चले और मनके पीछे इन्द्रियाँ चलें, ऐसा—**विजितेन्द्रियः।**

बोले–तब ? अब आपका नाम हुआ क्या ? कि ये युक्त हैं—**युक्त इत्युच्यते योगी** युक्त माने आपका आचरण युक्तियुक्त है। आपका भाषण युक्तियुक्त है। आपका भोग युक्तियुक्त है। आपका संग्रह युक्ति युक्त हो योगीका अर्थ यह नहीं होता है कि नंगा घूमे। महाराज, बम्बईमें कोई नंगा होकर घूमेगा तो क्या लोग कहेंगे कि बड़ा भारी विरक्त आया है ! अरे उसको नंगा घूमना था, तो बम्बई आनेकी क्या जरूरत थी ? उसको जंगलमें घूमना चाहिए या गंगा–किनारे घूमना चाहिए। बम्बईमें घूमना है तो जरा कपड़ेसे शरीरको ढक लेना चाहिए, नंगा घूमनेकी जगह बम्बई नहीं है। समाजमें नंगा होकर नहीं घूमा जाता। अक्लसे काम करना चाहिए। योगी माने जो पहाड़पर रहे, सो नहीं, जो आँख बन्द करके रहे सो नहीं, जो दम घोंट ले, उसका नाम योगी नहीं, जिसकी पीठकी रीढ़ सीधी रहे उसका नाम योगी नहीं। जिसका खाना–पीना, चलना फिरना, बोलना, जिसका सब काम युक्तियुक्त हो, जिसका भोग युक्तियुक्त हो, जिसका भाषण युक्तियुक्त हो, जिसका मन युक्त हो, उसका नाम युक्त होता है।

अब देखो, सबसे विशिष्ट पुरुष, समाहित पुरुष कौन है ? यदि आप अपने मनको ठीक ठिकानेपर लगाना चाहते हैं

सुहृन्मित्रार्युदासीन मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

अपनी आदत अगर मनुष्यकी बिगड़ जाये, तो आज उसे दुःख नहीं होता, पर आगे चलकर उसको दुःख जरूर होगा। एक हमारी जानकारीमें लड़का था, उसको गाली देनेकी आदत थी। स्कूलमें पढ़ रहा था तो इन्सपेक्टर आया। अब लड़केका मूड बिगड़ गया। मूड बिगड़ने पर मनुष्य क्या बोलता है, जीभपर काबू नहीं रहता तो इन्सपेक्टरको गाली देने लगा। अब इन्सपेक्टर तो हँसता रहा। क्योंकि उतने बीचमें यदि वह अपमानका अनुभव करेगा, उसको दण्ड दे तो और लोग बुरा मानेंगे। तो हँसता रहा। जब वह गाली दे चुका लड़का तो उसको एक रुपया अपनी जेबमें–से निकालकर दिया, लो बेटा, गाली देनेमें मैंने तुम्हें पास कर दिया, एक नम्बर। अब महाराज, वह लड़केका तो ऐसा उत्साह बढ़ा कि गाली देनेसे तो रुपया मिलता है और तारीफ भी मिलती है, कुछ दिनके बाद वहाँ आये पुलिस इन्सपेक्टर, उसने सोचा एक इन्सपेक्टर एक रुपया दे गये, तारीफ कर गये,

तो ये भी इन्सपेक्टर हैं, ये भी कुछ देंगे, अब उनको भी गाली देना शुरू किया, सो उन्होंने कहा सिपाहीसे कि बाँध दो इस लड़केको। बाँधकर वो जूते मारे, मार-मारकर ठीक कर दिया और बोले कि अब प्रतिज्ञा करो कि हम किसीको गालो नहीं देंगे, तब तुमको छोड़ेंगे।

काम तो कभी-कभी ऐसे भी बन जाता है परन्तु मनुष्यको अगर बुरा करनेसे सफलता भी मिलती है तो आदत बिगड़ती है। आदत बिगड़ जाती है तब वह अपने जीवनमें दुःखकी सृष्टि करती है। इसलिए अपनी बुद्धिका जो सन्तुलन है, वह नहीं खोना चाहिए। **समबुद्धिर्विशिष्यते**। बोले कि महाराज, कोई अच्छा काम करता है, कोई बुरा काम करता है, दोनोंके प्रति अपनी बुद्धिको सम कैसे रखें? क्या सुनायें आपको! अद्वैत वेदान्तियोंकी बात बहुत सुनी होगी, वेदान्त सत्संग-मण्डलकी ओरसे सत्संग होता है, तो बहुत वेदान्ती लोग आते हैं। हम एक द्वैतवादी आचार्यकी बात आपको सुनाते हैं। मध्वाचार्य कहते हैं कि चैतन्य रूपसे सब-के-सब जीवात्मा समान होते हैं। यह बात इसी श्लोककी टीकामें, जो कि हमारे सामने ही रखी हुई है। यह टीका श्रीमध्वाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य दोनोंकी है। शंकराचार्यकी तो है ही है। मध्वाचार्य भी जो भेदवादी हैं,द्वैतवादी हैं, वे कहते हैं कि सभी जीवात्मा अलग-अलग शरीरमें अलग-अलग हैं, परन्तु चिद्रूप होनेसे सब-के-सब समान हैं। सबका अपना-अपना मैं, सबका अपना-अपना स्वयं चिद्रूप सत्य। तो बोले—फिर यह साधु और पापी क्या होता है? बोले—यह तो अन्तःकरणकी उपाधिमें साधुता और साक्षिता रहती है। बोले कि यह क्या है? यह तो सारी सृष्टिके रूपमें एक ईश्वर प्रकट हुआ है, और उस जीवके कर्मानुसार तत्- तत् उपाधिके रूपमें परमात्मा ही प्रकट हो रहा है। परन्तु जीवात्मा तो सब-के-सब चिद्रूप हैं। अतः समान हैं। तुम्हारी नज़र कहाँ तक जाती है?

अब आपको बतायें श्रीआनन्दमयी माँके उत्सवमें काशीमें एक बार बाबा खलीलदासको बुला लिया। बनारसका बड़ा भारी मुल्ला, उसने दंगे भी पहले बहुत कराये थे, हिन्दू भी हो गया था। आर्य समाजियोंमें रहकर वेद भी पढ़ लिया, ब्याह भी कर लिया और फिर बीबी-बच्चे सहित मुसलमान भी होगया। एक उसकी बात आपको सुनाते हैं। वह मुसलमान होनेके बाद क्या

व्याख्यान देता है, मुसलमान धर्मकी तारीफ करता है, सभी धर्मोंमें अच्छाई तो होती है, बिना अच्छाई के कोई धर्म तो चल नहीं सकता, वह कहता है कि देखो! यह जो बरसा होती है तो किसीकी नजर यह जाती है कि यह गर्मी, हवा, पानी, धुँआ सब मिल-मिलाकर—**धूमोज्योतिः सलिलमरुतां सन्नि-पातः क्व मेघः** जो बादल पैदा हुआ वही पानी बरस जाता है। वैज्ञानिक लोग यही कहते हैं कि चार चीज मिल गयी आसमानमें और पानी बरस गया। और देखो जो धर्मात्मा लोग हैं, वे कहते हैं कि इन बादलोंमें देवता होते हैं, मेघके देवता और इन्द्र उनका मालिक होता है, इन्द्रके हुकुमसे मेघ देवता पानी बरसते हैं। पानी बरसते देखकर एकने केवल बादल देखा, एकने उसमें देवता देखा और हमारा इस्लाम धर्म ऐसे कहता है कि एक ईश्वर है—खुदा और उसकी कुदरत है। यह खुदाकी कुदरत है जो बादल पानी बरसते हैं। पानी बरसते देखकर हम लोग उस ईश्वरको देखते हैं।

हमने केवल दृष्टान्तके रूपमें उसकी यह बात उद्धृतकी । जरा आप ध्यान दो, हम लोग जब किसीको अच्छा काम करते देखते हैं, अच्छा बोलते देखते हैं, बुरा काम करते देखते हैं, बुरा बोलते देखते हैं, तो बाबा उसका काम उसके साथ है। हमारी नज़र कहाँतक जाती है, उसकी क्रियातक जाती है कि उसकी आवाज़तक जाती है कि उसके अन्तःकरणतक जाती है, कि उसमें बैठा हुआ जो जीव है वहाँतक जाती है, कि उसमें ज़ो बैठा हुआ ईश्वर है वहाँ तक जाती है। हमारी नज़र कितनी पैनी है—यह हमको देखना है ? तो हमारी दृष्टि कहाँतक है ? उसके भीतर बैठकर जो ईश्वर बोल रहा है, उसको हम देखें और ईश्वरकी बोली सुननेका आनन्द लें। किसी क्रियाके मूलमें जो चिद् वस्तु है, चेतन है, उसको हम देखें और उसका हम आनन्द लें। इससे अन्तःकरणमें जो विकार-संस्कार हैं और उसके शरीरगत जो दोष हैं, उनको देखनेकी कोई जरूरत नहीं है। तुम्हारी नजर वस्तुतक पहुँचती है कि क्रियातक पहुँचती है, कि अन्तः-करणतक पहुँचती है कि जीवतक पहुँचती है, कि ईश्वरतक पहुँचती है। अपनी नजरको बिलकुल तत्त्वतक पहुँचा दो। तुमको कोई ज़ेवर खरीदना होता है, तो सिर्फ पच्चीकारी डिज़ाइन देखकर उसको खरीद लेते हो कि उसमें जो सोना है उसको परखकर खरीदते हो! अगर सोना परखे बिना ज़ेवर खरीदोगे तो ठगे जाओगे न!

इसी प्रकार यह जो सृष्टि है यह जिस सोनेसे बनी है, वह चेतनका सोना, उसको परख लो और तब इसको ग्रहण करो कि इसमें क्या अच्छा और क्या बुरा! और अपने दिलको कड़वा मत बनाओ। अगर कोई जानबूझकर भी तुम्हारे दिलको कड़वा करना चाहे, तो उसको बैरंग वापिस करो। वह तुम्हारे दिलको कड़वा नहीं कर सकता; क्योंकि उसके भीतर परमेश्वर बैठा हुआ है और उसने भी तुम्हारी भलाईके लिए ही, सहिष्णुता, समता बढ़ानेके लिए ही वहाँसे कुछ कर रहा है, वहाँसे कुछ बोल रहा है। हमारी नजर बिलकुल ठीक होनी चाहिए। तो,

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।

आओ सम बुद्धिकी बात सुनायें। किसमें ? कि सुहृद्—उपकार-अनपेक्ष्य, स्वभावतः उपकारी, सुहृद्। हमारे उपकारको देखे बिना कि हम उसका भला करते हैं कि नहीं और आगे हम उसका कुछ भला करेंगे कि नहीं, जो अपने हृदयकी पवित्रतासे हमारी भलाई करता है, उसका नाम है सुहृद्। *सुष्ठु हृत्। हृदयं अन्तःकरणं यस्य स सुहृत्* जिसका हृदय स्वभावसे ही सुष्ठु है, सुन्दर है, स्वभावसे भलाई करता है। और थोड़ा हमसे ज्यादा बड़प्पन भी है उसमें और हमारा मित्र है। जो हमारा उपकार करता है सो सुहृद् है। जिसका हम उपकार करते हैं, अरे भाई अपने मित्रकी भलाई तो सब करते हैं, मित्र उसको कहते हैं। एक आदमी आता है जिसको देखते ही हमारा दिल जलने लगता है और एक आदमी आता है जिसको देखते ही हमारा दिल पानी-पानी हो जाता है। हम देखते हैं कि किसको देखकर आदमीकी आँखमें मिठास आती है, किससे बात करते समय जुबानमें मिठास आती है, किससे बात करते समय कड़वाहट आती है। यह तो आप दिन भरमें दस-बीस बार अपने घरमें देखते होंगे! मित्र उसको कहते हैं जिसके दर्शनसे, जिसके भाषणसे, जिसके स्पर्शसे, जिसके स्मरणसे हमारे हृदयमें मक्खन तैयार हो जाये- *त्रिमिदा स्नेहने मेद्यति इति मित्रम्।* मित्र माने स्नेह उत्पन्न करनेवाला, हमारे दिलको घी-मक्खन, दूध-दही सरीखा मीठा-मीठा, नरम-नरम जो बना दे, उसका नाम मित्र। हमारे हृदयके स्नेहको जगानेवाला जो है, उसका नाम है मित्र। ऐसे कहो कि जो हमसे प्रेम कर रहा है वह सुहृद् है और जिसपर हम प्रेम कर रहे हैं वह मित्र है।

अब देखो, **अरि और द्वेष्य**। तो सुहृद् और मित्रको एक साथ रख दो। और अरि और द्वेष्यको एक साथ रख दो। जो हमसे दुश्मनी करता है सो अरि

और जिससे हम दुश्मनी कर बैठते हैं, उसका नाम द्वेष्य। ऐसे भी बोलते हैं कि जो छिपकर अनभल करता हो सो अरि और जो प्रत्यक्ष ही अपना अनभल करता हो सो द्वेष्य।

दो चीज और आगयी—**उदासीन** और **मध्यस्थ।** दो आदमी लड़ने लग गये और एकने उपेक्षा कर दी लड़ने दो सालोंको और चला गया, उसको बोलेंगे उदासीन। तो उदासीन उसको कहते हैं *उत्* माने ऊपर *आसीन* माने बैठा हुआ। जो ऊपर बैठा हुआ है उसका नाम *उदासीन* है, दो आदमी लड़ रहे है मुँह फेर लिया, उधरसे चले गये।

मैं एक बार इधर आया था, तो कोई दंगा-वंगा हो रहा था बम्बईमें। तो मैं देखता, सिंहानिया-बाड़ीमें ठहरा था, उधर नीचे दुकान की लूट होती थी और हम लोग ऊपर तीसरे मंजिलपर खड़े होकर देखते थे कि वे लूट रहे हैं और वहाँ पुलिसवाले खड़ें होते थे दूसरी ओर मुँह करके चुपचाप खड़े रहते। जब लूटनेवाले लूटकर चले जाते, तब वे मौजसे आकर पूछते क्या हुआ, कितना लुट गया, आदि-आदि। जबतक लुटेरे लूटते तबतक बिलकुल उदासीन। दोनोंमें-से जो किसीका पक्ष नहीं लेता वह उदासीन हो गया और **मध्यस्थ** उसको कहते हैं—दो आदमी लड़ रहे हों, जो बीचमें पड़कर झगड़े को तय करा दे, तो मध्यस्थ और उदासीन। अरि और द्वेष्य, सुहृत् और मित्र। और **बन्धु**—जन्मसे ही जो अपना हितैषी हो उसको बन्धु बोलते हैं।

अब यह सब बात तो हुई अलग, अब लें भाई, धर्मात्मा और पापी, बोले—तुम कोई ठेकेदार तो हो नहीं कि कौन धर्म करे और कौन पाप करे, सबको सुधारनेका तुमने कोई पट्टा लिया है, तुमको ईश्वरने कोई जज बनाकर भेजा है! अरे, अपना दिल ठीक रखो बाबा, अपनेको सुधारो। जब एक-एक अपनेको सुधारे, तो सब सुधर जायेंगे। और सब दूसरोंको सुधारने लग जायें तो कोई नहीं सुधरेगा। इसलिए—

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।

अपनी बुद्धिकी समता बनाये रखो, अपनेको मत बिगाड़ो और सब लोग अपने-अपनेको ठीक रखें तो सारी दुनिया ठीक।

: ६ :

सुहृन्मित्रार्युदासीन मध्यस्थ द्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

विशिष्यतेका अर्थ है विशिष्ट योगी वही है। एक तो शिष्ट हो, दूसरे विशिष्ट हो, कौन-सा योगी विशिष्ट है, यह बात बतायी। भगवान् श्रीकृष्ण समत्वको जितना महत्त्व देते हैं उतना सारी गीतामें किसी भी विषयको महत्त्व नहीं देते। देखो, अभी बात आयी कि 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' समता ही तो है! चाहे मिट्टीका डला है, पत्थर है, सोना है। यदि तुमको कुछ लेना-देना है, खाना पीना है, बेचना-खरीदना है, तो उससे प्रयोजन रखो। यदि तुम्हें आत्मयोग करना है या योगकी पराकाष्ठापर पहुँचना है, तो उनकी अच्छाई-बुराईसे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है?

अब, किसी भी दृष्टिसे वैषम्य नहीं है, जहाँ विषमता है वहाँ दृष्टिकोण ही नहीं है, अन्धापन है। ब्रह्म-दृष्टिसे सब अद्वय ब्रह्म है। तुम्हारी नजर कहाँ है, देखो! ईश्वर-दृष्टिसे सब ईश्वर है। तो सम हुआ कि नहीं! ब्रह्म-दृष्टिसे सब सम है, ईश्वर-दृष्टिसे सब सम है। अच्छा, सब माया है। तो सम है। सब प्रकृति है तो सम है। सब मिथ्या है तो सम है। सब पञ्चभूत है तो सम है। सब जीव-ही-जीव है तो भी सम है। असलमें समता ही मानसहित दृष्टि है। *मया मा प्रमा, तया सहितः समाः। मीयते अनया इति मा मानं। करणे क्लृप्त*। यही एक प्रमाण सहित वस्तु है जिसको सम बोलते हैं। और सब-का-सब निष्प्रमाण है। *मानं मा भावके से। प्रमा यथार्थ अनुभवः। तद्वति तद्प्रकार उद्भवः प्रभा*। *भावमें उत् प्रत्यय* है। यही यथार्थानुभूतिका साहित्य है कि हमारे मनमें समता है। जिसके मनमें समता नहीं है, उसको यथार्थ अनुभव नहीं है। ब्रह्मसे लेकर

पञ्चभूत तक सब में सम, बोले—हम स्त्री हैं, ये पुरुष हैं, आओ अधिकारके लिए लड़ाई करें। अरे, दोनों तो पञ्चभूतके पुतले हैं, उसमें कौन छोटा-बड़ा है, काहेका अधिकार है, काहे की लड़ाई है। खटमल है और हाथी है, जुँआ है और खटमल है, दोनों पञ्चभूतसे बने हैं। पञ्चभूत कहो, प्रकृति कहो, माया कहो, जीव कहो, ईश्वर कहो, ब्रह्म कहो, मिथ्या कहो, सत्य कहो, जो है सो एक ही है।

अब देखो, यह तो मैंने एक बात कह दी, गीताकी व्याख्या तो अभी शुरू करता हूँ—**समबुद्धिर्विशिष्यते**— *समा वैषम्यवर्जिता बुद्धिर्यस्य असौ समबुद्धि*। जिसकी बुद्धि सम, वैषम्य वर्जित है। असलमें जिसके हृदयमें श्री लक्ष्मी, जगज्जननी, जगदम्बा माँ निवास करती हैं वही सम है। जिसके हृदयमें वैषम्य है उसके हृदयमें तो अलक्ष्मीका निवास है। ज्येष्ठा भगवती, आप जानते हैं, लक्ष्मीजीकी बड़ी बहन ज्येष्ठा हैं—दरिद्रा हैं। जिसका हृदय सम नहीं है उसके हृदयमें दरिद्रता, दुर्गति, अलक्ष्मीका निवास है। सौन्दर्य उसीमें है जिसमें समता है। एक कान एक बित्ताका लम्बा हो और एक कान जरा छोटा हो, दोनों कान अगर सम नहीं होंगे तो सुन्दरता होगी? और एक आँख बड़ी-बड़ी हो, एक छोटी हो, एक साँपकी आँख हो और एक हरिणकी आँख हो तो कैसा बनेगा? बिल्लीकी आँख हो एक, ऐसे नहीं बनता है। एक होंठ पतला हो, एक मोटा हो, एक ओरके दाँत बड़े-बड़े हों निकले हुए, एक ओर छोटे-छोटे हों तो? असलमें समत्व (*मा माने शोभा*) कहाँ है, सौन्दर्य कहाँ है? जहाँ समत्व है वहीं सौन्दर्य है। दोनों कान बराबर, दोनों नासिकाके छिद्र बराबर, दोनों हाथ बराबर। एक हाथ बड़ा हो और एक छोटा हो, लो उसको तो लूला ही बोलते हैं। एक पाँव छोटा हो, एक पाँव बड़ा हो तो लँगड़ा ही तो हो गया न! एक आदमीने उपदेश लिखके भेजा कि देखो देखो ये जो पति-पत्नी हैं, ये दोनों गृहस्थ-रूपी रथके दो पहिए हैं, इनको समान रूपसे चलना चाहिए, तब गृहस्थी सुखी रहती है। इनमें भी समता चाहिए। तो पत्नीने जवाब दिया—सो तो ठीक है महाराज पर एक ट्रैक्टरका पहिया हो और एक साइकिलका पहिया हो तो दोनोंका कैसे जोड़ बैठेगा? समता चाहिए न दोनोंमें। दोनों पहिया एक सरीखें होने चाहिए।

तो समत्वमें ही सौन्दर्य है, समत्वमें ही लक्ष्मी है, सुख है, समत्वमें ही ज्ञान है, समत्व ही वास्ताविक जीवन है, क्योंकि,

निर्दोष हि समं ब्रह्म तस्मात् ब्रह्माणि ते स्थिता।

इहैव तैर्जितः सर्गः येषां साम्ये स्थितं मनः।

समता ब्रह्म है। वही निर्दोष है, क्योंकि राग-द्वेष रूप दोनों दोष उसमें नहीं हैं।

अब इसमें एक बात और है कि खुद तो राग-द्वेष न करे, पर जो लोग राग-द्वेष करते हों उनके बारेमें क्या करे, कि भाई ये राग-द्वेष करनेवाले हैं तो बहुत बुरे हैं और ये राग-द्वेष नहीं करनेवाले हैं वे बहुत अच्छे हैं, ऐसा ख्याल होगा न! माने दोषीके प्रति द्वेष होगा और रागीके प्रति राग होगा, गुण-बुद्धि होगी या राग-द्वेष रहित वैराग्यवान्‌के प्रति राग होगा बोले—यह भी नहीं बाबू! अगर अपने हृदयको निर्दोष और सम बनाना है तो वैराग्यवोन्‌से भी राग मत करो और राग-द्वेष करनेवालेसे भी राग-द्वेष मत करो, यह साधुओंकी बात है। यह पोथी में लिखी हुई जल्दी नहीं मिलेगी।

अच्छा तो ऐसा क्यों है, यह भी जल्दी मैं आपको सुनानेवाला हूँ। देखो **समलोष्टाश्मकाञ्चनः**। अब कोई शत्रु हो, मित्र हो तो क्या करें? गीतासे पूछ लो! यह जगज्जननी जगदम्बा है। कोई बात समझमें न आवे तो बच्चा अपनी माँसे पूछ लेता है। *अम्ब त्वां अनुसन्दधामि*-हे माँ गीते! मैं तेरा अनुसन्धान करता हूँ। यह मेरा दोस्त है और यह मेरा दुश्मन है, इनके साथ मैं कैसा व्यवहार करूँ? तो बोले—बाबा कोई दोस्त हो चाहे दुश्मन—**समः शत्रौ च मित्रे च** गीताने कहा कि बेटा, तुम तो दोनोंका भला करो! शत्रुका भी भला करो और मित्रका भी भला करो!

बच्चा दौड़ा हुआ आया कि माँ एक साथी गाली देकर भाग गया है, गीता मातासे जाकर पूछते हैं कि ***अम्ब त्वां अनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणी***—यह केवल संसार छुड़ाने वाली है और किसीको छोड़ानेवाली नहीं है। तुम्हारे मनमें जो भव है, जन्म-मरणका जो हेतु है, संसार है, उससे यह गीता माता तुम्हें छुड़ाती है। आज तो गर्मी पड़ रही है कि बेटा! कितनी बार गर्मी आती है और चली जाती है, कितनी बार सर्दी आती-जाती है, सम रहो।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः।

आज सुख आया, दुःख आया, कि समान हो जाओ। यह सुख-दुःख फल है। बोले-कर्मके प्रति भी समान हो जाओ।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

अच्छा, जातिके प्रति भी समान हो जाओ। **ब्राह्मणे गवि हस्तिनी, शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिनः** अच्छा, अच्छाई-बुराई करनेवालेके प्रति भी समान हो जाओ।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।

तो कर्ताके प्रति समान, कर्मके प्रति समान, जातिके प्रति समान, मानापमानके प्रति समान, शत्रु-मित्रके प्रति समान, प्राकृत शीतोष्ण सुख-दुःखके प्रति समान।

तो ऐसा क्यों? यह समता योगसे क्यों आती है?

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणी।

अरे ओ मेरी माँ, अम्बा शब्दमें-से अंका लोप हो गया तो 'बा' रह गया, इधर गुजरातमें 'बा' बोलते हैं न! मिर्जापुर, प्रतापगढ़की ओर अम्मा बोलते हैं। व्रजमें मैया बोलते हैं। भोजपुरीमें माई बोलते हैं। यह गीता हमारी माँ है। और यही हमारे साधक जीवनको परिपुष्ट करती है।

समबुद्धिर्विशिष्यते अब देखो! इसकी दूसरी पद्धति आपको सुनाते हैं, यह समबुद्धि क्यों है? कहते हैं कि जरा विचार तो करो कि किसी आदमीको देखकर, उसका एक रजिस्टर अपने दिलमें खोल लेना, यह पच्चीस बरस पहले ऐसा था, बीस बरस पहले ऐसा था, हिस्ट्रीशीट होती है पुलिसके दफ्तरमें, बदमाशोंकी हिस्ट्रीशीट होती है, ये जो आफिसमें काम करते हैं इनका एक अमलनामा होता है, इन्होंने कब-कब, क्या-क्या गल्ती की है, क्या-क्या अच्छाई की है, उसको देखकर अवनति या पदोन्नति की जाती है। तो आप यदि अपने मनमें मिलनेवालोंकी एक-एक हिस्ट्रीशीट अपने दिलमें खोलोगे, एक-एक रजिस्टर बनाओगे, कि इन्होंने ये पाप किया है, यह बुराई की है, यह ऐसा बदमाश है—शंकराचार्यने लिखा कि ***कः किं कर्म***—यह

कौन है *किं गोत्रः* इसका गोत्र क्या है, इसकी जाति क्या है और इसका क्या कर्म है; अगर तुम्हारी बुद्धि इस व्यापारमें लग जायेगी, तब हो चुका तुम्हारा योग। दूसरेके बारेमें पता मत लगाइये! दो आदमी एकान्तमें बैठ हों तो आड़में खड़े होकर उसको सुननेकी कोशिश मत करो! सम्भव है तुम्हारे ही बारेमें बात कर रहे हों और तुम्हारी अच्छाईकी बात एकान्तमें कर रहे होंगे तो सुनकर उनसे राग होगा कि ये हमारी तारीफ कर रहे हैं और तुम्हारी निन्दा कर रहे होंगे तो सुनके उनसे द्वेष होगा। अरे वे एकान्तमें बेचारे दो आदमी अपनी प्राइवेट बात, *व्यक्तिप्राय, प्रायोव्यक्ति* वे बात कर रहे हैं उसको सुनकर तुम अपना दिल क्यों बिगाड़ना चाहते हो? इसलिए *कः, किं गोत्रः, कीदृश् कर्मा,* ये सब व्यापार अपनी बुद्धिमें मत ले आओ कि कौन किस जातिमें पैदा हुआ, इसकी माँ कैसी थी, इसका बाप कैसा था, इसकी नानी नाना कैसे थे, थोड़े दिनोंके बाद साधारण व्यवहारमें भी भूल जाते हैं लोग।

आपको अभी पचास बरस पहलेकी बात सुनाता हूँ। हमलोग स्कूलमें जब जाते थे पढ़नेके लिए, तो हमलोगोंके लिए मनाही थी घरकी कि वह दरवाजेमें जो कुँआ पड़ता है और बैठक पड़ती है और वहाँ भले लोग बैठे रहते हैं, उनके दरवाजेपर जाकर कभी पानी मत पीना, कभी खाना मत! घरवालोंने हमलोगोंको मना कर रखा था। क्यों? बोले—उनकी एक दो पीढ़ी पहले कोई गन्दगी थी, जातिके बाहर किये गये थे। अभी पचास बरस नहीं हुए और अब उनके घरमें वहाँके जो अच्छे-अच्छे ब्राह्मण हैं, हमारे सम्बन्धी हैं, रिश्तेदार हैं अब उन सबके सम्बन्ध हो गये, किसीको मालूम ही नहीं है कि उनके घरमें कभी कोई गलती थी।

तो याद करके हम अपना ही दिमाग बिगाड़ते हैं। तो अपनी बुद्धिका व्यापार दूसरोंकी अच्छाई-बुराईके बारेमें न करके आत्मचिन्तनमें अपनी बुद्धिको व्यावृत करो—**साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।**

छोड़ दो, उनके बारेमें अपनी बुद्धिको ले मत जाओ! यह शंकराचार्य भगवान्‌का कहना है कि यदि तुम्हें अपनी बुद्धि शान्त करनी है, समाधिस्थ करनी है, आत्माकार करनी है, भगवदाकार करनी है, तो दूसरेके बारेमें ज्यादा जानकारी प्राप्त करके और सोचकर क्या करोगे?

महाराज, एक सास-ससुर थे, वे रातके समय जहाँ उनके बेटा-बहु सोते थे, दोनोंमें-से एक खिड़कीके पास कान लगाकर खड़ा हो जाता था कि हमारे बहु और बेटा आपसमें क्या बात कर रहे हैं और दूसरे दिन वह लड़ाई होती कि तुम लोग यह बात कर रहे थे! तो जिसको शौक हो कि हम अपना दिल खराब करें, वह संसारी आदमी ऐसा करे तो करे। जिसको परमात्माकी ओर चलना है, अपने हृदयको भगवत् प्रेमसे भरना है, अपने हृदयको समाहित करना है, उसको इसमें नहीं पड़ना चाहिए। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजका इस सम्बन्धमें यह अभिप्राय है—वे कहते हैं—

प्रयोजनाभावात् विरोधाभावाच्च।

जब तुम्हें अपने स्वरूपमें बैठना है, अपने स्वरूपको इस योग्य कर लेना है या देख लेना है कि यह भगवान्‌से मिलने योग्य है कि नहीं है। एक अपने प्रियतम पतिकी प्रेयसी पत्नी, अपने प्रियतमसे मिलनेके लिए शृंगार कर रही है, बाल सँवार रही है, बिन्दी लगा रही है, अपने कपड़े ठीक पहन रही है और सोच रही है कि हमारे प्रियतमको कौन-सी पोशाक पसन्द आती है और वह उस समय दौड़कर चली जाय कि हमारी पड़ोसिन आज क्या पोशाक पहन रही है और अपने प्यारेको वह कैसे प्रसन्न करती है तो इससे उसका क्या मतलब है कि उसका पति, उसका प्रियतम कैसे प्रसन्न होता है, हमें तो अपने प्रियतमकी प्रसन्नतासे मतलब है। तो *प्रयोजनाभावात्* दूसरी स्त्री अपने पतिको कैसे प्रसन्न कर रही है, किस पोशाकसे, किस शृङ्गारसे, इससे क्या तुम्हारा प्रयोजन है?

अच्छा, और विरोध भी नहीं करना है, खण्डन भी नहीं करना है, क्योंकि जो खण्डन-मण्डनमें लग जायेगा उसकी जो अकल, उसकी जो आकलन शक्ति है, वह तो दूसरेको नीचा दिखानेमें तत्पर हो जायेगी कि हम कैसे इसको पराजित करें। वह अपने स्वरूपके शृङ्गारमें, दोषापनयनमें, गुणाधानमें, अपने स्वरूपके साक्षात्कारमें कैसे लगेगी? कि हम अपनेको सजाकर, सँवारकर अपने प्रियतमकी ओर अभिसार करें!

श्रीरामानुजाचार्यका अभिप्राय तो यह है, कि जब आदमीको अपने स्वरूपका साक्षात्कार होता है, पहले स्वरूपका साक्षात्कार होता है। आत्मा कैसा है? कि आत्मा देहादिसे विलक्षण है, आत्मा सत् है, चित् है, आनन्द है,

आत्मा परमात्माका अंश है। परमात्माका नियम्य है। परमात्माके आश्रित है। परमात्माका भोग्य है।

अच्छा, मैं परमात्माका भोग्य हूँ, अंश हूँ, आश्रित हूँ, तो चलो वैसा ही होकर मैं परमात्मासे चलकर मिलूँ! परतत्त्वका साक्षात्कार तब होता है जब पहले आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो लेता है। यदि ये आत्मदेव किसीके साथ वैर-विरोधमें लग जायेंगे तो चिड़िया ही पकड़ते रह जायेंगे। विरोध माने चिड़िया पकड़ना, चिड़िया पकड़नेमें जिन्दगी ही खत्म हो जायेगी।

'वि' नाम पक्षिणां रोधः— विरोधः। चिड़िया पकड़ना। बस जिन्दगी भर चिड़िया पकड़ना। एक किसान हल जोतता था दिनभर, साल-छह महीनेमें खाने-पीने भरका अन्न निकल आता था। उसमें घरका काम अच्छी तरह चल रहा था। एक दिन दोपहरके समय भूख लगी तो जरा हल जोतना बन्द करके पेड़ोंकी छायामें गया, थोड़ा आराम मिला, तो सोचा जरा ठण्डेमें घूम आयें। इधर-उधर घूमने लगा तो एक बड़ी-सी कोई चिड़िया आयी उसके शरीरके साथ टकरा गयी, तो उसने पकड़ लिया। और बाजारमें ले जाकर बेचा। तो बीस-पच्चीस रुपयेमें वह चिड़िया बिक गयी। उसने कहा—अरे राम, मैं दिन भर हल जोतता हूँ तो एक चवन्नी मिलती है और जरा-सी चिड़िया टकराई तो पच्चीस रुपया मिल गया, तो अब तो बस मैं जंगलमें घूमूँगा और जब चिड़िया टकरायेगी तो बेच-बेचकर उसीसे काम चलाऊँगा। अब वह जिन्दगी भर घूमता रहा, कोई चिड़िया नहीं टकरायी, घरकी खेती खराब हुई, बाल-बच्चे भूखे मरने लगे। ऐसे चिड़िया पकड़नेमें अपनी जिन्दगीको नहीं लगाना, उनसे दुश्मनी की, उनसे दोस्ती की, उनके पीछे चले, उनके पीछे पड़े, उनको नीचा दिखाने लगे, इस तरहसे अपनी जिन्दगी खराब नहीं करनी चाहिए। जिन्दगीको उस वस्तुके साक्षात्कारमें लगाना चाहिए-न ***चेदिहावेदी महती विनष्टिः***, अपने स्वरूपको समझना चाहिए। मैं कौन हूँ? मैं किसका हूँ? संसारी भेद-भावसे अपना कोई प्रयोजन नहीं है और विरोधसे समाधि सिद्ध नहीं होती। इसलिए जब किसीसे वैर-विरोध करना नहीं और किसीसे कुछ देना-लेना नहीं; किसीसे कुछ लेना-देना हो, तो मैत्री जोड़ी जाये और किसीको नीचा दिखाना हो तो वैर-विरोध किया जाये, जब दोनों हमको नहीं करना है, अपने ही रास्तेसे हमको चलना है तो **समबुद्धिर्विशिष्यते**।

तेरे भावे जो करो भलो बुरो संसार। सड़कपर कौन-कौन चल रहा है, किसीको बुलाकर अपने घरमें रोकना नहीं है और किसीको भगाना नहीं है डण्डा लेकर, तो सड़कपर चाहे कोई चले, चलता रहे, उससे क्या मतलब है, *योजनाभावात् विरोधाभावात् समबुद्धिर्विशिष्यते।*

श्रीमध्वाचार्यजी महाराजका इस सम्बन्धमें यह अभिप्राय है कि ये सब-के-सब जो आत्मा हैं ये चेतनरूप ही हैं। माने आगकी चिनगारी सब चिनगारी हैं, बड़ी लकड़ीमें चिनगारी लग गयी तो बड़ी आग जलने लग गयी और छोटी लकड़ीमें आग लगी तो छोटी आग जलने लगी; लेकिन जो चिनगारी है, चेतनांश जो है वह तो सबमें एक ही है और वह सत्य आनन्दस्वरूप है। तो आत्मकृत जो समबुद्धित्व है, यह जो उसमें साधुत्व है, वह अन्तःकरणकृत है और जो पापत्व है, *'पापं अस्ति अस्य इति पापः।'* यह *मत्वर्थी अच् प्रत्यय* करके *पाप* शब्द बनाया है, *पापपापेषु। साधुकर्मसु पापेषु पाप कर्मसु च। पाप कर्तृषु, साधुकर्तृषु। साधुष्वपि च पापेषु*—पुण्य कर्तृषु *पाप* यह जो *पाप-कर्तृत्व* और *पुण्य-कर्तृत्व* है इसके बारेमें क्या करना चाहिए? तो बोले—चेतन तो सबमें एक और वह परमात्माका अंश है—ऐसा देखना चाहिए। चेतनकी चिनगारी देखो। सबके भीतर एक। किसीके अन्तःकरणमें पाप-वासना है और किसीके पुण्य-वासना है और किसीका कर्म पुण्य है और किसीका कर्म पाप है। तो बोले—भाई इसमें समत्व कैसे देखें? चिनगारी-चिनगारी तो ठीक है, सब सम है—यह देखो, मध्वाचार्यका अभिप्राय है। तो बोले कि देखो सबके अन्तःकरणका जो मसाला है वह ईश्वर ही बना हुआ है, जिस मृत्तिकासे, मैटरसे, मसालेसे अन्तःकरण बनता है, उसमें कर्मकृत जो संस्कार है, उनसे वासना होती है और वह पाप-वासना और पुण्य-वासना होती है। मैटर तो बिलकुल ईश्वर है। अच्छा, चलो ठीक है, यह मृत्तिका जो है, यह तो सबके अन्तःकरणमें ईश्वर है। तो बोले फिर कहीं पाप वासना, कहीं पुण्य वासना, कभी पाप कर्म, कभी पुण्य कर्म, यह क्या है? अब देखो, भक्तोंकी दृष्टि आपको सुनायें, हृदय गदगद् हो जाता है जब उनकी नजरसे देखते हैं। बोले—इसमें कोई जीव स्वतन्त्र कर्ता नहीं है और न तो कोई जीव स्वतन्त्र भोक्ता है। सब-के-सब जीव ईश्वर पराधीन हैं और सबके अन्तः-करणादि पदार्थके रूपमें ईश्वर ही प्रकट हो रहा है, तब एकमें पाप क्यों, एकमें

पुण्य क्यों ? बोले—ईश्वर जिसको चाहता है कि आकर हमसे जल्दी मिल जाये, उसके हृदयमें वही पुण्य-वासनाको अभिव्यक्ति देता है और जिसके बारेमें सोचता है कि अभी यह थोड़ी देरतक संसारका मजा ले, उसके हृदयमें वही पापवासनाको अभिव्यक्त करता है। जैसे एक ही माँ एक बच्चेको गोदमें लेकर दूध पिलाना चाहती हो और एक बच्चेसे कहे कि बेटा थोड़ी देर खेल आओ। तो जिसको खेलने के लिए माँ भेज रही है, उसमें समझो कि पाप-वासनाका उदय हो गया और जिसको अपने हृदयसे तुरन्त लगाकर दूध पिलाना चाहती है, उसमें पुण्य-वासनाका उदय हो गया, इसमें भी जीवका कोई दोष नहीं है, ईश्वर ही,

स एव साधु कर्म कारयति यन्नुन्मीष्यते।
स एव साधु कर्म कारयति यं अधोनिमीषते॥

इस श्रुतिके अनुसार महाराज कौशीतकी ब्राह्मण है। सो मध्वाचार्यने कहा कि तो उनमें भी कोई दोष नहीं है। बोले—तब तो हम सबके साथ सबका ही आदर करें। कि नहीं, एक बात है, तुमको ईश्वर अपनी ओर बुला रहा है, तो तुम भगवद्भक्तका आदर ज्यादा करो, तब तुम्हारे हृदयमें भगवद्भक्ति आ जायेगी और तुम जो लोग बुरे काममें लगे हुए हैं, उनका आदर करने मत जाओ। लेकिन द्वेष किसीसे मत करो, बुराई, किसीसे मत करो।

रक्षत रक्षत कोषानामपि कोशं हृदयं
यस्मिन् सुरक्षिते सर्वं सुरक्षितं स्यात्।

तो बोले—देखो, व्यवहार भले तुम संसारका गुणानुसार करो, पर अपने अन्तःकरणमें सबके अन्दर जो अन्तर्यामी परमेश्वर है सो एक, सबके हृदयमें जो जीव है सो एक, सबके अन्तःकरणमें जो अन्तःकरणका मसाला है सो एक और जिसको-जिसको ईश्वर अपनी ओर बुला रहा है कि आओ-आओ हमारी गोदमें छिप जाओ, किसीको ऐसा इशारा कर रहा है और किसीको कह रहा है कि थोड़ा अभी चर्खीपर घूमकरके ऊपर-नीचे होओ बेटा, खेल करो! लेकिन है सब ईश्वरका ही खेल, इसमें राग-द्वेष करनेकी कोई जरूरत नहीं है। बोले—तब यह बात सबकी समझमें क्यों नहीं आती ? तो बोले-सबके समझनेके लिए यह है ही नहीं। श्रीरामानुजाचार्यके टीकाकार हमारे वेदान्तदेशिकजी महाराज, जो बड़े भारी विद्वान् हुए हैं, उनको

घण्टावतार बोलते हैं। भगवान्का घण्टा भी चेतन होता है, वैकुण्ठमें जो घण्टा लगा हुआ है, भगवान्के यहाँ बजानेके लिए, आरतिके समय, वह नाद ब्रह्मका निवास उस घण्टेमें है। जो वैकुण्ठमें भगवान्के दरबारमें बजता है, वही वेदान्त देशिकाचार्यके रूपमें प्रकट हुआ है। वे कहते हैं कि फिर यह क्या सब ऐसा ही करें? तो बोलते हैं कि नहीं, सब नहीं यह **समबुद्धिर्विशिष्यते**—विशिष्ट योगीके लिए यह उपदेश है। योगकी प्रथम कक्षामें नहीं, जो योगकी अन्तिम कक्षामें पहुँच रहे हैं और समाधि लगने ही वाली है, उनकी ऐसी स्थिति होती है। जबतक ऐसी स्थिति नहीं होगी, तबतक न स्वरूपावस्थान होगा, न समाधि लगेगी और न भगवान्से मिलन होगा।

अच्छा, यह स्थिति प्राप्त करनेके लिए हमको करना क्या चाहिए? तो आपको पहले कभी सुनाया था कि आप कभी यह मत सोचना कि हमारे लिए दूसरा कोई कर लेगा। आपके लिए कोई भोजन करके नहीं आ सकता। भगवान्की पूजा करना हो तो कह देंगे, पंडितजी आज हमारे लिए कर लो, बेटी, आज तू पूजा तो कर ले! और स्वयं? कि आज जरा सबेरे उठनेमें आलस्य है, रातको बहुत देरतक जगे थे, किताब-इताब पढ़ रहे थे, चाहे ताश ही खेल रहे थे, तो आज जरा उठनेमें आलस्य है। तो भगवान्की पूजा तो बेटी कर लेगी, बहू कर लेगी, बेटा कर लेगा, पण्डित कर लेगा, लेकिन महाराज खानेके लिए, कि आज तू मेरे बदले चाय पी ले, यह तो नहीं करेंगे, चाय पीनेके लिए तो वक्त निकालेंगे। तो ये जो कम्बख्त लोग हैं, स्वामी प्रेमपुरीजी ऐसा ही बोलते थे, कमबख्त शब्दका अर्थ होता है आभागे। बख्त माने भाग्य। तो ये जो अभागे लोग हैं कम्बख्त लोग हैं, वे ही कम वक्त भी हैं, उनके पास समय ही नहीं है। अच्छा, टट्टी धोनेके लिए किसी दूसरेको भेज दो, पन्द्रह-बीस मिनट जाकर वहाँ बैठेंगे, घण्टे भर बाथरूममें बैठकर हाथ-पाँव मलेंगे, उसके लिए सब समय निकलेगा, पर भगवान्के भजनके लिए नहीं निकलेगा। कहते हैं आजकल समय नहीं मिलता है, जब बीमारी आती है बिलकुल समय मिल जाता है, जिस दिन मौत आती है, सब समय मिल जाता है, सोनेके लिए समय मिलता है, ताश खेलनेके लिए समय मिलता है, भगवानके भजनके लिए समय नहीं, तो तुम्हारे लिए दूसरा कोई नहीं करेगा।

एक हम बड़े प्रभावशाली महात्माके पास गये थे, उन्होंने पूछा—क्या चाहते हो? तो हम ऐसे नहीं गये थे, जैसे हम आप लोगोंके पास आते हैं कि हे भक्तराजो, बैठो बड़े प्रेमसे हमारी कथा सुनो, आप सब लोग तो धर्मालंकार, धर्मधुरीण भक्तराज है, अनुग्रह करके हम जो बोलते हैं सो सुनो ऐसे नहीं, हम सौ मील पैदल चलकर गये थे और हमारे पास पैसे-वैसे नहीं थे। एक-एक, दो-दो पैसेका चिवड़ा खाकर, क्योंकि दूसरेकी बनायी रोटी भी नहीं खा सकते थे, चिवड़ा लेकर पानीमें मिला लिया, नमक मिला दिया उसमें, वह चावल की तरह हो जाता था, उसको खा लिया, कभी दहीमें डाल लिया, कभी थोड़ा गुड़ मिलाकर खा लिया, ऐसे सौ मील चलकर पैदल गये थे सायंकाल उनके पास पहुँचे, उन्होंने पूछा-क्या चाहते हो? काहेके लिए आये हो? मैंने कहा—हम चाहते हैं भजन हो अच्छा—

उमा राम सुभाव जेहि जाना, ताहि भजन तजि भाव न आना।

दो-तीन बार बोले, जो भगवानके कोमल शील स्वभावको जानता है, उसको भजनके सिवाय और कुछ अच्छा नहीं लगता और उनकी आँखसे झर-झर-झर आँसू निकलने लगे। बोले अच्छा जाओ, भजन होगा। अब मेरे मुँहसे वहीं भगवान्का नाम बराबर निकलना शुरू हुआ। एक दिन हो गया, दो दिन हो गया, भगवान्का नाम निकलता जाये, निकलता जाये, फिर बन्द हो गया। तो मैं फिर गया और कहा कि महाराज, बन्द हो गया। तो बोले—अब तुम करो। वह तो तुम्हारी जीभपर हमारा संकल्प बोल रहा था, अब तुम अपने संकल्पसे करो। तुम्हारे लिए हम कबतक अपना संकल्प रख सकते हैं। मनुष्यको अपने लिए साधन स्वयं करना पड़ता है, किसी दूसरेके लिए कोई दूसरा नहीं कर सकता और यह साधन-भजन प्रारब्धसे नहीं होता, तुम्हारे लिए ईश्वर भी नहीं करेगा, जब तुम करोगे, जब ईश्वरकी ओर मुँह करके तुम खड़े होओगे, तो तुम एक कदम चलो, वह तुम्हारी ओर सौ कदम चलकर तुमको छातीसे लगा लेगा। तो कुछ अपनी ओर से करो। यह गीता पौरुषका ग्रन्थ है, अपनी ओरसे कुछ करना पड़ेगा। तो इसमें सबसे ज्यादा करना क्या है? कि तुम्हारा आपा कहीं पीछे छूट गया है, आश्चर्य है! क्या तुम अपने आपेको तिजोरीमें बन्द करके आये हो? नहीं। कि आलेमें रखके आये हो? कि नहीं। सिनेमामें छोड़के आये हो? कि

नहीं, लेकिन सचमुच तुम संसारके विषयोंमें इतने अधिक आगे बढ़ गये हो कि अब तुम्हारा अपना आपा ही छूट गया—

जेहि आतम आतम तिरियो गरिगो गरिमा ग्राम।
भूल्यो मैं अपनोपनो करि करि कज्जल काम।
तेहि हित हृदय हिलोर, गति बह्यो झमकि झकझोर।

तो *'जेहि आतम'* जिस अन्धकारसे *'आतम तिरियो'* अपना आपा ही ठगा गया, जब अपने आपको ही हमने अज्ञानान्धकारमें ठगा दिया, मालूम नहीं मैं कौन, कहाँ रह गया, मैं तो देह, देहके सम्बन्धी मेरे सम्बन्धी, संसारकी वस्तुएँ मेरी वस्तुएँ, इनसे राग, इनसे द्वेष, इनसे मोहब्बत, जब अपने आपको ही तुमने छोड़ दिया, ठगा दिया और भुला दिया, तो परमेश्वर छूट जाये, समाधि छूट जाये, गुरु छूट जाये, धर्म छूट जाये, शास्त्र छूट जाये, इसमें क्या आश्चर्य है। जिसको अपने आपका ही ख्याल नहीं है, वह और क्या करेगा? तो बोले—देखो हम तुम्हें बताते हैं, पहला धर्म यह है कि अपने आपके साथ मिलो जरा, दूसरेके साथ पीछे मिलना, जरा शीशेमें अपने आपकी शक्ल देखो, तुम कैसे हो गये हो। नारदजी! तुम वानर हो गये हो। लेकिन तुम अपनेको बड़ा सुन्दर समझते हो। अपनी शक्ल जरा शीशेमें देखो, आये हो राजकुमारीसे ब्याह करनेके लिए, जरा अपनी शक्ल तो देखो! तुम तो बन्दर बन गये हो, नर नहीं रहे, वानर हो गये। पशु हो गये जो वनमें रहे सो वानर, *वानम् राति।* वानस्पत्य पदार्थोंपर ही अपना जीवन व्यतीत करता है। नारदजी तुम ब्याह करना चाहते हो, श्रीनिवासकी अर्द्धांगिनी भगवती लक्ष्मीके साथ और मुँह ऐसा, जरा देखो तो शीशामें, अपने आपको तो देखो तुम कैसे हो! यही शक्लसूरत! मुसलमानोंमें बोलते हैं—'मियां, मुँह ऐसा और मसूरकी दाल!' चाहते हो परमात्मासे मिलना और अपने कुल, गोत्र, जाति, स्वरूप, सौन्दर्य-माधुर्य कुछका ज्ञान नहीं। तो शीशा कहाँ मिलेगा देखनेको, जरा चलकर एकान्तमें अपनी जाँच-पड़ताल करो।

: १०-११ :

योगी युञ्जीत सततं आत्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

धनके बारेमें घण्टों सोचते हो। मकानके बारेमें घण्टों सोचते हो। स्त्री–पुत्रके बारेमें घण्टों सोचते हो। अपने बारेमें भी सोचनेके लिए थोड़ा–सा समय निकालो। अपना आपा इतना उपेक्षणीय नहीं है। तुमने सबकी अपेक्षा की,

परन्तु अपनी उपेक्षा कर दी। जरा तुम्हारे हाथमें कालिख लगी होगी। हम लोगोंको बचपनमें यह बात हमारे बाबाने हमको बतायी थी, हमको याद है। कह दिया लोटा माँजो, गिलास माँजो! अब महाराज माँज लिया। माँजकर जब धोने लगे तो साफ ही न हो। एकबार, दो बार, हरबार धोया। उसमें माटी लगी हुई। तो बोले—देखो पहले अपना हाथ धो लो, उसके बाद लोटा धोवो, तब लोटा साफ होगा। और जबतक अपने हाथमें माटी लगी रहेगी और लोटा धोओगे, तो लोटेमें हरबार वह हाथवाली माटी लग जायेगी। देहातमें तो लोटा लेकर जाते थे बाहर दिशा करने जाते थे। तो अपने हाथ माँजना, हाथ मटियाना पड़ता था। सत्रहबार कैसे हाथ माजना, दसबार कैसे माँजना, सातबार कैसे माँजना, कितनी बार कुल्ला करना, कितनी बार पाँव धोना, वह सब हम लोगोंके घरके सदाचारमें, शिष्टाचारमें सिखाया हुआ था। तो देखो, अपना हाथ साफ होगा तब हम बर्तनको साफ कर सकेंगे। यदि हम अपनेको स्वच्छ निर्मल कर लेंगे तब हम अपने पास-पड़ोसको भी स्वच्छ निर्मलकर सकते हैं और निर्मल परमात्मासे मिल भी सकते हैं। इसलिए अपनेको गन्दगीमें-से निकालना जरूरी है। पहले अपने आपसे मिलो!

मैंने एक कथा पढ़ी थी पहले। एक सज्जन थे विदेशी। वे सबेरे होटलमें चाय पीने गये। मेज-कुर्सी लगी हुई थी दासी फर्श साफ कर रही थी। बाल्टीमें रखकर कपड़ेसे फर्शको पोंछती और फिर कपड़ेके पानीको बाल्टीमें निचोड़ देती। वे गये तो देखा मार्बलका जो मेज था, वह साफ नहीं था। उन्होंने कहा—इसको साफ कर दो, मैं बैठ जाता हूँ। अब वह दासी वही कपड़ा वही, पोतना लेकर जिससे फर्श साफ कर रही थी, आकर मेजपर लगा दिया। पोंछ दिया। तो जितनी बार पोंछे, उसमें गन्दी-गन्दी लकीरे खिंच जायें एकबार, दोबार, तीनबार। तो उन्होंने कहा—भले-मानुस पहले इस कपड़ेको धोले, साफ करले, फिर मेज साफ कर तो मेज साफ हो जायेगा। तो वह हँसने लगी। बोली-तुम भी तो लोगोंको बहुत सुधारने जाते हो। जरा पहले अपने आपको साफ करलो। गन्दा दिल लेकर जाओगे तो दूसरोंको गन्दा करोगे, दूसरे साफ नहीं होंगे, पहले अपनेको तो साफ कर लो और फिर जाकर उसने साफ कर दिया।

तो कहनेका अभिप्राय यह है कि पहले आत्म-निरीक्षण, आत्मदृष्टि होनी चाहिए। तो आत्मा माने यह मत समझना कि कोई सच्चिदानन्द सातवें आसमानमें रहता होगा। उसका नाम आत्मा। आत्मा माने तुम स्वयं। तो **आत्मानं युञ्जीत** का अर्थ है—अपने आपसे मिलो। क्या हम अपने आपसे बिछुड़े हुए हैं ? कि नहीं दूसरेसे मिले हुए हो। यह दूसरेसे जो मिले हुए हो। वहाँसे अपनेको अलग करो। यही अपने आपसे मिलना है।

योगी युञ्जीत सततं आत्मानं,

प्रतिदिन थोड़ा समय अपनेसे मिलनेका निकालो। दूसरोंसे तो बहुत मिलते हो। ज़रा अपने आपसे भी थोड़ी देर मिलो। कैसे मिलें ? कि **रहसि स्थितः** इसके लिए एकान्तमें मिलना रहस्यमें स्थित होकर, कहाँ मिलते हैं ? कि 'रहसि' एकान्तमें मिलते हैं, 'रह'में 'हरः' है, उल्टा होकर छिपा हुआ है। यह महाराज हर है। हरि है, ह्रीं है, शाक्तोंका ह्रीं है, मुसलमानोंका रहीम है, वैष्णवोंका हरि, शैवोंका हर यह एक ही चीज है। ये सब कहाँ मिलेंगे ? यह दो ही तो अक्षर हैं इसमें र और ह और ये 'रहसि'में मिलेंगे। 'रहसि' माने एकान्त। दूसरोंको, सबको अलग कर दो, जो तुम्हारे भीतर बैठा है, वह प्रकट हो जायेगा। भक्ति भी ऐसे नहीं प्रगट होगी। भक्तिके लिए आलम्बन चाहिए। वह हो चलता-फिरता, हिलता, बोलता, डोलता, हँसता, खेलता, नाचता, प्रेम भरी नजरसे देखता, मुस्कुराता, जिसके दाँत चमक जायें, जिसके कपोल चमक जायें। यदि आलम्बन, सहारा लेना है तो जीवन्तका, जाग्रत्का सहारा लो और यदि निरालम्ब होना है बिना सहाराके तो दूसरोंको बिलकुल छोड़कर अलग हो जाओ— **रहसि स्थितः** एकान्तमें बैठो, बैठकर अपने आपसे मिलो, सोकर नहीं, चलकर नहीं।

एकाकी यतचित्तात्मा आसीन सम्भवात्।

व्यास भगवान् कहते हैं, बैठकर मिलो अपने आपसे। अपने आपसे मिलना माने दूसरेसे थोड़ी देरतक मत मिलो ! किसी दूसरेसे मत मिलो। क्या तुम्हारे चित्तकी स्थिति ऐसी है कि किसी-न-किसीसे मिले बिना तुम थोड़ी देर भी नहीं रह सकते ? पाँच मिनट भी तुम दूसरेसे मिले बिना नहीं रह सकते ? हे भगवान् !

एकाकी—दूसरेको मददके लिए मत रखना। **यतचित्तात्मा**—अपने देह, मन, इन्द्रियको भी काबूमें कर लेना और **निराशी**—आगेके लिए कोई आशा मत रखना, और **अपरिग्रहः** एक सज्जन थे झूसीमें, साठ रुपया महीना पेंशन उन दिनों उनको मिलती थी, यह बात सन् ३४-३५ की मैं आपको सुना रहा हूँ। मैं वहाँ रहता था। त्रिवेणीके किनारे सात-आठ महीने रहा। हमारे भी बाल बढ़े हुए थे खोक्टी—खादीका कपड़ा एक ओढ़ता था। वहाँ वे सज्जन भी रहते थे। बड़ा धर्म किया था उन्होंने, एक दण्डी बाड़ा बनवा दिया था और स्वयं बेचारे ऊपर कपड़ा नहीं पहनते थे, गंगा स्नान करते, सन्ध्या-वन्दन करते, ब्राह्मण थे। पर उनके जीवनमें कोई साधनका फल नहीं था। रूक्षता बहुत अधिक थी। उड़िया बाबाजीसे मैंने पूछा कि महाराज, ये तो धर्म भी बहुत करते हैं, सन्ध्या-वन्दन करते हैं, होम करते हैं, जप करते हैं। इनके अन्दर क्या दोष है कि साधना फलवती, रसवती, पुष्पवती नहीं हो रही है। इनके जीवनमें ? तो बाबा बोले—यह जो अपने पेन्शनका पैसा खाता है कि हमारी कमाईके साठ रुपये महीने आते हैं और वह मैं खाता हूँ। और ये बाबाजी लोग माँग-माँगकर दूसरेकी कमाई खाते हैं। साधुओंके प्रति दोष-दृष्टि है और अपने भोजनमें अपनी कमाई होनेका अभिमान है। इस अभिमानके कारण इसमें रूक्षताका उदय हो गया है। सरसताका उदय नहीं होता है। वह जो साठ रुपये महीनेका परिग्रह है, वह अभिमानमें अपनेको बड़ा कर देता है—**अपरिग्रह**। क्या दोनों हाथ उठाकर ईश्वरपर हम अपने आपको नहीं छोड़ सकते ? हमारे जीवनमें जिस दिन ऐसा प्रसंग आया है कि हमारे साथ कोई आदमी नहीं है। हमारे पास भोजन नहीं है। पैसा नहीं है। कपड़ा नहीं है। उसदिन महाराज, ईश्वरने हमारी ऐसी सेवा की है। शिष्यसे भी ज्यादा सेवा की है। भक्तसे भी ज्यादा सेवा की है, सेठसे भी ज्यादा सेवा की है। उस दिन जैसा बढ़िया भोजन, जैसा बढ़िया आराम ईश्वरने लाकर सामने दिया है। वैसा क्या मिलेगा! जब हम ईश्वरपर भरोसा नहीं करते हैं। तो इन दुनियादार लोगोंके भरोसेपर दीन-हीन कंगाल होकर गिरना पड़ता है।

आओ, आप जरा अपरिग्रहको देखो। आशा मत रखो और परिग्रह

मत रखो और मददगार आदमी मत रखो। अपने मन-इन्द्रिय और शरीरको काबूमें करो और एकान्तमें बैठ जाओ और दूसरेसे मत मिलो, अपने आपसे मिलो और देखो फिर वहाँ मजा—**समबुद्धिर्विशिष्यते**। ऐसी स्थिति होगी तुम्हारी कि उस दिन तुम्हारे उस एकान्त हृदयमें परमात्माका प्रकाश होगा!

शक्ल-सूरतपर नजर जानेसे जो अपनी वासना संस्कारके अनुसार हुआ, अनुकूल हुआ, उसके प्रति रागका उदय होता है और जो प्रतिकूल हुआ उसके प्रति द्वेष हुआ। पर यह जो शक्ल-सूरतपर, कर्मपर, भोगपर, नजर है यह तो बहुत उथली नजर है। सच्ची नजर तो तब पैदा होने लगती है जब शक्ल-सूरतको छोड़कर जो तत्त्व है उसपर दृष्टि जाती है। जैसे यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह क़ाला है, यह गोरा है, यह धनी है, यह गरीब है दृष्टि—जबतक इसपर रहेगी तबतक राग-द्वेष नहीं मिट सकता। लेकिन जहाँ यह दृष्टि आयी कि सब पञ्चभूतमें बने हुए, जैसे सोनेमें बने हुए, जैसे मिट्टीमें बने हुए गधेकी, घोड़ेकी, हाथीकी, गायकी, मनुष्यकी शक्ल होती है। उसपर जहाँ नजर जायेगी तब हृदयसे राग-द्वेष मिटने लगेगा। इसीसे कहते हैं नामरूपके आरोपसे विनिर्मुक्त जो तत्त्व है उसपर दृष्टि जानेके लिए, विशेषपरसे दृष्टि हटानी पड़ती है। और राग-द्वेष जबतक अन्तःकरणमें रहेगा, तबतक कोई सुखी नहीं हो सकता, न उसको शान्ति मिल सकती। बेचैनी जितनी है वह सब राग-द्वेषमें ही है। राग-द्वेषका जो स्थूल रूप है उसको काम-क्रोध कहते हैं और जो सूक्ष्म रूप है, उसको अहं बोलते हैं और उसका भी जो मूल कारण है उसको भ्रान्ति बोलते हैं। अविद्या बोलते हैं। लेकिन राग-द्वेषकी निवृत्ति तो जबतक तत्त्वपर दृष्टि नहीं जायेगी, होगी नहीं। ऐसा भी है क़ि जैसे चाण्डाल और ब्राह्मणके प्रति जो राग-द्वेष है, हम व्यवहारकी बात नहीं कर रहे हैं; राग-द्वेषकी बात कर रहे हैं। अन्तःकरणमें जो घृणा है, जो राग है, जो द्वेष है, वह भी जब देखेंगे कि दोनोंमें मनुष्यत्व एक है, जीवत्व एक है, पञ्चभूत एक है, तो वह राग-द्वेष भी मिटेगा। अच्छा तो पञ्चभूतपर दृष्टि जाये तो? प्रकृतिपर दृष्टि जाये तो? माया-अविद्यापर दृष्टि जाये तो? ईश्वरपर दृष्टि जाये तो? आत्मापर दृष्टि जाये तो? ब्रह्मपर दृष्टि जाये तो? तत्त्वावगाहिनी दृष्टि होनेपर हमारे अन्तःकरणमें जो बेचैनी है वह मिटेगी समबुद्धिर्विशिष्यते—

सुहृन्मित्रार्युदासीन मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

तो कल आपको सुनाया था—

समलोष्टाश्मकाञ्चनः—द्रव्यमें समता,

समाशत्रो च मित्रे च—शत्रु, मित्रमें समता,

तथा मानापमानयोः—मानापमानमें समता

शीतोष्ण-सुख दुःखेषु—सर्दी-गर्मी, सुख-दुःखमें समता,

ब्राह्मणे गवि हस्तिनी शुनि चैव श्वपाके च, वहाँ समता। यहाँ प्रसंग किसीके बड़प्पन या छोटेपनका प्रतिपादन करनेके लिए नहीं है। व्यवहारमें गुणकी पूजा होती है। दुःखीके प्रति दया आती है। सुखीसे प्रेम होता है, पुण्यात्माको देखकर प्रसन्नता होती है। तो वह बात दूसरी है; परन्तु बुद्धिको राग-द्वेषसे लेकर समतामें ले जाना वह बात दूसरी है। तो यह हमारे अन्तःकरणके निर्माणके लिए हमको अशान्तिमेंसे निकालकर शान्तिमें स्थापित करनेके लिए, राग-द्वेषसे निकालकर वैराग्यमें स्थापित करनेके लिए, विक्षेपसे निकालकर समाधिमें स्थापित करनेके लिए, प्रपञ्चसे निकालकर ईश्वरमें स्थापित करनेके लिए, अनात्मासे निकालकर स्वरूपमें प्रतिष्ठित करनेके लिए और भेदका नितान्त बाध करके अभेद बोधके लिए यह आवश्यक है कि हमारे अन्तःकरणमें समता जाग्रत् होवे, समूचे छठे अध्यायमें—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।

अर्जुनका यही कहना है कि तुमने हमें साम्ययोगका उपदेश किया है।

मैं सुना रहा था जीना और मरना, और जीवनमें खाना भी है, पाखाना भी है। ग्रहण भी है, त्याग भी है, जवानी भी है, बुढ़ापा भी है, सामर्थ्य भी है असामर्थ्य भी है। यदि हर हालतमें तुम अपने मनको सन्तुलित करके नहीं चलोगे, कभी रोग आवेगा, कभी आरोग्य आवेगा, कभी संयोग होगा, कभी वियोग होगा। यदि अपने मनको सन्तुलित नहीं रखोगे, कभी कोई गाली दे देगा, कभी कोई तारीफ कर देगा। एक महात्मा हमको गाली देते थे। हमको गुस्सा आता था, एक दिन खुश हुए तो बोले—हमारी गाली तुमको बुरी लगती

है! जिन्दगीमें तो अभी गाली देनेवाले बहुत मिलेंगे, किनकी–किनकी गालीका बुरा मानोगे? तब तो बुरा ही मानते–मानते जिन्दगी बीत जायेगी। यदि हर गालीका जवाब देने लगो तो जैसे कुत्तेको भूँकते रहना पड़ता है, वैसे तुमको भी लोगोंको भूँकते ही रहना पड़ेगा। यह क्या कि इसने टेढ़ी नजरसे देख लिया, इसने गाली दे दी, इसने इन्सल्ट कर दिया, दुनियामें तुम्हारे मनके खिलाफ कुछ न हो, ऐसा कब होगा? असलमें दुरुस्त करना है अपने मनको, चाहे किसी भी ज्ञानके द्वारा।

अब देखो एक प्रश्नका उत्तर दे रहा हूँ, चाहे किसी भी ज्ञानके द्वारा अपनी बुद्धिमें समत्वका उदय हो—*ईश्वरत्वेन, ब्रह्मत्वेन, आत्मत्वेन, मायात्वेन, मिथ्यात्वेन, प्राकृतत्वेन, पाञ्चभौतिकत्वेन, यया कयापि विधया हृदि समत्वं उदीयात्।* जिस किसी भी प्रकारसे अपने हृदयमें समता लाओ। संसारके प्रति ममता भी रखो और समता भी लाओ, कैसे बनेगा? तो देख, एक समता लानेकी प्रक्रिया है। भाई, ईश्वरने सबको सम ही प्रकट किया है। उसका अर्थ है उपादान समझो माने अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हमारे दर्शनके सब विद्वान् मानते हैं, शैव, शाक्त, गणपत्य, सौर वैष्णव, अद्वैती, द्वैती सब मानते हैं कि प्रपञ्चका अभिन्नमित्तोपादान कारण परमात्मा है। बस अन्तर इतना ही है कि अद्वैती कहते हैं कि विवर्ती है और दूसरे लोग कहते हैं परिणामी है। कोई शरीर–शरीरी भावसे मानते हैं, कोई विशेषण विशेष्यसे मानते हैं—

तदनन्यत्वं आरम्भणशब्दः—इस सूत्रकी व्याख्या सबने की है और सब प्रपञ्चका लय और उदय परमात्मामें ही मानते हैं, ब्रह्ममें ही मानते हैं।

तो मुसलमान ईश्वरकी स्वतन्त्रतापर ज्यादा जोर देते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर बिलकुल मौजी है, मौज है उसकी। वह कर्म–धर्म नहीं देखता, वह तो मुहम्मद साहबने सिफारिश की और लाकर बहिश्तमें डाल दिया। यदि कर्म देख–देखके ईश्वर सद्गति देने लग जाये तो ईश्वर कर्म–पराधीन हो जायगा। उसमें स्वातन्त्र्य ही नहीं रहेगा, ऐसा इस्लाम धर्मका कहना है और हमारे वैदिक हिन्दू, आर्य धर्मकी यह मान्यता है कि यदि ईश्वर बिलकुल स्वतन्त्रतासे काम करने लग जाय तो उसमें वैषम्य, नैर्गुण्यरूप दो दोषकी

प्राप्ति होती है। उसने क्यों किसीको ऊँचा उठाया और क्यों किसीको नीचा गिराया। क्यों किसीके साथ निर्दयता की और क्यों किसीका पक्षपात किया और साथ-ही-साथ जीवके लिए दो दोष आता है—कृतहानि और अकृतार्थ आगम रूप दोष। इसलिए ईश्वर किसीका भी उद्धार करता है तो उसके कर्म, उसकी उपासना उसके योगाभ्यासको देखकर ही करता है। तो क्रिष्ट धर्म (ईसाई) और इस्लाम धर्म दोनों ईश्वरकी स्वतन्त्रताके पक्षपाती हैं। उसको कर्म-पराधीन नहीं मानते। उनके मतमें पूर्वजन्म भी नहीं है। कोई पूर्वोत्तर सृष्टि भी नहीं है। वह तो ईश्वर अपनी मौजसे ही कर देता है। मौज माने जैसी समुद्रमें लहर आयी। और वैदिक धर्मका जो ईश्वर है उसमें कर्मकी प्रधानता है। मनुष्यके पौरुषकी प्रधानता है। उसके कर्मको देख-देखकर फल देता है। जो लोग ईश्वर-भक्तिका निरूपण करते हैं, वे अपने मतमें ईश्वर-स्वातन्त्र्यको सुरक्षित रखते हैं। एक हमारे मित्र थे महात्मा। उनसे किसीने कहा ईश्वर पराधीन है कर्मके। कर्मको बीचमें डाल करके, वैषम्य नैर्घृण्यसे तो तुमने बचा लिया कि ईश्वर निर्दय नहीं है, पक्षपाती नहीं है। लेकिन परतन्त्रता तो ईश्वरमें आगयी, क्योंकि कर्म-पराधीन् है। तो उन्होंने कहा, नहीं, नहीं, हमारे ईश्वरने खुद ही ऐसा नियम बनाया है कि हम कर्मके पराधीन रहकर सृष्टिका व्यवहार चलायेंगे। अपने बनाये हुए नियममें जब कोई पराधीन हो जाय, तो वह कोई दूसरेका बनाया हुआ नियम थोड़े ही है, दूसरे राजाका कानून नहीं, अपने ही कानूनका पालन ईश्वर करता है तो पराधीनता नहीं होती है। फिर भी जो लोग ईश्वरकी भक्तिको ही सब कुछ मानते हैं उनके लिए ईश्वरकी स्वतन्त्रता आवश्यक होती है। ईश्वरकी स्वतन्त्रता उसको माननी पड़ती है। श्रीरामानुजाचार्यजीसे किसीने यह प्रश्न कर दिया, तो बोले कि सापेक्ष है, ईश्वर तुम्हारा बिलकुल सगुण है। वे बोलते हैं—*गुणानुगुणम्।* जिसमें सत्त्व है, रज है, तम है, जैसा गुण है उसके अनुसार ईश्वर उसका उद्धार करता है? तो बोले कि नहीं; है तो परम कारुणीक, यह बात हम मानते हैं, वह तो जिसको ज्यादा दुःखी देखता है, उसको देखकर वह अपने आपको भूल जाता है। अपने आपको भूल जाता है बिलकुल कि हमको कोई नियम पालन करना चाहिए कि कोई कायदा पालन करना चाहिए। लेकिन फिर भी

'रक्षापेक्षामपेक्षते।' जो पुकारता है उसका भला करता है और जो नहीं पुकारता है उसके लिए देखता रहता है कि यह कभी हमको पुकारे तो सही! ऐसा है कि जब यह अभिमानके अन्दर आकर बेचैनी भोग रहा है और अभिमान अपना छोड़कर अपने सुख-दुःखकी, अपने दिलकी बात सच्ची-सच्ची ईमानदारीसे हमसे कहता ही नहीं है तो हम क्या करें? दोनों हाथ फैलाये ईश्वर, छाती खोले अपने हृदयसे सटानेके लिए तैयार। लेकिन कोई उनकी ओर देखता ही नहीं, पीठ करके खड़े हैं, तो कैसे करे!

भगवान्‌का साम्बसदाशिव रूप जहाँ मानते हैं—एक और है इसमें, बड़ा विचित्र। एक ईश्वर होता है स्रष्टा, ब्रह्मारूप है वह, यह कर्तारूप है ईश्वरका। एक रूप होता है भर्ता, यह विष्णुरूप है, और एक रूप होता है हर्ता ये तीनों कर्मके अनुसार काम करते हैं और एक है तिरोहित रूप भगवान्‌का, वह किसीका न कर्म देखे, न भोग देखे, वह तो निराकार रूपसे चुपचाप टुकुर-टुकुर देखता रहता है, तटस्थ, कूटस्थ, साक्षी, स्वयंप्रकाश। ये चार हो गये, परन्तु एक पाँचवा रूप है भगवान्‌का जिसका नाम है अनुग्रह-विग्रह। उसमें न कर्मके अनुसार सृष्टि है, न कर्मके अनुसार पालन है, न कर्मके अनुसार संहार है और न तो कूटस्थ-तटस्थता है। वह तो बस उसका दिल पिघलता रहता है और अनुग्रहके रूपमें प्रकट होता रहता है। वहाँ न कर्म जाता है, न वहाँ उपासना जाती है। न वहाँ योग जाता है, न वहाँ उदासीनता जाती है। यह जो अनुग्रह-विग्रह है भगवान्‌का *प्रभु मूरति कृपामयी है।* जो मुँहसे बोल नहीं सकता उसकी रक्षा करता है, जो हाथ उठा नहीं सकता, उसकी रक्षा करता है, जो गिर जाता है जो प्रलयकी निद्रामें सो रहा है, उसकी भी रक्षा करता है। भगवान् वैषम्य नैर्घृण्यवाला है! बोले—बाबा, भगवान् कैसा है, यह तो भगवान् जाने, लेकिन जब हम ऐसा सोचते हैं कि हर हालतमें भगवान् हमारे ऊपर अनुग्रह कर सकता है, तो हमारा हृदय प्रेमसे भर जाता है, विश्वाससे भर जाता है। हमारा हृदय रससे भावसे परितृप्त हो जाता है। वह कैसा है, इसको वह जाने, परन्तु हमारा दिल यह सोचते ही कि भगवान् हमारे ऊपर भी कृपा कर सकता है—

गीध अधम खल आमिष भोगी,
गति सो पाव जेहि जाचत जोगी।

जब हम यह बात सोचते हैं ईश्वरके बारेमें, तो हमारा हृदय भर जाता है। इसलिए अपनी बुद्धिमें समता लानेके लिए एक यह विचार भी उपयोगी है। उपयोगिताकी दृष्टिसे विचार करना, तात्त्विकताकी दृष्टिसे विचार नहीं करना।

अब आगे चलो! हम तत्त्वकी दृष्टिसे केवल अद्वैत सिद्धान्तका विचार करते हैं और बाकी अद्वैत सिद्धान्तके सिवाय जितने सिद्धान्त हैं, उनका विचार आवश्यकता और उपयोगिताकी दृष्टिसे करते हैं। कोई पाप दूर करनेके लिए है, कोई भोग छुड़ानेके लिए है, कोई विमुखता काटनेके लिए है, कोई विक्षेप मिटानेके लिए है, कोई अनात्मासे मुक्त करनेके लिए है और कोई सत्यका साक्षात्कार करानेके लिए है। तो अद्वैत-सिद्धान्त अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित प्रत्यक् चैतन्यको ब्रह्म बतानेके लिए है। इसलिए तत्त्व-दृष्टिसे अद्वैत-सिद्धान्तका निरूपण और उपयोगिताकी दृष्टिसे सब सिद्धान्तका निरूपण, वह किसी-किसीके लिए उपयोगी होता है।

अब आगे आओ, जरा अपने आपसे मिलो—**योगी युञ्जीत सततं**। एक प्रश्नका उत्तर दिया। '**आत्मानं युञ्जीत**'—यह बिलकुल श्रुति आ गयी। अपने आपसे मिलो। इस वचनका अर्थ ही समझमें नहीं आ सकता। वाच्यार्थका बोध ही नहीं हो सकता। पण्डिताईकी बात आपको सुनायें! भला आत्मा अपना कहीं पीछे छूट गया है, कहीं तालेमें रखकर आये हैं, कहीं तिजोरीमें बन्द है? कहीं अपना आपा परदेश गया है? इसका अर्थ यही है। अपने आपसे मिलो, इसका अर्थ है कि तुम दूसरोंसे मिलनेमें इतने व्यस्त हो गये हो कि सचमुच तुम अपने आपको भूल गये हो। शब्दसे मिलनेमें, स्पर्शसे मिलनेमें, रूपसे मिलनेमें, रससे मिलनेमें, तुम रूप-नगरीमें भटक गये। आँखके रास्ते निकले और रूप-नगरीमें भटक गये। त्वचाके रास्तेसे निकले और स्पर्शकी दुनियामें उड़ने लगे। रसनाके रास्ते निकले और रसमें डूब गये और नासिकाके रास्ते निकले और गन्धकी कीचड़में फँस गये। कानके रास्ते जैसे साँप स्वर लहरीपर मुग्ध होता है ऐसे स्वरमें, नादमें डूब गये। तुम सबसे तो मिल गये— स्त्रीसे मिले, पुरुषसे

मिले, बच्चेसे मिले, धनसे मिले, मित्रसे मिले, शत्रुसे मिले, तुम्हारा अपना आपा कहाँ खो गया है, जरा उसको भी तो ढूँढ़ो!

अच्छा महाराज ढूँढ़ते हैं, हम अपने आपको खोकर नहीं आये हैं, यह रहे। कि जी हाँ, यह तो रहे आप, पर इसमें भी आपने अपने आपको खो दिया है। आप हड्डी हैं कि मास हैं, कि चाम हैं, कि विष्ठा हैं, कि मूत्र हैं? इसमें भी आप अपनेसे मिले हुए नहीं हैं—**आत्मानं युञ्जीत**। इसमें भी आपकी जब औचित्यकी, शुचिताकी प्रतिष्ठा होती है, तब क्या होता है—**शौचात्स्वाङ्ग-जुगुप्सा *परैरसं सर्गः।*** जब आदमी पवित्रताका अभ्यास करता है, तब अपने शरीरसे एक होनेमें ही घृणा होती है। जो पवित्र रहनेका अभ्यासी है वह विष्ठा, मूत्र, हड्डी, माँस, चाम, बाल, नाखून, थूकसे भरे हुए शरीरमें अपने मैं-को कैसे मिलने देगा? तो अपने अंगसे मिलनेमें ही जुगुप्सा होती है। क्योंकि ये पराये हैं। ये चेतन नहीं हैं। तो इनसे असंसर्ग हो जाता है। जो पवित्रात्मा होगा वह देहके साथ तादात्म्य करना कभी पसन्द नहीं करेगा। सबसे घृणित तो उसके लिए यह शरीर है। यह शरीर मैं-मेरा है—यह उसके मनमें कभी होगा ही नहीं। ***न मृद्वारिशुचिः शुचिः।*** मिट्टी और पानीसे शरीर धोनेसे कोई पवित्र नहीं होता, जबतक इस देहमें-से अपनेको नहीं निकालेगा। तो **आत्मानं युञ्जीत।**

बोले—अच्छा, एक दिन! कि नहीं, एक दिन नहीं, **सततं**। रोज-रोज।

छोड़ देते हैं अब आत्म-चिन्तनकी बात थोड़ी! मनुजीने कहा कि रोज ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर—

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।

सोचो कि तुम्हारे पास जो कमाई आती है, वह कैसी है! वह तुमको सुख देगी कि दुःख देगी! जो तुम भोग करते हो, जो तुम खाते-पीते हो, वह तुम्हारे शरीरके लिए अनुकूल है कि प्रतिकूल है। सबेरे उठकर सोचो जब ईश्वरका ध्यान करते हो, उस समय ध्यान कर लो कि जो तुम खाते-पीते हो, भोग करते हो, वह तुम्हारे लिए हितकारी है कि अहितकारी। और जो तुम कमाई करते हो वह हितकारी है कि अहितकारी। तुम्हारे शरीरमें जो रोग है उसका क्या कारण है? याज्ञवल्क्य स्मृतिमें स्पष्ट यह प्रसंग आया कि शरीरमें

जो रोग होते हैं उसके कारण पर भी विचार सबेरे ही करना और उसकी चिकित्सा क्या करनी है? मनुजीने भी—

कायक्लेशांश्चतन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च।

शरीरमें क्या क्लेश है और इसकी जड़ क्या है? सबेरे शान्त चित्तसे सोचकर उसके परित्यागका संकल्प कर लेना और आत्मध्यान करो, परमात्मध्यान करो, वह तो बात दूसरी है।

प्रातः स्मरामि हृदि विस्फुरदात्मतत्त्वं सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयम्।

श्लोक दुहरा देनेसे काम नहीं चलता। यह नहीं कि रेडियो खोल दिया और उसमें श्लोक आ गये, वह नहीं है कि उनको गा लिया। गानेसे काम नहीं चलता। गानेमें तो कानका रस है। एक आदमीने कहा—महाराज, हम आपका सत्संग तो करना चाहते हैं, परन्तु पहले बद्रीनाथ चलो, वहाँ माना गाँवके पास। बोले—बाबा, तू वहाँ नदीका सत्संग करेगा! पहाड़का सत्संग करेगा, बर्फका सत्संग करेगा, चमकते हुए सूर्यका सत्संग करेगा। तेरी महत्त्व बुद्धि तो स्थानमें है। यदि श्रवणमें, मननमें तेरी महत्त्वबुद्धि है, तो वहीं जाकर सत्संग करेगा, यह क्यों? तुम्हारी तो स्थानमें महत्त्व बुद्धि है। जरा वस्तुमें महत्त्व बुद्धि करो! जो चीज समझनी है, उसे समझो। एकान्तमें बैठो, नींद न आये। यह नहीं कि मन चाहे जहाँ चला जाये, चाहे सो जाये, जरा सीधे करके बैठो। श्रीउड़िया-बाबाजी महाराज कहते थे—यदि किसीका ऐसा अभ्यास हो जाये कि तीन घण्टे तक शरीर हिले नहीं, हाथ भी न हिले, यह नहीं कि यह मक्खी बैठी है यों मार दिया, जरा इधर देख लिया, ऐसे नहीं, कुछ नहीं शरीरका कोई अवयव न हिलाया जाये, तो बिना किसी दूसरे साधनके समाधि हो जायेगी।

यहाँ तो बोलते हैं कि दो पैसेकी फूलमाला हमारे पास लाओ, हम तीन मिनटमें तुम्हें ध्यानातीत कर देंगे। ध्यान लगवा देंगे तुम्हारा। अब यह चेला बनानेकी विद्या तो जरूर हो सकती है। लेकिन ध्यान-व्यान ऐसे नहीं लगता है, उसके लिए अभ्यास करना पड़ता है। यदि कोई ध्यान एक-दो मिनटका लगवा भी दे, फिर भी तुमको अभ्यास ही करना पड़ेगा—

सततं रहसि स्थितः

आप अपनी आँखकी दोनों पुतली जहाँ है वहाँ छोड़ दीजिये, दबाव नहीं डालना आँखपर, नहीं तो सिरमें दर्द होगा। यदि आपकी आँखकी पुतली बदले नहीं, हिले नहीं, तो जितनी देर आँखकी पुतली हिलेगी नहीं, मन आपका स्थिर रहेगा।

आप अपनी जीभसे अरणि-मन्थन मत करो, ऊपर-नीचे मत लगाओ, दाँतसे मत लगाओ, जीभको, दायें, बायेंसे असंग करके मुखाकाशमें स्थिर कर दो, आपका मन शान्त हो जायेगा। शतपथ ब्राह्मणमें इसका उल्लेख है। तालुमें चिन्तन करो, आपको नये-नये रूप दिखायी पड़ेंगे, नासिका मूलमें चिन्तन करो, गन्धकी संवित् हो जायेगी, नेत्रमें अपने मनको ले जाओ, रूपकी संवित् होगी। कंठकूपमें ले जाओ अपनेको जिह्वामूलमें संवित् तो करो, तो देखो नवीन-नवीन रसास्वाद होता है।

यह सब प्रक्रिया है। योग भाष्यकारका कहना है कि बिना चमत्कार देखे दुनियादार लोग नमस्कार तो करते नहीं, समाधि आदिमें इनकी श्रद्धा होती नहीं, इनकों पहले थोड़ेमें कुछ दिखायी पड़ने लगे तब ये प्रेमसे काम करते हैं। इनकी श्रद्धाकी परीक्षा ज्यादा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ये टुट-पुँजिये लोग, इनके पास श्रद्धा-आदि भी नहीं है। जिन्दगी भरमें आठ-दस तो गुरु बना लेते हैं, जब ध्यान करने बैठते हैं तो आठों आकर सामने खड़े होते हैं, अब मन इधर गया, उधर गया, आठ-दस मंत्रका जप करते हैं, आठ-दस इष्टदेव होते हैं। अब किस इष्टदेवमें मन एकाग्र हो, किस मंत्रमें मन एकाग्र हो, किस गुरुमें मन एकाग्र हो, किस साधनमें मन लगे। मनीरामके लिए इतने तो घर हैं, फिर पूछते हैं, महाराज मन एकाग्र नहीं होता! बोले—अच्छा तुम्हारे मनमें किन-किन चीजोंकी इच्छा है? तो बेवकूफ लोग बोलते हैं कि हमको किसी चीजकी इच्छा नहीं है। अरे, इच्छा न होती तो मर न जाते। इच्छा ही तो जीवनको धारण करती है। ईश्वरकी प्राप्तिकी जो इच्छा है, समाधिकी इच्छा है, आत्मज्ञानकी इच्छा है, जिज्ञासा है, उसको जाग्रत् करो और उस शुभेच्छाको पूर्ण करो, पहली भूमिका तो आने दो, शुभेच्छाको पूर्ण तो करो! पहली भूमिका तो आने दो, शुभेच्छा तो

जाग्रत् हो। और इच्छा तो है महाराज एक हजार चीजकी, एक हजार विषय तुम्हारे मनमें हैं और बोलते हो इच्छा हमारे मनमें नहीं है, तो महात्मा लोग समझते हैं कि जब इतना ही इनकी समझमें नहीं आता है कि हमारें मनमें बहुत-सी इच्छाएँ हैं, तो ये क्या परमार्थ समझेंगे!

अच्छा, तो स्थिर होकर परमात्माके बारेमें विचार करना। मददगार नहीं रखना। अपनी क्रिया और मनको भी काबूमें रखना कोई आशा नहीं रखना और परिग्रह नहीं रखना। कई लोग दस लाख रुपया तिजोरीमें बन्द करके चाबी अंटीमें लगा लेते हैं और उसके बाद बैठते हैं कि हमको कुछ नहीं चाहिए। यह ढोंग है, उससे योग सिद्ध नहीं होता है। हमें दस हजार रुपया महीनेमें ब्याज आता रहेगा, अब हमको कुछ नहीं चाहिए, तो दस लाख रुपयेका जो अभिमान है, वह तो हृदयमें बैठा है। अभिमान रहते समाधि कहाँसे लगेगी? वह तो अस्मिता है, क्लेश है, अभिनिवेश है, क्लेशानुविद्ध है तुम्हारा चित्त। कहाँसे समाधि लगेगी? अपने आपसे कहाँसे मिलोगे? अभी तो रुपयेको छातीसे सटाकर बैठे हो, अस्मिता निवृत्त नहीं होगी, अविद्या बनी रहेगी।

अच्छा लो, तो अपरिग्रह। तो कैसे बैठना,

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।

घरमें एक पवित्र स्थान रहना चाहिए, जहाँ भोजन करें वहीं बैठकर भजन नहीं करना चाहिए और जिस आसनपर सो जायें, उसीपर भजन नहीं करना चाहिए। जिसपर लोगोंसे मिलें उसीपर भजन नहीं करना चाहिए। एक स्थान ऐसा होना चाहिए घरमें, अभी उस आसनकी बात नहीं करते हैं जो आप बाजारसे खरीदकर ले आते हैं या घरमें बनाते हैं। हम उस देशकी, **शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य,** घरमें उस स्थानको पवित्र करो, उस भूमिमें यह संस्कार जाग्रत् करो कि जब हम यहाँ बैठेंगे तब हम दुनियाके बारेमें नहीं सोचेंगे।

कहते हैं विलायतमें एक गिरिजाघर बना, तो जब पादरी लोग प्रार्थनाके लिए इकट्ठे हुए तो सबके मनमें आये कि बकरा मारो! पञ्चायत हुई, यह

क्या ? बोले–भाई; यहाँ पहले कसाई–घर था, सौ बरस पहले, उसी धरतीपर। तो स्थान शुचि होना चाहिए, पवित्र।

अच्छा महाराज, ईमानदारीसे प्राप्त होना चाहिए, बेईमानीसे नहीं! स्थान भी बेईमानीसे प्राप्त किया हुआ नहीं होना चाहिए, अपने हकका होना चाहिए और पवित्र होना चाहिए, उसपर बैठकर शत्रु–मित्रकी बात न सोचे, पवित्र देशमें, और '**प्रतिष्ठाप्य**'–आसनकी भी प्रतिष्ठा करनी चाहिए, उसमें भी जो आसनका देवता है, पहले तो मकानकी प्राण–प्रतिष्ठा होनी चाहिए, वास्तुपूजा होनी चाहिए कि मकानमें वास्तु देवताका निवास है, फिर जहाँ बैठकर भजन करते हैं, उसको पवित्र होना चाहिए।

पृथिवी त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।
त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम्॥

पृथिवी पवित्र होनी चाहिए और उसमें–से पवित्र संस्कार निकलने चाहिए और आसनकी प्राणप्रतिष्ठा होनी चाहिए कि हे आसनके देवता! हमारा मन कहीं चञ्चल न हो, तुमको छोड़कर इधर–उधर न जाये।

आसन स्थिर होना चाहिए, कभी यहाँ, कभी वहाँ, ऐसे ले जाकर नहीं बिछाना चाहिए, एक जगह जमना चाहिए। यह जो मनमें आता है, आपको बतायें, जब एक जगह बैठते हैं, तो ऐसे सोचते हैं कि यहाँ मन नहीं लगता है, लेकिन जब वहाँ जायेंगे तब मन लगेगा। आप समझते हैं कि आपका मन सच बोल रहा है ? सो सच नहीं बोल रहा है, जब आप वहाँ जाओगे, तब मन कहेगा वहाँ नहीं, वहाँ जाओ, तब मन लगेगा, ऐसे हम लोग पचासों गाँवमें घूम चुके हैं, पचासों तीर्थमें जा चुके हैं, इस मनीरामके घुमाये भटक चुके हैं। अच्छा, मन कहता है आज तो ध्यान नहीं लगता है, छोड़ दो; कल अब लगावेंगे तो बस वह कल कभी नहीं आयेगा। वह तो आजका टालमटूल है। वह आज तुमको बरगला रहा है कि आज नहीं, कल। वह कल भी नहीं आयेगा।

श्वकार्यं अद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।

कल जो करना है ध्यान, वह आज कर लो और जो दोपहरके बाद करना है, वह प्रातःकाल ही कर लो।

यह जो मन कहता है आज नहीं, कल, यहाँ नहीं वहाँ, कि यहाँ ठीक भजन नहीं होता, वहाँ जानेपर होगा, अब नहीं होगा तब होगा, सबेरे नहीं होता, शामको होगा, दोपहरमें नहीं होता, रातमें होगा, यह सब मनकी बहानेबाजी है, इसको समझना चाहिए।

आसन भी स्थिर होना चाहिए और वह उधारका न हो। दूसरेसे माँग लिया कि हम तुम्हारे आसनपर बैठेंगे, आसन अपना होना चाहिए, नहीं तो दूसरेका मन, दूसरेका मन्त्र, दूसरेका देवता पृथक्; अपना मन, अपना मन्त्र, अपना देवता, अपनी उपासना-पद्धति दूसरी। उस आसनमें-से भी थोड़ा संस्कार आयेगा, बिलकुल अपना ही होना चाहिए, यह आत्मनाका अर्थ है। **स्थिरमासनमात्मना।** वह आत्मनाका अन्वय है आसनम्के साथ। **प्रतिष्ठाप्य**—उसीकी प्रतिष्ठा होनी चाहिए, जैसे मूर्तिमें देवताकी। और वह चल प्रतिष्ठा नहीं, स्थिर प्रतिष्ठा होनी चाहिए। उसके लिए चबूतरा बना लो, उसके लिए चौकी बना लो।

अब उसमें भी समता चाहिए। उसमें समता क्या है? कि **नात्युच्छ्रितं नातिनीचं** यह क्या हुआ? बहुत ऊँचा नहीं, बहुत नीचा नहीं, माने सम। आसन चाहिए—सम। आसनमें समता होगी, तब मनमें भी समता आयेगी, और आसन विषम होगा, ऊँचा-नीचा होगा तो मनमें समता नहीं आयेगी।

चैलाजिनकुशोत्तरम्। ऊपर चाहिए कपड़ा कि नरम रहे। बैठनेपर जब शरीरका निचला हिस्सा दबता है तो जो लोग बिना अभ्यासके ज्यादा बैठने लगते हैं, उनकी गर्मी बढ़ जाती है। ऐसे लोगोंको बवासीर हो जाता है।

देखा-देखी करे योग, छीजे काया बाढ़े रोग।

हम देखो, वृन्दावनमें पहले पहल सन् छब्बीसमें आये थे और अब सत्तर है, अब तो आते-जाते रहते हैं। उड़िया बाबाजी महाराजके पास सन् पैंतीस-छत्तीसमें आ गये, उसकी गिनती करलो, सन् इकतालीस-बयालीसमें संन्यासी होकर आ गये, उसकी गिनती करलो। तो वृन्दावनमें, हरद्वारमें, ऋषिकेशमें, स्वर्गाश्रममें, बद्रीनाथमें, उत्तरकाशीमें हमें इतने साधकोंसे मिलनेका काम पड़ा है, जिन्होंने अपने मनसे बैठना शुरू कर

दिया, तो किसीको वात रोग हो गया, किसीको बवासीर हो गया। उसको कायदेसे बढ़ाना पड़ता है। कायदेसे बढ़ानेका अर्थ है, आप पद्मासनसे बैठें, चाहे सिद्धासनसे बैठें, चाहे वीरासनसे बैठें, चाहे भद्रासनसे बैठें, चाहे स्वस्तिकासनसे बैठें; लेकिन बैठनेमें आप पहले सप्ताहमें दस मिनट बैठें, दूसरे सप्ताहमें दो मिनट बढ़ा लें और चार सप्ताहमें आप दस मिनटका बीस मिनट कर लें और छह महीनेमें आधा घण्टा करें। फिर छह महीनेमें घण्टाभर करें। आपको जल्दी क्या है कि आज ही हमारा आसन सिद्ध हो जाये और यदि बैठनेपर शरीर आपका हिलता हो तो दो बातका आप ध्यान रखेंगे, तो बिलकुल नहीं हिलेगा। कहो तो हम अभी आपको बता दें! एक तो बात यह है कि आपके मनमें यह संकल्प नहीं उठना चाहिए कि यहाँसे भजनसे जब हम उठेंगे, तब हमको यह काम करना है। कि *अब तो हजरते दाग जहाँ बैठ जाये, बैठ गये*! कहो कि हे परमेश्वर अब हम सब कुछ छोड़कर तुम्हारे भजनके लिए बैठते हैं। तुम उठाओगे तो उठेंगे, लेकिन अब हमारा कोई काम दुनियामें ऐसा नहीं है जिसके लिए उठना जरूरी हो। तुम उठाओगे तो उठेंगे, परन्तु अपनी ओरसे हमारे लिए उठना जरूरी नहीं है। इसको बोलते हैं प्रयत्न शैथिल्य। एक घण्टेमें दुकानमें जाना है, बाजारमें हाँड़ना है, यह चीज खरीदनी है, वह चीज खरीदनी है, यह काम करना है पचास संकल्प मनमें लेकर बैठे, और बोले हमारा ध्यान लग जाये। तो ध्यान ही मुफ्तका है, सस्तेका है! ऐसे ध्यान नहीं लगता है। प्रयत्न शैथिल्य माने उठकर हमको कोई कर्तव्य है, काम करना है—इसका संकल्प बिलकुल छूट जाना चाहिए।

और दूसरी बात आपको देखो और सुनाते हैं, आपने चित्र देखे होंगे शेषनागके, शेषनागकी गोदमें विष्णु भगवान् रहते हैं, तो उनका फण ऐसे स्थिर रहता है। इसको 'अनन्त समापत्ति' बोलते हैं। देखो, आपके शरीरमें एक शेषनाग बैठे हैं, उनकी गोदमें विष्णु होते हैं, भले दीखें कि न दीखें, कोई मतलब नहीं और उनके सिरपर धरती होती है। यदि वे हिल जायें तो क्या होगा? कि धरतीमें भूकम्प आ जायगा और विष्णु भगवान्‌की नींद टूट जायेगी। (आज तो सो रहे हैं न, हरिशयनी एकादशी है) तो ऐसे शान्तिसे

स्थिर बैठे हैं आपके शरीरमें शेषनाग, कि जरा भी नहीं हिलते। आप अपनी स्थिरताकी कोशिश मत कीजिये, केवल उनकी स्थिरताको देखिये। इसका नाम टोना है, टोटका है। व्यास भगवान्‌का कहना है कि जो यह अनन्त समापत्ति करेगा, उसका आसन बिलकुल स्थिर हो जायेगा।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्—यह सूत्र है महर्षि पतञ्जलिका और इसपर व्यासका भाष्य है।

देखो, आपको आसनकी एक बात सुनायी। यदि आपका आसन स्थिर न होता हो, तो शेष भगवान्‌का आप स्मरण करें, कि हिलते नहीं हैं, चुपचाप बैठे हैं। पाँवमें दर्द नहीं होगा, सिरमें दर्द नहीं होगा, पीठकी रीढ़ नहीं दुःखेगी और जितनी देरतक आप ध्यान करेंगे आपका आसन बिलकुल हिलेगा नहीं।

कहो तो हम दो मिनट आपको अभी छोड़ देते हैं, आप करके देख लो! यह कलके लिए, अपने उधार-सौदेकी तो बात ही नहीं करते। हम जो ब्रह्म भी आपको बताते हैं वह भी इसी समय, आपको ग्रहण हो कि न हो! आप पहले ब्रह्म थे कि पीछे ब्रह्म होंगे, यह बात हम नहीं बताते। आपसे परमात्मा मिला हुआ है, पहले मिला हुआ था कि आगे मिलेगा—यह नहीं बताते। इसी समय मिला हुआ है, यहीं मिला हुआ है। आप जैसे हैं वैसे ही मिला हुआ है। हम तो केवल आपको बताते हैं, मिलाते नहीं हैं, मिला हुआ है—ऐसा बताते हैं। यदि आपको ग्रहण हो जाये तो अभी मिला हुआ है और नहीं ग्रहण हो, तो जब ग्रहण होगा तब मिलेगा। यहाँ तो *'घोड़ेके रकाबमें पाँव और ब्रह्मज्ञान'* और *आँखकी पलक झलकी, पलकमें खलक, देख ले झलक।* उसी क्षणमें परमात्माका दर्शन कर, उधार-सौदेकी बात नहीं है, कि यह करेगा तो यह होगा यह करेगा तो यह होगा।

अब आसनकी बात देखो।

आस्यते अस्मिन् इति आसनम् अधिकरणम्।

आसन माने, विट्ठल बोलते हैं न, आज विट्ठल एकादशी है। यह वित् रूप स्थल है। स्थल माने अधिष्ठान और विद् माने ज्ञान। जहाँ अधिष्ठान अलग होता है और प्रकाशक अलग होता है,

अधिष्ठान जड़ वस्तु जहाँ है, द्रष्टा ताते भिन्न वहाँ है।
जहाँ होइ चेतन आधारा, तहाँ न द्रष्टा होवै न्यारा।

विट्ठल माने द्रष्टा और अधिष्ठानकी एकता, यह सारा प्रपञ्च जिससे दीख रहा है और जिसमें दीख रहा है, वे दोनों दो नहीं हैं, एक हैं और प्रपञ्च बिना हुए भास रहा है। तो परमात्मा लो न! अरे दही लो, दही गाँवकी अहीरन बोल रही है, दही लो, दही! व्रजकी गोपी बोलती है—गोपाल लो, गोपाल। मैं कहता हूँ परमार्थ लो, परमार्थ! तुम्हीं परमार्थ हो, तुम्हारे सिवाय कोई दूसरा परमार्थ नहीं और जो ढूँढ़ने जाते हो—

मुझको क्या तू ढूँढे बन्दे, मैं तो तेरे पासमें।

तो यह अधिकरण भी विट्ठल है और स्वयं प्रकाश प्रकाशक द्रष्टा भी विट्ठल है, विट्ठल माने ब्रह्म। आत्मा ब्रह्म है। अधिष्ठान ब्रह्म है। यही असलमें आसन है। आप अपरोक्षानुभूतिमें पढ़ें—

अन्यत् दुःख विनाशनम् आसनं तदिह प्रोक्तम्।

शंकराचार्यकी अपरोक्षानुभूतिमें आसनकी परिभाषा दी गयी है कि यही आसन है और वह दुःख विनाशन है।

आसन कैसा? तो बैठना जरा सीखकर। इसमें चैल, अजिन और कुश। तो कहते हैं कि पृथिवी और शरीर दोनों सजातीय हैं। इसलिए साधनसे शरीरमें जो बिजली पैदा होती है, शक्ति पैदा होती है, उसको पृथिवी खींच लेती है तो बीचमें जब कुशासन रहेगा, तो शरीरमें साधनसे उत्पन्न होनेवाली जो विद्युत् है, वह धरतीके साथ नहीं मिलेगी, शरीरमें अपना करिश्मा दिखायेगी। और यह जो मृगचर्म है, इसपर बैठकर खाना नहीं, मृगचर्म शुद्ध नहीं होता, वह खानेके लिए नहीं होता, वह सोनेके लिए नहीं होता। शास्त्रमें जिस वस्तुका, जिस कर्ममें विधान है, ठीक उतने ही कर्ममें, सोमयागमें जिस वस्तुका विधान है, या ज्योतिस्तोममें जिस वस्तुका विधान है, वह कोई पवित्र होनेसे, उत्तम होनेसे थोड़े ही है। उसका तो केवल उतना ही प्रयोग होता है यह केवल योगाभ्यासके लिए जब बैठते हैं, तब पवित्र स्थान और उसपर काष्ठादिका आसन, उसपर कुशासन और, कुशासनपर अजिन-मृगचर्म। मृगचर्मका अर्थ है-

कि उसपर साँप-बिच्छू-खटमल—ये सब नहीं चलेंगे। यदि उसपर सोओगे तो रोयें टूट-टूटकर नाकमें जायेंगे, मुँहमें जायेंगे। उसपर खाओगे तो कभी उसका रोयें टूटकर भोजनमें भी जायेंगे और हाथ लगानेके बाद धोओगे नहीं, खाओगे उसी हाथसे, तो वह भी ठीक नहीं रहेगा। वस्तुगत पावित्र्य मृगचर्ममें नहीं है। केवल भजन-ध्यानके समय, अपनेको सुरक्षित रखनेके लिए एक शास्त्रीय विधान है, अदृष्टकी उत्पत्तिके लिए। संसारी लोग इस बातको नहीं समझते हैं, जिसकी तारीफ सुन ली, बोले—बस, अब यही, अब यही, वह तो ***अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते*** है। मृगचर्म वस्तु दृष्टिसे पवित्र नहीं है, भजनके लिए उसका विधान है। और उससे सर्प, बिंच्छू, खटमलादि जो दृष्ट प्रतिबन्ध हैं, उनकी निवृत्ति होती है।

चैलाजिनकुशोत्तरम्—ऊपर चाहिए वस्त्र। नर्म-नर्म थोड़ा चाहिए। नहीं तो शरीरमें गाँठें पड़ जाती हैं। हमारे एक मित्र हैं महाराज, बहुत ज्यादा बैठते थे, तो उनके पाँवके टखने कठोर हो गये, टखनेकी गाँठें थोड़ी चिपटी-चिपटी हो गयीं, उसके बाद पक गयीं, पकनेपर पीब निकलने लगी। तो पाँवके नीचे नरम आसन रखकर बैठना चाहिए। उसमें वैराग्य दिखानेकी जरूरत नहीं है। नरम वस्त्र होना चाहिए। जिसमें ज्यादा छूत-छात न लगती हो, रेशमी हो तो अच्छा है, ऊर्णा हो तो अच्छा है या वस्त्र ऐसा होना चाहिए जिसको धो लेते हों, ऐसा वस्त्र बिछाकर बैठना चाहिए। और, ***देवो भूत्वा देवं यजेत्।*** स्वयं पवित्र नहीं होंगे, तो पवित्र परमात्माका चिन्तन भी नहीं कर सकते। आप जब भजन करनेके लिए बैठें, तब देखें सामने सूर्य-मण्डल है, उसमें-से अंकुश मुद्रासे तीर्थ-देवताका आवाहन करो! आओ, अमृतकी गंगा! वह सुधाधारा सूर्यमण्डलमें उतरकर, भगवच्चरणारविन्द विष्णु रूपमें प्रकट होती हैं। सूर्यमण्डलमें नारायण हैं, उनके चरणारविन्दसे निकलकर अमृतधारा हमारे ऊपर गिर रही है और हम बिलकुल स्वच्छ शिवरूप हो रहे हैं। जैसे शंकरजीके सिरपर विष्णु भगवान्‌का चरणारविन्दकी अमृतधारा गंगा गिरती है, वैसे हमारे ऊपर गिर रही है। हम शिवरूप हैं। स्वच्छ हैं। शुद्ध हैं।

देखो, ध्यान लगता है कि नहीं! सिरमें गुरु रहते हैं, वे जब हृदयमें आते हैं तब इष्टदेव हो जाते हैं और इष्टदेव जब हृदयमें-से सिरमें जाते हैं तब गुरु हो जाते हैं। मन्त्र, आत्मा, इष्ट एकाकार हो जाता है। लोग आकर कहते हैं महाराज, हम ध्यान करते हैं, लगता है। हम जान जाते हैं कि लगता है कि नहीं लगता है। जबतक गुरु, इष्ट, मन्त्र, आत्मा चारों एक नहीं होंगे तबतक ध्यान लगेगा ही नहीं। ये चारों जब एक होते हैं—आत्मा, इष्ट, गुरु और मन्त्र, इसको मन्त्र चैतन्य बोलते हैं। क्षण इधर गये, क्षण उधर गये, क्षण यह किया, क्षण वह किया। बोले—हमको ध्यान लगा। तुमको ध्यान नहीं लगा, जरा नींद आयी थी। कि नहीं महाराज, नींद काहेको आयी थी। हमको लीला दिखी थी। कि लीला नहीं दिखी थी, सपना आया था। नहीं महाराज, समाधि लग गयी थी, समाधि नहीं, नींद थी, अभी तुमको पहचान नहीं है। समाधिमें ध्यान दूसरी चीज है। भगवान्‌की लीलाका दर्शन दूसरी चीज है। उसके लिए स्वयंको पवित्र होना पड़ता है। एक दिन एक बच्चेको बताया—ऐ रातमें आया-जाया न करो, भूत है। उसने आकर बताया—हमने देखा है। तुमने बिलकुल ठीक बताया था। हम बोले—मूर्ख है, मैंने तो झूठमूठ, तुम वहाँ न जाओ, इस अभिप्रायसे बताया था, अब तुम आकर यहाँ हमको ही बताते हो! ऐसा,

नानीके आगे ननिऔरे क बखान।

तो हम लोग दुनियाकी स्थिति जानते हैं—**चैलाजिनकुशोत्तरम्** नरम वस्त्रपर बैठना, नीचे मृगचर्म रखना, मृगचर्मके नीचे कुशासन रखना, कुशासनके नीचे कोई ऐसा स्थिर आसन चाहिए जो बदलना न हो। चबूतरा हो, पाषाण हो, काष्ठ हो, मृत्तिकाकी वेदी हो, परन्तु बहुत ऊँची न हो, बहुत ऊँची परसे गिरनेका भी डर रहता है और नीची होनेपर अशुद्ध जल आकर, अशुद्ध होनेका डर रहता है। तो थोड़ी ऊँची होनी चाहिए। **नात्युच्छ्रितं नातिनीचं। तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।**

मनको एकाग्र करना। एकाग्र करनेका अर्थ है, जरा मनको नुकीला होना चाहिए कि किसीमें धँस जाय थोड़ा, अग्र माने होता है नोंक, जैसे

काँटेका, संगीनका नोक होता है, ऐसे मनका अग्र भाग। लक्ष्य है कि नहीं तुम्हारा? कहाँ मन लगाना है? बोले—महाराज, हम तो गये थे महात्माजीके पास, उन्होंने सिरपर हाथ रख दिया और हमारा मन एकाग्र हो गया। बस, गया, तुम्हारा प्रयत्न गया, साधन गया, पौरुष गया, अब तुम पराधीन हो गये! बोले—उनके पास जाकर बैठे महाराज, मन एकाग्र हो गया। हुआ हिप्नोटिज्म, अब जब दूसरी जगह जाओगे तो मन एकाग्र नहीं होगा। हिप्नोटाइज माने स्वप्नायतम। यह 'स'का 'ह' बोलते हैं न, तो जरा स्वप्नाइतको 'ह' करके बोलो, बिलकुल हिप्नोटाइज हो जायगा। यह स्वप्नाइत दशा है। जो स्वयं अपने पौरुषसे, अपने अभ्याससे भगवान्‌की अभिव्यक्तिसे जो प्राप्त होता है, वह बिलकुल सच्चा होता है। तो आओ अब आपको सुनायें कि मनकी एकाग्रता क्या है? उसकी नोंक एक दिशामें है कि नहीं।

हमारे एक ब्रह्मचारी थे वृन्दावनमें, बीस चित्र लगाकर रखा था—रामका, कृष्णका, शिवका। मैंने कहा—ब्रह्मचारीजी आपके चित्र तो बहुत लगे हैं। जप किसका करते हो? बोले—महाराज एक माला इनका, दो माला इनका, तीन माला इनका।

अब ऐसा ही है महाराज, कि एक बार हल्वा बनाना चाहो, एकबार नमकीन उपमा बनाना चाहो, तो क्या बनेगा? चित्तमें जब एक आकार भरा जाता है तब उसका ठीक-ठीक निर्माण होता है। अब एकबार इस देवताका आकार, एकबार उस देवताका आकार, एकबार यह शब्द और एकबार यह शब्द, तो अपने दिलको क्या बनाया? बिलकुल बिगाड़ दिया। खेतमें गेहूँ बोया, फिर जौ बोया, पैदा कुछ नहीं होने दिया, सींचा कुछ नहीं, बोये-बोयेको उलटते गये, तो इससे कौन-सी खेती पैदा होगी। तो **एकाग्रं मनः** का अर्थ है बिलकुल अपने मनमें एक आकार, एक भाव, एक स्नेह भरनेकी कोशिश करनी चाहिए। एकको प्राप्त करनेका लक्ष्य अपने चित्तमें होना चाहिए। तब मन एकाग्र होता है।

अम्ब त्वां अनुसंदधामि—मैया री मैय्या! मैं तेरा अनुसन्धान करता हूँ। गीता भगवान्‌का हृदय है—***गीता मे हृदयं पार्थ।*** गीताके माहात्म्यमें एक

स्कन्दपुराणका माहात्म्य है। एक पद्मपुराणका माहात्म्य है। माहात्म्यमें आया— *गीता मे हृदयं पार्थ*—अर्जुन, गीता क्या है? मेरा हृदय है। मैं तुम्हें गीताकी पोथी नहीं दे रहा हूँ। अपना दिल दे रहा हूँ। सुनाया होगा कभी मैंने, सन् सत्ताइस-अट्ठाइसकी बात होगी। प्रयागराजमें अर्द्धकुम्भी थी और वहाँ गीता ज्ञान-यज्ञ हुआ था। विष्णु दिगम्बरजी महाराज वहाँ गये। इधरके ही थे विष्णु दिगम्बरजी; तो वहाँ सभा हो रही थी—गीताज्ञान-यज्ञ मालवीयजी आये थे। सेठ जयदयालजी आये थे। अच्छे-अच्छे महात्मा भी थे। एक अवधूत महात्मा आकर बीचमें खड़ा हो गया कि मैं गीतापर व्याख्यान दूँगा। उसके वैराग्यको देखकर, उसके स्वरूपको देखकर लोगोंने कहा—अच्छी बात है महाराज बोलो! तो वे कहने लगे कि यह गीता कोई दर्शन-शास्त्र नहीं है। यह वेद-वेदान्त नहीं है। यह तो एक मित्र जैसे दूसरे मित्रसे बातचीत करता है। वैसे यह दो मित्रोंकी बातचीत है।

संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।

यह तो दो सखाओंका, कृष्ण और अर्जुनका सम्वाद है। एक मित्रके सामने कुछ समस्या थी। दूसरे मित्रने उसके कन्धेपर हाथ रखा और बोले—मित्र ऐसे नहीं, ऐसे। इस समय निराश होनेसे काम नहीं चलेगा। उदास होनेसे काम नहीं चलेगा। इस समय तो—

तस्मात् त्वं उत्तिष्ठ यशो लभस्व हत्वा शत्रुं भुंक्षस्व राज्यं समृद्धम्।

इसमें ज्यादा शास्त्रार्थ जोड़नेकी जरूरत नहीं है। फिर बोले कि इस गीताको, इस संवादको समझ कौन सकता है? बोले कि जो श्रीकृष्णका मित्र होगा वह समझेगा। पहले कृष्णसे मैत्री जोड़ लो, तब मित्रकी समझमें आती है गीता और जो कृष्णसे शत्रुता करता हो वह तो उलटा ही समझ जाता है। तो पहले कृष्णसे मैत्री जोड़ो तब कृष्णकी बात समझमें आयेगी। मित्रकी बात मित्र समझता है और यह कहते ही महाराज, उसकी उस अवधूतकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिरने लगे और वह गद्‌गद हो गया।

यह कोई ज्ञान नहीं है। यह कोई ध्यान नहीं है। यह तो हृदयका दान है, यह तो प्रेमका संगीत है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने जगन्नाथ पुरीमें देखा—एक ब्राह्मण गीताकी पोथी सामने रखकर अशुद्ध पाठ कर रहा है। और उसकी आँखसे आँसू गिरें, शरीरमें रोमाञ्च हो, बड़े आनन्दसे झूम-झूमकर, प्रेममें मग्न होकर बोलता जा रहा है, जाकर महाप्रभु उसके पास बैठ गये। यह रसास्वादनकी प्रक्रिया है। जब उसका पाठ पूरा हो गया और वहाँसे उठने लगा तब उससे बोले कि ब्राह्मण देवता, हमारी एक बात सुनो, तुम क्या गीता समझते हो? भगवान्‌की बात अर्जुनके लिए कही गयी, दो मित्रोंकी परस्परकी बात है, मैं क्या समझूँगा! मैंने तो कभी समझनेकी कोशिश भी नहीं की'। फिर तुम अशुद्ध भी पढ़ते हो और रोते हो! तुम्हें इतना आनन्द कहाँसे आता है? रोमाञ्च होता है, गद्‌गद हो जाते हो! यह तुमको क्या लगता है? बोला—'गीताकी पोथी खोलते ही हमको लगता है कि कुरुक्षेत्रका मैदान है, रथ है, सफेद घोड़े जुते हैं और उसपर रथी अर्जुन बैठा है और बागडोर पकड़े कृष्ण बैठे हैं और उनके होंठ हिल रहे हैं और उनकी आँखोंसे करुणा बरस रही है, हमको तो श्रीकृष्णका दर्शन होने लगता है। बाबा, हम तो कुछ नहीं जानते। हम तो गीता सुनते हैं। गीता पढ़ते हैं, गीता देखते हैं। श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं!'

प्रेमियोंका गीतापाठ दूसरा है और वेदान्तियोंका गीतापाठ दूसरा है।

ऐसी-ऐसी टीका गीतापर मधुर-मधुर, आपको दो टीकाओंका नाम मैंने सुनाया था पता नहीं आपने कभी देखा हो, कभी पढ़ा हो! स्वयं विमर्श भाष्य, स्वयं प्रकाश भाष्य। विश्वनाथ चक्रवर्तीकी टीका है भगवद्‌गीतापर वह तो छपी हुई है। बड़ी प्रसिद्ध रसवर्षिणी है। आओ आपको थोड़ी-थोड़ी बात सुनाते हैं।

साधना होती है एक ईश्वरकी प्रधानतासे। एक होती है अपनी प्रधानतासे। एक होती है दोनोंमें एकताकी प्रधानतासे। यह जो छठें अध्यायमें अभी साधना बतायी जा रही है—इसमें विश्वास तो ईश्वरका है। क्योंकि बिना ईश्वर-विश्वासके गीताकी कोई साधना नहीं चल सकती। आप यदि पूछो कि छठे अध्यायमें भला ईश्वर-विश्वास कहाँ है, तो, **युक्त आसीत मत्परः**। यह जो मत्परः है, यही ईश्वर-विश्वास है। ईश्वरपर विश्वास रख करके साधन करनेके लिए बैठना चाहिए। माने ईश्वर देख रहा है। हम आँख बन्द करके बैठें जरा, मजा तो तब आता है कि जब

हम आसनपर छाती तानकर बैठते हैं और यह ख्याल होता है कि जब हम ऐसे डटाडट बैठते हैं, तो ईश्वर हमको देख रहा होगा भला! उसको कैसा मजा आता होगा देखो, कैसा छाती तानकर बैठा है!

तो त्वं-पदार्थकी प्रधानतासे जो साधन होता है, उसमें पूरी श्रद्धा चाहिए, पूरी विधि चाहिए और पूरा प्रयत्न चाहिए। और दीर्घकालतक निरन्तर सत्कार भावनासे हम यह करेंगे तब यह होगा। आत्माकी प्रधानतासे जो साधन होता है वह बिना पौरुषके, बिना दीर्घकालके, बिना निरन्तर सत्कार-सेवनके सिद्ध नहीं होता है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

एक लम्बा समय उसके लिए चाहिए। यह नहीं कि तीन दिन करके आये।

ऐरन की चोरी करे, करे सुई को दान।
ऊँचे चढ़के देखते केतिक दूर विमान।

तीन दिन करके आये, बोले—अभी तो हमको ईश्वर मिला ही नहीं, ऐसे नहीं। दीर्घकाल निरन्तर, श्रद्धा-बुद्धिसे सेवन करना पड़ता है। यहाँ त्वं-पदार्थ अर्थात् आत्माकी प्रधानतासे साधन है। एक साधन होता है ईश्वरकी प्रधानतासे, उसकी महिमा आपको सुनायें, वह बड़ी विचित्र है। उसमें न विधि-विधानकी उतनी जरूरत पड़ती, और न दीर्घकालतक सेवन की। थोड़े दिन करनेसे भी **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**। और निरन्तर न हो, कभी टूट भी जाये, तब भी कोई हर्ज नहीं। वह साधन क्या है?

नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।
स्वल्पमप्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।
नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्ययवायो न विद्यते।

तो वह क्या है? कहो तो भक्तोंकी भाषामें बोलते हैं उसको—

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवते भो स्नान तुभ्यं नमः।
भो देवा पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षममः क्षम्यताम्।
यत्र क्वापि नि
स्मारं स्मारमद्यं हरामि

मन्ये किमन्यैमन्येन मे।

आम्नाय व्यसनारण्यरुदितं वेदव्रता

मेदश्छेद फलानि पूर्त सर्पं कुतं भस्म

यह आलवार भक्त बोलते हैं। दक्षिणके महापुरुष बोलते हैं—बाबा, सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र, श्राद्ध, तर्पण सबको नमस्कार है, कोई आसन-वासनका हमको ख्याल नहीं है, जहाँ कहीं बैठ गये और भगवान्का चाहे जो नाम लेकर बोलने लगे—जै हरि विट्ठल, रामकृष्ण हरि, बोलो रामकृष्ण हरि। हम नहीं जानते नियम, नहीं जानते आसन, नहीं जानते प्राणायाम। इसमें भगवान्की प्रधानता है। वे स्वयं अपने भक्तका हाथ पकड़करके उठा लेते हैं और यह जो योगाभ्यास है, इसमें त्वं-पदार्थकी प्रधानता है, हमें भगवान्को पकड़ना पड़ता है और अद्वैत वेदान्त इन दोनोंमें-से कौन है? आजकल जो लोग सत्शास्त्र, सम्प्रदाय, सद्‌गुरु, उपनिषद्‌की दृष्टिसे वेदान्तका अध्ययन नहीं करते हैं, वे तो यही समझते हैं कि यह जो त्वं पदार्थ-प्रधान साधना है, यही वेदान्तकी है। असलमें वेदान्तकी यह साधना नहीं है। वेदान्त तो त्वं पद वाच्यार्थ और तत्-पद वाच्यार्थ, दोनोंमें जो लक्ष्यार्थकी एकता है, जिसमें वाच्यार्थ बाधित हो जाता है और केवल अद्वय, पदार्थ प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अद्वय पदार्थ शेष रह जाता है, वह वेदान्त है। वह तो बिलकुल निराला है। वह ऐसे भी है, वैसे भी है। वह तो—

सोवत जागत पड़े उताने, कहे कबीर हम वही ठिकाने।

अब यह त्वं-पदार्थ-प्रधान जो साधना है, आओ उसकी चर्चा आपके सामने उपस्थित करते हैं। उसको भी सत्संगके बिना, श्रवणके बिना, समझे बिना अगर आप करने चले जाओगे, तो आप नींदको समाधि मानोगे या सपनेको भगवान्की लीला मानोगे या बाईचांसको चमत्कार मानोगे। जबतक समझ नहीं लोगे, तबतक साधनाकी ऊँची स्थिति आपके ध्यानमें ही नहीं आयेगी कि क्या होती है! इसलिए साधनकी ऊँची दशाको समझना सत्संग करके, श्रवण करके आवश्यक है। आओ पहले गीता ही सुनें!

अच्छा, तो क्या हुआ कि पवित्र स्थानमें पवित्र आसनकी स्थापना कर

ली। और, वह अपना होना चाहिए। ज्यादा ऊँचा नहीं और ज्यादा नीचा नहीं, यह कल सुनाया था। पहले जो आसन प्रतिष्ठित किया है, उसके ऊपर कुश, उसके ऊपर मृगचर्म और मृगचर्मके ऊपर वस्त्र और वस्त्रके ऊपर आसन बाँधकर बैठ जाना। आसन बाँधनेका अर्थ होता है कि जिसमें आपको खूब अच्छी तरहसे आराम मिले। अभ्यास कर लेना। पहले ही दिन आप चाहोगे कि हम लम्बी देर तक बैठेंगे, तो घुटनेमें दर्द हो जायेगा, टखनेमें दर्द हो जायेगा। इसलिए चाहे तो सिद्धासनसे बैठो, चाहे पद्मासनसे बैठो, चाहे स्वस्तिकासनसे बैठो। एक नम्बर सिद्धासन, दो नम्बर स्वस्तिकासन और तीन नम्बर पद्मासन। पद्मासन कसरतमें ज्यादा काम देता है और ध्यानके लिए पद्मासनको ज्यादा उपयोगी नहीं माना जाता है क्योंकि उसमें शरीरमें ज्यादा तनाव आता है। और, नहीं तो वीरासनसे बैठ जाओ, अर्द्धपद्मासनसे बैठ जाओ—**स्थिरसुखमासनं**, जिसमें तुम्हारा सुख स्थिर हो, उसका नाम आसन है, और यहाँ दर्द हो रहा है कि पीठ दुःख रही है, इधर कन्धा दुःख रहा है, इधर घुटना दुःख रहा है, हाय-हाय कर रहे हैं और आसन बाँधकर बैठे हैं, उसका नाम आसन नहीं है। पाँच मिनटसे प्रारम्भ करो, दस मिनट करो और धीरे-धीरे सालभरमें बढ़ाकर घण्टे-दो-घण्टे कर लो। लेकिन ज्यादती नहीं करनी चाहिए। अपने शरीरके साथ बलात्कार नहीं करना चाहिए।

अच्छा, अब देखो आगे, बैठ तो गये पर करना क्या है वहाँ! तो करनेकी बात तो आगे बतायी जाती है—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥

उसके पहले आपको सुनाते हैं—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा—बैठकर करना क्या है? कि बैठकर मनकी एक नोक बनानी है; जो फँस जाये, लक्ष्यका वेध करे। एकाग्रंका अर्थ है अपने मनको नुकीला बनाओ कि वह लक्ष्यमें प्रवेश करे, जिस चीजका आप ध्यान करना चाहते हैं, उसके सिवाय दूसरी वस्तुकी ओर न जाये, बस उधर, उधर, उधर।

आपने सुना ही होगा, दुर्योधनसे द्रोणाचार्यने पूछा—तुम्हें पेड़पर चिड़िया दिखती है? कि दिखती है। नकली चिड़िया। पेड़ और चिड़िया दोनों दिखती है कि सिर्फ चिड़िया? कि दोनों। तो अच्छा, अब रहने दो! युधिष्ठिरने कहा कि हमको चिड़िया ही दिखती है। अर्जुनने कहा कि हमको आँखके सिवाय कुछ दिखता ही नहीं है। कि बस ठीक है, जहाँ निशाना लगाना है, वही चीज दिखे। अपना निशाना क्या है! तो देखो, ये बहुधन्धी लोग जो हैं, वो दिनभरमें दस काम किये और उन्हें कल दस काम करने हैं और चार बात पत्नीकी गढ़ी हुई है, चार ऑफिसकी गढ़ी हुई है और वे सब जो दिलमें बाण गड़े हुए हैं उनको लेकर बैठे भजन करनेके लिए तो कहीं सास याद आयी तो कहीं ननद याद आयी, कहीं घरवाली याद आयी, तो कहीं घरवाला याद आया, कहीं देवर आकर सामने खड़ा हो गया। मन क्या एकाग्र होगा! यह जो हमारा मन है यह स्थूलको लक्ष्य बनाता रहता है। इसीसे बचनेकी जरूरत है। हमारा मन बारम्बार ***पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।*** हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं। बहिर्मुख होना क्या है? कि *व्यतृणत्* यह तो कुट्टी-कुट्टी हो गयी! इनकी ये तो संतृण होगयी, कट गयी, इनकी हिंसा हो गयी। यहाँ गयी, यहाँ गयी, यही मनकी स्थिति है। व्यतृणत्—तो एकाग्र करनेका क्या अर्थ है? जरा थोड़े प्रेमसे यह बात आपको सुनाते हैं। एक धागा अपने पास ले लो और जितने फूल आवें उसमें पिरोते चले जाओ। जो अलग-अलग बिखरे हुए फूल आपके सामने पड़े हैं, उनकी माला बन जायेगी—**एकाग्रं मनः कृत्वा,** अपने मनमें एक ही विषय बारम्बार आने दो।

एक हमारे महात्मा थे कांशीके पास, विश्वविद्यालयके दूसरी तरफ रहते थे। बड़े प्रतापी महात्मा थे महाराज! मस्ताने ढंगसे रहते थे। उनके बहुत शिष्य थे। घूमते रहते थे गाँवमें और वे मन्त्र बताते थे, जिस नामका प्रभाव राम भी नहीं जानते—

राम न सकहिं नाम गुन गाई।

वह नाम कौन-सा है? तो लोग बोलते—महाराज, राम ही हैं। तो कहते अरे राम तो उस नामका गुण गा ही नहीं सकते, तो राम कैसे होगा?

बोले—वह तो और कोई है, तुमको नहीं मालूम। तो लोग पूछते महाराज, बताओ वह कौन-सा नाम है? बोले—यह हम नहीं बतावेंगे यह तो हमारे बड़े महाराज बतायेंगे; क्योंकि जब चेला चेला बनाने लगता है, तब वह चेला नहीं रहता, गुरु हो जाता है। तो हम चेला नहीं बनाते हैं। चेला तो हमारे गुरुजी बनाते हैं, उनके पास जाना पड़ेगा। अब महाराज, भेज देते बनारस। जब वे बनारस जाते, तो गुरुजी पहले तो उसकी खूब परीक्षा लेते, बादमें उसके कानमें बोलते कि देखो किसीको बताना मत, कसम खाओ। और जब खूब परीक्षा कर लेते तब बोलते कि वह नाम है 'गुरु'। तो तुम गुरु! गुरु-गुरु गुरु बोलो। एक धागा रखो और उसमें गुरु-गुरु बोलते जाओ। अब गुरु हो गया फूल और तुम्हारे मनका हो गया धागा। देखो, गुरु-गुरुकी एक माला बन गयी, देखो, तुम्हारे मनमें सिवाय गुरु शब्दके और गुरु शब्दार्थके और कुछ नहीं है। तुम्हारा मन एकाग्र हो गया। 'गुरु-अग्र' हो गया। एक माने गुरु। एकाग्र माने गुरु अग्र।

वे तो फकीर थे। हम लोगोंके गाँवमें कहते हैं कि चेला माने चैला। आग जलानेके चूल्हेमें जो लकड़ी डालते हैं, उसको चैला बोलते हैं। यह काहेको होता है? कि यह गुरुजीके पास जो लोग आवें उनको थोड़ी गाली देकर, थोड़ी रुखाई करके, थोड़ा उनका अपमान करके उनकी परीक्षा लेता रहे कि यह हमारे गुरुजीके पास आने लायक है कि नहीं। तो चैला जो गुरु लोग अपने पास लोगोंको ठोंक-पीट करनेके लिए रखते हैं, उसीका नाम होता है—चैला। चैला माने जिसके पास ऐसा आँचल हो, चैल हो, चैल माने कपड़ा। कपड़ा माने जो कुछ गुरुजीके पास आये, उसको अपने थानमें, अपने आँचलमें इकट्ठा करता जाये।

आओ, चेलोंकी बात नहीं करते, वह महात्मा तो बिलकुल फक्कड़ था। अब दूसरी ओर देखो। एक ही विषयको अपने मनमें आने दो, नाम लो चाहे मत लो—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा तत्र आसने उपविश्य।

उस आसनपर तो जाओ बैठ, और मनको करो एकाग्र। एकाग्र करनेकी युक्ति आपको बताने लगेंगे तो आपका मन हमारे बताते समय एकाग्र नहीं

होगा, शायद ऊँघने लग जायें, क्योंकि जिसके मनमें एकाग्र करनेकी इच्छा रहती है, वह तो बड़ी उत्सुकतासे उसको पकड़ता है और मनको घरमें जाकर एकाग्र करता है और जिसको उत्सुकता नहीं होती है वह तो बोर होता है, उसको तो नींद ही आने लग जायेगी। तो आओ, **तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा**की एक दो युक्ति आपको सुनाते हैं। आप देखो, यह काल सेकेण्ड-सेकेण्ड बीत रहा है, जैसे दिन-रात, दिन-रात। जैसे घण्टा-घण्टा, मिनट-मिनट, वैसे ही सेकेण्ड-सेकेण्ड। सेकेण्ड माने तो आप जानते ही हैं—क्षण। क्षणमें तीन अक्षर हैं न हमारे। क्या? क् स और ण्। तीनों मिलकर क्या हुआ? स को क् के पहले रख दो—स्कण, सेकेण्ड हो गया। माने हमारा 'क्षण' शब्द जब विदेशमें गया, तब वहाँकी चीजें खा-पीकर शक्ल ही अपनी बदल दी, सेकेण्ड हो गया, है वही। उसके भीतर क, स, न तीन अक्षर हैं। क स संयोगे 'क्ष'। तो लो ये क्षण तो बहुत-से हैं, मनमें गिनो, एक क्षण, दो क्षण, तीन क्षण, क्षणको गिनो। बिना घड़ीके आँख बन्द करके क्षणोंकी गिनती प्रारम्भ करो। सेकेण्ड होंगे सौ और आपका मन होगा एक। अपने मनमें सेकेण्डको गूँथते जाओ, देखो आपका मन एकाग्र हो जायेगा।

अच्छा लो और सुनाते हैं आपको! जो करना चाहते हैं, उनके लिए सब सुगम है। यह ऐसा क्यों होता है यह भी हम आपको बता देंगे, इसका विज्ञान है। अच्छा, आपको एक दूसरी चीज बताते हैं। केवल आप आम बढ़िया हापुज ले लो यह तो एयर कण्डीशन आम है। जरा तेज लेना हो तो बनारसका लँगड़ा ले लो, लखनऊका दशहरी एकदम ठण्डा। अच्छा, तो कोई आम ले लो आप अपने मनमें, लेकिन फिर दूसरा आम न आये। यह नहीं कि पहले हापुज ले लें, फिर लँगड़ा आये फिर दशहरी आये, ऐसे नहीं, एक ही आम। एक हजार बार हापुज आमको अपने मनमें आने दो, दूसरी कोई चीज न आवे। एक हजार बार राम नहीं आम। एकाग्रताका क्या स्वरूप होता है, यह समझानेके लिए आपको बताता हूँ कि पहले आप एकाग्रताको समझिए। यह पतञ्जलिका सूत्र है—

'शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ।'

जो प्रत्यय शान्त हो वही उदित हो। आम, आम, आम जो उठा वहीं शान्त हुआ। जो शान्त हुआ वहीं उठा। जो गया वही आया। तो जो वही-वही आयेगा, वह एक होगा तब आपका मन एकाग्र हो जायेगा। और यदि ऐसा आमके साथ न करें, रामके साथ करें, यदि ऐसा कृष्णके साथ करें और अनदेखेके साथ न हो बाबा, तो देखे हुएके साथ करो। माहात्म्य-बुद्धि होनी चाहिए, भगवद्‌बुद्धि तो जरूर होनी चाहिए। क्योंकि भगवद्-बुद्धि भीतरसे निकलकर वस्तुमें जाती है। बाहरसे भगवद्‌बुद्धि हमारे हृदयमें नहीं आती। हमारे हृदयमें-से निकलकर भगवद्‌बुद्धि सामनेवालेमें जाती है।

तो देखो विषयका आपको बताया, क्षणका आपको बताया, शब्दका आपको बताया और भी बताते हैं। अच्छा, मनको आप भीतर जाने दो, मन आपका भीतर प्रवेश कर रहा है। बाहरसे भीतर, भीतर आपको कभी सुनाया था नहीं मैंने। कृष्ण बैठे हैं वृन्दावनके निकुञ्जमें, राधा रानी आयी नहीं, देर हो गयी, अभिसारवाला मामला, सास-ननदने रोक लिया, तो कृष्ण बैठ गये निकुञ्जमें, राधारानीका ध्यान करने लगे। अब कृष्णके ध्यानमें राधा। तो वह ध्यानमें बैठीं राधा क्या कर रही हैं, जब यह सवाल पैदा हुआ तो राधाके ध्यानमें कृष्ण। फिर वहाँ कृष्ण क्या कर रहे हैं? कि राधाका ध्यान। फिर वहाँ राधा क्या कर रही हैं? कृष्णका ध्यान। आप सौ पीढ़ी चलने दो। आँख बन्द करके। यह बिलकुल सालम्ब सुना रहा हूँ—**तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा।** इसका नाम सालम्ब योग है। सहारा लेकर मनको एकाग्र करना। हमारे गुरुदेव बताते हैं कि आदमी जहाँ गिरता है, उसीको पकड़कर उठता है। एक आदमी वर्षा ऋतुमें चल रहा था गाँवमें, पाँव फिसल गया, तो गिर गया। अब वह चुपचाप पड़ा दूसरेने कहा बाबा गिर गया, सो तो गिर गया, अब उठता क्यों नहीं है? बोले कि उठा नहीं जाता है। अरे, तो धरतीका सहारा क्यों नहीं लेता? जिस धरतीपर हमारा पाँव फिसल गया। जिसपर मैं गिर गया, अब उसका सहारा लेकर मैं उठूँगा? अरे बाबा, जहाँ गिरते हैं उसीका सहारा लेते हैं। तो नाम-रूपमें अपना मन गिरा हुआ है। अपना मन लगा हुआ है। जब नाम-रूपका सहारा लेते हैं तब नाम रूपसे ऊपर उठते हैं—

यस्यां भूमौ निपतितः तामालम्ब्य विमुच्यते।

यह हमारे उपासना-शास्त्रका सिद्धान्त है कि जिस धरतीपर आदमी गिरता है, उसीका सहारा लेकर ऊपर उठता है।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा। यह भीतरवाली बात हुई। अच्छा, अब आपको बाहर ले चलते हैं। अपनेसे सवा हाथ दूर सामने बैठे हैं सवा हाथ ऊपर और सवा हाथके, भगवान्। अरे वे कैसे भी हो, गोरे हों चाहे काले हों, बाँसुरीवाले हों, चाहे धनुर्धारी हों, शंख, चक्र, गदाधारी हों चाहे त्रिशूलधारी हों, माताजी हों चाहे हाथीके मुँहवाले हों, चाहे सूर्यकी तरह चमकते होंक्या कैसे भी हों, अब अपने मनसे बारम्बार उन्हींको देखो! बाहर ले चलो! अभी हम आपको एक बात सुनानेवाले हैं; यह क्या है कि भीतर मन एकाग्र होता है, भीतर ले जानेसे, बाहर ले जानेसे मन एकाग्र होता है। यह है क्या आखिर? अच्छा, आपको सुनाते हैं, आपका मन है। पहले जीभपर देखिये! आपका मन शरीरके बाहर नहीं है। यह यदि आपको भ्रम होता है कि मेरा मन हमारे प्यारेके पास चला गया है, तो किसी प्यारे-वारेके पास यह नहीं जाता है। यह साढ़े तीन हाथके शरीरके भीतर ही रहता है। कभी बाहर जाता ही नहीं। अच्छा, मन हमारा अभी कलकत्ते चला गया। कलकत्ता मनमें आगया कि मन कलकत्ता चला गया। तो न तो कलकत्ता मनमें आया, क्योंकि वह तो यहाँसे हजारों मील दूर है। वह तो आया ही नहीं। अच्छा, तो हमारा मन शरीर छोड़कर कलकत्ते चला गया? बिलकुल नहीं गया, तब क्या हुआ? कि इस शरीरमें रहते-ही-रहते हमारे मनने कलकत्तेकी कल्पना कर ली। तो आप इस बातको समझो कि हमारा मन शरीरसे बाहर कहीं नहीं जाता और न शरीरके बाहरकी कोई चीज मनके भीतर घुसती है, न श्रीमतीजी आती हैं, न श्रीमान्‌जी, कोई नहीं आता है मनके भीतर। मनमें तदाकारताकी सिर्फ कल्पना होती है, असलमें मनमें कुछ है नहीं।

अच्छा, तो अब आप यह कल्पना करो कि आपका मन आपकी जीभपर है। जीभसे आपका मन गलेमें गया, वैखरी वाणीसे मध्यमा वाणीमें गया और वहाँसे आपका मन हृदयमें आया, पश्यन्तीमें, और वहाँसे आपका मन मूलाधारमें गया। यह मनकी जो धारा है यह मूलाधार चक्रमें जा करके

परावाणीसे एक हो रही है। वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा। परावाक्‌में अपने मनको शान्त कर लो, समाधि लग जायेगी। परावाणी चिद्रूपा है, चेतन है। पराके साथ जाकर मनको शान्त हो जाने दो, समाधि लग जायेगी।

अब लो दूसरा सुनाते हैं। अपने मनको ऊपर उठाओ, मूलाधारसे स्वाधिष्ठानमें, स्वाधिष्ठानसे मणिपूरकमें, वहाँसे अनाहतमें, अनाहतसे विशुद्धमें, विशुद्धसे आज्ञामें, आज्ञासे सहस्रारमें, ऊपर उठाओ, यहाँ आकर एकाग्र हो जायेगा! लो, यह क्या हुआ! नीचे ले जाओ तब भी एकाग्र, ऊपर ले जाओ तब भी एकाग्र, बाहर ले जाओ तब भी एकाग्र, भीतर ले जाओ तब भी एकाग्र।

अच्छा, इससे भी एक मोटी युक्ति आपको बताते हैं। आप यहाँ बैठे हो, आप पाँच मिनटतक यह अभ्यास करो, एक ही मिनट करो, यह जो भारतीय विद्या भवनका हाल है इस हालसे बाहरकी किसी वस्तुकी कल्पना आपके मनमें न आये, बस! अच्छा, फिर शरीरके बाहरकी कोई कल्पना न आये! फिर, हृदयसे अलग सिरकी या पाँवकी कल्पना न आवे! हृदय हृदयका रहे, और हृदयमें अपने सिवाय और किसीकी कल्पना न आवे। यह क्या हुआ? कि यह धारणा हुई।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

चित्तको एक स्थानमें बाँध लेना, इसका नाम धारणा है। **तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा**—यह बात है क्या? आपका ध्यान, उसकी तरफ हम खींचते हैं। हमने पचास बरसमें मनको एकाग्र करनेकी जितनी युक्तियाँ सुनी हैं और जितनी अपने अनुभवमें आयी हैं उनको हम घण्टे भरमें आपको कैसे बता सकते हैं, भला! बात यह है कि न तो बाहर कोई जगह है और न भीतर, न नीचे, न ऊपर, मन पहले है, जगह बादमें। इन जगहोंको मन बनाता है। यह साठ सेकेण्ड एक मिनटमें नहीं होते और साठ मिनटका एक घण्टा नहीं होता, चौबीस घण्टेका एक दिन रात नहीं होता। यह सब, दिन-रात घण्टा और मिनट और सेकेण्ड, यह पहले मन होता है तब बनते हैं। आम और राम दोनों मनःपूर्वक होते हैं। मन एकाग्र करनेका अर्थ यह है कि जितने खेल तुम्हें दिखायी पड़ रहे हैं, उन सब खेलोंमें मनीराम खेल रहे हैं और जब खेल नहीं दिखायी पड़ते—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।

जितने खेल दिखायी पड़ रहे हैं, स्थानमें, समयमें, वस्तुमें, शब्दमें, बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे—ये सब तुम्हारे मनमें दिखाई पड़ रहे हैं। जिस दिन यह रहस्य, आदमीकी समझमें नहीं आता है, वह समझता है सचमुच मूलाधारमें जाना है, सचमुच सहस्त्रारमें जाना है, सचमुच बाहर जाना है, सचमुच भीतर जाना है, जिस दिन यह बात आपको मालूम पड़ेगी कि कितनी स्वतन्त्रता है आपमें, आपका मन एकाग्र नहीं है, आपका मन एक है। और सारी एकता मनका स्पन्दन है, मनकी कल्पना है, मनका खेल है। उसमें समग्रमें विकल्प है। यह पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्खिन, बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर क्या है? यह तो विकल्प है, माने वस्तु हुए बिना ही शब्द-मात्र है। जिसमें पहले पीछे, अतीत, भविष्य और वर्तमान, यह काल क्या है? क्षण-क्षण क्या है? यह कण-कण क्या है? यह परावाणी और वैखरी वाणी क्या है? यह मूलाधार और सहस्रार क्या है? यह बाह्य और आन्तर क्या है? ये सारे वेद, ये सारे काल, ये सारी वस्तुएँ, इनमें कहीं मनको भेजना नहीं है और किसी चीजको मनमें लाना नहीं है—

मनः कल्पितमेवेदं जगज्जीवेत् कल्पनम्।
तदेकं सम्परित्यज्य निर्वाणमनुभूयताम्।

शंकराचार्य भगवान् बोलते हैं, मनका दीया बुझ जाने दो, मनका दीया, जातिका, मायाका बनाया हुआ यह मनका दीपक, मनकी ज्योति जब प्रज्वलित होती है तो नाना प्रकारके देश-काल-वस्तु, जीव-ईश्वरका तमाशा दिखाती है और यह मायाका बच्चा, यह जादूका दीपक जहाँ बुझा, वहाँ *'हम न तुम, दफ्तर गुम।' खेल खत्म, पैसा हजम!*

या स्वयं पद्मनाभस्य मुख पद्माद्विनिसृताः।

पद्मनाभ भगवान् नारायण स्वयं कहते हैं। उनका शरीर कितना बड़ा है यह बताना तो अशक्य है, उनके शरीरमें पेट है, पेटमें है नाभि और नाभिमें जो गड्ढा है वह इतना बड़ा है कि उसमें चतुर्दश भुवनात्मक लोक पद्म, अब डूबा, अब उतराया—*नभ एव नाभिः*—आकाश उनकी नाभि है और उसमें ये

चतुर्दश भुवनात्मक लोकपद्म है, उसपर होते हैं ब्रह्मा। नारायण सृष्टि तो बन गयी भगवान्‌के संकल्पसे अब सृष्टिमें सुख-शान्ति कहाँसे आवे ? तो गीता भगवती जो थीं हृदयमें भगवान्‌के बिलकुल आनन्दात्मक, वह *स्वयं मुखपद्माद् विनिसृता:।* भगवान्‌को बोलना नहीं पड़ा। उन्होंने भगवान्‌को बोलनेकी तकलीफ बिलकुल नहीं दी, *स्वयं विनिसृता:*। विनि:सरणका कर्तृत्व गीतामें है, भगवान्‌में नहीं है। भगवान्‌ने गाया नहीं गीता, स्वयं भगवान्‌के मुँहसे प्रकट हुई।

या स्वयं, स्वयं ही, यह नहीं कि भगवान्‌ने कहा कि हे गीता, तुम मेरे मुँहसे निकलो, भगवान्‌ने आदेश नहीं दिया, आज्ञा नहीं दी। वह जब गीता भगवतीने देखा कि दुनियाके लोग निकम्मे हो रहे हैं—अकर्मण्य—

कर्मण्येवाधिकारस्ते की प्रेरणा देनेके लिए गीता भगवती स्वयं निकल आयी। जब उसने देखा कि आसुरी सम्पत्तिमें लोग लग रहे हैं, तो **दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता** आसुरी सम्पत्ति छोड़ो, दैवी सम्पत्ति ग्रहण करो—यह सिखानेके लिए गीता भगवती निकल आयी। देखाकि लोग राग-द्वेषमें फँसे हुए हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं यान्ति परंतप।
येषां त्वन्तगतं पापं

संसारका राग-द्वेष छोड़ो, भगवान्‌का भजन करो, यह संदेश देनेके लिए, इस स्वत: सिद्ध संगीतका उदय हुआ। जब देखा कि लोग अज्ञानमें फँस रहे हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।

ज्ञानका सन्देश लेकर गीता भगवती स्वयं प्रकट हुईं। भगवान्‌के हृदयमें जो स्वाभाविक करुणा है, वह गीताका रूप धारण करके प्रकट हुई, इसीलिए कहते हैं—

गीता मे हृदयं पार्थ।

अर्जुन, मैं जो यह गीता तुमको दे रहा हूँ, यह हाथसे नहीं, मुँहसे अपना हृदय, मुँहके रास्ते निकालकर मैं तुम्हें अर्पण कर रहा हूँ। गीता भगवद्-भावका हृदय है। स्वयं सच्चिदानन्द-रूपिणी है—

अम्ब त्वामनुसंदधामि, वात्सल्यमयी माँ है, स्नेहमयी माँ है, करुणामयी माँ है, यह सम्पूर्ण प्राणिमात्रकी माँ है, जगत्‌की माँ है जो गीताके रूपमें प्रकट हुई है।

प्रसंग चल रहा है यह कि जरा मनको एकाग्र करना चाहिए। तो पहले बताया कि—

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।
योगी युञ्जीत सततं आत्मानं रहसि स्थितः।

अपने आपसे मिलो! पहला संदेश इस प्रसंगमें गीताने यह दिया कि तुम दूसरोंसे बहुत मिलते हो, दूसरी चीजोंसे मिलते हो और दूसरे आदमियोंसे मिलते हो, दूसरी कल्पनाओंसे मिलते हो, जरा अपने आपसे मिलकर देखो, माने दूसरोंसे मिलना छोड़कर जरा आत्मनिरीक्षण तो करो, अपने आपमें बैठो,

योगी युञ्जीत सततं आत्मानं।

इसके लिए एकान्तमें बैठना, अपने साथ कोई मददगार चेला-चाँटी नहीं रखना, एकाकी और, इससे कोई सिद्धि मत चाहना। **निराशीः। अपरिग्रहः**—खाने-पीनेका खूब बन्दोबस्त करके, लौकिक वस्तुओंपर भरोसा करके मत बैठना। लौकिक वस्तुओंपर जो भरोसा है, वह ईश्वरके भरोसाको शिथिल कर देता है। और फिर पवित्र स्थानमें अपने आसनकी प्रतिष्ठा करके, वह न ज्यादा ऊँचा, न ज्यादा नीचा, सम होना चाहिए। आसन, क्योंकि हमें समयोगमें जाना है—

योग त्वया प्रोक्त साम्येन मधुसूदन।

साम्य योगमें जाना है और **चैलाजिनकुशोत्तर** बैठ गये। **तत्र आसने उपविश्य** उस आसनपर बैठकर क्या करना है? कि, **एकाग्रं मनः कृत्वा** मनको एकाग्र करना है।

आपको कल कई युक्ति बतायी थी, मन एकाग्र करनेकी। युक्ति तो होती

है तात्कालिक। यह जो वैद्य लोग दवा करते हैं, वह दो तरहकी होती है—एक व्याधि-प्रत्यनीक चिकित्सा होती है और एक हेतु-प्रत्यनीक चिकित्सा होती है। एक तो जो तत्काल उपद्रव हो रहा है, खाँसी आ रही है, बहुत प्यास लग रही है, दर्द हो रहा है, ऐसी दवा दी कि तत्काल बन्द हो गया। उसको व्याधि-प्रत्यनीक चिकित्सा कहते हैं, उपद्रवको तुरन्त बन्द कर देना और एक दवा ऐसी होती है जो, जिस कारणसे वह रोग हुआ है, उस कारणको ही निकाल देना। जैसे पेटकी खराबीसे वह रोग हुआ है, तो पेटको शुद्ध करनेसे वह उपद्रव दूर हो जाये, कफका उपद्रव है तो उसका शमन करना, पित्तका उपद्रव है तो उसको शमन करना, वातका उपद्रव है तो उसको शमन करना, इसको हेतु-प्रत्यनीक चिकित्सा कहते हैं। माने कारणका निवारण। उपद्रवका निवारण एक और कारणका निवारण दो। उपद्रव-विदारण और कारण-निवारण, ये दो प्रकारकी चिकित्सा होती है।

तो अब हम आपको एकाग्रताकी व्याधि-प्रत्यनीक जो चिकित्सा है, तत्काल एकाग्र करनेवाली बात, वह तो शरीर स्थिर करनेसे हो जायगी, नेत्र स्थिर करनेसे हो जायगी, श्वासको सम करनेसे हो जायेगी, मनको चाहे मूलाधारमें ले जाओ—तब भी हो जायेगी, सहस्त्रारमें ले जाओ तब भी हो जायेगी, अनाहतमें ले जाओ तब भी हो जायेगी। अनाहतमें ले जाओ तब भी हो जायेगी, मालाकी तरह प्रत्येक विषयमें पिरोवो तब भी हो जायेगी, क्षण-क्षणको गिनो तब भी हो जायेगी, इंच-इंचको गिनो तब भी हो जायेगी। देशमें ले आंओ तब भी हो जायेगी। कालमें ले आओ तब भी हो जायेगी। इसी कालमें, इसी देशमें, इसी वस्तुमें आबद्ध कर लो, तब भी हो जायेगी। पर यह सारी मनकी एकाग्रता जो है, यह कल आपको सुनाया था, मन है आपके पास एक धागा, जो विषय सामने आये उसे पिरोते जाओ, जो सेकेण्ड आवे उसे पिरोते जाओ, जो अन्तर्देश आवे उसे पिरोते जाओ, आपका मन बिलकुल एकाग्र रहेगा। परन्तु यह केवल व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा है। इस समय राम राम बोलते जाओ और राम-राममें मन लगाते जाओ, माला फेरते जाओ और एक-एक मनका फेरते जाओ. बैठो और दोनों अंगूठोंके नाखूनको दबा दो,

आपसमें दोनों अंगूठोंके नाखून सटाकर दबा लो, ढीला न छोड़ो। मुँहमें जीभको उठा लो और यह जीभ है धरती, बीचमें है अन्तरिक्ष, ऊपर जो तालु है वह है आकाश। मनकी आँखसे तालुको देखो आपको वह दृश्य दिखेगा जिसकी आप कल्पना नहीं कर सकते।

ये सब तात्कालिक उपाय हैं। अब आपको यह मनकी एकाग्रताका जो विवेक है वह सुनाते हैं। क्योंकि बिना समझदारीके जो मनको एकाग्र करते हैं, वे **विषीदन्त्यसमाधानात्**—उनका मन समाहित नहीं होता है और उनके हाथ विषाद लगता है, निर्वेद होता है कि हाय-हाय हम तो करते-करते थक गये और हमारा मन काबूमें नहीं हुआ। यह जो लोग फिर अपने मनसे करते हैं, वे महीने-दो महीने, छह महीने तक तो लगे रहते हैं, फिर ढीले पड़ जाते हैं, महाराज कहते हैं किसीका नहीं होता। फिर ऐसे बोलते हैं कि यह किसीका नहीं होता। इसलिए आओ आपको इसके सम्बन्धमें थोड़ा-सा जो विवेक है, जिससे मनकी चञ्चलताके कारणका निवारण होता है वह आपको सुनाते हैं। वह क्या है? आप समझो कि बाहरसे आप आँखको चाहे अमावस्याकी तरह करना, चाहे पूर्णिमाकी तरह, और चाहे प्रतिपदाकी तरह तीन तरहसे आँख की जाती है ध्यानके समय। पूर्णिमाकी तरह माने पूरी खुली आँख हो। आँख खुली हो पर बाहरकी कोई वस्तु न दिखे—ऐसा! और आँख पूरी बन्द हो और आँख अधखुली हो, तो खुली आँखको पूर्णिमा बोलते हैं, बन्द आँखको अमावस्या बोलते हैं और अर्धोन्मीलित नेत्रको प्रतिपदा बोलते हैं। तो यह प्रतिपद, अमा और पूर्णिमा तीन प्रकारसे आँख ध्यानके समय रखी जाती है मनकी एकाग्रताके समय। परन्तु तीनों ही प्रकारसे उस समय बाहरके विषय भीतर प्रवेश नहीं करते हैं, इन्द्रियोंके द्वारा। जरा आप सचमुच मन लगाकर बातको सुनोगे तो ध्यानका रहस्य आपकी समझमें आ जायेगा। बिना समझदारीके जो ध्यान करेंगे वह तो टिकाऊ होगा नहीं। यह जो ध्यानके रोजगारी लोग हैं, यह ध्यानकी दुकान चलाते हैं, ध्यानका कोई रोजगार नहीं चलता है, उसका कोई प्रोपेगण्डा नहीं होता है। देखो, जिस समय आप ध्यान करने बैठे हो उस

समय बाहरसे आपके मनमें कोई विषय नहीं जा रहा है। जो पहलेका विषय है वही आपके मनमें दिखता है। यदि यह बात मान भी लें कि आप बाहरके विषयोंको देख रहे हैं, ग्रहण कर रहे हैं और वही आपके अन्तःकरणमें जाते हैं तो आओ, इस बातको मान लेते हैं। विषय तो बाहर है, जैसे घड़ी बाहर है और हमको ध्यानके समय घड़ी भीतर दिख रही है तो घड़ी क्या बाहरसे उठकर भीतर चली गयी? आप इसपर विचार करो कि हमारा अन्तःकरण भीतरसे उठकर बाहर घड़ीमें चला गया? घड़ी तो जहाँ-की-तहाँ है और हमारा अन्तःकरण रूप शीशा भी जहाँ-का-तहाँ है, तब यह घड़ी हमको भीतर क्यों दीख रही है? कि यह घड़ी नहीं दिख रही है, घड़ीकी छाया, घड़ीका आभास, घड़ीका प्रतिविम्ब दिखायी पड़ रहा है, जैसे आदमी बाहर खड़ा हो और कैमरेमें उसकी छाया दिखती है, वैसे आपका अन्तःकरण है। कैमरेके द्वारा और यह आपके आँखोंके द्वारा, हृदय तो आपका है कैमरेके समान जिससे फोटो लेते हैं और आँखके रास्तेसे विषयकी परछाईं आपके अन्तःकरणमें जाकर पड़ रही है, तो अन्तःकरणमें आपके विषय नहीं हैं, परछाईं है। न अन्तःकरणमें आपके शत्रु हैं, न मित्र हैं, न स्त्री हैं, न पुरुष हैं, न माता है, न पिता है, न धन है, न मकान है, न दुनिया है। पहले आप इस विषयपर आ जाओ कि आपके अन्तःकरणमें जो भी विषय दिखाई पड़ रहा है, वह असली विषय नहीं है, वह विषयकी छाया है, आभास है, अथवा प्रतिबिम्ब है, आपके अन्तःकरणमें एक नकली चीज दिखायी पड़ रही है। आप यहाँतक पहले विवेकको ले आओ! अब वह आपका शत्रु होगा तो आपको थोड़ी जलन होगी और आपका मित्र होगा, यार होगा आपका तो थोड़ा स्वाद आवेगा। यह छायासे स्वाद भी नहीं निकलता और कड़वाहट भी नहीं निकलती, यह जो किसीको देखकर हमारा जायका बिगड़ता है, कई लोग होते हैं मैंने देखा है महाराज, ऐसी दुश्मनी साधते हैं, अपने दुश्मनको देखकर बगलमें थूक देते हैं। वह दुश्मन उनके दिलमें थोड़े ही घुसा है। वह तो सड़कपर बेचारा जा रहा है, उनके दिलमें बसी हुई जो शत्रुकी आकृति है वह उभड़ आयी और उसको देखकर उन्होंने थूक दिया तो असलमें शत्रु आपके हृदयमें नहीं है। मित्र आपके हृदयमें नहीं है, बाहरका जो पहले,

किसी दूसरे समय या दूसरे स्थानमें या दूसरे रूपमें जो देखी हुई चीज है या तो उसी समय वह याद आगयी है और या तो बाहर वह इन्द्रियोंसे ग्रहण होकर भीतर प्रतिबिम्बित हो रही है, परछाईं है। वह न असली शत्रु है, न वह असली मित्र है। एकने कहा जिस रास्ते ये चलेंगे, उस रास्तेसे हम नहीं जायेंगे। एकने कहा जहाँ ये बैठकर खायेंगे वहाँ हम नहीं खायेंगे, जिस धरतीपर ये रहेंगे उस धरतीपर हम नहीं रहेंगे। और जिस स्वर्गमें ये जायेंगे तो वहाँसे निकलकर नरकमें जाकर रहेंगे, लेकिन इनके साथ हम नहीं रहेंगे। अरे बाबा, कहाँ तुम्हारा नरक-स्वर्गमें साथ होता है, यह तुम्हारा दिल ही बिगड़ गया है, तो यह आध्यात्मिक जीवन जो है यह दिलको ठीक करनेके लिए है।

अब आप आओ, देखो सत्संगमें आते हो, विचार करो अपने दिलका। असली शत्रु या असली मित्र आपके हृदयमें नहीं है, उसकी परछाईं आयी। शत्रुता और मित्रता तो संस्कारसे आयी।

संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।

अथवा

अनुभूतविषया सम्प्रमोषः स्मृतिः।

जैसा पहले आपका अनुभव है, इस चीजको पहले मैंने देखा था, इसने दुःख दिया था, अब भी दुःख देगा। इस चीजको मैंने पहले देखा था, सुख दिया था, अब भी हमको सुख देगा। तो एक तो हुई संस्कारजन्य वासना और एक हुई चीजकी परछाईं और एक हुआ ज्ञान। प्रकाशांश पृथक् है। अब आप देखो आपके अन्तःकरणमें तीन चीज है—एक तो बाहरी दुनियाकी परछाईं पड़ रही है। एक उसमें यह सुख देनेवाला है, यह दुःख देनेवाला है, यह वासना बन रही है और एक उसको आप अपने ज्ञानसे, वासना और विषय दोनोंको अन्तःकरणमें प्रकाशित कर रहे हैं। इन्हीं तीनोंका नाम है मन प्रकाश, वासना और विषयकी परछाईं, इन तीनोंका नाम है मन।

अब आप किसको एकाग्र करना चाहते हो, जरा इसका थोड़ा-सा विवेक कर लो! आप जानते ही हो कि हम विवेकका तिरस्कार कभी नहीं कर सकते। ईश्वरके लिए भी विवेकका तिरस्कार नहीं करते, परमार्थकी प्राप्तिके

लिए भी विवेकका तिरस्कार नहीं करते, मोक्षके लिए भी विवेकका तिरस्कार नहीं करते, विवेक ही तो पूँजी है।

अब आप थोड़ा-सा देखो, जो विषयांश है वह तो परछाईं है, उसकी उपेक्षा कर दो और जो वासनांश है उसके साथ 'मैं' और 'मेरा' मत करो और तुम प्रकाशरूप हो, तुम्हारा मन प्रकाश रूप है, न वासना है, न विषय है। विषयकी आकृति झूठी परछाईं है और वासना जो है एक बहती हुई पुरानी गन्दी चीज तुम्हारे मनमें-से निकल गयी है, चाहे अच्छी हो, चाहे बुरी, वह गन्दी चीज है और तुम्हारा मन क्या है? प्रकाशांश। केवल ज्ञान तुम्हारा मन है। और वह ज्ञान आत्मासे अलग थोड़े ही है। मनमें जो ज्ञानांश है वह आत्मा है और जो वासनांश है वह जन्म-जन्मका प्रवाह है। इस जन्मका भी और पूर्व जन्मका भी और जो विषय है वह इन्द्रियों द्वारा गृहीत होकर बाहरसे भीतर डाला गया है। इन्द्रियोंसे गृहीत होकर बाहरसे भीतर विषयोंकी परछाईं डाली गयी, वासनाका प्रवाह अनादि है और अविद्याके कारण वासना और परछाईंको आप सच्ची 'मैं' और मेरी समझ रहे हो, मनका असली स्वरूप प्रकाश है और वह प्रकाश आत्मासे भिन्न नहीं है। जब यह मन वासनांश और प्रतिविम्बांश दोनोंका परित्याग करके आत्मासे अभिन्न होगा, तब इसकी सच्ची एकाग्रता होगी। और बाकी जो एकाग्रता है वह सब-की-सब झूठी है। यदि किसी एक विषयमें मनको एकाग्र करते हो तब भी झूठी है और किसी वासनाकी धाराको बारम्बार दुहराते हो, तो वह भी मनकी स्थिति झूठी है। इसलिए आपको असलमें मनको एकाग्र करना नहीं है, मनके स्वरूपको न जाननेके कारण—

न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः।
यदर्थं प्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते॥

हमारी भगवती उपनिषद् सौ-सौ माताओंसे भी अधिक करुणामयी, वात्सल्यमयी, स्नेहमयी, अम्बा जगज्जननी बोल रही है कि देखो, यह जो विषयका प्रतिभान हो रहा है तुम्हारे हृदयमें कि यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह पशु है, यह पक्षी है—ये कुछ नहीं हैं, ये तुम्हारे मनकी आकृति-विशेष हैं, मनमें ही पड़ी हुई छाया है और इसमें जो सुखबुद्धि, दुःखबुद्धि है, यह तुम्हारी

पूर्वानुभूत वासनाका प्रवाह है और तुम्हारा मन जो प्रकाशरूप है उसमें न वासना है न विषय है और यह प्रकाशरूप जो मन है, यह अपने स्वरूपसे बिलकुल पृथक् नहीं है।

आओ आप देखो, असलमें आपका ध्यान लगा हुआ है। अज्ञानके कारण ही आपको ऐसा भासता है कि ध्यान नहीं है। श्रीहरिबाबाजी महाराज एक पण्डिनके घरमें कथा सुननके लिए जाते थे। वे तो आँख नीचे करके चुपचाप जाते, बैठ जाते, कथा-श्रवण करके फिर लौट आते, वृन्दावनकी बात है, एकदिन सेवकने कहा कि महाराज कथा तो बहुत अच्छी सुनाते हैं, परन्तु इनके घरमें ये शाल-दुशाले, पीताम्बर, ये रेशमी कपड़े इधर-उधर खूँटियोंपर टँगे हैं, बड़ा भारी प्रदर्शन है महाराज, यह अच्छा नहीं लगता है। तो हरिबाबाजी महाराजने कहा कि हमको चार महीना हो गया, रोज उनके घर जाते हैं, हमने देखा ही नहीं कि भीतपर क्या टँगा हुआ है, तू कथा सुननेके लिए जाता है कि भीत देखनेके लिए जाता है वहाँ!

एक बात आपको सुनाते हैं। एकदिन लोनावाला गये, स्वामी कुवलया-नन्दजी महाराजने बनाया है कैवल्याधाम, तो वहाँ एक बाइस्कोप बना है, उसमें आँख लगाकर देखते हैं। अब महाराज, उसमें क्या है कि एक ओर बुद्धका शान्त ध्यान-मुद्रामें चित्र है, एक ओर किसी नर्तकीका चित्र है, एक ओर राम-कृष्णका चित्र है भीतर। जब हम देखने लगते हैं, तो हम समझते हैं कि कोई देख तो रहा नहीं वहाँ, चाहे हम जिसको देखें! तो जब नंगी औरतको देखनेके लिए हमारी आँख लग जाती है, तो वह रिकार्ड हो जाती है कि आँख उस कोणमें गयी। बुद्धको देखती है तो वहाँ रिकार्ड हो जाती है, कृष्णको देखती है, वह वैसी आ जाती है। अब देखो क्या हुआ? कि पता लग गया कि इसका मन सहज स्वभावसे नग्न नर्तकीको देखता है, कि बुद्धको देखता है, कि रामकृष्णको देखता है। तो यह जो हमारा मन है, अन्तःकरण है, इसमें एक तमोगुणकी धारा बहती है, एक रजोगुणकी धारा बहती है, एक सत्त्वगुणकी धारा बहती है और एक तीनों गुणोंसे परे अखण्ड ज्ञानस्वरूप जो कि अन्तःकरणका अधिष्ठान है और अन्तःकरणका प्रकाशक

है, उस अन्तः-करणमें ही मौजूद है। अब देखना यह है कि तुम अपने अन्तःकरणमें जो इतनी चीजें हैं, उनमें-से देखते किसको हो? कोई कहेगा कि बस महाराज हमको तो नींद-ही-नींद दिखायी पड़ती है कि सो जाओ, एक कहेगा हमको तो शत्रु-मित्र ही दिखायी पड़ता है, राग-द्वेष ही दिखायी पड़ता है। एक कहेगा हमको तो शान्ति ही शान्ति दिखायी पड़ती है, एक कहेगा कि वहाँ तो अपने स्वरूपके सिवाय कुछ नहीं है। तब यह है क्या असलमें? जो करके बनाया जाता है वह बिगड़ जाता है और जो भोगा जाता है वह बाँध लेता है। जो करके बनाया जायेगा, वह चाहे ध्यान हो, चाहे समाधि हो, चाहे उपासना हो, वह बिगड़ जायगा और जो भोगा जायेगा, वह बाँध लेगा। वह बन्धनका हेतु होगा। इसलिए वहाँ न कुछ करना है और न कुछ भोगना है, यह शान्तिकी बहती हुई धारामें या राग-द्वेषकी बहती हुई धारामें या विषयोंकी बहती हुई धारामें, या तमस्-रजस्की बहती हुई धारामें जो अपने मनका प्रकाशांश है, उसको पकड़ो और देखो वह तुम्हारे आत्माका स्वरूप है और इसमें यह सत्त्व, रज, तम ये शान्ति, वासना और विषय, विषय तमोगुणी है, वासना रजोगुणी है और शान्ति सत्त्वगुणी है, इनकी झूठी धारा तुम्हारे अन्तःकरणमें आती और जाती है—

यदर्थं प्रतिभानं तं मन इत्यभिधीयते।

यह भान झूठा है और जो उसका प्रकाशक है, वह अपना आत्मा है। ध्यान असलमें लगा हुआ है, हमें ध्यान पैदा नहीं करना है। बल्कि ध्यान लगा हुआ है, उसको पहचानना है। इसीसे ध्यानके साधनमें क्या बताया कि ***यतचित्तेन्द्रियक्रियाः*** आगे आयेगा—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।

मिलान कर लो! चित्तकी क्रियाको उपरत हो जाने दो, इन्द्रियकी क्रियाको उपरत हो जाने दो, क्रियाको उपरत हो जाने दो, इसका क्या अर्थ है? असलमें क्रिया क्रिया होती तब है जब हम अहंके रूपमें उसके साथ अपने आपको जोड़ देते हैं। जिस चीजके साथ हम अपने आपको नहीं जोड़ेंगे, उसका नाम मुर्दा होगा। हमारा अहं जिस चीजके साथ नहीं मिला, वह तो मुर्दा है। जब काम आता है मनमें और हम सोचते हैं कि हाँ इस

भोगके बिना तो न हम सुखी होंगे और न वह भोग कृतार्थ होगा, बस समझो हम कामी हो गये और कामके साथ हम अपने आपको न मिलावें तो काम आकर देखेगा बाबा, इस पत्थरमें हमारा प्रवेश नहीं है। लौट जायेगा। यह तो ऐसा शीशा है कि कोई काम-वाम इसमें घुसता नहीं है, क्रोध आयेगा, देखेगा इस चट्टानमें हमारी गुंजायश नहीं है, वह चला जायेगा बिलकुल। ऐसा है घन-प्रकाश अपना स्वरूप! यह जो देश प्रतीत होता है, लम्बाई-चौड़ाई और यह जो काल प्रतीत होता है क्रमके रूपमें और ये जो वस्तुएँ प्रतीत होती हैं विषयके रूपमें, असलमें ये भी मनमें नहीं हैं। मन केवल प्रकाशात्मा है, देश-काल-वस्तु सब-के-सब विकल्प मात्र हैं, केवल कल्पना हैं, अपने स्वरूपसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए आसनपर बैठकर जब आप ध्यान करें, तो कैसे करें? कि **आत्मविशुद्धये** पहले लक्ष्य रखो फिर उसमें बात जो है, उसको नहीं पकड़ोगे, आप टीका-टिप्पणी करोगे, पहले हम कड़ी-कड़ी सूखी-सुपारी मुँहमें डाल लेते थे, दाँतसे टूटती नहीं थी, परेशान हो जाते। एक सेठके घरमें थे, उन्होंने सुपारी भी दी और उसके साथ दो बादाम भी दे दिये, बोले कि पण्डितजी, यह सुपारीके साथ बादाम भी मुँहमें डाल लो, पहले बादामको तोड़ दो दाँतसे, बादाम बड़ा नरम-नरम, जो तोड़ दिया, उसके बाद सुपारी तो अपने आप ही गल गयी। जबतक मालूम नहीं था कि बादाम और सुपारीका संयोग होते ही बादामके रससे सुपारी गल जाती है तबतक हमारे लिए सुपारी तोड़ना मुश्किल था और जब महाराज गुरुजीने बता दिया कि यह सुपारीके साथ बादाम भी मुँहमें डालो, दोनोंको एक साथ खाओ, देखो कमजोर दाँत हो तब भी सुपारी खा जाओगे। इसी तरह यह जो ध्यानकी बात सुनते हो आपलोग भावातीत और ध्यानातीत और ऐसे साँसको करो और ऐसे पेटको करो और ऐसे दम घोटो, यह सब प्रसंग अलग है और ध्यानके स्वरूपको समझते ही, समझमें ध्यानातीतका अवतरण हो जाना, यह बात दूसरी है। इसमें बिलकुल श्रद्धाकी बात समझ लो कि विश्वास करनेकी, कि मरनेके बाद स्वर्ग मिलेगा, कि मरनेके बाद भगवान् मिलेंगे, वह बात इसमें नहीं है। वह तो यहीं, एक हाथसे दो, एक हाथसे लो। कि नहीं, यह भी नहीं, यह तो लो ही लो, इसमें

देनेकी कोई बात नहीं है। आप अपने मनके स्वरूपको देखो, आपके मनमें न तो बाहरका कोई विषय प्रविष्ट होता है और न तो उसके ज्ञानस्वरूपमें कोई वासना लगती है। वह तो जब तुम जानबूझकर कहते हो कि आ बैल मुझे मार! तब क्रोध, काम और लोभ, मोह और यह लोग-लुगाई तुम्हारे दिलमें घुसकरके सब उपद्रव खड़ा करते हैं, जैसे सपनेमें बाघ तुम्हारे दिलमें घुसकर तुम्हें डराता है, सपनेका बाघ जैसा होता है, जाग्रत्के स्त्री-पुरुष भी बिलकुल वैसे ही हृदयमें घुसकर डराते हैं। असलमें योगका होना चाहिए उद्देश्य। आप योग किसके लिए कर रहे हो? बोले—महाराज, हम जरा सिद्ध हो जायें, अपने दुश्मनसे समझेंगे। धर्म किसलिए कर रहे हो, कुँआ किसके लिए खोद रहे हो? कि इस रास्ते जब हमारा दुश्मन निकलेगा तो इसमें गिर जायगा। यह कुआँ खोदकर तुम धर्म नहीं कर रहे हो! पाप कर रहे हो। दूसरेको दुःख पहुँचानेके लिए जो काम किया जाता है वह पाप है। जबानसे चपत मारना भी हिंसा है। और हाथसे चपत मारना भी हिंसा है। अच्छा, मनसे चपत मारना भी हिंसा ही है। और मनुस्मृतिके बारहवें अध्यायमें यह प्रसंग आया है कि मनसे चपत मारोगे तो तुम्हारे मनको दुःख मिलेगा, जबानसे और हाथसे चपत मारोगे तो तुम्हारे शरीरको दुःख मिलेगा। आप देख लेना मनुस्मृतिके बारहवें अध्यायमें जहाँ कर्मफलके निरूपणका प्रसंग है। यह बात बिलकुल स्पष्टम्-स्पष्टम् आयी है। तो आओ, आप अपने मनको एकाग्र करो, किसके लिए? कि दुश्मनको सतानेके लिए नहीं, अच्छा अपने यारको पानेके लिए, हे भगवान् जब हमारी संकल्पशक्ति प्रबल हो जायेगी क्या हम यही सब चाहेंगे! बचपनमें बैठते थे हमलोग कि आओ जरा योगाभ्यास करें! क्या होगा योगाभ्याससे। दो-तीन जने बैठ गये कि देखो चींटी आ रही है न, कि हाँ! देखो, यह मक्खी उड़ रही है! कि हाँ। एक जने अभ्यास करो कि यह मक्खी उड़कर उधर जाये, एक जने अभ्यास करो कि यह चींटी जो आ रही है, यह उधरको मुड़ जाय! एक ही के बारेमें तीनों जने संकल्प करेंगे ना कि चींटी एक सोचे इधर जाये, एक सोचे उधर जाय, एक सोचे लौट जाये, तो वह संकल्प नहीं बनेगा, आपसमें संकल्प लड़ेंगे। तीनों तीन विषयका संकल्प करो। वह चिड़िया उधर बैठी हुई है,

संकल्प करो कि वह उड़कर पूर्व जाय, ऐसा सब नहीं! यह नहीं हो कि यार आकर मिले और दुश्मन मर जाये! इसके लिए योग नहीं किया जाता। तब? कि हमको आकाशमें उड़नेकी सिद्धि मिल जाये। इसके लिए भी योग नहीं किया जाता। योगका अर्थ है—**आत्मविशुद्धये।** आत्मविशुद्धयेका दो अर्थ है—एक तो शरीर और मनकी पवित्रता, दूसरे-अपना आप जो खो गया है इस देह और मनके चक्करमें, उसको ढूँढ़ निकालना। अपना आपा ही असलमें खो गया है। आश्चर्य तो यह है कि *'हेरनहार हिरान'* यह हेरनेवाला ही हिराय गया है।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा-आसनपर बैठ जाओ। सोकर नहीं करना, खड़े होके नहीं करना, चलते हुए नहीं करना, बैठ जाना **आसीन सम्भवात्** और वहाँ चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियासे उदासीन हो जाओ, उससे ऊपर उठ जाओ। यत्‌का अर्थ है उपरत हो जाना, उनको छोड़ दो और **'युञ्ज्यात् योगं आत्मविशुद्धये'**—हमारा स्वरूप कैसा है! कैसा प्रकाश स्वरूप मैं हूँ! आत्मविशुद्धिके लिए, आत्माके साथ जो देह, प्राण, मन, अविद्या मिल गये हैं, उनसे अलग करके अपनेको बिलकुल विशुद्ध ज्ञानस्वरूपमें प्रकट करनेके लिए आत्म-साक्षात्कारके उद्देश्यसे, योग करना चाहिए। किसी चीजको छोड़ने या किसी चीजको पानेके लिए नहीं। तब देखो योगका क्या चमत्कार अपने जीवनमें आता है!

: १२ :

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्यात् योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥

जिसको किसी दिशामें भी योग करना है, इस झगड़ेमें कभी मत पड़े कि हमें कर्मयोगी होना है कि भक्तियोगी होना है, कि ज्ञानयोगी होना है। किसी भी मार्गसे आपको चलना है। यह आवश्यक है कि आपके जीवनमें जो बुरी-बुरी आदतें पड़ गयी हैं वे छूट जायें। हमें योगके नामसे कोई मतलब नहीं है। यह जो आदत है न, जो हमने कर-करके, सोच-सोचके, आ बैल मोहे मार कह करके अपने जीवनमें हमने भर ली हैं। इनको बिना दीर्घकालके अभ्यासके हम छुड़ा नहीं सकते हैं। क्योंकि ये बुरी आदतें तो हमारे जीवनमें आगयी हैं। ये हमारे ही द्वारा आदत्त हैं माने गृहीत हैं। हमने स्वीकार कर-करके इनको अपने जीवनमें भर लिया है। अब इनको निकालनेकी जिम्मेवारी भी हमारी है। हिप्पीवाद कोई साधन नहीं है। जो हो सो होने दो। जो आवे सो खालो, जो आवे सो पी लो। जो आवे सो कर लो। यह पिबत-खादत जो है सजग सप्रतीति, यह साधनका मार्ग नहीं है। बाल चाहे जैसे बढ़ें बढ़ने दो, नहीं, इनको सँवारकर रखना चाहिए भला! नहीं तो इनको निकाल देना चाहिए या तो सँवारकर रखना चाहिए। निसर्गका अर्थ यह नहीं है कि शरीरमें-से पसीना निकले और उसको धोया-पोंछा न जाये। तो जो गन्दगी शरीरके भीतरसे

निकलती है उसको धोना पड़ता है, पोंछना पड़ता है। तो यही मनको स्वच्छ करनेकी, सँवारनेकी जो रीति है, इसीको योग कहते हैं। आपको कहीं भी यदि अच्छी जगहपर जाना है, चाहे बापके घर जाना हो, चाहे पतिके घर जाना हो, चाहे पड़ोसीके घर जाना हो, चाहे न्यायालयमें जाना हो, अपना वस्त्राभूषण, शरीर स्वस्थ करके सभ्य-पुरुषकी तरह जाना चाहिए। यही जो मनको सभ्य बनानेकी रीति है, मनको सुसंस्कृत, सुशिक्षित, सुसभ्य बनानेकी जो युक्ति है उसका नाम है योग। योग माने हमारे मनका संस्कार। संस्कार माने हमारे मनमें जो दोष हैं उनको निकालना और मनमें गुणोंको भरना। दोषापनयन और गुणाधान। जो हमारे मनमें दोष आदतसे आ गये हैं उनको निकाल देना और हमारे जीवनमें गुणको भरना, इसका नाम होता है संस्कार और योगाभ्यासके द्वारा हम अपने मनका संस्कार करें। मनको सँवारें। जैसे बालको सँवारते हैं, ऐसे अपने मनको भी सँवारें। सौवर्ण करना। ये जो बिखरे हुए हैं, इधर-उधर, इनको जरा कायदेमें रखना, इसका नाम सँवारना होता है।

इसलिए आप देखो इस झगड़ेको बिलकुल छोड़ दो कि योगी शब्दका अर्थ कौन कर्मयोगी करता है, कौन ध्यानयोगी करता है। कौन भक्तियोगी करता है, कौन ज्ञानयोगी करता है, कौन अष्टांगयोगी करता है। इससे हमारा कोई मतलब नहीं है। हमारा तो मन सँवर जाय, मन सुधर जाय, इतनेसे हमारा मतलब है।

एकबार प्रयागराजमें एक सभा थी। डॉ० गंगानाथ झा थे। प्रयाग यूनिवर्सिटीके वाइसचान्सलर थे उन दिनों और गीता जयन्ती थी। वे थे प्रेसीडेण्ट और मैं था उस समय पण्डित। हमको व्याख्यान देनेके लिए कहा गया। मैंने शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, विश्वनाथ चक्रवर्ती, हमारे लोकमान्य तिलक, ज्ञानेश्वर, हम किसीकी भी टीका पढ़ें, हमारा अमुक-अमुक विषयमें इन आचार्योंमें कोई मतभेद नहीं है। जिनमें मत अलग-अलग हैं, वह बात मैंने नहीं सुनायी, जिनमें मत मिलता है, वह बात सुनायी। ऐसे प्रसन्न हुए महाराज, वे वृद्ध पण्डित, पं० गंगानाथजी झा, महामहोपाध्याय ऐसे प्रसन्न हुए जब उनका सभापति पदसे व्याख्यान हुआ तो बोले कि ऐसा व्याख्यान तो मैंने गीतापर कभी सुना ही नहीं था। लोग तो मतभेद बताते हैं। शंकर, रामानुजका

यह मतभेद है। निम्बार्क-वल्लभका यह मतभेद है। यह तो सब मतोंका समन्वय इसमें है। कौन-सा योग है इससे क्या मतलब, हमें अपना अन्तःकरण शुद्ध करना है कि नहीं! इसके लिए आपको क्या करना चाहिए—*सततं*। प्रतिदिनके लिए थोड़ा-सा नियम बनाओ। जैसे वीणाका अभ्यासी। किसीको वीणा बजाना सीखना हो, तो रोज थोड़ी देर उसका रियाज करता है, रोज अभ्यास करता है। इसी तरह आप अपने मनको स्वस्थ करनेका थोंड़ासा रोज अभ्यास कर लीजिये। जैसे हमारे गुजराती घरोमें हमने देखा है।

जो भीतर मल भर गया है शौचालयमें जाकर उसको निकाल दो, पेट खाली है, भूख लगी है, भोजनालयमें जाकर भोजनसे तृप्त कर दो। इसीका नाम योगाभ्यास है। योगाभ्यास माने साँस चढ़ाना नहीं होता है! योगाभ्यास माने अपने मनकी आदतोंको सँवारनेके लिए, सुधारनेके लिए रोज एक प्रक्रिया अपने जीवनमें लेनी पड़ती है।

अच्छा यह योग एकान्तमें करनेके लिए है। एकान्तमें करनेसे एक तो लोग बीचमें टोक टाक नहीं करेंगे, कोई विक्षेप नहीं होगा। दूसरी बात यह होगी कि लोग योगीराज मानकर पूजा नहीं करने लगेंगे। नहीं तो महाराज, दो मिनट नाक बन्द किये देखेंगे, बोलेंगे यह तो बड़ा भारी योगीराज है और तुम भी समझोगे कि हम बड़े योगीराज हैं। तो लोगोंको दिखा-दिखाकर योग नहीं करना चाहिए। यह स्टेजपर जाकर प्रदर्शनकी वस्तु नहीं है।

दूसरी बात—***रहसि स्थितः***।

तीसरी बात यह है कि ***एकाकी***। जब करें एकाकी। नहीं तो दूसरे आदमीकी उपस्थितिसे ही अपने मनमें यह संकल्प बन जाता है कि दूसरा आदमी देख रहा है। तो एकाग्रता नहीं आती है। असहाय होकर योगाभ्यास करना चाहिए।

चौथी बात देखो, क्या बतायी कि अपने चित्तको, जैसे बिखरे हुए बालोंको सँवार देते हैं, ऐसे चित्तवृत्तियोंको बिलकुल सँवार दो। और आगेके लिए कोई आशा न रखें और परिग्रह योगाभ्यास करते-करते भूख लगेगी तो थोड़ा खा लेंगे, एक गिलास दूध रख लिया कि बीचमें पी लेंगे, थोड़ी मिश्रीकी डली रख ली कि बीचमें थोड़ी मुँहमें डाल लेंगे। ये सब करके योगाभ्यास करने

नहीं बैठना चाहिए। यह सब हमने किया है। हम भी कभी मिश्रीकी डली रख लेते थे। कभी लौंग रख लेते थे। ***अपरिग्रह***-परिग्रह करके न रखे। अच्छा, ***शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य***—स्थान पवित्र होना चाहिए। पवित्र निसर्गसे हो, स्वभावसे हो। गंगाका किनारा स्वभावसे पवित्र है। मन्दिर है, चैत्य है। अथवा संस्कारसे पवित्र किया हुआ हो।

दोनों तरहसे पवित्रता आती है। स्वाभाविक पवित्रता और सांस्कारिक पवित्रता, दोनोंमें-से किसी तरहकी हो। और आसन ***प्रतिष्ठित*** होना चाहिए। जब आसनको रोज उठाकर चाहे जहाँ लगा दिया और उसपर बैठ गये तो आसनमें भी चांचल्यका संस्कार आ जाता है। जब स्थिरतासे बैठना है, तो आसन भी स्थिर होना चाहिए।

एक बात और, कि आसन उधारका नहीं होना चाहिए कि इनका आसन बहुत बढ़िया है तो आओ थोड़ी देर लेटें और इसपर बैठकर भजन करलें—**स्थिरमासनमात्मनः**। अपना ही होना चाहिए। नहीं तो महाराज, तुम बैठे योग करनेके लिए और जिसका आसन है वह आकर खड़ा हो कि कब खाली करें और हम भी योगाभ्यास करें या उसके मनमें आया कि हमारे आसनपर क्यों बैठते हो, दूसरेके आसनपर बैठो या हमको इसकी जरूरत है। तो उसके विक्षेपसे तुमको विक्षेप हो जायगा। तो **स्थिरमासनमात्मनः**।

बौद्धायन धर्मसूत्रमें यह बात कही गयी है कि पलंग, आसन, वस्त्र, पत्नी, पुत्र, कमण्डलु—ये अपने होनेपर तो पवित्र होते हैं। कमण्डलु दूसरे साधुका दूसरे साधुके लिए पवित्र नहीं होता। हमलोग पवित्रता वस्तुनिष्ठ नहीं मानते हैं। शासननिष्ठ मानते हैं। जिसके लिए शास्त्रदृष्टिसे जो पवित्र है वह उसके लिए पवित्र है। वस्तु दृष्टिसे यदि पवित्रताको ढूँढोगे, तो कोई वस्तु पूरी पवित्र नहीं मिलेगी। कोई पूरी अपवित्र नहीं मिलेगी। हम वासनाके वेगमें आकर शासनको भंग करते हैं। किसीने कहा कि इस रास्ते मत जाओ। एकने कहा, आज इस रास्ते नहीं उतरो भाई, उस रास्ते उतरो। अब महाराज हम जिदपर आगये कि नहीं हम तो इसी रास्ते उतरेंगे। आखिर इस रास्तेसे जानेमें ऐसी कौन-सी वासना है?

एकबार एक सज्जनने बहुत सारे प्रश्न लिखकर भेजे। तो उन्होंने एक प्रश्न यह भी किया था कि हमको बीस बरस निराकारका ध्यान करते हो गया और हमको कोई सफलता नहीं मिली, तो अब आप हमको साकारका ध्यान करनेके लिए उपदेश कीजिये। तो मैंने उनको यह उत्तर दिया कि आपके मनमें कोई ऐसी वासना है कि जिसको बेचारा निराकार पूरा करनेमें असमर्थ है। अब आप चाहते हैं कि उस वासनाको साकार ईश्वर पूरा करे। तो असलमें ईश्वर निराकार और साकार दोनों ही है। जिसको निराकार पूरा नहीं कर सकता उसको साकार भी पूरा नहीं कर सकता। क्योंकि ईश्वर तो बिलकुल एक ही है, दो तो कभी होता ही नहीं, कोई आकर जब आपलोगोंके बीचमें कोई चुनौती देता है कि तुमको इतने दिन सत्संग करते हो गया. साधन करते हो गया, कुछ गाँठमें आया तुम्हारे ? और आपका मन डाँवाडोल हो जाता है और आप हिल जाते हैं और सचमुच मान बैठते हैं कि हमको कुछ नहीं मिला, तो आपने किया क्या ?

संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।

जब आपका मन डाँवाडोल हो गया, आप जो हिल गये कि सचमुच हमको कुछ नहीं मिला। इससे आपका साधन गिर गया। आप क्यों नहीं इस चुनौतीको स्वीकार करते कि बीस बरसमें हमारे अन्दर, आत्म निरीक्षण करके देखलो कि कितने दोष हमारे कम हो गये हैं, सत्संगमें कैसी रुचि हो गयी है, कैसी सद्-वासना हमारे हृदयमें आयी है। हमारा मन कैसा पवित्र हो रहा है, हमने कितना सत्संग किया है। यह आपका मन जो हिल जाता है, डाँवाडोल हो जाता हैं, आपके मनमें सन्देहका तूफान उठ खड़ा होता है, आपका साधन उससे बढ़ता नहीं है, आपको गुरु बदलनेके लिए, इष्ट बदलनेके लिए, मन्त्र बदलनेके लिए, जब आपके बीचमें आकर कोई कहता है, तो आप क्यों नहीं समझते कि यह हमारे बीस बरसके साधनको बिगाड़ रहा है, बना नहीं रहा है, यह आपके मनमें क्यों नहीं आता? जब आपको झकझोरता है कोई तो आप क्यों नहीं समझते कि यह आपके साधनका दुश्मन आपके बीचमें आ गया है! आप जो मन्त्र जप करते हैं, क्या उस शब्दमें ईश्वर अवतीर्ण नहीं हो सकता? ॐ शब्दमें ईश्वर है तो अरिहन्तमें

नहीं है? कृष्णमें है; राममें नहीं है? या राममें है, कृष्णमें नहीं है? शिवमें है, नारायणमें नहीं है? तो यह जो आकर आपको हिला जाता है, यह आपके मनकी कमजोरी है। यह आपको डाँवाडोल करके बस चेला ही बनाना चाहते हैं, उनकी बातको समझो, वे आपका भला नहीं चाहते हैं, वे आपको डाँवाडोल करके आपको नये सिरेसे चेला बनाना चाहते हैं। इसके सिवाय उसका और कोई उपयोग नहीं है।

तो आसन आना चाहिए और वह **'न अति उच्छ्रितं नातिनीचं'** चाहिए अर्थात् सम चाहिए। और उसमें ऊपर वस्त्र, उसके नीचे अजिन और अजिनके नीचे कुश।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा—*तत्र आसने उपविश्य* उस आसनपर बैठ गये। *सुखेन आस्यते अस्मिन् इति*—जिसमें हम सुखपूर्वक आरामसे बैठें, उसका नाम आसन है। वहाँ बैठकर अपने मनको एकाग्र करें।

अब हम एक बातकी ओर आपका ध्यान खींचते हैं। आपका मन है केवल, यह ज्ञानस्वरूप है—*निर्मलं परमार्थतः*। तो जब बाहरका कोई फूल शीशेमें प्रतिविम्बत होता है और शीशा लाल, नीला या पीला जो भी फूल उसमें दिखने लगता है तब आप समझें कि शीशा ही नीला हो गया, पीला हो गया या लाल हो गया तो आप गलत समझते हैं। असलमें आपके भीतर जो शीशा है अन्तःकरणका वह नीला नहीं हुआ, वह उपरागी है ही नहीं। जो ग्रहण लगनेपर समझते हैं कि चन्द्रमाकी ज्योति नष्ट हो गयी या सूर्यकी ज्योति नष्ट हो गयी, वे जैसे गलत समझते हैं वैसे ही मनश्चन्द्रमें भी कोई कालिमा वस्तुतः लगी हुई है, यह वस्तुनिष्ठ गुण-दोषको समझ बैठना—यह हमारा अध्यात्म-शास्त्र नहीं मानता है।

ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः।

यह हमारा अन्तःकरण तो केवल ज्ञान है और यह बाहरकी आती-जाती जो उसमें छायाएँ पड़ती हैं, इनको आप ज्ञानका रंग मत मानिये, ज्ञान कभी उपरत नहीं होता, आपके ज्ञानका जैसे शीशा है, वह लाल मालूम पड़े, पीला मालूम पड़े, वह तो रंग है वह शीशा नहीं है। उपनिषद् बोल रहा है—

न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः।
यदर्थं प्रतिभानं तं मन इत्यभिधीयते॥

उसमें कोई आलम्बन लेनेकी जरूरत नहीं है। आप बिलकुल निरालम्ब हो जाये। परमहंस रामकृष्ण कहते थे—ताड़के पेड़के ऊपर चढ़ जाओ और दोनों हाथ ऊपर उठाकर खड़े हो जाओ निरालम्ब—बेसहारे। यह आपको जो अपने घरके शीशेमें सड़कपर की मोटरें, ताँगे, आते-जाते स्त्री-पुरुष दिखायी पड़ते हैं, वह आपके शीशेमें कुछ नहीं हैं। यह मिथ्या ज्ञान है कि हमारे अन्तःकरणमें कोई चीज प्रविष्ट हो गयी है और उसको निकालना है। यह तो बहुत ठोस है। हमारे ठाकुर साहब प्रसिद्ध नारायण सिंह और मैं एक दिन दोपहरमें चल पड़े। जेठकी दुपहरी बनारसकी, ये बम्बईवाले लोग क्या जानेंगे कि कैसी होती है। गरम लू चल रही और जाना था नौ मील, नीचे बालू ऊपर धूप, ठाकुर प्रसिद्ध नारायण सिंह थे, मैं था। रास्तेमें मैंने पूछा कि ठाकुर साहब कैसा है? बोले कि सब ठसाठस ही है। एकदम ठोस मामला है। दूसरी कोई चीज़ घुसती नहीं है, निकलती नहीं है। बिलकुल ठसाठस ठोस है।

यह हमारे गाँवकी भाषा है। अब महाराज, जो हम एक महात्माके पास पहुँचे एक बजे दिनमें, उन्होंने कुटियाकी किवाड़ी खोली, बोले—बाहर धूप है, जरा भीतर आजाओ, तो उनकी कुटियामें चले गये। तो वे भी बोले—सब ठसाठस ठोस ही है। ठिंकवा ठिकन्त है सब। माने ठीक-ही-ठीक है सब।

तो न तो इसमें आलम्बनकी जरूरत है, न आश्रयकी जरूरत है, ज्योंका त्यों। बस यह जस-का-तस परमार्थ ही है। तो बात क्या है? कि जब बैठ जायें तो चित्त और इन्द्रियकी क्रियाको उपराम हो जाने दें—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।

यतका अर्थ है उपरत। *उपरत चित्तेन्द्रियक्रियाः* चित्त क्रिया और इन्द्रिय क्रिया दोनों को उपरत हो जाने दो, उपराम हो जाने दो, बन्द मत करो, उपराम हो जाने दो।

एक होता है राम, वह तो अपना आत्मा और एक होता है उपराम, वह

उसके साथ बैठता है। उपराम माने लक्ष्मण। जो रामजीके पास बैठे उसका नाम उपराम। दुनियासे हो जाओ उपराम और बैठो होकर राम। और बस है सब आराम-ही-आराम। आत्माराम! उपराम। आराम। यह जो सहारा लेते हैं न, पकड़ते जो हैं न, इसमें कर्तृत्व और वृत्तिका आकार, एक तो पकड़नेमें वृत्तिका आकार रहता है दूसरे, पकड़नेका कर्तृत्व रहता है।

दास कबीर जतनसे ओढ़ी, ज्योंकी त्यों धरि दीनि चदरिया।

ये सब तो दरवाजे हैं, इधर आँख, इधर कान, इधर नाक, इधर मुँह, इधर त्वचा है, रहने दो सब ज्यों-का-त्यों। इन्द्रियको जहाँ-का-तहाँ छोड़ दो और चित्तको भी जहाँ-का-तहाँ छोड़ दो, कर्तृत्वपूर्वक उसको पकड़ो मत, उपराम हो जाओ। 'यत' शब्दका अर्थ है उपरत।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।

बोले—योगाभ्यासका उद्देश्य क्या है? ये संसारी योगाभ्यासी और विरक्त योगाभ्यासीमें फर्क क्या होता है? पारक्य क्या है, पारक्यको बोलो फर्क। परस्पर भेद क्या है! विभाजक रेखा क्या है! संसारी योग करता है कुछ पानेके लिए और नहीं मिलता है तब वह विषण्ण और निर्विण्ण हो जाता है और विरक्त पुरुष जो योग करता है, वह कुछ पानेके लिए नहीं। इसलिए वह कभी विषण्ण और निर्विण्ण नहीं होता। वह तो अपने आपमें जो गलत सलत कल्पनाएँ हो गयी हैं, उन कल्पनाओंको हवा देनेके लिए ही योग करता है। उसको कुछ सटाना नहीं है, सिर्फ विजातीयको हटा देना है।

हमारे गुरुजी महाराज तो बोलते थे कि 'हटाओ मत, सटाओ मत, ज्यों-का-त्यों रहने दो।' किसी दूसरे चेतनको अपने साथ सटाना नहीं है और कोई जड़ वस्तु है नहीं, जिसको हटाना हो। हटाओ मत, सटाओ मत। यहाँ तो बाबा ज्यों-का-त्यों मामला है।

न कुछ हुआ न है कछु, न कछु होवन हार।
अनुभवका दीदार है, अपना रूप अपार।
पाया कहे सो बावरा, खोया कहै सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्योंका त्यों भरपूर।

यस्यामतं तस्य मतं। मतं यस्य न वेद सः
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातं अविजानतां।

तो आओ **योगं युञ्ज्यात्, *कस्मै प्रयोजनाय?* आत्मविशुद्धये।** केवल आत्म-विशोधनके लिए यह देहेन्द्रियादिकोंके झगड़ेमें जो अपना आपा खो गया है, सोचा गया है, खोया-सा लगता है कि हम हड्डी, माँस, चामके पुतले हैं, हम इन्द्रियोंके समूह हैं, हम प्राण हैं, हम मन हैं, हम विज्ञान हैं, हम आनन्द हैं, हम अज्ञानी हैं, अज्ञ हैं। हम परिच्छिन्न हैं, हम कर्त्ता-भोक्ता संसारी हैं। यह जो *हेरनहार हेराय गयो है* ढूँढ़नेवाला अपने आपको ढूँढ़ रहा है, परन्तु अपने—आपको ही नहीं पा रहा है। तो *आत्मविशुद्धये*का अर्थ यह है शीशेमें कुछ लाल, नीला, पीला घुस गया है; ऐसा ख्याल मत करो और उसमें घुसाओ भी मत। ये बाहरके जो इष्ट-अनिष्ट हैं, इनकी कोई जरूरत नहीं है, अपना आपा, मायासे जिसमें, सब कुछ भासे उसमें कुछ नहीं है बाहर का। जिसको भास रहा है, वही तो है—**आत्मविशुद्धये**-आत्म-विशोधन करना अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें-से अपने आपको निकाल लेना। कौन है ? कि तीनोंसे न्यारा होकर भी तीनोंमें विद्यमान। यह पहचानना ही तो है न! अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इनसे न्यारा होकरके भी इनमें भरपूर। जैसे शीशा, शीशेके भीतर भासनेवाले नीले, पीले, हरे, लाल, बैंगनी सब रंगोंमें रहकर भी शीशा सब रंगोंसे न्यारा है और शीशेमें दरअसल कोई रंग नहीं है, ऐसे तुम्हारा जो आत्मा चैतन्य है, वह चाहे जितना परिच्छेद भासे, जितना भेद भासे, सजातीय, विजातीय, स्वगत, सब भेदोंमें रहकर भी और सब भेदोंसे न्यारा रहकर भी, उसमें भेद नामकी कोई चीज़ है ही नहीं, वह तो बिलकूल ठसाठस अखण्ड भरपूर है। ऐसी आत्मापर जो दृष्टि नहीं है, अनात्मापर जो दृष्टि है, वहाँ दृष्टि पहुँचानेके लिए योगकी जरूरत है। योग जो है वह संयोग प्राप्त करनेके लिए नहीं है, जो अनहुएके साथ संयोग हो रहा है उसको काट देनेके लिए है।

उपविश्यासने युञ्ज्यात् योगं आत्मविशुद्धये।

आत्मामेंसे जड़ताको निकाल दो। इसीसे हमारे महात्मा लोग पहले एक ही बात बताते थे। यदि माहात्म्यबुद्धिके बिना तुम्हारा मन एकाग्र न

होता हो तो राम, कृष्ण, शिव, जिन, बुद्ध किसी भी आकृतिका अपने अन्दर ध्यान करो और माहात्म्य बुद्धि करो कि यही परमेश्वर है और बिना ऐश्वर्य बुद्धिके मन न खिंचता हो तो यह जो तत्त्वज्ञान बरस देनेवाला, अज्ञानके आवरणको भंग कर देनेवाला यह जो गुरुदेव है, उसीको चित्तमें बैठा लो और दोनोंका शरीर एक, अन्नमय एक, प्राणमय एक, मनोमय एक, विज्ञानमय एक, आनन्दमय एक और आत्मचैतन्य एक और आत्मचैतन्यमें दोनोंके पाँचकोश एक साथ बाधित, और दोनोंकी आत्मा एक। दोनों दो नहीं, बिलकुल एक। वह शिष्य ही क्या है, जो गुरुसे एक नहीं हुआ! पंचदशीमें एक बड़ी विलक्षण बात है, आपलोगोंके ध्यानमें होगी, यहाँके लोग तो वेदान्त बहुत सुनते हैं—

एक राजा था, वह गुरुजीके पास गया वेदान्त सुननेके लिए। तो गुरुजीने पूछा—तेरी आसक्ति कहीं है? उसने कहा—हाँ महाराज है, हमारी तो अपनी रानीमें आसक्ति है। तो बोले—अच्छा तू बैठ, अपनी रानीका ध्यान कर। जब रानीका ध्यान करने लगा, तो बोले—देख, रानी क्या है? बोले—महाराज ऐसा चाम है, ऐसा मुँह है, ऐसे बोल हैं और ऐसी साड़ी है। बोले—यह तो रानीका अन्नमयकोश है। वह उसकी साँस चल रही है न, देख उसके भीतर क्या है? उसके भीतर उसका प्यार भरा मन है, वह रानी है। कि हाँ महाराज, ठीक है। अरे ना, ना, उसकी जो समझ है सो रानी है। नहीं, नहीं, उसमें जो सुख है सो रानी है। अरे बोले—ना जी, उसमें जो ज्ञान स्वरूप है न, अखण्ड ज्ञानस्वरूप सो रानी है। अरे, तूने कभी अपने बारेमें सोचा? देख, तू भी ऐसे ही है, न अन्न है, न मन है, न प्राण है, न विज्ञान है, न आनन्द है। देख, एक ही शरीरके भीतर रानी और राजा दोनों है और दोनोंका आत्मा एक है। तेरा इष्ट और तू पुजारी दोनों एक ही शरीरमें एक ही हैं।

महाराज एक था अहीर, गाँवका ग्वाला, वह गुरुजीके पास गया। गुरुजीने पूछा कि तेरा किसीसे राग है? बोला—हाँ महाराज, हमारे एक भैंस बहुत बढ़िया काली, काली, भरी हुई मुर्रा भैंस है।

अब महाराज, बम्बईमें लोग क्या जानें कि मुर्रा भैंस क्या होती है। मुर्रा भैंस प्रायः अहिंसक होती है. ग्सकी सींग ऐसी मुड़ी हुई होती है माने उसके

अन्दर यदि किसीको मारनेकी वासना हो, तब तो सींग उसकी बड़ी-बड़ी हो, शेरका कुछ उसको सामना नहीं करना है, जंगली जो जानवर होते हैं, उनके सींग बड़े-बड़े होते हैं, यह गाँवकी है।

अच्छा, भैंसमें तेरी आसक्ति है? देख, तेरी भैंस क्या है, विचार कर। **महिष्यांतत्त्वमुक्त्वां**, भैसका अन्नमयकोश देख, प्राणमय कोश देख, मनोमय-विज्ञानमय कोश देख, भैंसका आनन्दमय कोश देख, उसमें साक्षी आत्माको देख, और फिर अपना भी जरा देख, दोनोंमें एक ही है। वह श्लोक तो एक ही है—**महिष्यामतत्त्वमुक्त्वां** राजाकी रानी मोटी-मोटी थी, मचियापर बैठकर हुक्का गुड़गुड़ाती थी, भैंसकी तरह ही देखनेमें लगती थी; तो महात्माने कहा—

महिष्या वनेऽपि वनेऽपि महिषी।

घरमें भी महिषी है, वनमें भी महिषी है।

तो असलमें अन्नकी ओर जो आकर्षण है उसको समाप्त करनेके लिए तो इष्ट-अनिष्टका विभाग करनेकी जरूरत है, नहीं तो महाराज इष्टोंका भी परम इष्ट अपना आत्मा है, परम प्रेमास्पद और अपने परम प्रेमास्पद आत्माकी उपस्थितिमें अन्यके प्रति-प्रीति करनेकी भी आवश्यकता नहीं है और जिससे प्रीति करो उसके भी, जैसे म्यानसे तलवार अलग करते हैं, अपने म्यानको भी अलग करो, उसके म्यानको भी अलग करो, लग जाने दो हृदयमें हृदय! एक ही हृदयमें-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।

तो **आत्मविशुद्धये**—योगका उद्देश्य है आत्माका विशोधन। विशोधन क्या है? दो चीज जब एकमें मिल जाती हैं उनको अलग-अलग करना। एक महात्मा रामघाटमें रहते थे। हमारा ख्याल है कि अभी वे जीवित हैं; परन्तु जैसे विरक्तकी दशामें मैंने पहले उन्हें देखा था, वैसे नहीं रहते हैं। वे कभी-कभी हमको दिख भी जाते हैं तो हमसे वे मेल-मिलाप नहीं करते हैं। हम कभी-कभी देख लेते हैं उनको। तो मैंने देखा वे गेहूँ और तिल दोनों रखे हुए थे और थालीमें दोनोंको अलग-अलग करते रहते थे। यह गेहूँ अलग कर दिया, यह तिल अलग कर दिया, करते-करते जब दोनों अलग हो गये

तो फ़िर दोनोंको एकमें मिला देते थे। दिनभर अपना समय वे इसी तरह भरते थे। तो यह देहमें, इदंमें जो अहं मिल गया है, 'यह' में जो 'मैं' मिल गया है, यह तिलतन्दुलायमान जैसे जिनके बाल थोड़े-थोड़े सफेद होने लगते हैं तो दिनभर ढूँढ़-ढूँढ़के सफेद बाल निकालते हैं। इसीका नाम विवेक है। तो यह जो तिलतन्दुलायमान आत्मा-अनात्माका यह एकीभवन है, विशोधनका अर्थ यह है कि ये अनात्ममध्य पतित जो आत्मदेव हैं अथवा आत्मामें स्फुरित होता हुआ जो आत्मा है, आत्माकी पूर्णतामें जो केवल विमर्शरूप अन्यता है, उसको विवक्त कर देना।

लो आपको योग बताते हैं—**आत्मविशुद्धये**—दो चीज़ अगर एकमें मिल गयी हो, तो उनको अलग-अलग कर लेना, इसीका नाम होता है विशोधन। तिल तंदुलको अलग-अलग क़र लेना, इसी प्रकार आत्मा और अनात्माका जो विवेक है इसीको विशोधन बोलते हैं। यदि ज़हर किसी चीज़में मिल गया हो, तो उसको अलग कर देना विशोधन। पारेको शुद्ध कर देना। सोनेमें कोई चीज़ मिलायी हुई हो तो उसको शुद्ध कर देना। दो चीज़ें हों तो उनको अलग-अलग कर लेना, इसका नाम है विशोधन। आत्मा और अनात्मामें जो ऐक्य-भ्रम है, उस भ्रमको दूर कर दिया जाये। और, यह भ्रम टूटता क्यों नहीं है? कि यह वासनाके कारण नहीं टूटता है।

अब कैसे बैठें योगमें? तो—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

व्याख्यान है भोजन और भजन है उसका पाचन। भजन करना माने जो गुरुका उपदेश है, प्रवचन है उसको पचा लिया अपने भीतर। पचा लिया, तब तो रसरक्तकी पुष्टि हुई। इसीसे विष्णुपुराणमें यह बात कही गयी कि भजन कैसे करना?

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय करो और फिर योगमें बैठ जाओ। योगसे फिर स्वाध्यायमें आ जाओ। स्वाध्याय और योगकी सम्पत्तिसे परमात्मा प्रकाशित होता है। परमात्मा माने आत्माका परम स्वरूप। जैसे शक्कर मधुर है और मिश्री परम मधुर है और ओला परात्पर मधुर है। कन्द परमपरात्पर मधुर है। तो ये जो आत्मदेव हैं, परमात्माका अर्थ है अपने आत्माका ही अनात्मासे विविक्त जो स्वरूप है, उसीको परमात्मा बोलते हैं। एक तो आत्मा है जो अनात्माके साथ मिल गया और एक आत्मा है जो अनात्मासे पृथक् कर दिया गया। तो अनात्मासे जो पृथक्कृत आत्माका विशुद्ध स्वरूप है उसीको परमात्मा बोलते हैं। परम कहनेसे वस्तुमें पार्थक्य नहीं होता है, वस्तुमें जो मिश्रण है, उसका दूर हो जाना ही वस्तुके पारम्यका प्रकाश है। और आत्मा तो ऐसी वस्तु है महाराज, जिसमें दूसरेका मिश्रण-विश्रण नहीं होता है, केवल मिश्रणका भ्रम है। मिश्रणका केवल भान है।

असलमें आपको चलना है साम्ययोगकी ओर। साम्ययोगका अर्थ यह होता है '*यहाँ यों भी वाह-वाह है। यहाँ यों भी वाह-वाह है।*' चलो महाराज बायें गये तो समधियाने पहुँच गये और दायें गये तो ससुराल पहुँच गये। सामने गये तो ननिहाल पहुँच गये। जहाँ जायेंगे वहीं मजा है। यही साम्य योग है। पीछे हटें तो अपने घरमें पहुँच गये। तो जहाँ जायें वहाँ मजा है।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।

सब जगह सम है। खुली आँख वही है, बन्द आँख वही है, अधखुली आँख वही है, मरना वही है जीना वही है। स्वर्गमें वही है, नरकमें वही है। बाहर वही है, भीतर वही है। यह समत्व कहाँसे आवेगा? तो बोले—आओ थोड़ा समताका अभ्यास तो करो। थोड़ा—**समं कायशिरोग्रीवं**—काया, सिर और ग्रीवा इनको सम कर लो। **समं धारयन्**का अर्थ है कि ये बारम्बार हिलनेकी कोशिश करेंगे, टेढ़ा-मेढ़ा होनेकी कोशिश करेंगे, ये छूट जाया करेंगे, तो जरा धारणा करो इसमें। **अचलं**—हिलने न पावे और **स्थिरः**। थोड़ा दर्द हो गया, यह झूठ ही मालूम पड़ता है। हम पहले बैठते थे भजनमें तो ऐसा लगे जैसे मक्खी आकर बैठ गयी। अब महाराज, हाथ ऐसे किया कि मक्खी हटावें, तो मक्खी तो नदारद। अच्छा, तो फिर उठकर देखा कि यहाँ कोई मक्खी है कि हमारे भजनके समय बैठी है, तो मक्खी-वक्खी नदारद। वह अपना मन ही मक्खी होकर बैठता था। कि कोई चिड़िया चीं-चीं बोल रही है, कोई पुकार रहा है, यह सब क्या है? यह हमारे दृढ़ प्रयत्नमें बाधक है। इसका ध्यान बिलकुल नहीं करना चाहिए। **धारयन्नचलं स्थिरः**—मक्खी-वक्खी उड़ानेकी जरूरत नहीं है बैठनेपर। मक्खी अपने आप ही उड़ जायेगी भला! लगेगा प्यास लगी है, ऐसा लगेगा भूख लगी है, ऐसा लगेगा बड़ी गरमी है। ये सब विघ्न हैं योगके। इनसे प्रतिहत नहीं होना चाहिए। झूठे ही लघुशंका मालूम पड़ेगी। झूठ ही बाथरूम जानेकी इच्छा मालूम पड़ेगी। ये सब-के-सब विघ्न हैं। थोड़ी देर स्थिर हो जाओ, देखो, कहीं कुछ नहीं है। हम एक बार पहले सन् बीस-इक्कीसमें कर्णवासमें रहते थे। स्वामी योगानन्दजी महाराजके साथ गये थे, भजन करनेके लिए बैठे तो हमको लगे कि हमारी माँ सामने खड़ी होकर रो रही है, पटापट आँसू गिर रहे हैं और कह रही है कि हम तुम्हारे बिना बड़े दुःखी हैं। यह बिलकुल हमारा भ्रम था। एक महीनेके बाद हम गये घर, हमारी माँको तो कोई ख्याल ही नहीं था, वह तो समझती थी कि हमारे जो पुश्तैनी चेले हैं, चेलोंमें गये हैं। वह तो बड़ी खुश हो रही थी कि रुपया लेकर आवेंगे, कपड़ा लेकर आवेंगे। और हम भजन करने बैठें तो हमें मालूम पड़े कि हमारी माँ रो रही है। तो स्वामीजी कहते थे कि ये सब विघ्न हैं। ये देवता लोग

माताका रूप धारण करके, भाई-बन्धुका रूप, पति-पत्नीका रूप, पुत्रका रूप धारण करके मनके सामने खड़े हो जाते हैं कि हम इनकी योगसाधनामें विघ्न डालें। तो इसके लिए व्याधि, संशय, प्रमाद, आलस्यादि दोषसे विनिर्मुक्त होकरके फिर दृढ़ प्रयत्न होकरके साधन करना चाहिए—**स्थिरः।**

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।

देखना कहाँ? बोले—'**नासिकाग्रं स्वं।**' ऐसा कहना है महात्माओंका कि नासिकाका अगला भाग कौन-सा है? जो मुँहकी ओर है सो कि जो दोनों आँखोंके बीचमें है सो? तो जब अधखुली आँख रखनी हो तो अगला भाग मुँहकी ओर है, सो। जब आँख बन्द रखना हो तो दोनों आँखके बीचमें जो नासिकाका अग्रभाग है, जहाँसे नासिका प्रारम्भ होती है वहाँ अपने चित्तको लगावें। *वाराणसी भ्रुवोर्मध्ये*- भौंहोके बीचमें वाराणसी है नसी है न, यहींसे तो नासिका पैदा होती है। यह दुनियाकी नाक है हमारी वाराणसी। जबतक वाराणसी बनी हुई है तबतक दुनिया नाकवाली है। नहीं तो दुनियाकी नाक ही कट जायेगी।

वाराणसी भ्रुवोर्मध्ये—भौंहोंके बीचमें वाराणसी है। इसीसे वहाँ जो मरता है,

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य-परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।

भौंहोंके बीचमें प्राण जहाँ गये, उस अवस्थामें मृत्यु हो तो बोलते हैं मुक्ति हो जाती है।

तो आओ आपको—**संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं**—प्रतिबद्ध दृष्टि हो तो नासिकाग्रका अर्थ है बाहर, अमा दृष्टि हो तो नासिकाग्रका अर्थ है भीतर। जिसपर कोई बैठ न सके उसका अर्थ होता है नासिका—***अयं आसिका न भवति***—यह बैठनेकी जगह नहीं है। इसपर कोई मक्खी-वक्खी बैठे तो आप बर्दाश्त नहीं कर सकते। मक्खीसे कहना पड़ेगा कि हे मक्खी देवता, यह बैठनेकी जगह नहीं है। यहाँसे उठो, तुम सिरपर भले बैठ जाओ, लेकिन हमारे नाकके सिरेपर मत बैठो। तो अयं *आसिका न भवति*—यह खानेकी चीज़ नहीं है। यह आस्य नहीं है, माने यह मुँह नहीं है। कहीं नाकसे खाना मत शुरू कर देना। तो **संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं,** बैठे भजनको

और कभी इधर देखते हैं कि सड़कपर-से कौन जा रहा है, उधरसे कौन जा रहा है। ये लोग महाराज, गंगा किनारे, वे जो पाटे लगे रहते हैं न लकड़ीके गंगाजीमें, उसपर भजन करनेके लिए बैठते हैं, तो बस वे नहानेवालोंको देखते रहते हैं। **दिशश्चानवलोकयन्।** एक 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक है, उसमें वह महाराज फोटो उतारा है जो लोग गंगा किनारे बैठ करके ध्यान-ध्यान लगाते हैं उनका। वे कहते हैं ध्यान खुद थोड़े ही करते हैं, वे तो दूसरोंको अपना ध्यान करवाते हैं कि हमको देखो!

कर्मकाण्डी लोग बोलते हैं—*शान्तिरस्तु, पुष्टिरस्तु, वृद्धिरस्तु*। भक्त लोग बोलते हैं—*शान्तिरस्तु, पुष्टिरस्तु,* भगवान्‌का अनुग्रह भी मिले। वेदान्ती लोग बोलते हैं—*शान्तिरस्तु, शान्तिरस्तु,* तीनोंमेंसे एक चीज। वृद्धि होती है लौकिक, पुष्टि होती है भगवान्‌के अनुग्रहसे और शान्ति होती है अपने आत्मामें। अच्छा, *ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः*। तो **आसने उपविश्य योगं युञ्ज्याद्**—आसनपर बैठो। यह आसन शब्द करण और अधिकरण दोनोंमें बनता है। सूत्र ही है पाणिनीका— *करणाधिकरणयोश्च* करण और अधिकरण दोनों अर्थमें *युच् प्रत्यय* होता है, ***आस्यते अस्मिन् इति आसनम्।*** अधिकरणमें और '***आस्यते अनेन स्वस्तिकादिना इति असनम्।***' सिद्धासनपर, स्थिर शरीरसे—**समं कायशिरोग्रीवं,** जिसमें बार-बार बदलना न पड़े। पर बदलनेको पाप नहीं समझना। हमको तो जब भजन करनेके लिए हमारे गुरुजी महाराजने बताया तो बोले कि यदि घण्टेभर बैठना हो, तो आधा घण्टा बायाँ पाँव ऊपर रखना और आधा घण्टा दायाँ पाँव ऊपर रखना, एक ही नीचे रहे या एक ही ऊपर रहे, ऐसा नहीं करना, नहीं तो बैठनेमें जो रक्त-संचार है न, वह विषम हो जायेगा। तो भले ही घण्टेभरका भजन करना हो, थोड़ी देर एक ऊपर रहना चाहिए, थोड़ी देर दूसरा ऊपर रहना चाहिए, यह बैठनेकी रीति है। तो हमको गुरुजीने बताया और हम आप लोगोंको सभामें बतावें तो उसका मजा ही चला जायेगा, लेकिन फिर भी सुनाते हैं, क्या करें! पहले ही दिन बैठे और घण्टेभर बैठ गये तो घुटनेमें, कमरमें दर्द होने लगेगा। पहले महीनेमें दस मिनट, दूसरेमें पन्द्रह मिनट, तीसरेमें बीस मिनट, चौथेमें पच्चीस मिनट, पाँचवेमें आधा घण्टा, बारह महीनेमें घण्टे भरका आसन लो। तब देखो, क्या मजा आता है। ***स्थिरसुखमासनम्।***

अब दूसरी बातपर ध्यान दें कि आपको यह योग किसलिए करना है, तो—**आत्मविशुद्धये**। बड़े-बड़े योगा होते हैं, कोई तो भजन इसलिए करते हैं कि हमारा दुश्मन मर जाये, कोई कहते हैं जिससे हमारा राग है वह हमको मिल जाये, कोई-कोई इसलिए भजन करते हैं कि जिससे हमारा राग है वह सिद्ध हो जाये, चाहे जैसे हो जाये, कोई कहते हैं—हे लक्ष्मीजी, तुम नारायणको छोड़कर हमारे घर आ जाओ।

ये भजन करनेवाले भी तमाशा ही करते हैं। यहाँ देखो, भजनका संकल्प तुमको बताते हैं, क्योंकि जब कोई कर्म कर्तृत्वपूर्वक किया जाता है तो उसमें संकल्प दिशा-निर्देश है माने जब तुम मोटर चलाते हो, तो कहाँ पहुँचनेके लिए मोटर चला रहे हो, यह तुम्हें मालूम रहना चाहिए। यदि यह नहीं मालूम है तो बेचारी मोटर चाहे वह लाख रुपयेकी हो, चाहे पाँच लाखकी हो, कहाँ तुमको पहुँचावेगी? इसलिए कर्त्ता जिस कर्मको करता है उसमें संकल्पका होना अनिवार्य है। तो क्या संकल्प करें? तो बोले—इसमें बुद्धिकी शुद्धिका संकल्प करना—**आत्मविशुद्धये**। हमारा अन्तःकरण पवित्र हो। लो आपको संकल्प बताता हूँ—हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो इसके लिए। तो अन्तःकरण शुद्ध हो, इसकी रूपरेखा क्या है? कुछ लोगोंने कहा कि हम बोर हो जाते हैं यह गीताकी योगाभ्यासकी विधि सुनते-सुनते। तो आप बूड़ो मत कहीं, चाहे डूबना-उतराना जो करना हो, वह अपने घर जाकर करना। यहाँ तो इस बातको सुनो और समझो। बुद्धि-शुद्धिका एक अर्थ हम आपको बता देते हैं; यह देह हड्डी, मांस, चामका बना हुआ है और इसका जो सम्बन्ध है संसारमें, उसके लिए अगर तुम कुछ कर रहे हो, तो वह बुद्धिकी अशुद्धि है। और इसके सम्बन्धसे मुक्त होनेके लिए यदि कुछ कर रहे हो तो वह बुद्धिकी शुद्धि है। यह हड्डी, मांस, चाम, विष्ठा, मूत्रका बना हुआ जो शरीर है, इसके साथ बुद्धिका सम्बन्ध होना बुद्धिकी अशुद्धि है, आपकी बुद्धिके पेटमें क्या है? बुद्धि गर्भवती है कि कुमारी है? तो बुद्धिके गर्भमें अगर संसार है तो वह भगवान्से मिलने योग्य नहीं है और बुद्धि यदि शुद्ध हो तो वह परमात्मासे मिलने योग्य है। इसलिए,

आत्मविशुद्धये—*आत्मा बुद्धौ, ऋतौ यत्ने स्वभावे परमात्मनि*। आत्मा

शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ आत्मा शब्दका अर्थ है बुद्धि। ***आत्म-विशुद्धये*** माने ***बुद्धिविंशुद्धंये***।

अच्छाजी, तो बुद्धि शुद्ध होनेके लिए यहाँ कौन-सा योग करें? तो बोले—यज्ञरूप योग करें। तो देखो **एकाकी** बताया इसमें पत्नी साथ नहीं है और ऋत्विज भी साथ नहीं है, यज्ञभूमि नहीं है, शाकल्य नहीं है। कोई परिग्रह नहीं है। तो यह यज्ञ-यागादिरूप योग तो हो नहीं सकता। क्योंकि परिग्रह जो है वह यज्ञ-यागादिमें है। जहाँ परिग्रह करना पड़े, जहाँ साधनमें हमको यह चाहिए, यह चाहिए, जैसे हम पूजा करनेके लिए बैठे, तो चन्दन चाहिए, भोग चाहिए, दीपक चाहिए, इतना परिग्रह चारों ओर इकट्ठा करके तब पूजा-योग करने बैठेंगे। यहाँ न तो अपरिग्रहकी सिद्धि होगी और न तो एकाकिताकी सिद्धि होगी। इसलिए महाराज उन्हें तो काट दो।

अब कहो कि यह हठयोग है, तो हठयोगसे माने प्राणायाम करना, मुद्रा करना, आसनोंका अभ्यास करना, साँसकी धौंकनी—भस्त्रिका, उज्जायी, आदि भी इसमें नहीं है, क्योंकि शरीर स्थिर करनेको कहा जा रहा है—

समंकायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।

तो हठयोग भी नहीं है।

अच्छा, योगी लोग देहाभिमानका त्याग नहीं कर सकते। यह बात भी आप अपने ध्यानमें लो कि बड़े-बड़े योगी लोग जब यह देखते हैं कि देहसे ही योग सिद्ध होता है और थोड़ा मजा भी आ जाता है योग करनेमें, तो कहते हैं हमारे शरीरमें रोग न होने पावे, हमारा शरीर निरोग हो जाये, अजर हो जाये, अमर हो जाये, तो असली योगका जो अधिकारी है वह तो सोचता है कि हम अपने लक्ष्यसे मिल गये, तो यह देह रहे कि न रहे, देहको ज्यादा रखनेका संकल्प सच्चे योगीके मनमें नहीं होता है कि हम अजर हो जायें, अमर हो जायें, नीरोग हो जायें। तो असलमें बुद्धिकी शुद्धि क्या है कि देह और देहके सम्बन्धियोंमें जो अनुराग है वह टूट जाये। तो बोले भाई आओ, आत्मज्ञान ही बुद्धिकी शुद्धि है, कोई ऐसा बोले, तो **आत्म-विशुद्धये**—असलमें आत्मज्ञान तो होगा तब, जब बुद्धि शुद्ध होगी। स्वामी विद्यानन्दजी ऐसे बोलते थे-'ज्ञान होगा तब, बुद्धि शुद्ध

होगी जब।' लोगोंके बीच बड़े उत्साहसे बोलते थे, तो किसीको नींद वींद आती हो तो दूर हो जाती थी।

किसी-किसीका मन इधर-उधर चला जाता है बाजारमें। अब महाराज, जिसको दिनभर बाजारमें घूमनेकी आदत पड़ गयी हो, वह कथावार्तामें भी बैठेगा, तो मनीराम तो इधर उधर करेंगे ही थोड़ा।

अच्छा तो ध्यानमें देखो आप, कोई-कोई कहते हैं कि आओ पहाड़का ध्यान करें, नदीका ध्यान करें, जंगलका ध्यान करें, शालग्रामकी शिलाका, मूर्तिका ध्यान करें। तो आपका एक बातकी ओर मैं ध्यान खींचता हूँ, जिसमें आपकी महत्त्वबुद्धि नहीं होगी न कि यह ईश्वर है, यदि आप इस चीज़को ईश्वर नहीं मानते हो और ध्यान करते हो तो एक बार आपका ध्यान तो लग जायेगा कि बिजलीकी रोशनी हो रही है और बरफके पहाड़ चमक रहे हैं, लेकिन उसमें आपका ध्यान टिकेगा नहीं! यह जो झरना है और ये ज्रो हरे-हरे पेड़ हैं, यह बर्फ है, यह पहाड़ हैं, इसमें आपका ध्यान टिकेगा नहीं। यह हमसे सीख लो भला! हम इसके मिहिर हैं, माहिर है। संस्कृत भाषामें मिहिर शब्दका अर्थ सूर्य होता है, भास्कर। ज्योतिष शास्त्रमें 'मिहिर' शब्दका प्रयोग होता है। हम इसके माहिर हैं। आपको एक चीज़ जो देखनेमें चमचम-चमचम चमकती हुई मालूम पड़ती है न, खूब शृंगार कर लो और खूब आभूषण पहना दो मूर्तिको और खूब बढ़िया कपड़े पहना दो, खूब पालिश कर दो, एक बार आप देखोगे तो बहुत अच्छी लगेगी, लेकिन यदि उसमें माहात्म्य बुद्धि नहीं होगी तो एक बार खिलते हुए फूलको जैसे देख लेते हैं, उसपर मन आपका टिकेगा नहीं। इसलिए जड़ वस्तुमें यदि आप अपने ध्यानको टिकाना चाहेंगे तो न जवानमें टिकेगा, न बुड्ढेमें, वह तो नवं नवं, जैसे पुंश्चली स्त्रीको नया-नया जवान चाहिए ध्यान करनेके लिए, वैसे हमारी मनोवृत्तिको नई-नई वस्तु चाहिए ध्यान करनेके लिए। इसीलिए माहात्म्य ज्ञान पूर्वक ध्यान किया जाता है—*तद् विहीनं तु जारानामिव। तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यापवादः।* माहात्म्य ज्ञानपूर्वक यह महात्मा है, इसको ईश्वरका अनुभव हुआ है यह साक्षाद् ब्रह्म है, यह परमेश्वरकी मूर्ति है। माहात्म्य-ज्ञानके बिना जो चमकदारका ध्यान होगा, जगमग-जगमगका जो ध्यान होगा, चाकचिक्यका, वह ध्यान टिकाऊ नहीं होगा, माहात्म्य चाहिए।

अच्छा, तो अब और लो, दूसरी बात सुनाते हैं ध्यानकी। अन्यवस्तुका यदि आप ध्यान करते हैं तो वस्तुका ध्यान नहीं हो सकता, माहात्म्यबुद्धि उस वस्तुको आपके मनमें उपस्थित करेगी। अच्छा, किसी वस्तुका यदि ध्यान करते हैं, अपनी चित्तवृत्तिको अभवाकार करते हैं तो यदि तमोगुणका लेशमात्र भी होगा, तो निद्रा आ जायेगी।

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्ति निद्रा।

अभावका ध्यान करेंगे तो तन्द्रा होगी, निद्रा होगी, बिलकुल निराकार निर्विकार वृत्ति नहीं होगी। कहो कि आत्मज्ञान करेंगे तो जबतक बुद्धि शुद्ध नहीं तबतक आत्मज्ञान होगा ही नहीं। तब ध्यानके लिए हमारे वेदान्ती लोग चार दृष्टि स्वीकार करते हैं—

शब्दानुविद्ध वृत्ति, दृश्यानुविद्ध वृत्ति, उभयानुविद्ध वृत्ति और उभयाननुविद्ध वृत्ति।

यह ऐसा कुछ खालाका घर नहीं है कि जो चाहे वहाँ जाकर हलवापूरी खाकर आवे। बिना सीखे कुछ नहीं आ सकता, एक कदम नहीं चल सकते इस मार्गमें।

अच्छा अब आओ, **आत्मविशुद्धये**। अपने आत्माका करना है साक्षात्कार और उसके लिए बुद्धिको करना है शुद्ध; तब माहात्म्यज्ञानपूर्वक या तो राग है चित्तमें, तो वीतराग महापुरुषका ध्यान करें और द्वेष यदि है चित्तमें तो वीतराग—राग-द्वेषरहित महापुरुषका ध्यान करें और यदि बड़ी प्रबल वासना है चित्तमें तो राधा-कृष्ण, सीता-राम, लक्ष्मी-नारायण—इनका ध्यान करें अपने चित्तमें। अपनी वासनाके तारतम्यको देखें। रसीले ध्यानकी अपेक्षा वैराग्यवान्का जो ध्यान है वह श्रेष्ठ है, परन्तु उसमें माहात्म्यबुद्धि न होनेसे ध्यान टिकता नहीं है। इसलिए आपने योगदर्शनमें यह देखा होगा—***वीतरागविषयं वा चित्तं।*** चित्तको कैसा बनाना? कि चित्तमें वीतराग, जिसके अन्तःकरणमें राग-द्वेष बिलकुल नहीं है किसीसे। चले गये वनमें, ठीक है अब एकान्तमें भजन करेंगे, आगये कि स्वागत है, भगवान् कृपा करके आगये हैं। अरे, आज उनका आगमन है, प्रतीक्षा करते हैं, आज हमारे प्यारे आवेंगे कि चले गये। आज हमको एकान्तमें चिन्तन करनेका, ध्यान करनेका अवकाश दे

गये। यहाँ यों भी वाह-वाह है, यहाँ यों भी वाह-वाह है। दोनों हालतमें अपने हृदयके रसको बनाये रखना। ध्यान तो सृष्टिको मधुमयी, रसमयी, लास्यमयी, सुखमयी बनानेके लिए होता है। तो केवल नीलमका ध्यान कर रहे हैं, केवल सूर्यका, केवल अग्निका ध्यान कर रहे हैं, माहात्म्य बुद्धि नहीं है। उसका तो शरीरकी धातुपर ही प्रभाव पड़ता है। बर्फका ध्यान करोगे, यदि ध्यानमें थोड़ी-थोड़ी सिद्धि आवेगी, तो जल्दी-जल्दी सर्दी हो जाया करेगी और अग्निका ध्यान करोगे ज्यादा तो शरीरमें जलन मालूम पड़ने लगेगी। यदि मिट्टीका—शिलाका-पाषाणका ध्यान ज्यादा करोगे तो चित्तमें स्थान ज्यादा आवेगा, वह चिपक जाया करेगा। जड़ता आ जाया करेगी और माहात्म्य बुद्धि होगी तो वह जगाकर रखेगी यही ईश्वर हैं, हमारा प्यारा है।

अच्छाजी अब आगे चलते हैं। तो आत्मविशुद्धि मुख्य ध्यान है। जड़ वस्तुमें ईश्वरबुद्धि और ईश्वरके भावनामूलक रूपमें ईश्वरबुद्धि और राग-द्वेषसे रहित महापुरुषमें इष्टबुद्धि और फिर उसको भी छोड़कर निर्विषयमें वृत्तिका स्थापन। उसको भी छोड़करके आत्मासे पृथक् वृत्ति नामकी कोई वस्तु ही नहीं है—आत्माका साक्षात्कार। **समं**—ध्यान करने लिए बैठें तो टेढ़े न बैठें—**समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। समं अचलं**—काय, सिर और ग्रीवा—ये सम भी हों और अचल भी हों। लाइनमें भी हों, यह नहीं कि कभी दाहिने, कभी बायें झुकें या आगे लटक गये हैं। देखा मैंने कई लोगोंको, ऐसे हो जाते हैं, कोई आगेको लटक जाते हैं, कोई ऐसे तिरछे हो जाते हैं। यह नहीं, बिलकुल सीधा भी हो, किसी-किसी महात्माको देखते हैं, उनके सरल जीवनको देखते हैं। तो जीवनमें सरलता आ जाती है। ये महात्मा लोग कम चालाक नहीं होते हैं। उनकी चालाकी उनकी सरलतामें है, उनके सरल जीवनमें है। उनकी सारी बुद्धिमत्ता उनकी सरलतामें ही है।

अचलं—अच्छाजी, अब आगे, अचलं। सम भी हो और अचल भी हो।

स्थिरं—उसके बाद बोले—स्थिरं।

स्थिरंका अर्थ है प्रयत्नको दृढ़ रखो। अपने आप पड़ा रहेगा—ऐसे नहीं, मनको जाग्रत् रखो। प्रयत्न हो, दीर्घकालतक होवे, प्रतिदिन हो और श्रद्धासे हो।

अच्छा, अब आगे चलें। इधर-उधर न देखें, अपनी दृष्टि हो भीतर। कल कोई सज्जन कह रहे थे कि जब आँखसे हम भीतर देखने लगते हैं तो दर्द होने लगता है। इसमें बात यह है कि यह जो आँख है, यह यदि टेढ़ी होकर या उलटी होकर भीतरको देखती, अगर इन्हीं पुतलियोंसे भीतरको देखना होता, तब तो आप इस आँखपर ज़ोर लगाकर इसको भीतर करते या पीठकी ओर करते, दोनों आँखोंको एकमें भीतर-ही-भीतर मिलानेकी कोशिश करो, तो दर्द हो जायेगा। और आँखको उलटकर ऊपरकी ओर ले जानेकी कोशिश करो, तब भी दर्द हो जायेगा। परन्तु आप सोचो कि पलक बन्द हो जानेके बाद क्या यही पुतली देखती है? यह पुतली बिलकुल नहीं देखती है। इसीलिए इन बेचारियोंसे छेड़-छाड़ करनेकी तो बिलकुल जरूरत ही नहीं है, उनके ऊपर तो पर्दा पड़ गया, ये तो लिहाफके अन्दर आगयीं। तब इनको जहाँ-का-तहाँ छोड़ दो। जो आपको ध्यान करना है, वह अपने मनसे करो **तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा**—आँखसे ध्यान नहीं होता, नाकसे ध्यान नहीं होता। आँखमें यदि दर्द होता है या सिरमें अगर ध्यान करनेसे दर्द होता है तो इसका अर्थ होता है आप कहीं मांसपेशीपर जोर लगाते हैं। आप इस बातपर ध्यान दो। तो आप मांसपेशीपर जोर मत लगाओ, मनसे ध्यान करो। मनको मांस-पेशियोंसे अलग कर लो। और इधर-उधर मत देखो। कैसे ध्यान करें? तो

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत् मत्परः॥ १४

कहते हैं किसी श्रीमतीजीने पूछा कि महाराज, ध्यान कैसे लगे? तो गुरुजी बड़े वृद्ध थे, बड़े अनुभवी थे, देखा उन्होंने कि सायंकालका समय है, थोड़ा अन्धेरा है, परन्तु हवा तेज़ चल रही है। तो उन्होंने कहा—बहूजी, हम आपको ध्यान करना फिर बतावेंगे, जरा यह जो दीया जल रहा है न, इसको आप ले जाकर उस कमरेमें रख आइये। अब हवा चल रही है, कैसे जाये दीया, तो बहूजीने एक हाथसे दीया उठाया और आँचलसे ढक लिया और बिलकुल सावधान कि कहीं हवा न लग जाये, धीरे-धीरे पाँव रखकर एक कमरेसे दूसरे कमरेमें जाना था, बेचारी पाँच-सात मिनटमें गयी और दीपक रखकर आ गयीं। महाराज, आगयी, अब ध्यान बताओ! बोले कि यह दीपक

बुझ न जाये—बस, यह जो तुम्हारे मनमें ख्याल आया था न, कितनी देर रहा? कि पाँच मिनट। कैसा था उस समय? कुछ घरकी या कंघी-वंघीकी याद आयी, स्नो-लिपिस्टिक कुछ याद आया? उस समय पर्स लेकर बाजार घूमनेकी याद आयी? न महाराज, उस समय तो बस एक ही फिक्र थी कि यह जो आँचलके भीतर दीया है इसको कहीं जोरसे हवा ना लग जाये, यह बुझ ना जाये, बोले—श्रीमतीजी, इसीका नाम ध्यान है। अपनी तवज्जह, अपनी सुरत एक जगह समेटकर रख देना, इसका नाम ध्यान होता है। राग और द्वेष—दोनोंके पलड़े सम हों, बराबर हों, तब ध्यान लगता है। दुश्मनकी याद करोगे, ध्यान क्या लगेगा? अपने दोस्तकी ही यादमें डूबे रहोगे तो ध्यान क्या लगेगा? नींद आती होगी तो ध्यान क्या लगेगा? और भूख लगी हो, प्यास लगी हो और कोई भोग भोगनेके लिए अशान्ति मनमें छायी हो तो ध्यान क्या लगेगा? तो **प्रशान्तात्मा विगतभीः।**

कहते हैं एक महात्माके पास कोई सज्जन आये, बोले—महाराज हमको ध्यान करना सिखाओ। महात्मा बोले—अच्छा, बैठे जाओ। जब वे बैठ गये तो कुछ खटपट किया महात्माने। तो उन्होंने देखा कि उनके सिरपर एक नंगी तलवार लटक रही है और वह पतले धागेसे ऊपर कहीं बँधी हुई है। अब उन्होंने देखते ही महात्माजीके डरसे सीधे तो बैठ गये और आँख भी बन्द कर ली, पाँच-दस मिनट बैठे रहे। महात्माजीने पूछा—क्यों भाई ध्यान लगा? बोले—हाँ महाराज, जैसा लगना था वैसा लगा। कि क्या लगा ध्यान? कि ध्यान यह लगा कि हमारे सिरपर नंगी तलवार लटक रही है।

अब जिसको महाराज नंगी तलवार सिरपर दिख गयी। बोले—इस घरमें तो एक साँप है, बैठ गये ध्यान करने, तो बार-बार यह ख्याल होगा कि कहीं वह साँप न आजाये।

रातको हवासे महाराज किवाड़ी खटखटाती है न, तब लगता है कि चोर न आ गया हो।

तो भयकी मनोवृत्ति रखकर ध्यान नहीं होता है। राग-द्वेषकी मनोवृत्ति रखकर ध्यान नहीं होता है। भूखे-प्यासे हालतमें ध्यान नहीं होता है। प्रशान्तात्मा। पाँवमें दर्द न हो, कमरमें दर्द न हो, हाथ चंचल न हों, मक्खी-

वक्खी उड़ानेके लिए न दौड़ते हों, आँख सीधी-सादी हो और अपना मन वासनासे रहित होकर बैठा हुआ हो। रोज जब ध्यान करने बैठना हो, तो कहना कि हे भगवान्, अब दुनियाके सब काम हमारे पूरे हो गये, न नाती पनातीका कोई ब्याह करना है। हे भगवान्, अब हमको इस क्षण के बाद दुनिया में न किसी से मिलना है, न कुछ करना है, न कुछ भोगना है। कोई संकल्प नहीं, चार बांत बोलें भगवान्से। स्वस्तिकासनसे, पद्मासनसे, सिद्धासनसे, किसी आसनसे, अब मैं बैठ गया तेरे दरपर आकर बैठ गया, अब मुझे कुछ इकट्ठा करना नहीं है—एक बात। अब मुझे कुछ भोगना नहीं है—दो बात। अब मुझे कुछ करना नहीं है—तीन बात। अब मुझे कुछ बोलना नहीं है, मैं चुप होता हूँ तेरे सामने, तू अभी ले चल तो मैं तेरे साथ वैकुण्ठमें चलूँ और तू समाधिमें डाल दे तो मैं समाधिमें चला जाऊँ और फिर उठकर कभी कुछ करनेका मेरे मनमें संकल्प नहीं हो।

आप जरा कभी ऐसा सोचकर बैठिये, तो ईमानदारीसे बेईमानीसे नहीं। बोले हम अक्लमंदी कर रहे हैं, यह चतुराई कर रहे हैं ध्यानके लिए, ऐसी चतुराई करेंगे तो ध्यान लग जायेगा, जरा ईमानदारी से बोलिए तो। एक महन्तजी विरक्तोंकी बड़ी निन्दा करते थे। एक दिन हमारा हँड़िया वाला अवधूत जाकर सामने खड़ा हो गया, बोले कि ऐ महन्तजी, सुनो, तुम विरक्तोंकी, अवधूतोंकी निन्दा करते हो, जरा उतरो गद्दीपरसे, चलो जरा हमारे साथ गंगाजीमें दो-चार मील घूम तो आओ, बड़ी निन्दा करतो हो!

तो नारायण अपने प्रियतमके पास जाना, अपने प्रियसे मिलना, अभी हमको यह कमाना है, अभी हमको यह करना है, जरा एक पौत्र हो जाये। पौत्र हो गया, बोले जरा इसका मुण्डन देख लें। फिर ? कि इसका जनेऊ देखलें, फिर इसका ब्याह देख लें। महाराज एक बच्चा हो ले! फिर ? बोले—महाराज, पाँचवीं पीढ़ी कभी हमारे पास हो जाये तो कुछ करना ही नहीं पड़ेगा। बस, एक सोनेकी सीढ़ी दान करेंगे और यहाँसे स्वर्गतक सीधे चले जायेंगे।

अब महाराज पाँच पीढ़ी करते-करते ये जो बुड्ढे लोग हैं न, ये न खुद भगवान्का भजन करें और न दूसरेको करने दें। हम आपको क्या सुनावें, ये जब सोते हैं न शाम को या दिनमें, सोनेके बाद हम जगेंगे या हम दूसरोंको

सोते या जागते देखते हैं, इसलिए हमारे मनमें एक भरोसा बना हुआ है कि हम सोकर उठेंगे। नही तो मनोवृत्तिके सो जानेके बाद वह फिर जगेगी कि नहीं जगेगी इसका कुछ ठिकाना नहीं है। ऐसी स्थितिमें सोनेके समय यह विश्वास करके सोते हैं, कि फिर जगेंगे और कहीं यह ख्याल हो कि सोनेके बाद डाक्टर कह दे कि देखो भाई, तुमको साँप काट गया है, नींद नहीं आनी चाहिए, तुमको यह रोग है, तुमको नींद नहीं आनी चाहिए, नहीं तो फिर उठ नहीं सकते। ऐसे रोग हैं कि आदमी को नींद आ जाये तो बस हार्ट बन्द ही हो जाता है। डाक्टर कह दे, वैसे तो आप नींदकी गोली खाते हैं, लेकिन जिस दिन कह देगा कि अब सो जाओगे तो नहीं उठोगे, उस दिन आप सोना पसन्द नहीं करोगे। बाबा, हमारे गाँवमें तो साँप काट जाता था, तो चिकित्सा करनेवाले कहते थे कि बस नींद नहीं आनी चाहिए, जागते रहो, जागते रहो। नीम ला-लाकर मुँहमें डालते थे, कड़वी लगती है कि नहीं लगती है! साँप काट जाता है, विष जब चढ़ता है तो नीमका कड़वापन मुँहमें मालूम नहीं पड़ता है।

यदि आपको कुछ कमाना है, कुछ करना है, कुछ भोगना है, किसीसे कुछ कहना है, अरे हाय-हाय भगवान् ठहरो, अभी नहीं चलेंगे तुम्हारे साथ, अभी हमको वसीअत लिखना है। अरे, भगवान्की चीज भगवान्के पास जायेगी जिसके भाग्यमें होगा वह लेगा। तुम्हारे देनेसे किसीको मिल जाये, ऐसा तो हम नहीं देखते हैं। देनेवाले देते-देते मर गये, किसीके हाथ नहीं लगा। जिसको नहीं देना चाहते हैं उसीके हाथ लगता है। क्योंकि वे लोग सावधान रहते हैं, चतुर होते हैं, वे पहलेसे ही कुछ-न-कुछ युक्ति बनाकर रखते हैं कि हमारे हाथमें आ जाये। तो जिनको नहीं देना चाहते उनके हाथमें लगता है। तो प्रशान्तात्माका अर्थ है शरीर शान्त, इन्द्रियाँ शान्त, साँस शान्त, मन शान्त और प्राण भी शान्त। और डरो मत किसीसे, मौतसे भी मत डरो। महात्मा लोग कहते थे कि मृत्यु तो अपने प्यारेकी दूती है। हमारे और प्यारेके मिलनेमें जो देरी है, उस देरीको दूर करनेके लिए मौतकी दूती आती है और यह शरीरका चोला हटाकर हमको प्यारेसे मिला देती है। आप मौतसे डरते क्यों हो? **विगतभीः।**

अच्छा, फिर आप सोचो कि क्या भगवान् आपकी रक्षा नहीं करेगा? सब

कुछ न हो दुनियामें, हम देखते हैं पहननेके लिए कपड़ा मिल जाता है, खानेके लिए रोटी मिल जाती है, पीनेके लिए पानी मिल जाता है, नींद भी आ जाती है और फिर भी लोगोंका ईश्वरपर विश्वास नहीं होता है। तो **अभयं**—यह पहली बात है। दूसरोंको धमकाओ मत, दूसरेको डर मत दो। तुम रुपया दूसरेको देते हो, रोटी दूसरेको देते हो, कपड़ा दूसरेको देते हो, दवा दूसरेको देते हो, समझ दूसरेको देते हो, लेकिन तुम भयका दान मत दो दूसरेको, धमकाओ मत!

कितना बढ़िया तुम्हारा चेहरा, क्या दाढ़ी-मूँछ बनाकर बैठे हैं, मलूक-मलूक, क्या सुन्दर-सुन्दर लोग बैठे हैं, कंघीसे बाल सँवारते हैं, तेल फुलेलसे अपना शरीर सँवारते हैं, क्या बढ़िया कपड़ा पहनते हैं, तुम किसीको डराने लायक तो नहीं लगते हो। न तो भय दो, किसीको भयभीत मत करो और स्वयं भयभीत मत करो और स्वयं भी भयभीत मत बनो। निर्भय होकर बैठ जाओ। शान्त हो जाओ और निर्भय हो जाओ।

महाराज, भोगके बिना कैसे काम चलेगा? **ब्रह्मचारिव्रते स्थितः**—जैसे अपने ब्रह्मचारी अकेले रहता है, उस व्रतमें अपनेको स्थित करो! यह जो तुम अपने अधूरेपनका चिन्तन करते हो कि औरतके बिना मर्द अधूरा है और मर्दके बिना औरत अधूरी है, इसीका नाम संसार है। असलमें प्रत्येक इकाई ही पूर्ण है। वह मंत्र आप कभी पढ़ते हैं कि नहीं?

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

स्त्री भी पूर्ण है, पुरुष भी पूर्ण है। स्त्रीके बिना पुरुष अधूरा नहीं है, पुरुषके बिना स्त्री अधूरी नहीं है। जिसको पुत्रकी कामना है, वह अधूरा है, पुत्रकी कामना नहीं है, तब आपमें अधूरापन कहाँ है? हमको अधूरा किसने कर दिया? कि हमको अधूरा कामने कर दिया। कामनाने हमको काटकर, छाँटकर आधा करके रख दिया। ये पुरुष लोग महाराज स्त्रियोंकी बड़ी इज्जत करते हैं। बड़ी इज्जत यही है कि उनकी जवानी बिगाड़ दें, उनका शरीर नष्ट कर दें। उनको भोग लें—यही बड़ी इज्जत है। यह Ladies first जबसे हो गयी है, हे भगवान्!

एक श्रीमतीजी किसीपर नाराज हुईं, लिफ्टमें चलते-चलते नाराज हो

गयीं, तो पुरुषको बोलीं—मैं कहाँ जाऊँ? वे बोल पड़े कि जहन्नुममें जाओ। बोलीं—तुम्हीं जाओ। तो वे बोले—Ladies first पहले आप ही पधारिये।

तो पुरुष जो यह समझता है कि स्त्रीके बिना हमारा कोई जीवन नहीं है, अपनेको अधूरा क्यों समझता है? कामनाके वशवर्ती होकर। स्त्री क्यों समझती है कि मेरा जीवन अधूरा है? कामनाके वशवर्ती होकर। आप जरा काम संकल्पको छोड़ करके देखिये। क्या आपके शरीरमें पंचभूत कम हैं कुछ? साँस नहीं है? मन नहीं है? अन्तःकरण नहीं है? आत्मा नहीं है? परमात्मा नहीं है? क्या नहीं है आपके भीतर? लेकिन फिर भी आप सोचते हैं कि स्त्रीके बिना हम अधूरे, स्त्री सोचती है पुरुषके बिना हम अधूरे। यह कामने काट-काटकर, टुकड़े-टुकड़े करके रख दिया। क्या होता है नैसर्गिक? आजकल महाराज, कुछ नेचरके नामपर बोलते हैं, नेचर निशाचरी। न्यक्चरी। न्यक् नीचे ही चरती। यह प्रकृति और पुरुषका विवेक करके देखो, तो स्त्रीके शरीरमें भी वही चेतन पुरुष है और पुरुषके शरीरमें भी वही चेतना पुरुष है। आप लोग कहीं विदेशसे ऐसा तो नहीं सीखकर आये कि स्त्रीके शरीरमें रूह ही नहीं होती है। हे भगवान् आपलोग मान सकते हैं भला! आजकल बीसवीं शताब्दीमें इस बातको मान सकते हैं भला! अरे, एक ही आत्मा स्त्री-पुरुष दोनोंके शरीरमें है। एक सरीखा ही पंचभूत है। एक ही परमात्मा है। आप अपनी पूर्णताको न देखकर जब अधूरेपनको देखने लगते हैं तब अधूरेपनको पूर्ण करनेके लिए दूसरेकी जरूरत पड़ती है। यह दूसरेकी जरूरत ही अपनेको न समझना है। **ब्रह्मचारिव्रते स्थितः**। जैसे ब्रह्मचारी अकेला। आपलोगोंने स्वामी विवेकानन्दजीका संन्यासी गीत कभी देखा-सुना है? पढ़ा-सुना होगा, अंग्रेजीमें है—हरि ओं। ऐसा बढ़िया गीत है। मैंने बचपनमें ही उसका अनुवाद करवा लिया था किसीसे जितने हैं न, सबका अलग-अलग। हमको याद था उस समय। बिलकुल अनजान रास्तेमें, अनजान जंगलमें, अनजान लक्ष्यकी ओर संन्यासी अकेला चल रहा है, **ब्रह्मचारिव्रते स्थितः** उसके पास कोई सीधा सामान नहीं है, कोई लोटा-डोरी नहीं है, कहाँ कुआँ मिलेगा, कहाँ झरना मिलेगा, मालूम नहीं है। संन्यासी चल रहा है, चल रहा है। हरि ओं तत् सत्।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।

अच्छा, तो आप संन्यासी बनिये—यह नहीं कहता हूँ। कह यह रहा हूँ कि आप जरा अपने भीतर ही प्रवेश कीजिये और अकेले अकेले कीजिये, वहाँ डरिये मत—

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः।

अपने मनका संयमन कीजिये। यह जिनका लक्ष्य नहीं है, वे बोलते हैं न, जो होये सो होने दो, चाहे ज़ो कर लो, चाहे जो खालो, चाहे जो बोल दो, आजकल जो आध्यात्मिक भ्रष्टाचार, आध्यात्मिक उच्छृंखलता, अध्यात्मके नामपर उच्छृंखलता जो चली है, इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि ये लक्ष्यहीन हैं। इनको न ईश्वर पाना है, न आत्मसाक्षात्कार करना है, न ये कोई वैकुण्ठ-स्वर्गको मानते हैं, जब जीवनका कुछ लक्ष्य ही नहीं है, तब उन्हें साधनकी क्या जरूरत है! कीड़ेकी तरह पैदा हुए, कीड़ेकी तरह मर गये, यही नेचुरल—इनका प्राकृतजीवन, लक्ष्यहीन जीवन, प्रकृतिमें समा जानेके लिए, जड़तामें लीन हो जानेके लिए जीवन है। जिसको प्रकृतिपर विजय प्राप्त करके परमात्मासे एक होना है, उसको संयमित करना पड़ता है। अपने-आपको थोड़ा समेटना पड़ता है। समेट कर पहले अपने-आपको अन्तःकरणमें लेलो और फिर परमात्माके साथ अपने-आपको मिला दो, 'संयम्य' शब्द हमारा योगशास्त्रका पारिभाषिक शब्द है। संयमका अर्थ क्या होता है? संयमका अर्थ है—***त्रयमेकत्र संयमः।*** योगदर्शन मूलमें यह सूत्र है। ***त्रयं धारणा-ध्यान-समाधि इति एतत् त्रयं। एकत्र संयमो भवति*** एक देशमें, अमुक काल पर्यन्त चाहे ध्यातामें चाहे ध्यानमें, चाहे ध्येयमें अपने आपको स्थिर कर लेना। तो एक स्थानमें, यह हुई धारणा और एक कालमें—यह हुआ ध्यान और एक वस्तुमें—यह हुई समाधि। अब वह वस्तु कौन-सी है? ध्येय है कि ध्याता हैं, कि ध्येय और ध्याताके ख़्यालसे रहित केवल ध्यान है।

अब भाई, योगकी बात सुनावेंगे तो सुनाना पड़ेगा, ग्रहण-समापत्ति, ग्राह्य-समापत्ति और गृहीत-समापत्ति। ध्यातामें मनका स्थिर होना, ध्येयमें मनका स्थिर होना और ध्याता अहं और इदंको देखे बिना निर्विकल्प चित्का स्थिर होना। तो ***त्रयमेकत्र संयमः।***

एक स्थानमें मनका एकाग्र होना धारणा है, एक कालमें मनका एकाग्र

होना ध्यान है और एक वस्तुमें मनका एकाग्र होना समाधि है। और तीनों जब एक विषयमें हो जायेंगे और ध्याता और ध्येयका भेद जब समाप्त हो जायेगा तब समाधि लग जायेगी। समाधि माने होता है अहं और इदं दोनोंको दफना देना। शान्तिकी कब्रमें तीनोंको दफना देना। यह नहीं कि किसीने कहा कि दो पैसेकी फूलकी माला खरीदकर ले आओ और जरा चन्दन भी लेते आना और हमको लगाओ चन्दन। हमारे पास ध्यान सीखने आये हो, लगाओ हमको चन्दन। पहनाओ गलेमें माला। बैठो। देखो, छह महीनेतक जाकर शिव शिव शिव जपना, फिर तुमको समाधि लग जायेगी।

इसका नाम समाधि नहीं होता है, वह दो पैसेमें समाधि खरीदी नहीं जाती है। तो **प्रशान्तात्मा, विगतभीः ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। मनः संयम्य।** अब दो बात देखो और आती है। **मच्चित्तो मत्परः युक्त आसीत्**, अभी ध्यान दो इन शब्दोंपर। **मच्चित्तः**, चित्त कहाँ है? कि अपनेमें। ***मयि चित्तं यस्य स*** **मच्चित्तः।** ***अहमेव चित्तं यस्य स*** **मच्चित्तः।** यह महाराज, संस्कृतका व्याकरण मजा देता है। ***मयि प्रत्यगात्मन्येव चित्तं यस्य।*** और मत्परः। ***अहमेव परमात्मा परा प्रकृति यस्य।*** अहमेव स्वात्मैव परः सर्वोत्कृष्टो यस्य। और युक्तः।

यदा विनियतं चित्तं आत्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृह सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ ६.१८

अपने आपको शान्त कर देना, जैसे दीया बुझ जाता है या जबतक जलता रहता है तबतक उसमें दिखता है क्या? यह घड़ा है, यह स्त्री है, यह पुरुष है। जबतक स्नेह युक्त बत्तीमें लौ ज़लती रहती है तबतक अलग-अलग पदार्थ दिखते हैं और जब दीप निर्वाण होता है तब लोकमें अन्धकार हो जाता है। परन्तु स्नेहयुक्त अन्तःकरण-वृत्तिका जब निर्वाण होता है तब आत्म-चैतन्यका प्रकाश छा जाता है।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारि व्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः॥ १४

शरीरमें और मनमें, कर्ममें और भोगमें अनजानमें ही कुछ ऐसी आदतें पड़ जाती हैं जिनको छोड़ना जरूरी होता है और उसे छोड़नेमें थोड़ा श्रम करना पड़ता है, थोड़ी लग्नकी, थोड़ी उत्साहकी, थोड़ी आशाकी, थोड़ी प्रतीक्षाकी भी

आवश्यकता पड़ती है। अब जिनकी आदत बहुत गहराईतक पहुँच जाती है, उनको छोड़नेमें होती है कठिनाई। तो उनको आकर अगर कोई ऐसा कह दे कि बुरी आदत छोड़नेकी जरूरत नहीं है, आओ हम तुमको ऐसे ही समाधि लगा देते हैं, ईश्वर मिला देते हैं, आत्माका साक्षात्कार करा देते हैं, तो वे आदमी बहक जाते हैं।

देखो, हमारी जानकारीमें एक बालक था, उसकी आदत पड़ गयी थी अपना नाखून मुँहसे खानेकी, तो ऐसी आदत पड़ गयी कि अंगूठेमें-से खून निकलने लगता था, पर वह अपना नाखून दाँतसे काटना नहीं छोड़े। उसको समझानेकी कोशिश की गयी, पर अब कहीं बच्चा समझता है! उसके अंगूठेपर नीम लगा देते कि काटेगा तो कड़वा लगेगा। तो जाकर साबुन लगाकर धो देता, लेकिन खाता जरूर। तो जब आदमीकी आदत बिगड़ जाती है, तब वह आसानीसे नहीं छूटती है। अपने ही जीवनमें देखो, एक साधुकी बात सुनी होगी, उसको चोरीकी आदत थी, जब साधु हो गया तो गुरुजीने कहा—अब चोरी नहीं करना बेटा! अब रातको साधुओंके साथ जब सोवे तो उसको नींद न आवे, कुछ-न-कुछ खटपट किये बगैर कैसे रहा जायेगा, तो वह चोरी तो न करे, लेकिन एक साधुका कमण्डलु दूसरे साधुके पास, एकका चिमटा दूसरेके पास, एकका खड़ाऊँ दूसरेके पास, ऐसे रातको रख देता था। सबेरे जब साधु लोग उठते, तो आपसमें लड़ाई होती, तुमने हमारा क्यों ले लिया, तो वह चुपचाप देखकर मजा लेता, चुराता किसीका कुछ नहीं। पता लगा तो उससे पूछा गया, उसने कहा क्या करें भाई, चोरी तो मैंने छोड़ दी, अब तुम्बा फेरी भी छोड़ दूँ!

तो जिसकी आदत बिगड़ जाती है! एक हमारे मित्र थे, तो उनकी लड़ाई करनेकी आदत थी। जिसदिन कोई नहीं मिलता था उस दिन हमसे जरूर लड़ाई करते थे। क्योंकि उनसे लड़ाई किये बिना रहा नहीं जाता। कुछ स्त्रियाँ होती हैं महाराज, अपने घरमें सास मिले, ससुर मिले, देवर देवरानी, जिठान—कोई मिले तो लड़ेंगे। और कोई न मिले तो अपने पतिसे तो लड़ेंगी, और ऐसा कोई मौका न मिले तो कभी-कभी अपने-आपसे अपने आपको ही चपत मारती हैं, मैंने देखा हैं। क्योंकि उनको सन्तोष नहीं होता है अपनी आदत पूरी किये बिना। तो यह जो

योग है, इस योग माने यह है कि हमारे जीवनमें जो धन कमानेमें चोरी-बेईमानीकी आदत पड़ गयी है वह छोड़ी जाये। जो अनावश्यक भोग और परिग्रह हमारे जीवनके साथ जुड़ गया है, वह छोड़ा जाये।

एक आदमीको झूठ बोलनेकी आदत थी, तो लोगोंने बहुत घेरा उसको कि भाई, यह झूठ बोलनेकी आदत छोड़ दे, भलेमानुस होकर क्यों झूठ बोलता है? तो बोला कि अच्छा महाराज, हम झूठ बोलनेकी आदत तो छोड़ देंगे, लेकिन हँसीमें हमको झूठ बोलनेकी छुट्टी रहनी चाहिए क्योंकि हँसी-हँसीमें तो हम जरूर झूठ बोलेंगे, अब वह झूठको नहीं छोड़ सकता।

तो मनुष्य अपनी आदतसे इतना लाचार हो गया है। पहले अपनी बुरी आदतें छोड़ दो। बुरी आदतें बोलनेकी हो सकती हैं, भोगनेकी हो सकती हैं, करनेकी हो सकती हैं, चीजें इकट्ठी करनेकी हो सकती हैं। एक आदमीको चीजें इकट्ठी करनेकी ऐसी आदत थी कि वह भले सड़ जाये, खराब हो जाये, लेकिन किसीके काममें न आवे। तो पहले अपनी आदतको सुधारना, यह साधनके मार्गमें आवश्यक है। पाँव फैलाकर बैठते हैं, बैठते हैं तो पाँव हिलाते रहते हैं। देखो हम कथामें देखते हैं बैठे-बैठे एक-दूसरेको खोद देते हैं, एक-दूसरे बातचीत आपसमें करने लगते हैं, वे समझते हैं कि हमारी जरा-सी बात किसके कानतक पहुँचती है! लेकिन उससे भी विक्षेपकी उत्पत्ति तो होती ही है।

अब देखो, यह तो हमने बाहरी बातें की, आप अपने मनके बारेमें थोड़ा सोचिये, जैसे यह आपका स्थूल शरीर है माने मिट्टी, पानी, आगका एक साँचेमें ढला हुआ शरीर है, ऐसे आपका अन्तःकरण वासनाओंसे ढला हुआ शरीर है, उसमें वासनाएँ-ही-वासनाएँ हैं, वासनाओंके पुंजका ही नाम अन्तःकरण शरीर है, वासना वासित ज्ञानका नाम ही अन्तःकरण है—सूक्ष्म शरीर है। ज्ञानातिरिक्त कोई सूक्ष्म शरीर नहीं है। ज्ञानके अलावा वह कुछ नहीं है। अपनी एक जानकारी है। हमको बचपनकी याद है, एक महात्माके पास गये, साधन सम्बन्धी चर्चा होने लगी। तो वे बोले कि देखो, बेवकूफीसे साधन करनेपर उसका फल नहीं मिलता है। मनुस्मृतिमें भी लिखा है—

नहि अध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते।

ऐसे समझो कि एक आदमी मोटर चलाना तो जानता है, लेकिन मोटरमें बिजली कहाँसे दौड़ती है और कौन-सी मशीन कैसे काम करती है, पेट्रोल कहाँसे जाता-आता है, यह सब बात उसको न मालूम हो और रास्तेमें चलते-चलते मोटर किसी कारणसे बन्द हो जाये, तो क्या होगा ? अब तो उसको बाहर निकलकर खड़ा होना पड़ेगा कि कोई जानकार आवे, तब हमारी मोटरको सुधार दे। जैसे मोटरकी नस-नाड़ी जो जानता है और किसमें-से हवा गुजरती है और किसमें-से खून गुजरता है, किसमें-सें ज्ञान गुजरता है यह बात मालूम हो भीतरकी तो अध्यात्मविद् बोलते हैं। अध्यात्मविद् पुरुषको साधनाका फल मिलता है। तो मैं उनसे साधनाकी बात कर रहा था, काशीके बड़े अच्छे महापुरुष थे, उन्होंने कहा—'पहले समझौती चाहिए।' माने पहले बात समझमें आनी चाहिए कि हमारी इन्द्रियाँ ऐसे काम करती हैं, हमारा मन ऐसे काम करता है, हमारा हाथ ऐसे उठता है। हम सोचते हैं कि हमारा हाथ उठ जाये और हमारे सोचनेपर ही जरा-सा बल लगानेपर हाथ उठ जाता है। हमारा पाँव अमुक दिशामें चलता है, तो समझदारी होती है तब संकल्प पूरा होता है। समझदारीके बिना संकल्प पूरा नहीं होता है। तो *नह्यध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते।* मनुजीका श्लोक है। *नह्यध्यात्मविद् वेदान् ज्ञातुं शक्नोति तत्त्वतः।* जो अध्यात्मवेत्ता नहीं है वह वेदोंका अर्थ नहीं समझ सकता, वह कर्म चाहे जितना करे, मज़दूरकी तरह करेगा। आखिर गधा भी तो बहुत काम करता है, लेकिन गधेका काम दूसरा है वह आपने सुना कि नहीं ? एक महाराष्ट्र सज्जन थे, बड़े ऊँचे ओहदेपर काम करते थे। वे गये पंजाबमें, केन्द्रिय अफसर थे कोई। वहाँ हमारे पंजाबी साहिब लोग थे, उनकी तनख्वाह तो डेढ़, दो सौ, ढाई सौ और इन महाराष्ट्रके सज्जनकी डेढ़-दो हजार। तो उन पंजाबी अफसरोंको बड़ा आश्चर्य होवे कि इन महाराष्ट्रियन साहबकी तनख्वाह इतनी ज्यादा क्यों है ? तो आपसमें उन लोगोंने सलाह की और एकको नियुक्त किया कि जाकर पूछ आओ। वे गये और हँसी-खेलमें ही पूछ लिया कि साहब आदमी तो हम लोग भी हैं, आप भी हैं, आपका वेतन अधिक क्यों है ? बोले—यह अकलकी तनख्वाह मिलती है, शरीरकी नहीं मिलती है। तो उन्होंने पूछा—आपको ऐसी क्या ज्यादा अकल प्राप्त है ? तो उन्होंने मेज पर अपना हाथ रखा

और बोले कि देखो, तुम खूब जोरसे घूँसा मारो हमारे हाथपर। तो पंजाबी सज्जनने सोचा कि ऐसा घूँसा मारेंगे कि टूट जायेगा हाथ, और जोरसे जो घूँसा मारा, तो उन्होंने अपना हाथ खींच लिया, मेजपर उनका घूँसा लगा तो दर्द हुआ, कराहने लगे। उन्होंने कहा, हटाओ यह तो बड़े अकलकी बात है। ठीक है, आपकी तनख्वाह ज्यादा होनी चाहिए। अब वे बाहर निकले तो सब लोग इकट्ठे हुए, बोले—भाई, क्या पूछकर आये? बोले कि पूछकर नहीं आये साक्षात्कार करके आये, तनख्वाह बिलकुल अकलकी होती है और उनको ज्यादा मिलनी चाहिए। अब इन्होंने कहा कि क्या देखकर आये, सो बताओ। अच्छा मैं बताता हूँ। मैं देखो यह अपनी हथेली जबड़ेपर रखता हूँ, तुम खूब जोरसे, चाहे जितने जोरसे घूँसा मारो। अब वह महाराज मेज़ तो वही था, दूसरा तो था नहीं, सामनेवालेने जो घूँसा मारा, तो उन्होंने हथेली तो खींच ली, अकलका काम तो किया, लेकिन वह घूँसा हथेलीपर नहीं लगा, जबड़ेपर लगा। तो यह जो लोग,

देखा देखी करें योग—अब तो बेचारे कराहने लगे।

छीजे काया बढ़े रोग—समझते-बूझते तो कुछ हैं नहीं।

यह साधना क्या है? यदि समझ लें कि इन्द्रियाँ कैसे काम करती हैं, मन कैसे काम करता है, मनके घूमनेकी नस क्या है? नाड़ी क्या है? मन किधर-किधरसे काम करता है, यदि यह बात आप बिलकुल समझ लो, तो आपको अपनी इन्द्रियोंको और मनको वशमें करनेमें किसी भी प्रकारकी कठिनाई नहीं होगी भला!

अब आओ आप देखो, आपको ले चलते हैं, जो लोग कहते हैं कि यह कभी हो ही नहीं सकता, वे हारे हुए लोग हैं। हारे हुए लोगोंकी सलाह नहीं माननी चाहिए, व्यापारमें भी जब कोई घाटा उठा लेता है, तब उससे लोग सलाह लेनेके लिए नहीं जाते हैं, जो मुनाफा उठाता है, उससे सलाह लेते हैं। साधनमें भी जिसको सफलता मिलती है, आनन्द मिलता है, शान्ति मिलती है, उससे सलाह ली जाती है, सलाह किसी राह चलतेसे, वेशभूषा देखकरके सलाह नहीं ली जाती है। तो समझदारीकी आवश्यकता साधनामें बहुत होती है। अब देखो, एक बात आपको यहाँ बताते हैं—

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।

जब आप साधनमें बैठें, तो क्रियाशक्तिपर आपको नियन्त्रण करना है, पाँव भी आपके बँधे हुए हैं, हाथ भी बँधे हुए हैं, काया, सिर, ग्रीवा भी सम हैं और स्थिर हैं और आप स्थिर होकर बैठे हुए हैं। इसका अर्थ यह है कि आपके अन्दर जो कर्म करनेकी शक्ति, इच्छा और समझ है, उसमें हम एक समन्वय स्थापित करना चाहते हैं। समझके अनुसार इच्छा हो और इच्छाके अनुसार आपके शरीरके द्वारा क्रिया हो और कभी-कभी आपकी क्रिया इच्छा और समझके विपरीत भी हो जाती है।

एक सज्जन अपने बच्चेको खिला रहे थे, छोटा-सा बच्चा। वे खुद आकर हमसे बता गये। खिलाते-खिलाते बच्चेको, कुँयेपर गये। न तो उनकी समझदारी यह गवाही दे सकती थी कि बच्चेको कुएँमें डाल दें और न तो उस प्यारे नन्हें-मुन्ने बच्चेको कुएँमें डालनेकी इच्छा हो सकती थी, परन्तु महाराज, उनकी हाथकी क्रिया न इच्छाके वशमें रही और न समझके वशमें रही। हाथने तो कुएँमें फेंक दिया बच्चेको। उसके बाद देखो, बड़े दुःखी हुए। तो मनुष्य कभी- कभी अपनी इच्छा और समझके विपरीत भी क्रिया कर बैठता है। और समझके विपरीत भी इच्छा कर बैठता है। तो समन्वय, आगे-आगे प्रज्ञा चले, बादमें इच्छा चले, इच्छाके पीछे क्रिया चले। तो यह तब हो सकता है कि जब हम अपने जीवनमें, अपने कर्म और समझका समन्वय स्थापित करें। बिना हमारी इच्छाके हमारा कोई अंग हिले नहीं और बिना समझदारीके कोई इच्छा हमारे मनमें हो नहीं। ऐसा नियंत्रण जब हमारे जीवनमें होगा; समझके विपरीत इच्छा न हो और इच्छाके विपरीत शरीरसे क्रिया न हो। हमारे जीवनमें जबतक नियन्त्रण नहीं होगा तबतक कि जाओ-जाओ तुमको फ्री कर देते हैं। महाराज, फ्री तो जन्म-जन्मसे हैं, पशु फ्री है, पक्षी फ्री है। मछली फ्री है, कुत्ता फ्री है। तुम अब भी यदि मनुष्य होकरके फ्री हो गये, फ्री माने इन्द्रिय-तृप्ति। *प्रीञ् तृप्तौ* धातु है संस्कृतकी, जिससे *प्रियति, प्रियते, प्रीणाति, प्रायति, प्रीणयति*—ये सब रूप जिससे बनते हैं न, वह 'प्रीञ्' धातु है। तो यह 'प्रीञ्' माने जैसे इन्द्रयोंकी तृप्ति हो सो करो। तो तुम पशु रहो, पक्षी रहो, पामर मनुष्य रहो, साधनके क्षेत्रमें काहेको आये कि जो मन आया सो वही करें! तुम मनमुखी हो गये न! गुरुमुखी नहीं हुए।

तो जब मनोमुखी, मनमुखी, मन्मथमुखी होनेके लिए जो कामना मनमें उठी, बोले—हम तो यही करेंगे, कोई रोक-टोक करनेवाला नहीं, जो मनमें आया सो किया। तो इसके लिए अभ्यासकी जरूरत पड़ती है कि समझके अनुसार इच्छा हो, इच्छाके अनुसार क्रिया हो।

देखो, आपका जीवन केवल हड्डी, मांसका जीवन नहीं है, यह ज्ञानका जीवन है, यह प्रेमका जीवन है। यह सद्भावनाका जीवन है। सच्चिदानन्दमें-से सत् आपकी सद्‌भावना बनकर रह रहा है, चित् आपके हृदयमें ज्ञान बन करके रह रहा है, आनन्द आपके जीवनमें प्रेम बन करके रहता है। यदि उसका आप ठीक संचालन नहीं करेंगे, तो यह पशुकी तरह अनियन्त्रित जीवन व्यतीत करके, आप अपनेको बिलकुल गड्ढेमें डाल देंगे, इसके लिए अपने जीवनको नियन्त्रित करना चाहिए। और नियन्त्रण कैसे होता है, इसके लिए आदत डालनी पडती है।

जन्मकोटिचिराभ्यस्ता राम संसारवासना।
न चिराऽभ्यासयोगेन विनयं शाम्यति क्वचित्॥

हे रामजी, कोटि-कोटि जन्ममें वासना पूरी करनेका अभ्यास पड़ गया है चिरकालकी, करोड़-करोड़ जन्मकी वासनापूर्तिका अभ्यास है, यदि अपनी मनोवृत्तिको थोड़ा दबाकर काम नहीं करोगे तो कहाँ जाओगे, तुम्हारे पास मोटर तो है परन्तु ब्रेक नहीं है। बिना वारककी मोटर चल रही है। रोक नहीं सकते तुम।

महाराज, हमारा एक बालक है, भले घरका है, अच्छा है, अभी मोटर चला रहा था, अब चलाते-चलाते स्टियरिंग काबूसे बाहर हो गया, वह पकड़े ही नहीं मोटरको। तो ब्रेक लगानेकी उसने कोशिश की तो वह भी न लगे। अब मोटर जाकर ऐसी टकराई, उसका नाक-मुँह टूटा सब, वह तो बच गया ईश्वर कृपासे, छह-आठ महीने अस्पतालमें उसकी दवा करनी पड़ी। अब यह जीवनकी जो मोटर चल रही है, जो रथ चल रहा है उसमें तुम्हारा ब्रेक हाथमें है कि नहीं! जहाँ बोला गया 'चुप' 'तूष्णीम्' वहाँ तुम्हारा मन चुप हो जाता है कि नहीं?

अच्छा, तो आपको अब सुनाते हैं कि योगाभ्यासका अर्थ अपनेको

उच्छृंखल बनाना नहीं है, संयत बनाना है। हम पहचान जाते हैं इस बातको भला, दो मिनटमें बताते हैं कि यह मनुष्य अपने मनकी रखकर खुश होता है कि अपने मनकी मिटाकर खुश होता है! पहचान गये कि भाई, जब इसके मन-मनकी होवे, तब तो यह खुश होगा और इसके मनके खिलाफ हो, तो यह नाखुश हो जायेगा। तो हमको तुम्हें नाखुश करनेकी जरूरत क्या है? तुम हजार बार चाहो, तुम्हारी गर्ज हो कि हमारा मन संयममें आवे, तो हम उसकी युक्ति बतावें और यदि तुम खुद ही चाहते हो कि हमारा मन पशु बन जाये, हमारा मन उच्छृंखल हो जाये, मनमुखी हो जाये। पहले दिन मालूम पड़ेगा, बहुत बढ़िया। वासनाकी पूर्तिका रस लेनेकी आदत जिसकी पड़ गयी कि हमारे मनकी जो वासना है वह पूरी हो तब हम सुखी, वह संसारके मार्गमें गया और अन्तमें वह नरकमें जायेगा और जो वासनाकी निवृत्तिका रस लेनेके मार्गमें चलता है वह योगके मार्गमें चलता है, समाधिस्थ होता है और स्वरूपस्थ होता है।

देख लो तुम राग-वासनाके अनुसार चल रहे हो कि वैराग्य-वासनाके अनुसार चल रहे हो! तो आप देखो—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।

थोड़ा बैठनेका अभ्यास करो। बैठनेमें क्या है? समझदारी तो अपनी है कि योगाभ्यास करना चाहिए और संकल्प अपना है कि हम बैठेंगे। अब तुम्हारा संकल्प तुम्हारी ही क्रियासे कितना अपने काबूमें रख सकता है। पाँच मिनट बैठ सकते हो, दस मिनट बैठ सकते हो, घण्टे भर बैठ सकते हो, तीन घण्टे बैठ सकते हो! श्री उड़ियाबाबजी महाराज दस-बारह घण्टे एक ही आसनपर बैठे रहते थे। बदलनेकी जरूरत ही नहीं। हमारे ब्रह्मानन्द स्वामी शंकराचार्यजी महाराज भरी सभामें दस-दस घण्टे एक ही आसनसे बैठते, न लघुशंका, न शौच, न प्यास। भरी सभामें आकर बैठ गये। तीन बजे आकर बैठे, दस-ग्यारह बजेतक सभा जुड़ी हुई है, आसन ज्यों-का-त्यों एक बँधा हुआ है, पीठकी रीढ़ सीधी है, हिलनेका नाम नहीं लेते हैं। तो यह अभ्यासकी बड़ी बढ़िया *आतिवाहिकदेहोऽयं शुद्धचिद्व्योम केवलम् आधिभौतिकतां निहिता पश्याभ्यासविजृम्भितम्॥*

यह जो तुम्हारा शरीर है, यह चिदाकाश है—**चिद्व्योम केवलं**। और यह तो आतिवाहिक है, भीत इसको रोक नहीं सकती, पानी इसको डुबो नहीं सकता, आग इसको जला नहीं सकती, हवा इसको रोक नहीं सकती, अप्रतिहत गति आकाशमें हो सकती है। यह तुम्हारा शरीर आतिवाहिक है। लेकिन तुमने आदत डाल-डालकर इसको हड्डी-मांस-चामसे एक कर दिया और इस शरीरमें बैठ गये। तो इस शरीरमें-से, इस शरीरके बन्धनमें-से आतिवाहिक शरीरको—सूक्ष्म शरीरको निकालनेके लिए अभ्यासकी जरूरत पड़ती है। अभ्यास माने एक भावको बारम्बार दुहराना। **तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः**। योगदर्शनमें अभ्यास किसको कहते हैं? अपने लक्ष्यमें स्थित होनेका जो प्रयत्न है उसको अभ्यास कहते हैं।

तो अपने लक्ष्यमें स्थित होनेका बारम्बार प्रयत्न करो। शरीरमें जरा खाज हो जाये, तो डाक्टरसे दवा लेकर लगाते हैं। दर्द हो जाये तो इन्जेक्शन लगवाते हैं—जुकाम हो जाये, बुखार हो जाये और तुम्हारे मनमें कितना जुकाम होता है जरा सोचो तो! तुम्हारे मनमें कितना बुखार आता है, तुम्हारा यह मूड जो जरा-जरा-सी बातपर बिगड़ता रहता है, यह मनका पागलपन ही तो है न! शरीर तुम्हारा पागल नहीं है, लेकिन मनका पागलपन है, इसकी दवा क्यों नहीं करते हो? नारायण, इसकी दवा करनी पड़ती है। दवा करनेके लिए बोले कि जरा ज्यादा इधर-उधर देखो मत। जरा नजरको मोड़ो—

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।

शंकराचार्य भगवान्‌ने '**संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं**' पर अच्छी टिप्पणी की है। हमारे एक मित्र बोले कि हम नासिकाकी नोंकपर जब देखने लगते हैं तो हमारी आँखमें और सिरमें दर्द होने लगता है। तो शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि यहाँ बात तो यह कही जा रही है कि '**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्**' अपने मनको आत्मसंस्थ करना है और कुछ चिन्तन नहीं करना है। तब नासिकाग्रको यदि देखते रहेंगे तो सारा मन नासिकाग्रमें समाहित हो जायेगा। नासिका अग्र देखनेका क्या यहाँ अर्थ है, तो जैसे किसी भलेमानुसको कह दिया कि देखो, हमारे बचपनमें नानीने एक कहानी सुनायी थी, किसीको किसी परीसे

मिलनेके लिए जाना था, नानीने नातीको बताया कि देख बेटा, नाककी सीधमें चले जाना। जब वे सज्जन चले नाककी सीधमें, तो पहले एक पेड़ पड़ा, तो बोले कि दाहिने जायेंगे, बायें जायेंगे तो नाकका सीध छूट जायेगा तो उस पेड़पर चढ़ गये और फिर उतरे महाराज, जहाँ कुआँ पड़े वहाँ बैठें और जब कोई आवे तो उससे कहें भाई हमको एक रस्सी ला दो, तो हमको कुँयेमें लटका दो, फिर हम जायेंगे नाककी सीधमें। तो **संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं**का अगर कोई यह मतलब समझता है, कि वह बेवकूफ जैसे नासिकाके सीधे चलता था, वैसे हम नासिकाकी नोंक देखें, तो वह बिलकुल ठीक नहीं है। वह तो बिलकुल भोलेपनकी बात है। नासिकाग्र प्रेक्षणका अर्थ यह है कि देखोजी नासिकासे आगे मत देखो, नासिकासे दूर मत देखो, इसका मतलब है कि नेत्र गोलकमें ही अपनी दृष्टिको सीमित कर दो, उसको बाहर मत जाने दो। तो जहाँ-का-तहाँ। नेत्रकी जो ज्योति है वह जहाँ-की-तहाँ रह जाये, बाहरके विषयको प्रकाशित न करे, यह उसका मतलब है—**दिशश्चानवलोकयन्**—पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण कौन है, यह पता ही नहीं चलना चाहिए, और आँखकी ज्योति बाहरकी वस्तुको प्रकाशित न करे। आँखको न दाहिने दबाओ, न बायें दबाओ, न ऊपर दबाओ, न नीचे दबाओ।

ज्योंकी त्यों धरि दीनि चदरिया।

तो वह जो आँखकी पुतली है, अरे यह तो चश्मा है, यह तो शीशा है। यह तो गुलाबके जैसे दो फूल रखे हुए हों, क्या बढ़िया-बढ़िया आँख है महाराज! आपको अपनी आँखकी सुन्दरता मालूम है कि नहीं? अरे, यह सब डंडा-वंडा खींचके सुन्दर नहीं बनाना अपनी आँखको भीतर भगवान्‌ने एक तो देखो ऐसा डिठौना लगा दिया है। जैसे बच्चेको काला तिल जरा-सा लगा देते हैं, कि किसीकी नजर न लगे, वैसे भगवान्‌ने आँखोंके चारों ओर यह काला तिल लगा दिया है कि यह बढ़िया आपकी आँख है, किसी की नजर न लग जाये और भीतर क्या बढ़िया तारा रखा है। अब अपने तारामें जो ज्योति है, इसको किसी के ऊपर डालो मत। तब देखो दोनों आँखोंमें जहाँसे रोशनी आती है। उसका सूत्र एक है, उसको त्रिपुटी बोलते हैं। श्याम तिल बोलते हैं। शिवतारा बोलते हैं। दोनों आँखमें-से एक लकीर खींचो,

दोनों आँखकी पुतलीको पकड़ती है। और दोनोंमें-से एक लकीर ऊपरको उठाके त्रिकोण बनाकर ले जाकर सीधमें मिला दो और वहाँ एक ऐसा श्यामतिल है, एक ऐसा शिवनेत्र है, एक ऐसा ज्ञाननेत्र है, एक ऐसा तारा है, जहाँसे दोनों आँखोंमें ज्योति आती है वहाँ आप बैठ जाओ। आप अपने स्थूल शरीरमें-से मैल छुड़ाते हो, इसको रँगते हो, इसको सुन्दर बनाते हो; लेकिन आपके भीतर जो सूक्ष्म शरीर है उसका दोष नहीं मिटाते, उसको सुन्दर नहीं बनाते। तो यह बड़े दुर्भाग्यकी बात है; क्योंकि इसमें जब मैल लग जायेगी तो अगले जन्म तक लगी रहेगी। इसमें यदि कोई दोष आ जायेगा। तो वह अगले जन्म तक भी आपको नहीं छोड़ेगा। इसलिए शान्त हो करके बैठिये। कैसे बैठना है? कि,

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४

ये महात्मा लोगोंको भोला-भाला नहीं समझना, बड़े चालाक होते हैं। वे पहले तौल लेते हैं कि यह हमारी बात माननेवाला है कि अपनी बात माननेवाला है। इसकी प्रीति अपनी वासनाकी पूर्तिमें है कि अपनी वासनाको मिटानेमें है यह वे महाराज समझ जाते हैं। देखो, आपको सुनाते हैं—**प्रशान्तात्मा**। आप अपने मनको, अपने अन्तःकरणको, यहाँ आत्मा शब्दका अर्थ है मन, अपना अन्तःकरण, अपनी बुद्धि। उसे जरा प्रशान्त बनाइये। यह जो उबाल आता है, आपके मनमें, वह आपके भीतरका रस कच्चा है, इस बातका सूचक है। हम लोगोंके घरमें पहले गन्ना होता था, गुड़ पकाया जाता था। वह कढ़ाहे-का-कढ़ाहा गुड़ पक रहा है। जब तक रस कच्चा होता है तबतक वह उफनता है। उसको चलाना पड़ता है। बार-बार उसको उठा-उठाकर उसमें डालते हैं। जब हवा लग कर ठंडा होकर वह उसमें गिरता है तो उसका उफान कम हो जाता है। दूध उफनता है तो उसमें पानी डालते हैं, ऐसे ही महाराज जबतक गुड़ पकता नहीं है तबतक उसमें खूब उफान आता है और जब पकने लगता है, गाढ़ा हो जाता है तब उफान आना बन्द हो जाता है। आपके अन्तःकरणमें यह जरा-जरा-सी बातपर जो जोश आता है अशान्ति क्या है आपके अन्तःकरण में? अशान्ति है राग और द्वेष। आपके

जीवनमें जितना दुःख है, आप गाँठ बाँध लो, अपनी कापीमें नोट करलो भला! अपने हृदय-पटलपर लिख लो, न आपको ईश्वर दुःख देता है, न आत्मा दुंःख देता है और न आपके रिश्तेदार-नातेदार दुःख देते हैं। आपके अन्तःकरणमें जो राग-द्वेष है। वही आपको दुःख देता है। दुःखका कारण कहीं भी बाहर नहीं है—

मनः परमकारणमानन्ति तत्।

केवल मन ही दुःखंका कारण है। दुःखका कारण मनके सिवाय और कोई नहीं है। और आप जहाँ जायेंगे, चाहे जंगलमें जाओ, चाहे पहाड़में जाओ, चाहे मन्दिरमें जाओ, चाहे नदीमें जाओ, चाहे सात समुन्दर पार करो—

पातालं व्रज याहि वासवपुरीमारोह मेरोः शिरः
पारावारपरम्पारास्तर तथाप्याशा न शान्तास्तव।

पण्डितराज जगन्नाथका वचन है यह। तुम्हारी आशा—जो मनमें राग-द्वेष लगा है, वह समुद्र पार करनेसे शान्त नहीं होगी। वह पाताल, स्वर्गमें जानेसे, पहाड़पर चढ़नेसे, जंगलमें जानेसे शान्त नहीं होगी। क्योंकि आप जहाँ-जहाँ जायेंगे वहाँ-वहाँ आपका यही मन कलेजेमें जैसा आपने बना रखा है, यही जायेगा।

एक महात्मा थे बड़े गुस्सैल। जहाँ भी आदमी होते, वहाँ किसीके खड़ाऊँकी आवाज आगयी, तब गाली देने लगते थे। लोग आपसमें बात करने लगते तब गाली देते थे। बोलें—'ये लोग बहुत विक्षेप करते हैं, भजन नहीं करने देते हैं। अब जाकर जंगलमें भजन करेंगे महाराज!' जाकर पेड़के नीचे बैठे और जो भजनके लिए बैठे तो वहाँ चिड़ियाँ थीं वे बेचारी आपसमें प्रेमालाप करने लगीं। अब वे महाराज जब चीं-चीं करने लगीं, तो बोले कि यह कोई भूत-प्रेत हमारे भजनमें बाधा डालनेके लिए आये हैं। अब भजन छोड़कर उठे और ढेला इकट्ठा करके रख लिया और ढेला फेंक-फेंकके चिड़ियोंको मारने लगे महाराज! तो अब वहाँ भी उनको गाली देनेके लिए चिड़ियाँ मिल गयीं।

जंगलमें जाओगे तो वहाँ भी तुमको दुश्मन मिलेंगे। क्योंकि तुम्हारा असली जो दुश्मन है, वह तो यह दुर्मन-दुष्ट मन जो तुम्हारे भीतर है, यही दुश्मन है। एक दुर् उपसर्ग है—एक दुष्ट। तुम दुर्मना जो हो रहे हो, स्वयं अपने

दुश्मन हो रहे हो, दुर्मनस हो रहे हो। यही लेकर जाओगे। प्रशान्तात्माका अर्थ भजन करना है। अपने रागास्पद जीको कह दो कि अब तुम अपने पलंगपर सो जाओ। हमको भजन करने दो और द्वेषास्पदसे कह दो अब जो तुम्हारी मौज हो सो करो, यदि रागका रंग चढ़ा रहेगा तुम्हारे हृदयमें और यह जिन्दा लोगोंका ही नहीं होता है, मरे लोगोंका भी राग-द्वेष होता है चित्तमें। मरे हुए दुश्मनकी याद करके आदमी भभक जाता है और मरे हुए दोस्तकी याद करके रोने लगता है, शोकग्रस्त; उनको भी दिलसे निकालकर फेंक देना पड़ेगा तब अन्तःकरण प्रशान्त होगा।

जो आगे दोस्त-दुश्मन बननेवाले हैं उनके बारेमें भी निश्चय करना पड़ेगा कि चाहे कोई हमारा जितना उपकार-अपकार करे, हम किसीके प्रति राग-द्वेष अपने अन्तःकरणमें नहीं जोड़ेंगे चाहे कुछ हो जाये। आगेके लिए भी दृढ़ निश्चय करना पड़ेगा, पीछेको छोड़ना पड़ेगा और वर्तमानमें बिलकुल विरक्त मनोवृत्तिसे प्रशान्तात्म बैठना पड़ेगा, पीछेको छोड़ना पड़ेगा तब मन शान्त होगा। राग-द्वेष लेकर चलनेवाले एक सज्जन ईश्वरकी प्राप्तिके लिए माला फेरने लगे कि हे ईश्वर तुम हमको मिलो ऐ तो, ऐ तो! वे जरा हमारे पूर्वी सीमाकी तरफके थे, हमारे जाने हुए, सो ऐ तो हे, ऐ तो हे जो करने लगे सो क्या हुआ, इसी बीच दुश्मनकी याद आगयी, कि उस दिन उसने हमको गाली दी थी, तो जरा मनमें तेजी आयी तो 'ऐ तो हे!' करते-करते बोले कि हे भगवान् आओ और हमारे उस दुश्मनको मार डालो। अब भगवान् दर्शन देने आवें कि दुश्मनको मारने आवें? भला! भजन करने बैठे और अपने दोस्तकी याद आ गयी, तो बोले—महाराज और सब तो हुआ पर हमारे दोस्तका अभी ब्याह नहीं हुआ, तो जरा उसका ब्याह करा देना, पीछे भले आकर हमको दर्शन देना। उसके लिए तो मैं भजन करता ही हूँ। पहले उसका ब्याह करा दो।

यह राग-द्वेष बाधक है। ये जो मनमें इच्छाएँ होती हैं, संकल्प होते हैं, कामनाएँ होती हैं, शुभ संकल्प भी समाधिमें बाधक हैं। अच्छा, संकल्प भी ईश्वरकी प्राप्तिमें बाधक है, बुरेकी तो बात ही छोड़ दो। तो यह राग-द्वेष जिनके अन्तःकरणमें है, उनका मन कभी शान्त नहीं हो सकता—

प्रशान्तात्मा विगतभीः। विगतभीः का अर्थ यह है कि यह जब आदमीको कभी डर लगता है, एकान्तमें बैठा हुआ हो आदमी और कोई चोर आकर सामने खड़ा हो जाये, चोरकी बात मत करो, कोई देवता एकाएक आकर सामने खड़ा हो जाये, यह तो बहुत लोग माला फेरते हैं, हमको देवता मिले, देवता कृपा करे! कहते हैं, हम माँगते भी हैं। जब अकेलेमें देवता आता है तो आदमीकी आँख चढ़ जाती है और भीः भीः भीः बोलता है, यह अनुकरणमें ही *भीः धातु* है, वह असलमें अनुकरण दशामें जो मनुष्यके मुखसे शब्दका उच्चारण होता है, 'भीः भीः भीः' ऐसे डरते हैं। हम कई बार डर चुके हैं, बचपनमें, देवता होता है कि नहीं, देखा हुआ तो था नहीं, हम माला फेरते कि सामने आवे देवता, अब महाराज, कभी कोई बात हो जाती तो भीः भीः भीः करने लग जाते, डर जाते! एक बार, दो बार ऐसे डर गये, यह तो जबतक नहीं आता है तबतक लोग बहुत प्रेम करते हैं, जब आता है तो कहते हैं—अभी माफ करो!

'**विगतभीः**'का अर्थ है, अपने जीवनमें भय न हो। यह भय क्या है, आपको बताते हैं। साधनामें देवता दानीका भय नहीं है। यदि आप भगवान्‌का नाम मुखारविन्दसे अपने, आपकी जिह्वाके सिंहासनपर नाम-नरेश विद्यमान है आपके लिए किसीका भय नहीं है, आप निर्भय होकर चाहे कहीं भी बैठ जाइये-

श्रीरामनामामृतबीजरूपा संजीवनी चेन्मनसि प्रविष्टा।
हालाहलं वा प्रलयानलो वा मृत्युर्मुखं वा विशतां कुतो भीः॥

यह राम नाम जिनके मुखमें है, यदि श्रीरामनामामृत बीजरूपा संजीवनी आपके मुखमें निवास करती है तो आपको भय नहीं है कोई। भय क्या है, साधकके लिए, कि जब वह अपने इष्टमें दुविधा करता है। यह भय कहाँसे आता है, आदमीका पतन कहाँसे होता है हम जानते हैं। एक व्यक्तिने शिवजीका मंत्र लिया पहले, हमसे ही लिया। बादमें कृष्णकी जब कथा सुनी तो उसका मन डावाँडोल हो गया। हमको तो बताया नहीं कि अब हमारा शिवजीकी ओरसे प्रेम हट गया, अब कृष्णकी ओर हो गया, और मन-ही-मन वह कृष्णमंत्रका जप करने लगा। कृष्णमंत्रमें कोई दोष नहीं है, शिवमंत्रमें कोई दोष नहीं है, है एक ही।

अब उस समय तो बड़ा अच्छा लगा, बड़ा प्यारा कृष्ण, राधारमण, मुरली मनोहर, पीताम्बरधारी, बड़ा प्यारा महाराज! लेकिन थोड़े दिनोंके बाद क्या हुआ कि मनमें उसके दुविधा पैदा हो गयी, शिव मन्त्र ठीक कि कृष्ण मंत्र ठीक। यह जो दुविधा है न, इस किनारे लगेंगे तब हमारा प्यारा मिलेगा कि उस किनारे! समझो कि एक आदमी खूब तैराक था। उसका किसी श्रीमतीसे बहुत प्रेम था। श्रीमतीजीने कह दिया, तुम आना हम नदीके किनारे तुमको मिलेंगे तो उसने कहा किनारे-किनारे कौन चले, अपना कपड़ा-लत्ता सिरपर रख तैरकर पहुँच जायेंगे। अब उसे महाराज, नदीमें जानेपर यह शंका हुई कि इस किनारे मिलेगी कि उस किनारे? अब कभी बेचारा तैरकर उस किनारे जाये और कभी इस किनारे। इसीका नाम भय है। अध्यात्मशास्त्रमें सबसे बड़ा भय यह है कि अपने मनमें साधनके सम्बन्धमें दुविधाकी उत्पत्ति हो जाती है।

हमारे एक निष्काम भक्त थे श्रीकृष्णके। वे बोले—ठीक है महाराज, हम श्रीकृष्णसे तो बिलकुल निष्काम हैं, पर कामना जो होती है तो हम बलरामजीसे कहते हैं कि हमको पैसेकी जरूरत है, हमारे दुश्मनको जरा नीचे दिखा दो, बलरामजी वैसा कर देते हैं। एक सज्जन बोलते थे—हम रामजीके बड़े भक्त हैं महाराज, लेकिन रामजीसे कोई चीज लें कैसे? तब हनुमानजीसे कहते हैं कि हे हनुमानजी, हमारा यह काम कर दो! अब वे अपनेको निष्काम भी समझते थे। यह ठीक ऐसा ही है जैसे किसी पत्नीको किसी चीज़की जरूरत हो, साड़ीकी जरूरत हो, भोजनकी जरूरत हो और वह अपने पतिसे दिखावे कि हम तुमसे बिलकुल निष्काम हैं और अपने जेठ या देवरके पास जाकरके कहे कि हे देवरजी, यह बात पतिजीको बतानेकी नहीं है, क्योंकि उनसे तो मैं बिलकुल निष्काम हूँ। अब आप ही हमारी कामना पूर्ति कर दीजिये।

तो असलमें भय जो है अपने मनमें दुविधाकी वृत्तिका आना है, **संशयात्मा विनश्यति**, यही भय है।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।

जिसके मनमें संशय है, उभयकोट्यावगाहन ज्ञान है, इधर कि इधर! शिव कि राम! षडक्षर कि राम-षडक्षर? तो बोले—आओ थोड़ा-थोड़ा दोनों। तो इस

किनारे थोड़ा, उस किनारे थोड़ा, साँवरा, गोरा थोड़ा। अब वे दोनों तो आपसमें सलाह कर लेते हैं। शिव और राममें तो बड़ा प्रेम है। वे दोनों तो आपसमें सलाह कर लेते हैं। वे कहते हैं देखो, इसके हृदयमें न मेरे लिए सिंहासन है, न तुम्हारे लिए। इसने तो अपना साँचा ही बिगाड़ दिया दिलका कि इसमें कौन अँटेगा! तो, **विगतभीः**। भय माने विनाशका कारण जो संशय है, उससे मुक्त हो करके तब भगवान्‌का भजन करना चाहिए। **ब्रह्मचारिव्रते स्थितः**। जैसे ब्रह्मचारी एकाकी होता है, वैसे अपने मनमें बिलकुल अपने इष्टके सिवाय, अब तो हम हैं और हमारा प्यारा है, मुसाफिरखाना मत बनाओ अपने दिलको, जैसे एक ब्रह्मचारी रात्रिके समय दूसरेके साथ रहना पसन्द नहीं करता, वैसे तुम अपने हृदयमें दूसरेको साथ लेकर मत बैठो, अपने कमरेको एकान्त कर लो, तब तुम्हारा प्यारा उसमें आ जायेगा, नहीं तो देवता लोग घूमते रहते हैं, देखते हैं कि इस कमरेमें दो-चार जने बैठे हैं, तो वहाँ हम कैसे जायें।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।

घोड़ेकी पूँछ सरीखा अपने बालको बनाते हैं, तो कैसे करते हैं, चारो तरफसे बालको समेटकर एकमें बाँध देते हैं, ऐसे घोड़ेकी पूँछ-सरीखा सँवार लेते हैं। मनः संयम्यका क्या अर्थ है कि आपका मन है घोड़ा और उसकी जो वृत्तियाँ है वह है उसका एक-एक बाल-पूँछ, उनको सँवारकर एकमें बाँध लीजिये—**मनः संयम्य** उसके बाद **मच्चित्तः** और **मत्परः**। शंकराचार्य भगवान्‌ने इसी श्लोककी व्याख्यामें कहा है कि यहाँ **मच्चित्तः** और **मत्परः**का क्या अर्थ है? मैं भाष्य पढ़कर आपको सुना देता हूँ—

भवति कश्चिद्रागी स्त्रीचित्तो न तु स्त्रियमेव परत्वेन गृह्णाति, किं तर्हि राजानं महादेवं वा। अयं तु मच्चितो मत्परश्च।

कहते हैं कि मुझमें चित्त लगाओ और मुझमें ही परायण हो जाओ। बोले कि भगवान्‌में मन लगाना और भगवान्‌के परायण होना यह तो एक ही बात हुई, दो बात कहाँ हुई? तो कहते हैं अच्छा देखो, हम तुमको फर्क बताते हैं, एक आदमी अपने मनको स्त्रीमें लगाता है, लेकिन क्या स्त्रीको ही सबसे श्रेष्ठ समझता है? स्त्रीपरायण होता है? नहीं, स्त्रीमें अपना मन तो लगाता है, *भवति कश्चिद्रागी स्त्रीचित्तः*—जिसका स्त्रीसे राग है उसका चित्त स्त्रीमें तो होता है, लेकिन

स्त्रीको ही वह सबसे बड़ी चीज समझता हो, सो बात नहीं, राजाको भी सबसे बड़ी चीज समझता है और नहीं राजाको नहीं, तो ईश्वरको समझता है— ***'राजानं वा महादेवं वा'***—वह महादेवको सबसे बड़ी चीज समझता है, तो महादेव परायण होता है। लेकिन यदि तुम्हें परमात्माकी ओर चलना है तो जैसे स्त्रीमें लगा है वैसे परमात्मामें तो लगाओ मन और जैसे राजाको बड़ा समझते हो वैसे परमात्माको समझो बड़ा। उसीको बड़ा समझो और उसीको प्रेम करो। और युक्त **आसीत मत्परः**। अपने आपको परमेश्वरके साथ जोड़कर बैठो। तब यह तुम्हें मनीराम श्रद्धापूर्वक; एक आदमी बड़ी सुन्दर बिजलीकी रोशनी करके, अच्छा श्रृंगार करके, अच्छा कपड़ा पहनाकर देखने लगा कि हमारा मन इसमें लग जायेगा, बड़ा मजा आया, बड़ा सुन्दर, बड़ा सुन्दर पचास बार कहा, लेकिन महाराज, थोड़ी देरके बाद मन वहाँसे हट गया, तो बोला जाने दो, क्या हुआ, हट गया। लेकिन यदि माहात्म्य बुद्धि हो, कि ये परमेश्वर हैं, इनमें हम मन लगावेंगे तो हमको ईश्वरकी बुद्धि होगी, माहात्म्य बुद्धि होगी, तब तो सौन्दर्यमें मन टिकेगा और माहात्म्य बुद्धि नहीं होगी तब बिजलीकी रोशनी और ये जेवर और ये कपड़े और यह सुन्दर मूर्ति किसी काम नहीं आवेगी। इसलिए जिसके प्रति माहात्म्य बुद्धि होती है, उसका ध्यान होता है।

आपको यहाँ मैं सुनाना चाहता हूँ—***मच्चित्तः मत्परः। मयि एव चित्तं। मयि प्रत्यगात्मनि एव चित्तं यस्य। मयि अस्मद् चित्तं यस्य स मच्चित्तः। मयि अस्माद् चित्तं यस्य असौ मच्चित्तः। अहमेव प्रत्यगात्मैव परः यस्य स मत्परः।***

बिना अहंके इदंका भान हो ही नहीं सकता किसीको भी चाहे जगत् मालूम पड़े, चाहे दोस्त मालूम पड़े, चाहे दुश्मन मालूम पड़े, चाहे ईश्वर मालूम पड़े, चाहे परमेश्वर मालूम पड़े, चाहे आत्मा, परमात्मा कुछ मालूम पड़े, परन्तु अपने आपको मालूम पड़ेगा, पहले अपना आपा होगा, तब दूसरी कोई चीज मालूम पड़ेगी। उसी अपने आपामें चित्त लगाना है और उसी महिमाको समझना है और उसे करना क्या है ? कि आसीत केवल बैठना है। कुछ करना नहीं है केवल बैठना है।

ध्यानमें कर्त्ताका प्रयत्न मनको पकड़कर रखता है और ज्ञानमें वस्तुका

स्वरूप स्वयंप्रकाश ज्यों-का-त्यों। ज्ञानमें कर्त्ताके प्रयासकी आवश्यकता नहीं होती है। आत्मा और विषय—दोनोंकी एकतासे स्फुरण होता है। तो दो चीज एक हो गयी हैं क्या? वेदान्त कहता है—नहीं, दो चीज एक नहीं हुई हैं, वस्तुतः एक ही है। जैसे आप पाठ करते हैं ना—***पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते***—वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, माने यह और वह दोनों अलग-अलग यह और वह दोनोंके रूपमें प्रकट है। पूर्ण कारणसे कार्यका उदय हुआ है, अर्थात् पूर्ण सत्य है और कार्य-कारण नामका कोई भेद नहीं है। पंचमान्त और प्रथमान्तमें कोई भेद नहीं है। प्रत्ययका तो भेद है परन्तु वस्तुका भेद नहीं है। कार्य-कारणमें दृष्टि भिन्न-भिन्न है, वस्तुका भेद नहीं है। प्रत्यक्ष और परोक्ष *पूर्णमिदः पूर्णमिद*में प्रत्यक्षता-परोक्षतारूप कल्पित दृग्भेद ही है पूर्णताका भेद नहीं है।

पूर्णस्य पूर्णमादाय—यदि कार्य-कारणके भेदको छोड़कर देखें तो ***पूर्णमेवावशिष्यते।*** एक अखण्ड परिपूर्ण वस्तु ही अवशिष्ट रहती है। इसका अर्थ है कि ज्ञानकी जो परिपूर्ण स्थिति है उसमें अहं और इदंका भेद नहीं है। और अहं, इंदका भेद होनेसे वहाँ कर्त्ताके द्वारा स्वीकृत कोई यत्न नहीं है।

अच्छा, यह तो अद्वैत वस्तु-स्थितिका वर्णन है। अब ध्यानमें क्या है? कि ध्यानमें है थोड़ा कर्त्ताका प्रयत्न। तो कर्त्ताके प्रयत्नमें यह है कि अपने मन और इन्द्रियोंको अशान्त मत होने दो। यह नहीं हुआ, यह नहीं हुआ। किसीके घर गये तो श्रीमतीजीने आसमान सिरपर उठा रखा था! देखो, स्वामीजी आगये, अभी फूल-माला नहीं आयी, अभी पेड़ा नहीं आया, अभी फल नहीं आया, नौकरोंपर बरस रहीं। अब हमारे जानेका तो उनको कोई मजा ही नहीं आया। तो **प्रशान्तात्मा**का अर्थ क्या हुआ? कि यह नहीं हुआ, यह नहीं हुआ, यह नहीं आया, यह नहीं किया, ऐसा हो गया, क्या करें महाराज, आपके लिए मोहनभोग बना रहे थे सो जल गया, हाय-हाय-हाय!

अरे बाबा, थोड़ी देर अपने मनको शान्त नहीं, प्रशान्त करके बैठो। दुनियामें कुछ हो कि न हो, इसकी फिक्र छोड़ दो। प्रशान्तात्माका अर्थ यह है। बोले—क्या करें महाराज, आज तो हमरा मन यह था कि हम दो घण्टे बैठकर भजन करेंगे, लेकिन मैंने देखा तो सामनेसे हमारी पड़ोसिन तिरछी आँख करके

हमारी ओर देख रही थी, तो मूड इतना बिगड़ गया कि अब ध्यान बिलकुल लगता ही नहीं। तो कैसे ध्यान लगेगा ? ' प्रशान्तात्मा 'का अर्थ यह तो नहीं है कि आज रसोइयेने मूड खराब कर दिया, आज नमक दालमें ज्यादा हो गया. अब ध्यान छूट गया। तो बाबा, नमक चाहे ज्यादा हो चाहे कम, पड़ोसिन चाहे तिरछी नजरसे देखे चाहे सीधी नज़रसे, चाहे कोई चीज़ बने चाहे बिगड़े, जो होये सो होने दो और जो कहा जाये सो कहा जाने दो, किसने क्या कहा, इसका ख्याल मत करो और क्या हुआ—इसपर नज़र मत डालो, तुम अपने भीतर तो ठीक-ठाक रहो, वहाँकी आग तो बुझा लो—**प्रशान्तात्मा**। जो हो गया सो हो गया. अब तो तुम उसको लौटा नहीं सकते और जो हो रहा है उसको तुम रोक नहीं सकते, जो आनेवाला है उसपर तुम्हारा कोई काबू नहीं है, तुम तो जहाँ हो वहीं, शान्त हो जाओ। यह योगका रहस्य है। जहाँ-के-तहाँ वहीं बैठ जाओ। ऐसा करनेपर ईश्वर मिलेगा कि नहीं, मोक्ष होगा कि नहीं, यह शास्त्रीय है कि नहीं, यह सब भय मत करो, स्वर्ग मिलेगा कि नरक, फलपर बिलकुल ध्यान मत दो, **' विगतभीः '**। संशय जबतक रहेगा तबतक शान्ति बिलकुल नहीं मिल सकती।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।

जिसके मनें संशय बैठ गया, उसके लिए ' *नायं लोकोऽस्ति न परो* ' जब मनमें संशय आ गया, असलमें दुःखदायी यह हड्डी, मांसवाला नहीं है, एक देह होता है और एक सन्देह होता है. एक सम्यक् देह होता है, एक देह होता है। देह तो बेचारा प्राकृत है, हड्डी, मांस-चामका बना हुआ है, यह तुम्हारा क्या बिगाड़ेगा ? बिगाड़ेगा तो वह जो सन्देह बनकर तुम्हारे अन्तःकरणमें आवेगा, दुविधा जब होगी, उभयकोट्यावगाहिनी जब वृत्ति होगी, इधर जायें कि इधर जायें। एक बार हम लोग पैदल जा रहे थे, वृन्दावनसे चले थे और ग्वालियर जाना था, करहे के बाबाके यहाँ यज्ञ था। तो कोई सौ मीलके लगभग पड़ता होगा, कोई ज्यादा तो है नहीं, पर बीचमें जंगल पड़ता है। जब धौलपुरसे आगे चले, करहे जानेके लिए तो जंगल था। तो वहाँ उनलोगोंने यह व्यवस्था कर दी थी कि बीचमें कहीं ईंटें रख दी थी, कहीं निशान बना दिये थे, कि जंगलमें आकर इस तरह निकल आवेंगे तो जल्दी पहुँच जायेंगे। अब वह हमलोग गये तो कहीं जंगलके लोगोंने कोई हँसी-मज़ाक कर दिया था,

दोनों ओर रख दिया था, तो इधर जायें कि उधर जायें, वहाँ तो कोई बतानेवाला नहीं था, तो यह हुआ कि चलो एक ओर चलें कहीं न कहीं तो पहुँचेंगे। आप जानते हैं वह तो बड़ी भीषण भूमि है चम्बल, तो हमलोग बेरास्ते ही गये, रास्ता तो असली था वह तो छूट गया, जंगलमें चले गये, अब एक तालाबपर पहुँच गये, वहीं जाकर बैठ गये, अब धूप हो गयी बहुत तो महाराज दो-चार-दस गाँवके लोग आकर इकट्ठे हो गये, खूब स्वागत-सत्कार हुआ, खूब दही-घी आया। उड़िया बाबाजी महाराज साथ थे, वह तो अन्नपूर्णाकी सिद्धि वहाँ बरस गयी, फिर उन लोगोंने ठीक रास्तेसे पहुँचा दिया। लेकिन जब जंगलमें दुविधा हुई कि इस रास्ते जायें या उस रास्ते, उस समय दिमागमें तनाव पैदा हो गया। इसी प्रकार साधनमें भी जब दुविधा पैदा हो जाती है तब तनाव पैदा होता है। असलमें यह संशय जो है, सन्देह जिसको मैंने कहा इसका नाम शंका भी है—*'शं शान्तिं सुखं कर्त्रयति, कृन्तति'*—जो हृदयकी शान्तिको काट दे, उसका नाम शंका। *'संकीर्णते जनाः यस्मिन् असौ संशयः।*

इञ् स्वप्ने। सं उपसर्गपूर्वक इञ् सपने धातुसे संशयः शब्द बनता है। सो गये, कुछ सूझता ही नहीं है, एक होता है शयन, नींदमें सो गये आरामसे, और यह महाराज न सोने दे, न चलने दे, ऐसा संशय आगया, तो इस संशयको निकाल दो, दुविधा छोड़ो और जैसे एक ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यव्रतके पालनके लिए कठोर संकल्प लेकर बैठता है, वैसे ब्रह्मचारीके व्रतमें बैठ जाओ। और मनको संयमित करो। संयम्यका अर्थ क्या होता है कि जैसे बिगड़ैल घोड़ा होता है, तो उसकी बागडोरको हाथमें लेकर धीरे-धीरे घोड़ेको सधाते हैं, तो वह जो घोड़ेकी रश्मि होती है, लगाम, बागडोर, *'तोत्रवेत्रैकपाणये'* में तोत्र भी तो है, तो वह जो घोड़ेकी लगाम है उसको संयमित करना, ज्यादा खींच दोगे तो घोड़ा भागने लगेगा और ढीला छोड़ दोगे तो चलेगा ही नहीं। आपलोगोंने कभी घोड़ेपर सवारी यदि की होगी तो जानते होंगे। एक होते हैं असवार—अश्ववार जो सिखाते हैं घोड़ेको तो घोड़ेको सधाते हैं। यह नहीं कि घोड़ेका बच्चा लाये और उसकी पीठपर चढ़ बैठे और वह तुमको जहाँ चाहोगे वहाँ पहुँचा देगा, वह तो पटसे पटक देगा। मैं पहले-पहले घोड़ेपर बैठा तो पटक ही दिया उसने, चारों खाने चित्त गिर पड़ा।

अब यह मनका जो घोड़ा है, इसपर यदि आपको सवारी कसनी है तो यह

नहीं कि आप एकाएक इसको पकड़ लेंगे, वह भी सीखना पड़ता है कि एड़ कब लगानी चाहिए, लगाम कब कड़ा रहना चाहिए, कब ढीला छोड़ना चाहिए, सामान्यरूपसे कैसे रखना चाहिए। तो '**मनः संयम्य मच्चित्त**'का अर्थ है कि मनमें जो भिन्न-भिन्न विषयोंको प्रकाशित करनेवाली वृत्तियाँ हैं, वे रश्मियाँ है, उनको एकाग्र करके एक विषयमें लगाना—**मनः संयम्य**, संयमित करना।

संयम्यका यह भी अर्थ है कि यदि आपके बाल बेसिलसिले हों, बिखरे हुए हों, तो **तेषां संयम्य**—बोलेंगे अपने बालोंको आप संयमित कर लीजिये। इसी प्रकार आपका जो मन है, उसकी केसर भी बिखरी हुई है उसको जरा कंघी कर लीजिये। उसको जरा बाँध लीजिये। चोटी बना लीजिये, जूड़ा बना लीजिये, तो जैसे बालोंका जूड़ा बनाते हैं, चोटी बनाते हैं, वैसे मनकी बिखरी हुई जो वृत्तियाँ हैं, उसमें-से मैलको निकाल देते हैं, उसको स्वच्छ कर लेते हैं। सूखा-सूखा चाहिए। गीला-गीला नहीं। गीले-गीलेको बाँधेंगे तो आप जानते ही हैं, वे चिपक जायेंगे। तो दूसरे दिन बहुत तकलीफ देंगे। बिलकुल एक-एक बिखेरकर पहले, फिर उनको संयमित करते हैं और कोई बोझ नहीं, स्टीलकी कटोरी मत लगाओ, नारियल मत बाँधों उसके भीतर, हल्का, फुल्का उसको रहने दो भला! यह जो घोड़ेकी पूँछ लगी है पीछे, तो **मनः संयम्य**—संयममें ले आना चाहिए इसकी वृत्तियोंको। मारना नहीं है ' यह भी आप ध्यान रखो मारना नहीं है, संयममें लाना है। आप खाना-पीना छोड़ देंगे, इसका कोई मतलब नहीं है। पर खाना-पीना संयममें हो।

एक तो संयम होना चाहिए मनमें, दूसरा संयम होना चाहिए कालमें। कोई-कोई नियम आप कालका लीजिये। इतने दिन बाद यह काम करेंगे। इस समय यह काम करेंगे और स्थानका नियम लीजिये। इस स्थानपर करेंगे, इस स्थानपर नहीं करेंगे। वस्तुका नियम लीजिये कि इस वस्तुके साथ जोड़ेंगे, इस वस्तुके साथ नहीं जोड़ेंगे। देशके आधारसे, वस्तुके आधारसे, कालके आधारसे। और ये दोनों अन्तरंग भी हों और बहिरंग भी हों।

अब बोलते हैं—**मच्चित्तो मत्परः। युक्त आसीत**। अब आप थोड़ा इसपर ध्यान दो। मैं सुना रहा था कि इसका अर्थ आत्मा भी हो सकता है। कि, ***आत्मचित्तः आत्मपरः।*** शंकराचार्य भगवान्‌को यह बात नहीं जँची है। वे

कहते हैं कि यहाँ ध्यान **मच्चित्तः** और **मत्परः** में परमेश्वरका है। अब आपको वेदान्ती लोग जैसा अर्थ नहीं करते हैं। वेदान्ती लोग तो हरमें अहं अहं मिला देते हैं, आत्मा आत्माको मिला देते हैं। शंकराचार्य बोलते हैं कि यदि तुम्हें आत्मज्ञान करना है, तो ध्यान करो परमेश्वरका और होगा आत्मज्ञान।

देखो, आपको ध्यान लगना कब मालूम पड़ेगा? हमारे अद्वैत वेदान्तियोंमें कुछ लोग तो ऐसे हैं जो कहते हैं कि आत्माका ध्यान होता ही नहीं है। जो ध्यानवृत्तिसे अवच्छिन्न ध्यातृत्वावच्छिन्न जो चैतन्य है, साक्षी स्वयंप्रकाश, वह ध्यानका विषय कभी होगा ही नहीं। इसलिए ध्यान निर्गुण चिन्मात्र आत्माका नहीं हो सकता। तो जब ध्यान वृत्तिका विषय किसीको बनाने लगेंगे तब वह मायोपाधिक होकर ही ध्यानवृत्तिका विषय बनेगा।

यह देखो शंकराचार्यका सिद्धान्त—औपनिषद, बिलकुल खासा शांकर वेदान्त आपको सुना रहा हूँ। जो लोग ईश्वरको नहीं मानते और आत्मज्ञानकी चर्चा करते हैं, वे औपनिषद वेदान्तसे, शांकर वेदान्तसे दूर गिर पड़ते हैं; क्योंकि यहाँ तो तत्पदार्थ और त्वंपदार्थकी एकता करनी है।

आज मैं 'पूर्व मीमांसामें अपूर्व' नामकी क्या वस्तु होती है? इसपर एक लेख तैयार किया जाये, इसके लिए देख रहा था। तो अपूर्वका विद्वान् बोलता है कि हमारे और वेदान्तियोंमें यही फर्क है। अपूर्वका प्रतिपादन करनेवाला कहता है कि अपूर्वके बिना धर्मकी सिद्धि नहीं होगी, धर्मफलकी सिद्धि नहीं होगी, स्वर्गकी सिद्धि नहीं होगी। इसलिए जो योग्यता मनुष्यके अन्दर नहीं है या कर्ममें नहीं है, फल-प्राप्तिके पूर्व उस योग्यताका होना और कर्मानुष्ठानके बाद योग्यताका उत्पन्न होना यदि धर्मानुष्ठानके पूर्व वह योग्यता है तो कृताकृत दोनों बराबर हो जायेगा और यदि फल प्राप्तिके पूर्व वह योग्यता नहीं है तो फल उत्पन्न कैसे होगा? इसलिए धर्मानुष्ठानके अनन्तर और फल प्राप्तिके पूर्व अपूर्व नामकी एक वस्तु स्वीकार करनी चाहिए। बड़ा जोर देकर उसने प्रतिपादन किया और मैंने खूब गौरसे उसको पढ़ा। अब वह कहता है हमारे और वेदान्तियोंमें फर्क क्या है? तो कहता है कि फर्क यह है कि हम कहते हैं कि यह अपूर्व ही अपना फल दे देता है और अद्वैत वेदान्ती कहता है कि फल देनेके लिए सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ईश्वरकी सत्ता स्वीकार करनी चाहिए, नहीं तो

ये जड़ कर्म व्यवस्थापूर्वक फल नहीं दे सकता। कब किस कर्मका फल होवे, कब किसका नहीं होवे, कैसे फलमें क्रम होवे, एक मनुष्यका जन्म हुआ, तो पहले ब्याह होवे, फिर पुत्र होवे, यह क्रम कर्म कैसे बनावेगा? यह क्रम तो सिवाय सर्वज्ञ ईश्वरके दूसरा कोई नहीं बना सकता। इसलिए कर्मका फलदाता केवल अपूर्व नहीं हो सकता। ईश्वर हो सकता है। अपूर्व न हो तो काम चल जायगा, परन्तु ईश्वर न हो तो काम नहीं चलेगा। यही औपनिषद वेदान्तका सिद्धान्त है। पूर्व मीमांसाके विद्वान्ने ऐसा प्रतिपादन किया है। माने कर्मफल-दाताके रूपमें हमें ईश्वरको स्वीकार करना है।

अच्छा, तो आपको यह बात सुनाते हैं कि हमारे शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि देखो, परमेश्वरका पहले ध्यान होगा **मच्चितः मत्परः**। उसके बाद **युक्तः आसीत** होगा, तब योगके सिद्धस्वरूप आत्मा और ब्रह्मकी एकताका बोध होगा। वह तो चित्त शुद्धिका फल है और चित्त शुद्धिमें परमेश्वरका ध्यान आवश्यक है। यहाँ यह तो **मच्चित्तः** और **मत्परः** कहा गया। यह चित्तशुद्धिके लिए पूर्वा-वस्थाका वर्णन है। उत्तरावस्थामें ब्रह्मात्मैक्य बोध है। यह शंकराचार्यजीका अभिप्राय है। माने हमें अपना अन्तःकरण शुद्ध करना है।

अच्छा तो देखो, एक सज्जन कहते हैं कि जब हम ध्यान करते हैं तो हमको ऐसे लगता है कि हमारे कलेजेमें कुछ हिल रहा है। यह साँस चल रही है, यह फुफ्फुस है, ये अँतड़ियाँ हैं, यह कलेजा है,यहाँसे ऐसे रक्त बनता है। इसे रक्तवाहिनी नाड़िया बहाती हैं। यह सब हमको आँख बन्द करनेपर मालूम पड़ने लगता है। आत्मा-परमात्मा तो कहीं दिखायी नहीं पड़ता। क्योंकि उनको सब नस-नाड़ियोंका पता है।

अच्छा, अब आपका इस ओर ध्यान खींचते हैं कि असलमें उनको जो हृत्पिंड, मांसपिण्ड, यह आंत्रजाल जो दिखायी पड़ता है भीतर, यह आँखसे तो दिखायी नहीं पड़ता। असलमें वे मानसिक रूप ही दिखायी पड़ते हैं। असलमें पहलेके देखे हुए, यन्त्रादिके द्वारा, शल्य चिकित्साके द्वारा; शरीरमें जो देखे हुए रूप हैं, वे प्रमित हैं। प्रमाणादिके द्वारा देखे हुए हैं, नेत्रादिके द्वारा देखे हुए हैं। अब वे नहीं दिखते हैं। अब इस समय तो मनमें उस यथार्थानुभवका जो संस्कार है उस संस्कारके कारण स्मृति होती है। वह जो स्मृति है, वह प्रमाण

नहीं है। वह तो पूर्वानुभूतिका संस्कार है। आँखसे कुछ नहीं दिखता वहाँ। इस समय हमारी आँख नहीं देख रही है। अच्छा, तब मन देख रहा है? कि मन देख नहीं रहा है। मन देखे हुए की याद कर रहा है। वह अनुभव नहीं हो रहा है, वह तो यथार्थ ज्ञानका जो संस्कार, संस्कार–मूलक जो स्मृति है, वह प्रमा यथार्थ है; परन्तु वह प्रमाण नहीं हैं, प्रमा है, और स्मृतिरूप प्रमा है। स्मृति प्रमा होती है। परन्तु प्रमाण नहीं होती है। तो उस समय प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। केवल मानस प्रत्यक्ष हो रहा है।

अब आपको यदि ध्यान करना है तो पूर्व स्मृतिसे, यह जो गृहीत ग्राहक स्मृति है। आप देखो, मनोवृत्तिका रूप देखो। स्मृति गृहीत ग्राहक होती है। माने पहले देखी हुई जो चीज है, अनुभव की हुई जो चीज है, उसीको लाकर उपस्थित करती है। आपके पूर्वानुभूतिको वह मानस प्रत्यक्षके रूपमें दिखाती है। तो आप जो पहलेका देखा हुआ है उसको छोड़ दीजिये। हम आपसे यह कह रहे हैं कि आप प्रकाशको देखिये मनमें, घड़ीको मत देखिये। प्रकाशमें घड़ी दिख रही है बाहर, परन्तु आँख बन्द करके यदि आप घड़ीको देखते हैं तो बाहरवाली घड़ी भीतर तो गयी नहीं और भीतरवाला आपका मन बाहर घड़ीमें नहीं गया। यह तो बाहर देखी हुई घड़ीकी भीतर कल्पना हो रही है और वह दिखायी पड़ रही है। उसमेंसे घड़ीको निकाल दीजिये और केवल ज्ञानस्वरूप जो प्रकाश है उसको रहने दीजिये।

तो ध्यान चार तरहका होता है—दृश्यानुविद्ध, शब्दानुविद्ध, दृश्यशब्द दोनोंसे अनुविद्ध और दृश्यशब्द दोनोंसे रहित। आओ आप पहले परमेश्वरको देखो—**मच्चितः मत्परः**। आओ हम पहले आपको दिलमें परमेश्वरको दिखाते हैं। आपको मालूम है कि बाहर शंकरजीका जो ज्योतिर्लिंग है, उसका दर्शन बड़ा भारी पुण्य है। अच्छा, आप कभी दर्शन करने गये होंगे, नासिकमें त्र्यम्बकेश्वरका दर्शन किया होगा, भीमा शंकरका दर्शन किया होगा, घुश्मेश्वरका दर्शन किया होगा! सिकन्दराबादके पास घुश्मेश्वर हैं। इधर नासिक और पूनाके बीच भीमा शंकर हैं। ये सब ज्योतिर्लिंग हैं। अच्छा, तो आपने आँखसे ज्योतिर्लिंग देखा है। अच्छा, तो आपको आँखसे ज्योतिर्लिंगका दर्शन हुआ, तो रोशनीमें देखा, अंधेरेमें तो नहीं देख सकते थे, तो आपकी आँख थी,

रोशनी थी, और ज्योतिर्लिंग था तब आपने दर्शन किया था। अब आप जरा भीतर चलिये। आँख बन्द कर लीजिये और अपने हृदयमें देखिये कि एक ज्योतिर्मय शिवलिंग आपको दिखाई पड़ रहा है। वहाँ तो न सूर्यकी रोशनी है न बिजलीकी रोशनी है और न वह बाहरवाला ज्योतिर्लिंग है। आप अपनी चेतनाकी रोशनीमें उसको देखते रहे हैं, आप अपने ज्ञानके प्रकाशमें उसको देख रहे हैं। अब ज्योतिर्लिंग जो बाहर देखा हुआ है, उसकी शक्लको आप वहाँसे हटा दीजिये और वहाँ जो बिजलीकी रोशनी हो रही थी उसको भी हटा दीजिये। तो तीन चीज थी—

एक आप देख रहे थे, एक रोशनी थी। और एक ज्योतिर्लिंग दिख रहा था। वह सूर्यकी रोशनी और ज्योतिर्लिंग दोनोंको हटा दीजिये और आप देखिये स्वयं रहिये, देखिये आपका ध्यान कैसा होता है! जिस रोशनीमें आप भीतर ज्योतिर्लिंगको देखते हैं वह रोशनी परमेश्वरकी रोशनी है। जिस रोशनीमें आप बाहर ज्योतिर्लिंगको देखते हैं वह रोशनी सूर्यकी रोशनी है, बिजलीकी रोशनी है और जिस रोशनीमें आप भीतर परमेश्वरका दर्शन करते हैं। बिहारीजीके मन्दिरमें आप दर्शन करते हैं, तो रोशनीमें बिहारीजीका दर्शन होता है, रोशनी है और बिहारीजीकी मूर्ति है और आप अपने हृदयमें बिहारीजीका दर्शन कीजिये! आपके सामने साँवरी-साँवरी मूर्ति खड़ी है। कभी मुस्कुरा देती है, कभी तिरछी आँखसे देख लेती है, कभीं बाँसुरी फूँक देती है, कभी पाँव पटक देती है। अब इसके बाद देखो आप कि वह जो भीतर आपको बिहारीजीकी मूर्ति दिख रही है वह किस रोशनीमें दिख रही है? तो बिहारीजीकी मूर्तिको हट जाने दो और उस रोशनीको रहने दो; तो देखो, वह रोशनी कौन-सी है। तो वह न सूर्यकी है, न चन्द्रमाकी है, न अग्निकी है, न बिजलीका बल्ब वहाँ जल रहा है, वहाँ आप ही बल्ब हैं स्वयं प्रकाश। आप स्वयं-स्वयं प्रकाश चैतन्यरूप बल्ब हैं। आपकी रोशनीमें वहाँ बिहारीजीका दर्शन होता है। तो आपको परमेश्वरका ध्यान करना है? साकारका ध्यान करना हो, तब तो बिहारीजीको रखिये और उनका दर्शन करिये। आत्माका चिन्तन करना हो, सगुण परमेश्वरका, तो मूर्तिके बिना ही, मूर्तिको देखनेवाला जो प्रकाश था सिर्फ उसको रहने दीजिये। अन्तर्मुखताकी पद्धति यह है, विषयको छोड़कर इन्द्रियमें आइये, इन्द्रियको छोड़करके

अन्तःकरणमें आइये ! अन्तःकरणमें भासनेवाले विषयको छोड़ दीजिये और केवल प्रकाशको रहने दीजिये। **मच्चित्तो**—सगुण परमेश्वरका यह ध्यान है, जो स्वयंप्रकाश सर्वज्ञके रूपमें रहकर आपके हृदयमें ही प्रकाशित हो रहा है। यह आपकी बुद्धिमें जो प्रकाश है, इसको वासुदेव कहते हैं। बोले कि आगे क्या होगा महाराज ? आगेकी चिन्ता तुम मत करो। परमेश्वरपर छोड़ दो। जो बीत गया उसको कालमें डूब जाने दो, जो हो रहा है उसको प्रकृतिसे होने दो। जो बीत गया उसको कालने अपनी तलवारसे काट दिया। कालने करवालसे काटकर अपने विकराल गालमें डालकर निगल लिया। और जो हो रहा है वह नैसर्गिक, प्राकृत, स्वाभाविक होता जा रहा है और जो आवेगा, वह तुम्हारे हाथमें नहीं है—**मत्परः** परमेश्वरके भरोसेपर उसको छोड़ दो।

हमारा एक प्रेमी था, वह बोलता था—

चिन्ता करै बलाय हमारी जगतीके जंजालकी,
बलिहारी बलिहारी बोलो गिरधारी नंदलाल की।

एकबार जरा बेफिकर होकर देखो तो। ईश्वरके प्रकट होनेका जो द्वार हैं न, जैसे समष्टिकी रोशनी सूर्यमें-से होकर निकलती है वैसे समष्टिका समग्रज्ञान तुम्हारे हृदयमें होकर प्रकाशित होता है। ज्ञानस्वरूप परमेश्वरकी अभिव्यक्तिका द्वार तुम्हारे हृदयमें है, तुम हो। अन्तर्मुखताका अर्थ यह है, विषयको एक ओर छोड़ो, इन्द्रियोंको एक ओर छोड़ो, मनोवृत्तियोंको थोड़ा समेटो और देखो, तुम्हारे अन्दरसे रोशनी निकलकर अन्तःकरणको, इन्द्रियोंको और विषयोंको प्रकाशित कर रही है।

अब देखो, आगे बढ़ते हैं—**युक्त आसीत**। वर्तमानमें तो हो जाओ **मच्चित्तः** भूतको छोड़कर और भविष्यके लिए हो जाओ **मत्परः**। कोई संकल्प मत रखो। इस प्रकार युक्त, ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा होकरके **यदा विनियतं चित्तं आत्मन्येवावतिष्ठते**। क्या करो ? बोले—**आसीत**। आत्माको सन्मात्र ही रहने दो। आसीतका अर्थ है **'आसीत इव'** न **किंचित् कुर्वीत**। **न चेष्टेत**। **न मन्वीत**। कुछ करें नहीं, हिले नहीं और सोचे नहीं।

न कुर्वीत न चेष्टेत न मन्वीत केवलं आसीत।
तत्र सच्च चिच्च पृथक्-पृथक् न भवेताम्।

वहाँ सत् और चित् पृथक्-पृथक् न हों। जो सत् है वही चित् है, जो चित् है सो सत् है ***सच्चिदेकं भवेत्***—वहाँ अस्ति और भाति दोनों एक हो जायें। आत्म सत्ता और अनात्म सत्ता—दोनों वहाँ पृथक्-पृथक् न भासे। द्रष्टा होकरके मत बैठो, वहाँ दृश्यकी पृथक् सत्ताको बिलकुल मिटा दो। ***आसीत-आसीत इव न मन्वीत। न केवलं न मन्वीत, न चेष्टेत। न केवलं न चेष्टेत न कुर्वीत। मननं च चेष्टां च क्रियां च परिहृत्य। केवलं आसीत।*** क्रिया छोड़ो, चेष्टा छोड़ो, मनन छोड़ो, केवल अपने आपमें बैठ जाओ। बैठो। बैठना माने सत्-होना-है। है को संस्कृतमें सत् बोलते हैं। 'होना' जो है वह तो 'भवन' है और 'है' सत् है। लेकिन आप यह बताओ कि 'है', किसी भी वस्तुके बारेमें क्या अवस्तुके बारेमें यदि आप 'है' सोचते हैं तो सोचनेवाला चेतन रहेगा कि नहीं रहेगा? बिना प्रकाशक चैतन्यके क्या 'है' अथवा 'न है', ये दोनों मालूम पड़ सकता है? यदि चित् न हो, चेतन न हो, तो क्या 'है' और 'ना है' मालूम पड़ सकता है? तो ध्यानका अर्थ क्या हुआ? कि जहाँ चित् और सत्, 'है' और 'मैं' दोनों जहाँ जुदा-जुदा न हों उसको कहेंगे 'है', उसको कहेंगे ***सत् केवलं आसीत स आसीत। चित् आसीत। सद्भावेन तिष्ठेत।*** केवल सद्भावसे ही रहे।

अब देखो भाई, बात समाधिकी करनी है और तुम कहोगे कि भाई ऐसे ढंगसे बोलो कि बच्चे-कच्चे सब समझ जायें। तो बच्चे-कच्चे समझ जायें उसके लिए बड़ी-बड़ी युक्ति होती है। एकबार हम गोरखपुर गये तो हमारा साथी वह हँड़ियावाला अवधूत भी गया। तो हमको तो भागवतका संपादन करना था। टीका निकली भागवतकी वहाँसे, संन्यासी होनेके बाद उसको पूरा किया था। उसका तो अनुवाद करना था, कुछ संपादन करना था, कुछ ठीक-ठाक करना था। हम तो उस काममें लगे रहते, अवधूत रहता खाली, तो भाईजीकी लड़कीके लड़के थे छोटे-छोटे, अब बड़े हो गये हैं, उनके भी बच्चे हो गये। वे छोटे-छोटे थे। अवधूत चारों ओर उनको बिठाता, राधा बैठ, ऊषा बैठ, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त बैठ। फिर बोले—आसन ऐसे लगाओ, इसका नाम पद्मासन है। बच्चेका शरीर नरम वह आसन लगाकर बैठ जायें, कि पीठकी रीढ़ सीधी कर, आँख बन्द करलो। अच्छा, दो मिनट बैठे रहो। तो यह क्या हुआ? वे बच्चे बेचारे चुपचाप बैठे रहते। तो बोले कि इसका नाम ध्यान है।

अब गये घरमें, तो माँने पूछा कि क्या कर रहे थे बच्चे? बोले—हम ध्यान करके आ रहे हैं। तो महाराज, वैसे ही सीधे बैठनेका नाम अगर ध्यान हो और आप लोग भी अपने मनमें खूब-खूब अभिमान करें कि हम बड़े-बड़े ध्यानी हैं, तो उन बच्चोंसे ज्यादा आपकी अकल नहीं मानी जायेगी, उम्र भले बड़ी हो। अगर शरीरसे ही बैठनेका ही नाम ध्यान होवे, तो आपकी उम्र भले बड़ी हो, परन्तु आपकी अकल उसी बच्चेके बराबर है। जो सिर्फ बैठनेको ही ध्यान मान करके जाकर अपनी माँ-के सामने तारीफ करने लगे कि हम तो ध्यान करके आये हैं। तो ऐसे बैठनेका नाम ध्यान नहीं है। बोले—अच्छा, मानसिक क्रिया-विशेषका नाम ध्यान है। देखो, शारीरिक क्रिया तो कर्म है। आपलोग यह नहीं समझना कि बैठना निष्क्रियता है, ये हमारे नेता लोग तो बड़े भोले-भाले हैं। वे समझते हैं कि बैठना निकम्मापन है। अरे इनको यदि आदत न हो, नेहरुजी तो बैठ सकते थे। थोड़ी देर भला, नहीं तो इन लोगोंसे कहो आओ जरा हमारे सामने हमारे साथ दोनों तलवे दोनों घुटनोंपर रखकर पाँच मिनट बैठो तो नानी मरने लगेगी भला! यह कोई निकम्मापन नहीं है। इसके लिए ध्यानमें-से उठके आते हैं तो ऐसा चेहरा उतरा हुआ होता है कि मालूम होता है कि नींद लेकर आ रहे हैं या मालूम होता है कि बात करके आ रहे हैं। मुँहकी रौनक ही खो जाती है। ध्यानमें रौनक खोती नहीं है, ध्यानमें साँस बढ़ती नहीं है और रौनक चेहरेकी खोती नहीं है, एक प्रकारका तेज उदय होता है चेहरेपर। उसमें तनाव नहीं होता है, शान्ति होनेके कारण सारी-की-सारी क्रियाएँ स्वाभाविक होने लगती हैं।

: १५ :

अब देखो आपको एक बात सुनाते हैं—**युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी।**

'**सदा**' शब्द जो है न, इसको सामान्य रूपसे व्याख्यान करनेवाले लोग अव्य मानकर व्याख्या करते हैं। 'सदा'का स्त्रीलिंग-पुँलिंगमें कोई रूप नहीं चलता है, इसलिए इसको अव्य ह़ी बोलते हैं। कोई 'सदा सदे सदा' बोले तो वह गल्त होगा। यह 'रमा रमे रमा'की तरह नहीं है। लेकिन आपको सुनाते हैं, यह़ **सदात्मानं** को आप गौरसे देखोगे तो जैसे मैंने पहले आसीत्‌से ही व्याख्या की, वैसे ***सन् आत्मा-सदात्मा। सं सदात्मानं युञ्जन्। सर्वं स्वरूपं आत्मानं युञ्जन्।*** इसको अव्य मत करो। इसको सन्मात्र आत्मा, आत्मा होनेसे तो हो गया चैतन्य। आत्मा चेतन ही होता है, आत्मा जड़ नहीं होता। आत्मा होनेसे तो हो गया चेतन और सत् होनेसे हो गया अबाधित, माने अविनाशी और सन्मात्र होनेसे हो गया निष्क्रिय और आत्मा होनेसे चैतन्य हो गया तो निर्देश हो गया। तो निर्देश्य, निर्विषय अकाल। असलमें देश-कालको वस्तु नहीं मानते हैं। हमारे वेदान्ती लोग, देश-काल तो एक मनका विकल्प है, यह बाहर और यह भीतर, यह पहले, यह पीछे, यह मनकी कल्पना है, जन्मके पहले, जन्मके पीछे, यह सब मनकी कल्पना है, ऊपर-नीचे। तो **सदात्मानं** का अर्थ है, सत् माने अकाल। सत् माने अपरिणामी। सत् माने निष्क्रिय, सत् माने अबाधित और आत्मा माने अदेश, अद्रव्य, अविषय, स्वस्वरूप। **युञ्जन्**का अर्थ हुआ इस प्रकार अपने स्वरूपमें समाहित हो जाओ। यजुर्समाधौसे भी युञ्जन् बनता है और *युज् धातु* योगके अर्थमें भी है। तो समाहित हो जाओ अपनेमें, अपने आपसे जुड़ जाओ, अपने आपसे योग करलो।

हे नारायण, भला किसी दूसरेसे योग करना हो, तो होगा संयोग और अलग होना दूसरेसे वियोग होगा। यह अपने आपसे योग क्या होगा, अपने आपसे

मिलो, अपने आपसे जुड़ो। असलमें जिसका अपना आप ही अपना आप है, जिसका अपने आपके सिवाय और कुछ नहीं है वह सबसे मिल सकता है और सबसे मिला हुआ है और सबसे मिलता है और जिसको डर लगता है, वह जिसके लिए पराया बना हुआ है, तो आओ जरा **आत्मानं युञ्जन्** के अर्थको देखो। यह जो सत्स्वरूप आत्मा अबाधित, अविनाशी, सन्मात्र, निष्क्रिय जो आत्मा चैतन्य, अदेश, अद्रव्य, अविषय है, अपना स्वरूप। इसके साथ योग करना क्या ? जो अनात्मके साथ योग है, उसको छोड़ दे, इसीका नाम आत्मयोग है। दूसरेके साथ जो मिले हुए हो न; मैंने आप लोगोंको कभी सुनाया था काँञ्चीपुरम्के शंकराचार्यके पास एकबार हमलोग गये। बात सन् उनसठकी है। तो बड़े वयोवृद्ध महात्मा हैं। वे कोई समाजसेवाके काममें, कि राजनीतिक आन्दोलनमें, कि वे दुनियादारीके काममें नहीं पड़ते हैं। आप आश्चर्य करोगे कि नाम तो उनका शंकराचार्य है। लेकिन जब हम गये तो एक खटियापर और सो भी सिरहानेकी ओर नहीं, पैतानेकी ओर ऐसे ही सिर्फ लंगोटी-मात्र पहने अकेले बैठे हुए थे। तो हम गये, वृद्ध शरीर, सत्तर बरसके होंगे उस समय, जाकर प्रणाम करके हमलोग धरतीमें बालूपर बैठ गये। हमारे साथ स्वामी मंगल हरिजी थे। हमारे गंगा किनारेके बड़े भारी विरक्त अवधूत पंचमाश्रमी अपनेको बोलते थे। एक पुस्तक भी उन्होंने लिखी है—'**पंचमाश्रमः**' शास्त्र सिद्ध विद्या है। तो पूछा महाराज, यह वृत्ति जो है सो आत्माको कैसे, परमात्माको कैसे विषय करती है। पूछा नहीं, उन्होंने ही कहा। अपने आप ही कहा कि जब आप लोग आये हैं तो वेदान्तकी कुछ-न-कुछ बात बता दें। तो उन्होंने कहा यह जो, ***आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः*** है, माने जो चीज सबको देखनेवाली है, देखी नहीं जा सकती उसको द्रष्टव्य क्यों बताया, तो बोले कि देखो तलवार जब रस्सीपर मारनी होती है या छातीपर मारनी होती है या भैंसेके सिरपर मारनी होती है तो इसका मतलब होता है इसको काट दो। और उसको कोई लोहेके खम्भेपर मारनेको कहे तो उसका क्या अर्थ होता है ? कि तलवार तोड़ दो। तो वृत्तिको ब्रह्माकार करो, इसका अर्थ यह है कि वृत्तिको टुकड़े-टुकड़े करके खण्ड-खण्ड करके इसको मिथ्या जानकर फेंक दो वृत्तिको। वृत्ति न ब्रह्ममें घुसेगी, न ब्रह्म वृत्तिमें घुसेगा, जहाँ योग्य वस्तुको वृत्तिका विषय बनानेको कहा जा... है, वहाँ तो उसका अर्थ विधानात्मक है। यहाँ तो

वृत्तिको ध्वंस करना ही ब्रह्माकार वृत्ति है। तो आत्मयोगका क्या अर्थ हुआ? **युञ्जन्नेवं सदात्मानं**। अपने आपसे मिलो, अपने आपसे जुड़ो, अपने आपसे संयोग करो। इसका अर्थ है कि दूसरा कोई है नहीं, तो दूसरेसे योगकी जो इच्छा है, जो संकल्प है, उसको छोड़ दो बिलकुल। यही **युञ्जन्नेवं सदात्मानं** होता है।

कि इससे होगा क्या? कि जब **नियतमानस** होकर योगी यह योग करेगा, तो **शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।**

शान्ति मिलेगी, कौनसी? कि निर्वाणपरमा शान्ति। पर इस योगको करनेके लिए खाना क्या? छोड़ना क्या? सोना कैसे? जागना कैसे? चलना-फिरना कितना? काम कितना करना? यह सब जो तरीका है यह सदात्मान योगके लिए, सदा माने सर्वदा आत्मयोग, नहीं, सदात्मा-योग सदात्माके साथ सत् चिदेकं के साथ जो योग है उसके लिए क्या करना? वह जो रीति है, वह आगे सुनावेंगे।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

पहले बताया कि मनको संयमित करो, सँवारो। संयमनका अर्थ यह होता है कि जैसे कोई बिखरी हुई चीज होये, तो उसको सँवारकर इकट्ठा कर दिया जाये। पुराने जमानेमें जब लोग मूँछ रखते थे तो उसको कंघीसे ऐसा सँवारते थे कि एक-एक बाल गिन लो मूँछका। हम जिनसे पढ़ते थे संस्कृत, हमारे गुरुजी थे, चौरानबे बरसके होकर मरे, सफेद-सफेद मूँछ थी, पर महाराज कंघी तो वे जेबमें जरूर रखते थे। शेरवानी पहनते थे, साफा बाँधते थे, बड़े ही सुन्दर थे, कहीं शिकन नहीं थी बिलकुल चेहरेपर, गौरवर्ण। पर वे जब कहीं मौका मिलता तो शीशा देखके अपनी मूँछको सँवार लेते। हमने देखा है पुरुषोंको, ये जो बालके शौकीन होते हैं, वे बालको बिलकुल ठीक कर लेते हैं।

तो यह जो बिखरी हुई चीजको सँवारके रखना है न, इसीको बोलते हैं संयमन। इधर-उधर भागनेवाले घोड़ेको, बागडोरके द्वारा वशमें रखना, इसको बोलते हैं संयमन। और, मनको एक स्थानमें रखना, इसका नाम है धारणा और एक कालमें रखना, इसका नाम ध्यान है। एक विषयमें रखना इसका नाम समाधि—सम्प्रज्ञात। और अविषयमें रखना, इसका नाम असम्प्रज्ञात। देशकी प्रधानतासे धारणा, आप जानते हैं—***देशबन्धः चित्तस्य धारणा। तत्रैक-***

तानता ध्यानं। एक तानता, माने वृत्तिप्रवाह। क्रम, काल, घट क्रमशः और घटका एकत्व समाधि और अघट असम्प्रज्ञात।

अच्छाजी, तो संयममेंका अर्थ है कि धारणा, ध्यान, समाधि माने देश, देशान्तरमें मनका जाना, कालका प्रवाह और विषयसे विषयान्तरमें जाना—इन तीनोंकी ओरसे बचाकर, **मनः संयम्य**; तो कहाँ रखें? बोले—**मच्चित्तः मत्परः**। हम लोगोंकी सनातन धर्मकी जो रीति है, आप देखो, शरीरमें कोई गंदगी लग जाय तो कुएँके या नलके पानीसे नहा लो, काम चल जायेगा। लेकिन जब मनमें गन्दगी लग जाती है तो नलके पानीसे या कुएँके पानीसे काम नहीं चलता, तब कैसे चलेगा? कि गंगास्नान करो तब चलेगा। गंगाका प्रवाह जो है, वह ईश्वररूप है। कुएँमें प्रवाह नहीं है। नलमें अनन्त प्रवाह नहीं है। गंगाजीमें अनादिता और नित्यता है। प्रवाह रूपसे, ईश्वरका एक रूप है और मेरी गंगा, मेरी गंगा कहनेवाला कोई नहीं है। कुँआ मेरा कहनेवाला है। नल मेरा कहनेवाला है और गंगाको मेरा कहनेवाला कोई नहीं, बिलकुल ईश्वरीय वस्तु है। पहाड़पर कहीं दर्शन करने चले जाओ, भगवान्‌को भोग लगालो, यह है पवित्रताका हेतु।

अब **मच्चित्तः**का क्या अर्थ है? श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज कहते हैं कि बारम्बार अपने मनसे मुझे छू-छूकर मनको पवित्र करते रहो—मच्चित्तः, मेरा स्पर्श करो। अब देखो धर्मशास्त्रकी एक, हम तो धर्म, उपासना, ज्ञान, हमारे सब-के-सब एक ही धारामें हैं, तो ये जो धर्मके विरोधी लोग हैं, उनकी समझमें बात आवेगी नहीं। जैसे देखो, हमारे शास्त्रके अनुसार हम रास्तेमें चल रहे हों और किसीके थूकपर नजर पड़ जाय या विष्ठापर नजर पड़ जाय या किसी स्त्रीपर या पुरुषपर कामयुक्त दृष्टि पड़ जाय तो हमको क्या करना चाहिए? कि तुरन्त आँख उठाकर सूर्यको देख लेना चाहिए। यह धर्मशास्त्रका विधान है। जो हमारी नजर—आँख गन्दी चीजपर पड़ी, उसको वहाँसे उठाकर एकबार पवित्र वस्तुको देख लो। समुद्रको देखलो, वह विशाल, सूर्यको देखलो, और कुछ देखनेको न मिले तो भगवान्‌का नाम लेलो। यह देखो, अपनी दृष्टिको पवित्र रखनेकी पद्धति धर्मशास्त्रके अनुसार है। गायको देखो, ब्राह्मणको देखो, महात्माको देखो, जब नजरमें गन्दगी आवे तो! अब मनमें गन्दगी आवे तो क्या करना? कि—

मनः संयम्य मच्चित्तः—*मत्स्पर्श पवित्रमनाः* क्या बढ़िया! अपने मनसे बार-बार मुझे टच कर लो। त्वाक् प्रत्यक्ष इसको बोलते हैं। ध्यानकी प्रारम्भिक स्थिति क्या है? कि अपने मनकी बनाये कूँची और एकबार भगवान्‌को देखो और एकबार दिलमें उसकी तस्वीर बनाओ। **मच्चित्तः** तो यह महाराज, जो दवाका ही निषेध करनेवाले हैं; यह तो मनकी दवा है। एक बच्चेने गल्तीसे कई दिनोंतक मिट्टी खा ली, तो उसके पेटमें केंचुए पड़ गये। अब उसका बांप बच्चेको लेकर गया वैद्यके पास, तो वैद्यने एक चूर्ण उसको दिया, कि यह बच्चेको धीरे-धीरे खिलाओ, केंचुआ निकल जायेगा मरकर। अब बाप था आर्यसमाजी, कोई आर्यसमाजी हों तो नाराज मत हों, हमारा मतलब तर्कसे ही है, संस्थासे नहीं है। उन्होंने कहा मिट्टी खानेसे जब रोग हुआ, तो यह जो चूरा है तुम्हारा मिट्टी सरीखा, यह खानेसे रोग दूर कैसे होगा? तर्कसे सिद्ध करो। अब वैद्यने कहा—बाबा, हम तर्क-वितर्क नहीं जानते, हम तो यह जानते हैं कि है तो यह मिट्टीका ही चूरा, लेकिन यह पलाशके बीजमें घुसकर, उसके तनेमें होकर, पत्ते, फूलमें होकर फलमें आया हुआ बीज है। उसका चूरा करके मैं दे रहा हूँ। है तो यह भी पंचभूतका बना हुआ; बच्चेने भी पंचभूत खाया है और पलाशका बीजरूप पंचभूत यह भी है। लेकिन यह पंचभूत उस पंचभूतके रोगको मिटानेवाला है। एक ही वस्तु ग्राह्य और ग्राहक भेदसे द्विधा हो जाती है। वही ग्राह्य रूप है और वही ग्रहण करनेवाली आँख है। वही रोग है, वही औषधि है। तो अब क्या होता है कि किसीने कहा—यह मानसिक कल्पना करते रहो यह भगवान् हैं! कल्पना करनेमें क्या रखा है! अच्छा कुछ नहीं रखा है। लेकिन तुम्हारे मनमें जो दुनिया भरी है और उसकी जो गन्दगी भरी है वह नहीं निकलेगी, तुम्हारे मनमें जो गन्दगी भरी हुई है उसको निकालनेकी यही दवा है। तुमने बारम्बार अपने मनसे कल्पना कर-करके दुनिया भरी है। अब कल्पना कर-करके भगवान्‌को भरो तो दुनिया निकल जायगी।

आपसमें समसत्ता जिनकी, लखि साधक बाधकता तिनकी।

जैसी भरी है दुनिया, वैसी दवा भरोगे तब यह रोग छूटेगा। भावके बिना यह अपवित्रताकी बीमारी जो है मनमें, वह दूर नहीं हो सकती। मनको संयमित

करके जैसे बिखरा हुआ पानी इधर-उधर छींटे पड़ रहे हों न, नल बिगड़ गया हो और उसमें-से फुहारेकी तरह धारा छूट रही हो, तो एक कपड़ा उसपर लपेट दो और देखो, एक धारा उसकी निकलने लगती है। इसीको **मनः संयम्य** कहते हैं। आपके मनकी वृत्तिकी धारा क्षण इधर, क्षण उधर जा रही है उसको **संयम्य मच्चित्तः**, वृत्ति धाराको भगवान्‌में गिराओ और **'युक्त आसीत मत्परः'** कि भाई हम भगवान्‌में लग जायेंगे तो क्या होगा? बोले—**मत्परः**, भरोसा रखो भगवान्‌पर। वही आश्रय हैं और वही प्रियतम हैं। प्रियतम दूसरा और आश्रय दूसरा जहाँ होता है वहाँ संघर्ष हो जाता है। तो एकको ही अपना आश्रय और प्रियतम बनाओ। और **युक्तः**—युक्तिसे, आसनसे, थोड़ा प्राणायामसे, थोड़ा शरीरको सीधा करके, थोड़ा देश-काल वस्तुमें संयम करके **युक्तः**। **आसीत**—निर्विशेष होकर बैठ जाओ। ***केवलं आसीत। न चेष्टेत। न कुर्वीत।*** करे नहीं, निश्चेष्ट होकरके शरीरसे निश्चेष्ट, प्राणसे निश्चेष्ट, मनसे निश्चेष्ट, माने निष्क्रिय ब्रह्मसे **युञ्जन्नेवं सदात्मानं**, सदा नहीं, **सच्चासौ आत्मा च सदात्मा तं सदात्मानं**। यह सत् शब्द भी कई तरहसे बनता है। एक *अस्तीति सत्*—सत् होता है। और एक *सीदतीति सत्* होता है। यह परिषद्‌में जो सद् है न, संसद्‌में, परिषद्‌में जो सद् है उसका तृतीयान्त रूप होगा सदा। और *अस्तीति सद्* जो है; इसका तृतीयान्त रूप होगा—'सत्', 'सता', 'सती', 'सता।' तो सद्, सत् दोनों रूप इसका होता है। उसका सन् नहीं होगा और अस्ति वालेका सन् भी होता है। सन्+आत्मा। माने त्रिकालाबाधित जो आत्मा है उसमें अपनेको युक्त करो। युक्त करोका अर्थ पहले आपको सुनाया कि अपने आपसे मिलो, अपने आपसे जुड़ो, इसका अर्थ यह तो होता ही नहीं है कि अपना आपा कहीं चला गया है और उससे आप मिलें, वह तो हम ही हैं यह जो दूसरेसे मिल गये हैं वहाँसे अपनेको निकालें। यह सन्तसे मिलन जो है यह असन्तसे छुड़ानेके लिए है। यह आत्मासे मिलन जो है वह अनात्मासे छुड़ानेके लिए है। यह देवतासे मिलन जो है, देवतासक्ति जो है वह मानवासक्तिको छुड़ानेके लिए है। यह दवा है। यह स्वास्थ्य नहीं है औषध है। दवा जिन्दगीभर खानेके लिए नहीं होती है वह तो केवल रोग निवृत्तिके लिए होती है। तो अनात्मासे छुड़ानेके लिए आत्मयोग है। असन्तसे छुड़ानेके लिए

सन्तयोग है। राक्षस, दैत्यसे छुड़ानेके लिए देवता योग है। यदि आप किसी राक्षस या दैत्यके चक्करमें पड़ गये हैं तो देवता योग कीजिये, और असन्तके चक्करमें पड़ गये हैं तो संतयोग कीजिये। और अनात्माके चक्करमें पड़ गये हैं तो आत्मयोग कीजिये। यह केवल छुड़ानेके लिए हैं। दवा हैं, इनका नाम स्वास्थ्य नहीं है। नाव सिर्फ पार उतारनेके लिए है। सिरपर लादनेके लिए नहीं है कि सूखी धरतीपर पहुँच गये हैं तब भी नाव ही पर चलें। यह सब-की-सब उपासना जितनी हैं, ये सब उपायरूप है—***उपादायाति ये हेयाः उपायात् ते प्रकीर्तिताः*** हमारे महावैयाकरण भर्तृहरि उपाय शब्दकी व्युत्पत्ति बताते हैं। जिनको पहले स्वीकार करें और पीछे छोड़ दें, उनका नाम उपाय है। पहले दवा खा ली और जब रोग मिट गया तब दवा छोड़ दी। और जिस दवाको छोड़ना न हो, जिन्दगीभर खाना ही पड़े, वह दवा नहीं है, वह तो रोग है। एक रोग छूटा तो एक रोग और साथ लग गया। इसलिए वेदान्त मृत्युपर्यन्त कोई साधन करनेके लिए नहीं बताता, तत्त्वज्ञान हुआ, अज्ञान मिटा और छुट्टी! अच्छा, दूसरे साधन जितने हैं वे कहते हैं मौतके दिनतक करना पड़ेगा। ये डॉक्टर लोग तो कहते हैं भाई, यह दवाई तो रोज खानी पड़ेगी। कहते हैं जैसे चने रोज खाते हो। चावल रोज खाते हो वैसे एक गोली यह भी रोज खा लिया करो। हमारे वेदान्ती लोग ऐसे नहीं कहते हैं कि जिन्दगीभर ज्ञान-ध्यान करना पड़ेगा। वे कहते हैं कि एकबार अविद्याको मिटाओ तो छुट्टे छड़ंगे-मुस्टंडे, जैसे मौज हो वैसे रहो जहाँ मौज हो वहाँ घूमो। यह जिन्दगी भरका बन्धन वेदान्तमें नहीं है। तो क्या होगा इससे?

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।

यह आत्मयोग है। यह अन्ययोग नहीं है। *अन्ययोगः व्यवच्छेदात्*। यह अन्ययोग नहीं है। यह स्वयोग है। अपने आपमें बैठो। यह कैसे होगा? कि, **नियतमानसः**। यह जो मानस है न आपका, इसमें राक्षस ताल भी होता है और एक मानस ताल भी होता है। मानसरोवर जो लोग जाते हैं, गौरी-शंकरकी चोटी देखनेके लिए कैलास पर्वतपर, वे जानते हैं कि एक वहाँ राक्षस ताल है। बड़ी-बड़ी तरंगें उठती रहती हैं आवाज होती रहती है, बड़ी कर्कश ध्वनि होती रहती है, इसका नाम राक्षस ताल है। और एक महाराज, बड़ी

शान्त ध्वनिका सरोवर है, जिसका जल स्वच्छ निर्मल है। तो यह **नियतमानसः** का अर्थ है, ***नियतं, संयतं, उपरतं मानसं यस्य***। आपका यह मानस जो है, *मन एव मानसः*। दो अर्थमें यह मानस शब्द बनता है, एक तो स्वार्थमें ही '*मन एव मानसं*' बनता है। दूसरे '*मनसो विकाराः मानसः।*' एक स्वार्थमें प्रत्यय होता है, एक विकारार्थमें प्रत्यय होता है। तो मनका ही नाम मानस है। जैसे *बाल एव बालकः*। अच्छा अब दूसरा अर्थ क्या है ? कि मनकी सारी वृत्तियाँ, मानस माने काम-क्रोध-लोभ-मोह—ये बुरी वृत्तियाँ हैं और शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, सत्य, दान, दया, दम—ये अच्छी-अच्छी वृत्तियाँ। यह ईश्वरके मार्गपर चलना दूसरी चीज है और इन वृत्तियोंको संसारमें चरितार्थ करना दूसरी बात है। देखो, दूसरेका बुरा करनेकी अपेक्षा, भला करना अच्छा है, पर दूसरेका भला करनेकी अपेक्षा भी, सबमें भगवद् बुद्धि करनेकी अपेक्षा अपने हृदयमें ही भगवान्‌को देखना अच्छा है। और अपने हृदयमें भगवान्‌को देखनेकी अपेक्षा अपने आपेका और भगवान्‌का एक हो जाना अच्छा है। एकत्वका बोध हो जाना अच्छा है। जितना सामीप्य होगा उतना ही अच्छा है। तो यह जो आपका मानस है, इसमें जो विवेक, धृति, स्मृति, उपासना, अरे भाई, समाधिके मार्गमें चलते हो तो इष्ट देवाकारता, वे सब सपनेके ख्याल हैं, होशसे चलना पड़ेगा समाधिमें—**नियतमानसः**।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।

अपना मन, हमलोगोंके तो जैसे समझो बैल होते थे घरमें किसानोंके। तो जब पहले-पहल ख़रीदकर कहींसे लाते थे, तो वे छान-पगहा तुड़ाकर भागनेकी ही कोशिश करते थे। खूँटा उखाड़ लें, भाग जायें। नाथी तुड़ा लें, पगहा तुड़ा लें। मारनेको दौड़ें। तो पहले बड़ी सावधानी रखनी पड़ती थी, किसी-किसीके लिए दो-दो खूँटे गाड़ने पड़ते थे। दाहिने, बायें दोनों तरफ बाँधो पगहा लगाकर। फिर उसको खिलाया, हरी-हरी घास खिलायी, चरी खिलायी, अन्न खिलाया, दो दिन, चार दिन, फिर जरा परिच जाता था। शान्त हो जाता था। थोड़े दिनोंके बाद तो चाटने लगता था शरीरको। उसके बाद फिर बाँधनेकी जरूरत नहीं। कहीं रास्तेमें भी छोड़ दो तो अपने आप आके खूंटेमें खड़ा हो जाय और खुला भी रहे तो वहाँ बैठ जाये, वहीं पागुर करे।

तो अपने मनको कैसे बनाना कि जैसे बिलकुल सधा हुआ बैल होता है, वैसा अपना मन हो जाये—**नियतमानसः**। डंडा लेकर खदेड़ें और भागकर कहीं दूसरी जगह न जाये, घूम फिरकर वहीं आ जाये। खूँटेके चारों ओर घूमने लग जाय, बस इधर उधर न जाय। तब समझो कि बैल बिलकुल पक्का।

एक यहाँ अंग्रेज आया था कोई एकबार यहीं बम्बईमें। उसके पास एक कुत्ता था। ऐसा सधाया हुआ कुत्ता था उसके पास। वह वृन्दावन ले कर गया एकबार। उसने कहा हम दर्शन करेंगे मन्दिरोंमें। तो मैंने सोचा अकेले जायगा यह मन्दिरोंमें दर्शन करने तो पता नहीं पंडा लोग, गुसाईं लोग कोई नाराज हो जायें, इसका अपमान कर दें, कि यह विदेशी मन्दिरोंमें आया है। तो मैं स्वयं उसके साथ चला गया कि मैं जाऊँगा तो कोई नहीं बोलेगा। अब महाराज, वह तो गया सो गया। उसका कुत्ता भी न माने। तो कुत्तेको साथ ले गया। तो मैंने कहा—भला मन्दिरमें कैसे चलोगे तुमको तो लोग हमारे साथ छोड़ देंगे, कुत्तेको कैसे छोड़ेंगे? उसने कहा—नहीं, हम कुत्तेको जो आज्ञा देंगे सो करेगा। अब महाराज, सबसे देर लगनी थी शाह बिहारीके मन्दिरमें, तो उसने अपनी चप्प पाँवमेंसे निकालके रखी और कुत्तेके सामने उसको हाथसे छू दिया और कुत्तेको बैठा दिया। अब हमलोग गये शाहजीके मन्दिरमें, तो झाड़-झंखाड़ जो सब लगा है न वहाँ, बड़ा सुन्दर है, वह हमेशा सबको नहीं दिखाते हैं, वह तो वसन्त पंचमीको खुलता है या किसी खास दिनको। अब मैं गया तो उन्होंने उस दिन उसको खोला, बस हमलोग ही थे और कोई नहीं था। हमारे लिए ही खोला। अब खोलकर बड़े-बड़े झाड़ फानूस जो लगे हुए हैं। वह सब दिखाया, भीतरका सब दर्शन कराया। जहाँ फुहारा बनता है वहाँ ले गये, शाहजी खुद ही साथ थे। तो कोई आध-पौन घण्टा लग गया। और वह बिलकुल निश्चिन्त होकर हमारे साथ घूमता था। जब लौटकर आया, तो देखा वह कुत्ता उसी चप्पलपर बैठा था, वहाँसे नहीं हटा। तो देखो, हमारे बैल ऐसे सधे होते हैं, हमारे कुत्ते ऐसे सधे होते हैं। आप अपने मनके बारेमें क्या बोलते हो! हमने हरिबाबाजी महाराजको देखा। घूमने जाते थे। पाँच मील जाते, पाँच मील आते, ऐसे एक हाथ छातीपर रखे। ठीक समयसे निकलते थे। सिर झुकाकर चलते। एक आदमी आगे चलता, एक पीछे, एक हाथ लटका हुआ

चले। अब महाराज पाँच मील गये और पाँच मील आये। लौटे तो मैंने देखा उनका हाथ ऐसे ही पड़ा। दस मील चलनेमें दो तीन घण्टे तो लगते हैं न! आप ध्यान करो आपका मन कैसा है? तो **नियतमानसः**। अपनी मनोवृत्तियोंको नियत करो, इसको यदि तुम हटाते सटाते ही रहोगे, यहाँ सटाया फिर हटाया, फिर सटाया फिर हटाया, तो यह तो महाराज, तलाक ही देनेमें और ब्याह करनेमें सारी जिन्दगी बीत जायेगी।

एक मेमसाहबसे कोई सज्जन मिले। तो दोनों आपसमें शिष्टाचारके बाद कहने लगे कि ऐसा लगता है कि हमने आपको कहीं देखा है। तो मेमसाहबने कहा कि ठीक है देखा है, आप हमारे आठवें नम्बरके पति रह चुके हैं। तो यदि ऐसे ही तलाक दोगे और छोड़ोगे, अपने मनको ऐसे ही लगाओगे और हटाओगे, सटाओगे और हटाओगे तो ये मनीराम कहीं टिकाऊ नहीं हैं और जब ये चंचल होंगे तो विषयोंमें ही जायेंगे, इसलिए अपने मानसको नियत करो।

अब देखो, एक ओर तो ईश्वरके स्पर्शसे मन हुआ पवित्र और पवित्र मनको जोड़ा अपने आपमें और ऐसा जोड़ा अपने आपमें और ऐसा जोड़ा कि हटाये न हटे, बस अपनें आपमें बैठना। जैसे कोई-कोई आलसी होते हैं उनको सोना ही अच्छा लगता है न, ऐसे कई-कई योगी होते हैं उनको बस अधखुली आँख, साँसका पता नहीं कि कैसे चल रहा है। अपने स्वरूपमें बैठना ही अच्छा लगता है। एक ईश्वर वह होता है कि वह मशीन-वशीन चलाते हुए भी मिल जाता है। पर वह दूसरा होता है वह हम लोगोंवाला नहीं होता है। जो कल कारखानेमें मशीन चलाते हुए, झूठ बोलते हुए, ब्लैक करते हुए, छल कपट करते हुए, दूसरोंको ठगते हुए जो ईश्वर मिल जाता है वह साधुओंवाला नहीं रहता है। यह नहीं समझना कि यही ईश्वर योगियोंको भी मिलता है। ईश्वर बड़ी विलक्षण चीज है।

देखो, एक तो साधनमें ईश्वर मिलता है। तो **मच्चित्तः** और **मत्परः**का अर्थ है एक तो ईश्वरकी श्रेष्ठतामें और उसके संरक्षणमें परम विश्वास, यह तो हुआ **मत्परः**। दूसरे अपनी मनोवृत्तियोंसे बार-बार उसका स्पर्श, यह हुआ मनका पवित्रीकरण। अब एक तीसरा देखो, पवित्रीकरणमें क्या है? विराट्का स्पर्श एक, हिरण्यगर्भका स्पर्श दो और ईश्वरका स्पर्श तीन, तीन

प्रकारका जो ईश्वर है, उसका स्पर्श योग होता है। तीनोंका विलक्षण है। आप व्यवहारमें रहते हुए विराटात्माका स्पर्श कर सकते हैं और ध्यानमें और उपासनामें रहकर भक्ति द्वारा हिरण्यगर्भात्माका स्पर्श कर सकते हैं और समाधिमें जाकर ईश्वरात्माका स्पर्श कर सकते हैं। कारणात्मा जो निर्वृत्तिक है, समाधिमें उसका स्पर्श होता है और जो सूक्ष्म कार्य समष्टिमें व्याप्त है हिरण्यगर्भात्मा—नारायण, ब्रह्मा, शिव, राम, कृष्ण—वे ध्यान स्पृश्य हैं। एक समाधि स्पृश्य है, एक ध्यान स्पृश्य है। और एक है विराट्‌रूप भगवान्, यह भगवदर्पित कर्म स्पृश्य है। भगवान्‌को अर्पित कर्मके द्वारा विराट्‌का स्पर्श होता है, भगवदर्पित चित्तवृत्तिके द्वारा हिरण्यगर्भका स्पर्श होता है और शान्तवृत्तिके द्वारा सर्वकारण कारण परमेश्वरका स्पर्श होता है। ये तीनों परमेश्वर स्पर्श्य हैं, स्पर्श्य हैं और **मच्चित्तः** में तीनोंका समावेश है।

लेकिन ईश्वर कृपासे अब थोड़ा आगे चलो यह तो हुआ साधन, अब फलमें क्या है?

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

यह मत्संस्था जो है न, यहाँ यह जो मत् है यह फलात्मक है। यह विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर, विश्व, विराट्, तैजस, हिरण्यगर्भ और प्राज्ञ, ईश्वर—इन तीनोंसे विलक्षण मत्संस्था—शान्ति। जहाँ माया नहीं, मायाका कौतूहल नहीं, जहाँ दृश्य-द्रष्टाका भेद नहीं, ऐसी शान्ति कि निर्वाणकी पराकाष्ठा। शंकराचार्यने ऐसा अर्थ किया है कि निर्वाण ही है पराकाष्ठा जिसका—**निर्वाणपरमां**।

तो आओ, निर्वाणमें जरा थोड़ा तैरें, यह एक '*वा गन्धनयो*' धातु है, उसीसे वाण शब्द बनता है। तो गति और गन्ध ये दो अर्थ वा धातुके हैं। गति माने उन्नति-अवनति, प्रगति-अधोगति, नरक-स्वर्ग दोनों—ये वाण हैं और गन्ध माने वासना गन्ध, अशुभ गन्ध और शुभ गन्ध दोनों वाण हैं। धूप बत्तीको भी कहीं-कहीं वाण बोलते हैं। गन्धको भी वाण बोलते हैं।

अब देखो, निर्वाण किसको बोलेंगे? *वाणः निष्क्रान्तः निर्वाणः*। माने जिसमें किसी प्रकारकी गति नहीं है। न कालमें परिणाम है, न देशमें परिमाण है। कालमें परिणाम माने बदलना—जैसे एक समय वह दूध था। दूसरे समय

वह दही हो गया। तो यह क्या हुआ? कि यह परिणाम हो गया। पहले मिट्टी थी, फिर घड़ा हो गया। यह क्या हुआ? कि यह परिणाम हो गया। पहले बीज था, अब अंकुर हो गया। यह परिणाम हो गया। और परिमाण क्या है? कि पहले अंकुर एक अंगुलका था, अब चार अंगुलका हो गया। चार हाथका हो गया। यह हो गया परिमाण। तो एक होता है परिणाम और एक होता है परिमाण। परिमाण माने नाप और परिणाम माने स्थितिका परिवर्तन। और, एक परिणममान द्रव्य होता है। वह वस्तु जो बदल रही है, पंचभूतकी बनी हुई। इन तीनोंको बोलते हैं मान। देश-काल और द्रव्य—ये तीनों योगमतमें विकल्प हैं। विषय तो प्रकृतिका परिणाम है, लेकिन देश-काल विकल्प हैं। तो जिसमें जाना-आना, भीतर-बाहर नहीं, जिसमें पहले पीछे नहीं, और जिसमें अपना-पराया नहीं, उसको बोलेंगे निर्वाण। गीतामें निर्वाण शब्दका प्रयोग है। निर्वाण माने मोक्ष ही होता है।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ ५.२४

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ २.७२

निर्वाण—निर्वाणं ब्रह्म। अब देखो, आपको निर्वाण शब्दका एक दूसरा भाव सुनाते हैं। बाणको बाण ही रहने दो। तो जिसमें बाण नहीं है-यह ***वाणेभ्यो निष्क्रान्तः***। ***निरादयाक्रान्ते पंचम्यां***-पंचमी समासमें, निर्‌से जो समास होता है वह पंचमी तत् पुरुष होता है। तो *वाणेभ्यो निष्क्रान्तः*। जहाँ वाणसे कोई बेध नहीं करें उसका नाम होता है निर्वाण। किसी बाणकी जहाँ पहुँच नहीं है।

अच्छा, तो बाणमें क्या है? जैसे किसीको बाण लगे तो क्या होगा? दुःख होगा। और ज्यादा जोरसे लगेगा तो बेहोश हो जायेगा और गहरा लगेगा तो मृत्यु हो जायेगी। पहले बाण लगेगा तो दुःख होगा फिर बेहोश—अज्ञानी हो जायेगा और यदि और गहरा होगा तो? तब मृत्यु हो जायेगी असत् हो जायेगा। तो आनन्दका विरोधी दुःख चित्का विरोधी अचित् और सत्का विरोधी असत्। यह जो हमारे जीवनमें मृत्यु अज्ञान और दुःख लगे हुये हैं, इनका नाम है वाण। तो ये तीनों चीजें जिसमें नहीं हैं, उसका नाम है निर्वाण।

बाबा, वाणसे बचना हो तो निर्वाण प्राप्त करो। निर्वाण माने होता है मुक्ति। बौद्धोंमें तो इसके कई भेद मानते हैं—निर्वाण, परिनिर्वाण, महानिर्वाण, अतिनिर्वाण। चार निर्वाण मानते हैं यह निर्माण नहीं है, निर्वाण है। यह बनाया नहीं जाता, यह स्वतः सिद्ध है। निर्माण बनाया जाता है और निर्वाण स्वतः सिद्ध होता है।

अच्छा, एक निर्वाण शब्दका दूसरा अर्थ है। दीपक जब बुझ जाता है तो उसके लिए निर्वाण शब्दका प्रयोग होता है। एक पुराना श्लोक है—

दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद् वाच्यं अरुन्धतीं
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः।

दीपनिर्वाणगन्धं न जिघ्रन्ति, सुहृद् वाक्यं न शृण्वन्ति, अरुन्धन्तीं न पश्यन्ति। के? ये खलु गतायुषः। मौत जिनकी पास आ गयी है उनकी नासिकामें दीया बुझनेकी गन्ध नहीं मालूम पड़ती, वे अपने हितैषीकी बात नहीं सुनते हैं, सुनायी नहीं पड़ती और अरुन्धतीका तारा दिखायी नहीं पड़ता।

तो निर्वाण शब्दका अर्थ क्या है? दीपक बुझना। तो यह हमारे अन्तःकरणका है दीया और इसमें स्नेह, वासनाका है तेल, इसपर आरूढ़ होकर चेतनकी ज्योति जल रही है। तो *यावत् तैलं तावत् व्याख्यानं*। अब तो महाराज ज़बतक यह स्नेह-वासना है चित्तमें और यह मालूम नहीं पड़ता है, यह दरिद्रा ऐसी पीछे लगी है कि जिस दिन देहमें सबसे ज्यादा मोह होता है, उस दिन आदमी बोलता है कि हम मरनेको तैयार हैं, देहमें हमारा मोह नहीं है। यह बात मैंने सैंकड़ों दफे देखी है, जिस दिन वह अत्यन्त मोहान्ध है, देहमें अत्यन्त अभिनिवेश होता है, क्रोध आया है देहाभिमानके कारण, राग हुआ है देहाभिमानके कारण, अपमान हुआ है देहाभिमानके कारण, जब क्रोध आता है या अपमान होता है या राग होता है, उसके मूलमें तो देहाभिमान बैठा है, फिर हमारा किसीसे कोई प्रयोजन नहीं, अभी हम कुँएमें कूदके जान देते हैं, मोहावेशमें बोलते हैं हमारा किसीसे मोह ही नहीं है। हम कहते हैं अच्छा बच्चू देखो, अगर तुमने जोशमें कोई काम नहीं किया तो एक दिन, दो दिनमें अपने आप ही मालूम पड़ जायेगा कि क्या है, अरे कितनी बातें आती रहती है, जाती रहती हैं। तो आदमी जोशमें उलटा ही करता है। अत्यन्त हितैषी अपना जो सलाह देता

है वह अच्छी नहीं लगती है। अरुन्धती दिखती नहीं है। अब वह बात तो छोड़ो, निर्वाण शब्दको लो। तो यह हृदयमें जो स्नेह-वासना है इसके तेजसे यह परिच्छिन्न अहंकी लौ जल रही है। बौद्ध कहते हैं कि इसका बुझ जाना, निर्वाण हो जाना ही मौत है। और वेदान्तियोंका कहना है कि असलमें जो अखण्ड ज्योति है, जिस ज्योतिसे समष्टि प्रकाशित हो रही है, उससे पृथक् वह तुम्हारी वासनासे जलनेवाली ज्योति नहीं है, जैसे देखो, यह बल्ब बुझ जाये, तो बल्बमें जो बिज़ली थी, वह नष्ट हो गयी? नष्ट नहीं हुई, वह तो 'पावर हाऊस' के साथ उसका सम्बन्ध है। अच्छा मान लो 'पावर हाऊस' ही नष्ट हो जाये, तो क्या जो आकाशमें बिजली भरी हुई है वह नष्ट हो गयी? आकाशके विद्युत्‌से पावर हाउसकी विद्युत अभिन्न है। और आकाशके विद्युत्‌से बल्बकी विद्युत् भी अभिन्न है। रेडियो आपका बिगड़ जाये तो क्या अमेरिकासे, रूससे या दिल्लीसे जो आवाज़ आ रही थी, वह नष्ट हो गयी? आपका रेडयो बिगड़ जाये या आपकी बिजली फेल हो जाये तो जिस आवाजको आपका रेडियो पकड़ रहा था वह क्या नष्ट हो गयी? तो महाराज बल्ब फ्यूज होनेसे बिजली नष्ट नहीं होती है और रेडियो खराब होनेसे आवाज़ नहीं मिटती है और एक हार्ट फेल हो जानेसे जो अखण्ड चैतन्य परिपूर्ण है सृष्टिमें, उसका नाश नहीं होता है। उससे यह पृथक् चैतन्य नहीं है। तो—

शान्तिं निर्वाणपरमां, कौन-सी शान्ति? कि जिसमें मोक्ष-ही-मोक्ष है, निर्वाण-ही- निर्वाण है। बोले कि तब ईश्वरकी शान्ति कुछ जुदा होगी और हमारी शान्ति कुछ जुदा होगी। बस महाराज, यह जुदा-जुदा जो है न, कहीं स्त्रीका अभिनिवेश है, कहीं पुरुषका अभिनिवेश है, कहीं ब्राह्मणका अभिनिवेश है, माने एक वृत्तिमें, एक भावमें हम मशगूल हो गये हैं, डूब गये हैं, तन्मय हो गये हैं। डूब गये हैं एक भावनामें, हम औरत हैं, हम मर्द हैं, हम ब्राह्मण हैं, हम वैश्य हैं, यह बिलकुल देह-मेहमें डूब मरे। यही तो परिच्छिन्नता हुई न! यह मनुष्यत्व और देवत्व भी ऐसा ही है। यहाँतक कि जीवत्व और ईश्वरत्व भी ऐसा ही है। एक अखण्ड चैतन्यमें यह सब क्या है? तो भगवान् बोलते हैं—**मत्संस्थामधिगच्छति।**

वह शान्ति केवल त्वंपदार्थ-निष्ठा नहीं है, **मत्संस्थाम्**—तत्पदार्थ निष्ठा

शान्ति भी वही है। अतएव '**निर्वाणपरमां**'—इसीलिए बन्धनभूता अविद्याका नाश हो जानेपर अविद्याकी निवृत्तिरूप शान्तिसे उपलक्षित जो मुक्ति है वह आत्माका भी सच्चा स्वरूप है, परमात्माका भी सच्चा स्वरूप है, उसका अधिगम हो जाता है।

'***यदा मानसं यतः भवति तदा योगी संपद्यते***'—जब मानस नियत होता है तब योगी हो जाता है। '*योगी अधिकारी तस्य लक्षणं नियतमानसं यस्य*'—मानसका अर्थ है मनोविकार। मानस शब्द दो तरहसे बनता है—'*मन एव मानसं*'—मनको ही मानस कहते हैं, इसका अर्थमें ही प्रत्यय है। अथवा मनमें जो विकार पैदा होता होते हैं, उनको मानस कहते हैं। तो नियत हो जायें अर्थात् नियत देश, नियत काल, नियत विषय, नियत आकार। इसका अर्थ मनका मर जाना नहीं है। किसी वस्तुका नियत होना उसकी मृत्यु तो नहीं है, उसके रूप निश्चित हो गये, माने मानस हमारा आज्ञाकारी हो जाये, केवल बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करके तदाकार नहीं हो जाता। जैसे शीशेका स्वभाव है बाहरसे कोई वस्तु निकली, प्रतिबिम्बित हुई और जब बाहरकी वस्तु गयी, तो चली गयी, शीशेमें उसका कुछ भी ग्रहण नहीं हुआ। तो शीशा तो नियत रूपमें ही रहता है, बाहरकी कितनी वस्तुओंकी प्रतिच्छाया उसपर पड़ती है, उसमें प्रतिच्छवि पड़ती है और चली जाती है। आप देखो रास्तेमें पैदल या मोटरसे चलते रहते हैं कितनी चीज़ें आपकी आँखोंके सामने आती हैं, परन्तु उनके चले जानेपर भी वे मनमें थोड़ी देर दिखती रहती हैं। आँख बन्द करो तब भी दिखती हैं। तो आपके मनमें उनकी जो प्रतिच्छवि पड़ती है, वह अपना संस्कार छोड़कर न जाये, मानस आपका ज्यों-का-त्यों रहे। वस्तु आवे और जाये भले, पर वह अपना स्थान न छोड़े। सच्ची बात तो यह है कि आपकी आँख जहाँ-की-तहाँ रहती है और आपका हृदय गोलक भी जहाँ-का-तहाँ रहता है, और वस्तुएँ आती हैं और जाती हैं। जब मनुष्य यह मान लेता है कि ये वस्तुएँ हमारे हृदयमें घुस गयीं, तो यह बुद्धिका भ्रम है और जब वह मानता है कि हमारा हृदय यहाँ कलेजेमें-से उठकर उस वस्तुमें चला गया तो वह भी भ्रम है। न तो हृदय अपना स्थान छोड़कर विषयमें जाता है और न तो विषय अपना स्थान छोड़कर हृदयमें आता है। एक जो ज्ञानमें ही तादृक् प्रत्ययका..

आकार दिखता है उसीको सच्चा समझकरके मनुष्य फँस जाता है। तो आप अपने मानसके सच्चे स्वरूपको देखनेके लिए '**नियतमानसः**'। कोई भी विषय आवे, और कोई भी जाये और आपका जो मानस दर्पण है वह ज्यों-का-त्यों रहे—**नियतमानसः**। न रागका उदय हो और न द्वेषका, न घृणाका, वह ज्यों-का-त्यों रहे। जो जब मन बिलकुल शीशेकी तरह स्वच्छ निर्मल हो जाता है और बाहरकी वस्तुओंका संस्कार ग्रहण नहीं करता है। अच्छा कहो पहलेसे कई चीजें बैठी हुई हैं, जिनकी भीतरसे याद आती है, असलमें वे चीज़ें भीतर नहीं हैं, वे भी एकदम स्वप्नवत् आती हैं, इनसे आपके ज्ञानात्मक अन्तःकरणपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वह ज़ो संस्कार है या वासना है वह भी जड़ द्रव्यात्मक अन्तःकरणमें ही है, साक्षी स्वयंप्रकाश चैतन्यसे अभिन्न जो आपका अन्तःकरण है उसमें वह भी नहीं है। यह कहनेका जो अभिप्राय है वह मैं सुनाता हूँ आपको।

नियतमानसः योगी भवति। योगी एवं सदात्मानं युञ्जन्। सदा युञ्जन्, युञ्जानः। सन् सतं आत्मानं युञ्जन्। सद् आत्मा सन् सदात्मा युञ्जन्।

कर्त्ता भोक्ताके रूपमें नहीं, सन्मात्र आत्माका योग करो। आत्मानं युञ्जानःका क्या अर्थ है? ***आत्मानं न युञ्जीत इत्यथः***। अपने आपसे मिलो, अपने आपसे जुड़ो, इसका अर्थ है कि दूसरेसे मत मिलो, दूसरेसे मत जुड़ो। केवल इतना ही अर्थ है। नहीं तो अपना आपा कहीं बिछुड़ा हुआ तो है नहीं कि उससे जाकर मिलें। और यह आत्मा कैसा है? अच्छा, कहो केवल आत्मा कैसा है! क्षणिक विज्ञानकी प्राप्ति हो जायेगी। अच्छा, केवल सत् कहते हैं तो आत्मा भी कोई जड़ द्रव्य है *अस्ति घटः*की तरह! नहीं, घटकी तरह केवल सत्ता नहीं है और क्षणिक प्रत्ययके समान यह आत्मा भी कोई क्षण विध्वंशी ज्ञान नहीं है। सत् कहनेसे इसका क्षण विध्वंस कट गया और आत्मा कहनेसे इसकी जड़ता कट गयी, तो वह ज्ञानस्वरूप अखण्ड सत्ता है, अपने स्वरूपमें बैठो अर्थात् दूसरेमें मत बैठो, दूसरेसे तादात्म्य मत करो।

अब आपको हम फिर दूसरी ओर खींचते हैं भला! भगवान् कहते हैं कि—**मत्संस्थामधिगच्छति,** मुझमें जो शान्ति मिलती रहती है वह शान्ति उसको मिलती है। किसको? आत्मयोगीको। आत्मयुञ्जानको वह शान्ति

मिलती है जो मुझमें होती है। तो आप दो बात देखो, एक तो वह शान्ति कैसी है, उसका स्वरूप बताया '**निर्वाणपरमां**', दूसरे वह शान्ति मुझमें स्थित है। अब वेदान्ती कोई होय तो वह पहली तलवार यह चलावेगा कि बैठे तो कोई आत्मामें और शान्ति मिले परमात्मामें रहनेवाली, तो यह कैसे हो सकता है। अपनेमें बैठेंगे तो अपनेमें रहनेवाली शान्ति मिलेगी और परमात्मामें बैठेंगे तो परमात्ममें रहनेवाली शान्ति मिलेगी। ये कहते हैं कि अपनेमें तुम बैठो और शान्ति मिलेगी परमात्मामें रहनेवाली—**मत्संस्थामधिगच्छति**। तो थोड़ी-सी अकल लगानेके बाद यह बात निकलेगी कि जो आत्मा है सो परमात्मा है। जब हम अपने स्वरूपमें बैठेंगे और परमात्मामें रहनेवाली शान्ति मिलेगी? तो आत्मा और परमात्मा यदि एक नहीं होगा तो आत्मामें बैठनेसे परमात्मामें रहने वाली शान्ति कैसे मिलेगी? तो सिद्धान्ततः आत्मा और परमात्माकी एकता अभिप्रेत है। तो बोले—भाई यदि तुम देहाभिमानको छोड़ दोगे तो अजर-अमर हो जाओगे। भला छोड़ेंगे देहाभिमान, और हो जायेंगे अजर-अमर, यह कैसे होगा? इसलिए कि तुम अजर-अमर हो। यह तो देहाभिमान ही तुमको जरा और मृत्युसे युक्त बना रहा है। देहके साथ मैं जोड़ दिया और बुढ़ापावाले हो गये और मृत्युवाले हो गये। तो किसीको छोड़ोगे और मिल जायेगी दूसरी चीज़, कैसे मिलेगी? तो अपना आपा ही वह है, इसलिए ऐसा मिलता है।

अब जरा शान्तिकी बात देखो, आत्मा-परमात्मा; परमात्मामें रहनेवाली शान्ति, वह शान्ति कैसी है! उसका क्या विशेष आकार है जिसको हम शान्ति कहते हैं? शान्तिका भी कोई विशेष आकार होना चाहिए न, तो बोले विक्षेपसे विलक्षण है—यही तो बोलना पड़ेगा। जब मैं अभी काशी गया था तो वहाँ संस्कृत विश्व विद्यालयमें यह प्रश्न किया कि भक्तिका और मुक्तिका कहाँतक साहचर्य है! कहाँ जाकर भक्ति समाप्त हो जाती है और मुक्ति-ही-मुक्ति रहती है? मैंने कहा—बाबा, मुक्ति तो अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित आत्माका स्वरूप है और भक्ति अन्तःकरणमें प्रवाहित भगवदाकार वृत्ति है। तो जो अन्तःकरण और अन्तःकरणाभावसे उपलक्षित जो आत्मस्वरूप है, वह सत् चित् आनन्द अद्वय ब्रह्म है, वही मुक्ति है और भक्ति अन्तःकरणमें बहती हुई एक वृत्ति है। तो जब दोनोंमें समान सत्ताकत्व नहीं है, विषयसत्ताकत्व है, जबतक

अन्तःकरण रहे तबतक उसमें भक्ति बहती रहे और आत्मा तो अनन्त-अखण्ड-नित्य-मुक्तस्वरूप पहले ही था, अब भी है, आगे भी रहेगा, भक्तिके साथ उसकी छोड़छाड़ क्या है? रहने दो अन्तःकरणमें भक्तिको। अगर विरोध हो तो उसको निकालो।

अब देखो, यह जो शान्ति है, यह देखना है कि विक्षेपके विरुद्ध है कि नहीं। शान्तिके विरुद्ध विक्षेप और विक्षेपके विरुद्ध शान्ति। तो यह जो हमलोग आँख बन्द करके और पीठकी रीढ़ सीधी करके, प्राणायाम करके, धारणा, ध्यान करके जो एक उत्पाद्य शान्तिका अनुभव करते हैं, यह शान्ति अन्तःकरणकी एक अवस्था है और वह विक्षेपके विरुद्ध है और उस शान्तिके विरुद्ध विक्षेप है। माने उसका प्रतियोगी है। विक्षेपके अभावका नाम शान्ति है। और जब विक्षेपका उदय होगा तब शान्ति नहीं रहेगी, फिर बोले—बाबा जितनी देर समाधिमें बैठते हैं उतनी देर तो बड़ी शान्ति रहती है और जहाँ व्यवहारमें आये वहाँ शान्ति घास चरने चली गयी। तो यह जिस शान्ति और विक्षेपका परस्पर विरोध है, वह शान्ति यहाँ विवक्षित नहीं है। हम उस शान्तिकी चर्चा नहीं करना चाहते हैं। तो यहाँ कौन-सी शान्ति है? कि, **शान्तिं निर्वाणपरमां,** वह निर्वाणकी पराकाष्ठा है, ऐसा श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज कहते हैं और शंकराचार्यजी महाराज कहते हैं कि जिस शान्तिकी पराकाष्ठा निर्वाण है। समास भिन्न-भिन्न प्रकारसे करके, शान्तिकी परमावस्था, पराकाष्ठा, निर्वाणकी परमावस्था पराकाष्ठा, निर्वाण परमा है। और निर्वाण ही जिसका पारम्य है, पारमार्थिक रूप है वह शान्ति।

तो देखो आपको यह बात सुनाते हैं कि निर्वाण शब्दका अर्थ है बुझ जाना। तो अविद्याकी निवृत्ति, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, परिच्छिन्नत्व रूप अहंकारकी निवृत्ति, यह जो अपने स्वरूपमें आरोपित है उसकी निवृत्ति, वासनाकी निवृत्ति, वासनामूलक, माने अविद्या निवृत्तिपूर्वक तो क्या हुआ—**मत्संस्था,** अविद्या निवृत्तिसे उपलक्षित निर्वाण स्वरूप जो शान्ति अर्थात् अपना स्वरूप है, वह क्या है कि वह परमात्माका स्वरूप है और उसका अधिगम हो जाता है। बिना आत्मा और परमात्माकी एकताके बोधसे बैठें हम आत्मामें और शान्ति मिले परमात्मावाली, यह बात नहीं हो सकती, इसलिए

यह जो गीताका योग है, यह अन्तमें आत्मा और परमात्माकी एकतामें जाकरके ही समाप्त होता है। इसके लिए आप महावाक्य देख लो, छठें अध्यायमें बिलकुल महावाक्यका उपदेश है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ६.३०

यह है *तत्पदार्थ*, उसके लिए मैं अपरोक्ष हो जाता हूँ।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ ६.२९

यह *त्वं पदार्थ* है, आत्मा है, और—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थिता।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ६.३१

यह *असि पदार्थ* है। माने तीन श्लोकमें तत् पदार्थ, त्वं पदार्थ है और असि पदार्थ अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्यका उपदेश किया गया। वस्तुतः तत्त्वतः परमार्थतः यह आत्मा परमात्मस्वरूप है। इसलिए जब हम अपने आत्मामें अवस्थित होते हैं, तब परमात्मामें अवस्थित होते हैं! और जब परमात्मामें अवस्थित होते हैं तो निर्वाणपरमा, जो परमात्मानिष्ठ शान्ति है, वह हमारी शान्ति हो जाती है।

अब यह परमात्मामें स्थितिका वर्णन, इसलिए सम्भव है किसीको समझमें आया हो, किसी को न आया हो, हम तो समझते हैं कि महाराज सब आप परमात्माके स्वरूप हैं, किसीकी समझमें यदि न भी आता हो, तब भी वह परमात्मा ही है, क्योंकि असलमें जो असली चीज है वह समझमें आने और न आनेकी भी अपेक्षा नहीं रखती है, वह तो ज्यों-की-त्यों है, असंग है। वह तो ***अविदिषो देवो नैनं भुमक्ति***—अगर नहीं समझोगे तो तुम्हारे दुःखकी निवृत्ति नहीं होगी, और समझ लोगे तो तुम्हारे दुःखकी निवृत्ति हो जायेगी। परन्तु समझो चाहे नहीं समझो, जो सच्ची है सो तो सच्ची है। अगर दुःख मिटाना हो तो समझनेकी कोशिश करो—***न चेदिहावेदी महती विनष्टिः।***

यदि नहीं समझोगे तो विनाश है।

अच्छाजी, तो फिर यह योग कैसे किया जाये, यह प्रश्न उठता है, तो

योगकी पहले प्रणाली बतायी कि भाई दूसरोंसे तो खूब मिलते हो, जरा अपनेसे भी तो मिलो न!

एक बार हम मथुरासे बैठे गाड़ीमें, तो बम्बईके एक सेठ मिल गये। गाड़ीमें भी परिचय हो जाता है न कभी-कभी। तो उन्होंने कहा—स्वामीजी मैं सत्संग तो खूब करता हूँ, भजन भी खूब करता हूँ, पर घरमें हमारी स्त्री भी नाराज होती है हमसे, पुत्र भी नाराज होता है कि आप सत्संगमें मत जाओ, तो घरमें यह बड़ा एक विक्षेप होता है, तो यह कैसे दूर हो? मैंने उनसे पूछा कि तुम कै घण्टे भजन करते हो? तो बोले—घण्टे भर भजनमें बैठते हैं। सत्संगमें कितना समय जाता है? बोले दो घण्टे। कि कारखानेमें कितना समय जाता है? तो कोई आठ घण्टेके करीब कारखानेके काममें लग जाते हैं। मैंने कहा—अपनी पत्नीके पास बैठकर कितनी देर बातचीत करते हो? अपने पुत्रको बैठाकर कुशल-मंगल, सुख-दुःख कितना पूछते हो? बोले कि सो तो स्वामीजी समय नहीं मिलता। मैंने कहा—बस इसीसे नाराज हैं। तुम घण्टा-दो घण्टे अपनी पत्नी और पुत्रके साथ भी बैठो, उनके भी सुखदुःखको, उनकी समस्याको समझो। दूर करने लायक हो तो जैसे कारखाना चलाते हो वैसे घरको चलानेमें भी थोड़ी बुद्धि लगाओ। तो देखो, तुम्हारे घरमें कोई विक्षेप नहीं होगा। जब लोग समझते हैं कि तुम तो सत्संगमें जाकर पत्नीके, पुत्रके उपेक्षक होते जा रहे हो, उनसे उदासीन होते जा रहे हो, तब उनके मनमें डर लगता है, पति सोचता है कि पत्नी सत्संगमें न जाये, पत्नी कहती है पति न जाये, तो नारायण, बात हमको क्या करनी है कि आप और सबसे तो मिलते हो, परन्तु अपने पुत्रसे नहीं मिलते, तो पुत्र आपका विरोधी हो जायेगा, आप और सबसे तो मिलते हो पर पत्नीसे नहीं मिलते हो तो पत्नी आपके विरुद्ध हो जायेगी। यह उपनिषद् है—

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद।
क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद।
लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद।
सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेद।

बृहदा० २.४.६

इस श्रुतिका अर्थ है कि जब तुम किसीको अपनेसे अलग समझोगे, तो जब तुम पत्नीसे नहीं मिलते तो पत्नी विरुद्ध, पुत्रसे नहीं मिलते तो पुत्र विरुद्ध और जब अपनेसे नहीं मिलते हो, तब तुम्हारा अपना आपा ही तुम्हारे विरुद्ध हो जाता है।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेत आत्मैव शत्रुवत्। ६.६

जब तुम अपने आपसे नहीं मिलते हो, हमेशा दूसरेसे—अन्तःकरणसे मिले रहे, इन्द्रियोंसे मिले हो, देहसे मिले हो, दुनियादारीसे मिले हो, लेकिन अपने आपसे नहीं मिले, जो सबसे नज़दीक था; तुमने सिनेमा तो बहुत देखा आँखसे, लेकिन आँखको ठंडी रखनेवाली दवा क्या कभी डाली ? कभी उसमें, जिससे उसमें मैल नहीं बैठे, उसकी भी सार-सँभाल की ? आँखकी तो सार-सँभाल नहीं की, पर सिनेमा देखे। दूसरोंसे तो रागद्वेष बहुत किया, लेकिन अन्तःकरणकी सार-सँभाल नहीं की। दूसरोंसे तो मुहब्बत और दुश्मनी बहुत की, लेकिन अपनी ओर ध्यान नहीं दिया। तो,

युञ्जनेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः। ६.१५

जरा अपनी ओर भी ध्यान दीजिये कि आप कौन हैं ! तब क्या होगा ? जब आप अपनेको देखेंगे, जहाँ आप अपनेको देखेंगे, और ठीक-ठीक देखेंगे; हमको याद है, हम लघुकौमुदी पढ़नेकी लिए काँखमें बस्ता दबाये जा रहे थे पण्डितजीके घर, हमारे साथ हो गये ठाकुर साहब, प्रसिद्ध नारायण सिंह। तो बोले कि बाबाजी, जब घड़ेको लेकर हम चलते हैं, तो घड़ेमें जो पोल होती है, वह साथ-साथ चलती है, कि घड़ा चलता है और पोल जहाँ-की-तहाँ रहती है ! मैंने कहा कि घड़ेमें जैसे गुड़ लेकर चलें तो गुड़ घड़ेके साथ चलता है, जैसे पानी लेकर चलो तो पानी साथ चलता है, दूध लेकर चलें तो दूध साथ चलता है, पोल भी साथ ही साथ चलती है। तो बोले कि नहीं बाबाजी, ऐसा नहीं है, घड़ा चलता है और वह जो पोल है उसमें, अवकाश है वह तो आकाशात्मक है, आकाश की है, वह चलता नहीं है, वह तो जहाँ-का-तहाँ रहता है। हे भगवान्, यह जो है न घड़ा—पेट, घड़ेके सरीखा है कि नहीं गोल-गोल; देखो न, जैसे ऊपरका गला है, घड़ेका भी तो गला होता है, यह घट है। घट माने घटित है, गढ़ा हुआ है। इसके भीतर एक चिदाकाश है, तो यदि तुम इस शरीरके भीतर चिदाकाशको पहचान जाओ तो जैसे हमारे मुँहमें जीभके ऊपर और तालुके नीचे पोल रहती है

कि नहीं, जो पोल इस मुँहके भीतर है, वही पोल यह भारतीय विद्या भवनके हालमें है कि नहीं ? एक ही पोल हैं दोनों। जब हम इसको पहचानते नहीं हैं ठीक-ठीक, तो मालूम पड़ता है कि मुँहके भीतरवाला आकाश लिये-लिये फिरते हैं और भारतीय विद्या भवनका आकाश यहीं रहता है, ऐसा लगता है। नहीं, आकाश तो जो भारतीय विद्या भवनका है, वही आकाश हमारे मनके भीतर है। इसी प्रकार जो चिदाकाश है, चेतनाकाश है, वह न हमारे शरीरके चलनेसे चलता है, न मनके चलनेसे चलता है, न अन्तःकरणके चलनेसे चलता है, बिलकुल एक है, अखण्ड है भला! और जो परमात्मा जैसा परमात्मा चिदाकाश, चेतनाकाश है शुद्ध, न पापी न पुण्यात्मा, न कर्त्ता न भोक्ता, न देश परिच्छिन्न, न काल परिच्छिन्न, न विषय परिच्छिन्न, अखण्ड, अद्वय बिलकुल वही अपना आत्मा है। तो फिर अपनेसे मिलना चाहिए न, इसलिए बैठे-बिठाये जरा, इसके लिए—**योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः**। अपनेको भी समय दो। थोड़ा पत्नीको दो, थोड़ा पुत्रको दो। थोड़ा धनको दो, थोड़ा पड़ोसीको दो, थोड़ा मित्रको दो। थोडा-सा समय तो अपने लिए भी दो, सब कुछ जान लिया और अपने आपको नहीं जाना तो क्या जाना ? दूरबीनसे दुनिया देखली, खुर्दबीनसे दुनिया देख ली, पर यह खुर्दबीन दुनियाको कितना गुणा करके दिखाता है या कितना कम करके दिखाता है, खुर्दबीनके स्वरूपको नहीं समझा, दूरबीनके स्वरूपको नहीं समझा, तो जो उससे दिखायी पड़ेगा वह तो मशीनके प्रभावसे प्रभावित दिखायी पड़ेगा न, उसका सच्चा स्वरूप नहीं दिखेगा। तो आपके यह जो शरीरमें दूरबीन, खुर्दबीन जो मशीन लगी है, जरा मशीनसे अलग करके देखो यह दुनिया क्या है, सब मशीनका खिलवाड़ है। यह यन्त्रका खिलवाड़ है। अपने आपको देखो। इसीको बोलते हैं—**न चेदिहावेदी महती विनष्टिः** यदि इस जीवनमें अपने आपको नहीं देखोगे, तो अपने आपको नहीं पहचानोगे, तो बहुत खो दिया, बहुत बड़ी वस्तु खो दी, सबको पहचान लिया और अपने आपको ही नहीं पहचाना। तो बोले पहचाननेके लिए थोड़े-से आहार-विहारके नियम होते हैं, उनपर भी दृष्टि डालनी चाहिए। क्या ?

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥

ये श्लोक जो अनुष्टुप् छन्दके बोले जाते हैं, एक बार सोलह-सत्रह बरसका था, तो स्वर्गाश्रममें गया, वहाँ एक स्वामी चिदात्मानन्दजी थे, उन्होंने कहा कि तुम 'हरे राम'का कीर्तन करवाओ, तो मैं बोलने लगा—

हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

अनुष्टुप् छन्दमें ऐसे ही बोल दिया। मैंने कीर्तन उससे पहले कभी राग सुरमें सुना ही नहीं था। और उन्होंने तो डाँटा कि कहीं कीर्तन ऐसे किया जाता है! अब गाकर उन्होंने बताया, ऐसे बोलो! मैंने कहा कि पाणिनीय शिक्षामें तो मना है—

गीति शीघ्री शिरःकम्पी यथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥

काशीका तो संस्कार, गाकर बोलनेका मना है। तो बोले कि नहीं, नहीं, वह धर्मके लिए मना होगा, हमारे भक्तिभावमें गाकर बोलनेका मना नहीं है।

तो आओ—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।

यदि आपको योग करना है, तो आत्मसंमित अन्न भोजन करना चाहिए। बिलकुल न भोजन छोड़ दें। ऐसा जो लोग करते हैं, एक बार एक महात्मा थे, उन्होंने नियम लिया एक दिनके बाद दूसरे दिन खाने लगे, फिर दूसरे दिनकी जगह तीसरे दिन खाने लगे, फिर चौथे दिन कर दिया, फिर पाँचवें दिन कर दिया, छः दिनतक कुछ न खायें। भगवान्का चरणामृत, केवल गंगाजल और

और और खूब चमत्कार होवे, परन्तु जो देवी-देवता कह जायें कि धर्मकी स्थापना ऐसे हो जायेगी, और ऐसे धर्मराज्य हो जायेगा, जो-जो कह दें, वे करते थे, तो वह कुछ न हो, सब-का-सब झूठ ही हो। न दुर्गाकी बात सच्ची निकले, न शिवकी बात सच्ची निकले, तो श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके पास रातमें, अंधेरेमें, ऊपरके कमरेमें वे आये बैठे, मुझसे भी बहुत प्रेम उन महात्माजीका था और बाबाका भी। तो उन्होंने सब अपने अनुभव सुनाये। स्वप्नमें दुर्गा यह हमको कहती हैं, हमने एक लाख पाठ करवाया और यह करवाया और इतनी आहुति करवायी, ऐसे भूखे रहे और यह तपस्या की, और दुर्गा ऐसे बोलती हैं, प्रत्यक्ष मालूम पड़ता है कि बोलती हैं, प्रगट होकर बोलती हैं, सपनेमें बोलती हैं। तो महाराजजीने उनको तब बताया कि तुम अपने अनुष्ठानको ऐसे मत करो, ऐसे करो, यह बिलकुल खाना-पीना छोड़कर करना ठीक नहीं है, थोड़ा-थोड़ा भोजन प्रतिदिन लेने लगे। उनको तो ऐसे बताया और उनका समाधान कर दिया कि ऐसे करना चाहिए। अब जब वे चले गये, तो हमसे क्या बोलते हैं! पूछा कि यह क्या बात है महाराज, देवताकी बात झूठी क्यों होती है? तो बोले देवता-एवता नहीं बोलता है, यह जो नहीं खाते हैं, इससे दिमागमें गरमी चढ़ गयी है और वह दिमागकी जो गरमी है वही देवता बनकर आती है और वह बोलती है। यह उनकी सारी सिद्धि सारा चमत्कार जो है वह न खानेसे शरीरमें जो गर्मी पैदा हो गयी है, उसका है भला! अब इसीसे कोई धर्म-स्थापन नहीं हुआ उस समय। यह तो हम बीस-पच्चीस बरस पहलेकी बात आपको बता रहे हैं। बाईस बरस तो श्रीउड़ियाबाबाजीका शरीर पूरा हुए हो गया। तो अब यह जो लोग समझते हैं, कि ईश्वर पर हमारी जिद चलती है, तो ईश्वर तो बिलकुल मुस्कुराता रहता है। कभी उसके मनमें कोई अनुग्रहका भाव हो, वैसे तो ईश्वरके अपना मन नहीं माना जाता है शास्त्रके अनुसार, क्योंकि कार्योपाधिक तो जीव होता है, मनवाला, संकल्पवाला, अन्तःकरणवाला जीव होता है। अन्तःकरण भी कार्य है और ईश्वर कारणोपाधिक है! तो कारण जो माया है, उस मायामें तो कार्य है ही नहीं, कार्य न होनेसे संकल्प भी नहीं है, तो ईश्वरका खुदका तो कोई संकल्प होता ही नहीं है। वह तो कारणोपाधिक है। बल्कि वाचस्पति मिश्रका तो ऐसा

कहना है कि अन्तःकरणोपाधिक जीव है, अन्तःकरणाभावोपाधिक ईश्वर है, और भावाभावोपाधिक विनिर्मुक्त निरुपाधिक ब्रह्म है और ब्रह्ममें उपाधियाँ सब-की-सब मिथ्या हैं। अनिवर्चनीय हैं। तो अब ऐसी स्थितिमें, इसलिए आपको यह घटना सुनायी, बात सुनायी कि जो लोग सोचते हैं कि हम भूखे रहकर ईश्वरको प्राप्त कर लेंगे या साँस रोक करके ईश्वरको प्राप्त कर लेंगे; ध्रुवने प्राणायाम किया, परन्तु वहाँ प्राणायामका ऐसा वर्णन है कि समग्र विश्वके साथ ध्रुवका तादात्म्य हो गया, जब विराट्के साथ ध्रुवका तादात्म्य हुआ तब हिरण्यगर्भका आसन डोल-सा गया और हिरण्यगर्भने प्रार्थना की और नारायणका आविर्भाव हुआ, अन्तर्यामी नारायणका—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

श्रीमद्भागवत ४.९.६

प्रादुर्भाव हुआ।

तो हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि योगमें अधिक खानेसे भी योग बिगड़ जाता है और बिलकुल न खानेसे भी योग बिगड़ जाता है। आत्मसंमित अन्न चाहिए।

अब वैसे संस्कृत भाषामें अन्नका बड़ा विलक्षण अर्थ है। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज अन्नका दूसरा अर्थ करते हैं और शंकराचार्य भगवान् अन्नका दूसरा अर्थ करते हैं। तो ऐसा आप समझो जैसे कोई तीन घण्टा सिनेमामें जाकर बैठ जाये और आँख खुली रखकर पर्देपर नजर लगाये रखे और वहाँका दृश्य देखता रहे तो उसकी आँखकी ऐसी स्थिति हो जायेगी कि वह योगाभ्यास नहीं कर सकता। क्यों नहीं कर सकता? कि उसने अपनी आँखके द्वारा अध्यशन किया, अति भोजन किया, नेत्रके द्वारा उसने अतिभोजन किया। ऐसे कानके द्वारा भी अतिभोजन होता है, नाकके द्वारा भी अतिभोजन होता है, त्वचाके द्वारा भी अतिभोजन होता है, और जिह्वाके द्वारा भी अतिभोजन होता है। शतपत ब्राह्मणमें यह श्रुति आती है कि—

यदुह वा आत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति,
यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति।

जो आत्मसंमित, अपने अनुकूल जो अन्न होता है। संमितका अर्थ भी है, आप जो भोजन करते हैं, अन्नके बारमें दो चार बात सुनाता हूँ। अन्न ऐसा होना चाहिए कि जब आप भोजन करने बैठें तो उसकी सुगन्धसे, नासिकामें जो उसकी गन्ध पहुँचे, उससे भोजनकी रुचि बढ़े, रोचना आवे। सौरभ्य चाहिए भोजनमें और आपके अनुकूल सौरभ्य चाहिए। ऐसी गन्ध आ जाये जैसी चीज आप सेवन करते हैं, खाने बैठे, मछली नहीं खाता है आदमी, और मछलीकी गन्ध आ गयी, या प्याज़-लहसुन नहीं खाता है, प्याज-लहसुनकी गन्ध आ गयी या पनालेसे जैसी गन्ध आती है ऐसी गन्ध भोजनमेंसे निकल आयी, तो वह भोजन आपको हानि पहुँचावेगा। तो पहली शर्त यह है कि भोजनमेंसे गन्ध अच्छी निकलनी चाहिए। दूसरी शर्त यह है कि आँखसे देखनेपर बिलकुल प्रीतिकर होना चाहिए। इतना स्वच्छ, इतना पवित्र, इतनी सफाई उसमें होनी चाहिए कि देखकर आँखका पेट भर जाये, आँख प्रसन्न हो जाये। तीसरी बात उसमें यह होनी चाहिए कि स्वाद उसका अपनें लिए अनुकूल पड़े और चौथी बात यह कि वह शरीर और हृदयके लिए, मनके लिए उत्तेजक न हो और शरीरके लिए सुपाच्य हो—सौहित्य हो, सौरस्य हो, सौरभ्य हो, यह गुण भोजनमें होना चाहिए। और वह मात्रासे बिलकुल अधिक न हो। अति न हो—***आत्मसंमितमन्नं अति अत्यश्नम्, अति अतिक्रम्य अपीच्य अश्नीति इति अत्यश्नम्। तस्य अत्यश्नत योगो नास्ति।***

अब मात्राका अतिक्रम क्या है, वह भी आपको सुनाते हैं। संन्यासीके लिए आठ ग्रास भोजन सुनिश्चित है। जैसे आँवला होता है, आँवलेके बराबर आठ ग्रासका भोजन हो—

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भोक्ष्याः।

अच्छा, अब इसमें क्या बात है कि आप देख लो, जो लोग चान्द्रायण करते हैं न, प्रतिपदा, द्वितीया-तृतीया ऐसे ग्रास बढ़ाते जाते हैं पूर्णिमा तक और फिर एक-एक ग्रास कम करके अमावस्याको भूखे रह जाते हैं तो उनका जितना ग्रास हो जाता है—दो सौ चालीस ग्रास, उतने ही आठ ग्रास रोज

खाओगे तो दो सौ चालीस ग्रास महीने भरमें संन्यासीका भोजन होगा, तो इस भोजनकी संज्ञा ही 'यति चान्द्रायण' होगी।

इसी प्रकार, हमारे एक मित्र थे गृहस्थ, उन्होंने आजीवन सोलह ग्रास भोजन किया। जबसे उन्होंने होश सम्भाला तबसे, मरनेके दिनतक व्रत रहते थे। उस दिनकी बात दूसरी है, छोड़ देते थे, सोलह ग्रास खाया। परन्तु वह योगमें हो जाते थे।

अच्छा, अब एक तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंका आहार नियत होना चाहिए। दूसरे जो भोजन है सो भोजनके समय या तो आप मत खाइये, परन्तु यदि भोजन कीजिये तो उसकी निन्दा मत कीजिये।

अन्नं न परिचक्षीत। अन्नं ब्रह्म।

उपनिषद्‌में आता है अन्न ब्रह्म है, उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। जो अपने जीवनमें यह व्रत ले लेता है कि भोजनके समय जो भुज्यमान अन्न है, उसकी निन्दा नहीं करता है, उसको कभी अन्नकी कमी नहीं होती है। उपनिषद्‌में इस प्रकार अन्नका वर्णन आता है। मनुजीने कहा—*अद्यादन्नम् न कुत्सयन्।* भोजन कीजिये किन्तु भोजनकी निन्दा मत कीजिये। महाराज मैंने एकको देखा, उसके सामने आयी थाली, रोटी एक ओर कच्ची रह गयी थी, एक ओर जल गयी थी। असावधानीसे वह रोटी उनकी थालीमें आ गयी, वह बचा लेता, वह रोटी न देता उनको तो काम चल सकता था। पर जो श्रीमतीजीके सामने थाली आयी और देखा कि रोटी थोड़ी-सी जली हुई है, उठाकर चाँदीकी थाली महाराज, वह फेंका बाहर, तीन मंजिल नीचे जाके गिरी। टेढ़ी-मेढ़ी, अन्न कहाँ गया! अब कहाँ तो पहले चाँदीकी थालीमें उनके घरमें भोजन होता था। अब वह व्यक्ति जीवित हैं। अब उसको अन्नका कष्ट है भला, अब उसे खानेके लिए अन्न नहीं मिलता है, अन्न ब्रह्मका तिरस्कार नहीं करना चाहिए। अच्छा, तो ज्यादा खानेसे भी अन्न ब्रह्मका तिरस्कार होता है। क्यों? कि जब उसका पाचन नहीं होगा, तो वह अन्न मलावस्थाको प्राप्त हो जायगा। तो बिना पाचन किये ही अन्नको मलावस्थामें पहुँचा देना, यही अन्न ब्रह्मका तिरस्कार है।

अच्छा, और निन्दा करना भी अन्न ब्रह्मका तिरस्कार है और बिलकुल न खाना भी अन्न ब्रह्मका तिरस्कार है। इसलिए आत्मसंमित—जितना योगके

लिए उपयोगी है और उसमें भी जाति-दोष, निमित्तदोष, आश्रयदोषसे मुक्त हो करके। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजका मत है कि एक तो मांसादि जन्मना दुष्ट हैं, हमारे तो महाराज वृन्दावनमें एक सज्जनके पास डेढ़ दो सो गौएँ थीं। तो एकबार न जाने किसने शिकायत करदी, तो आये। अब महाराज गायोंकी जाँच हुई, तो उसमें-से कई गायोंको तो टी.वी. निकली। कई गायोंके दमा निकला, अब उनका जो दूध पीयेगा, उसके अन्दर भी तो रोग आवेगा न! तो जाति-दुष्ट भोजन नहीं होना चाहिए। दूसरे निमित्त दोष कोई प्राणी आकर उसको जूठा कर गया, उसमें कोई गन्दी चीज पड़ गयी, तो निमित्तदोष नहीं होना चाहिए। बर्तन स्वच्छ होना चाहिए। आश्रयदोष नहीं होना चाहिए। स्थानदोष नहीं होना चाहिए। पात्रदोष नहीं होना चाहिए और निर्माताको अशुद्ध नहीं होना चाहिए, कि रोता ही जाये महाराज, और टपाटप आँसू रोटीपर गिर गये। चलाते समय दालमें लार तो नहीं गिरी, लेकिन आँसू गिर गया भोजनपर। बनानेवाला उदास है। तो वह भोजन हितकारी नहीं होता!

अंच्छा और देखो, मनुजीने तो ऐसे लिखा है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचः परः स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्नामृद्वारिशुचिः शुचिः॥

अपने हकका होना चाहिए। दूसरेकी गाँठ काटकर उससे भोजन करोगे तो मन पवित्र नहीं होगा। मनको पवित्र करनेके लिए अन्नमें पवित्र कमाई की भी जरूरत है। उसका भी शोधन होता है। पहले बलिवैश्वदेव करनेकी जो प्रथा थी, अतिथिके लिए भी निकाल देना, पक्षीके लिए भी देना, पशुके लिए भी देना, अग्निके लिए भी देना, पितरके लिए भी देना। यह क्या है? कि यह अन्नकी शुद्धि है। तो शुद्ध अन्न करके अतिशय भोजन न करे। कितना करें? इसके लिए भी मात्रा आती है वेदशास्त्रमें।

पूरयेदशनेनार्धं त्वर्धं तोयेन पूरयेत्।
वायोः संचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्॥

भोजन करना चाहिए आधा पेट, उसका आधा पेट पानीसे भरना चाहिए। और एक चौथाई जो बच गया, साँस ठीक-ठीक चले, इसके लिए चौथा अंश बाकी रखना।

न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।

नींद ही नहीं लेते। बोले—हम तो योग ही करेंगे। दो-तीन दिनमें ऐसा योग हो जायगा कि सब छूट-छाट जायेगा। या तो दिमाग गरम हो जायगा, पागल हो जायेंगे। एक हमारे मित्र थे। मित्र इसलिए बोलता हूँ कि उस समय मैं अपने पितामहसे ही पढ़ता था। ज्योतिष, कर्मकाण्ड और वे भी हमारे यहाँ विद्यार्थीके रूपमें पढ़ते थे। तो जाकर उन्होंने हनुमानजीका मन्त्र-साधन किया कि हम एक ही दिनमें विद्वान् हो जायें, अब महाराज रातभर तो किया साधन और प्रातःकाल अग्नि प्रज्वलित करके जब होम करने लगे तो न जाने क्या देखा कि वे पागल हो गये। गये थे विद्वान् बननेके लिए और पागल बनकर लौटे। अब वे पागल होकर इधर-उधर घूमते, उनको मैंने देखा था।

तो नारायण नींद भी ठीक लेना चाहिए और जागना भी ठीक चाहिए। तो यह क्या है असलमें कि हमें समत्व योगपर पहुँचना है—**योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।** इस योगका मूल है साम्य। खाने न खानेमें भी समता चाहिए—**नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः** स्वप्न और जाग्रत्‌में भी समता चाहिए। और **नात्युच्छ्रितं नातिनीचं** आसनमें भी समता चाहिए। आसनमें समता, भोजनमे समता, स्पप्न-जाग्रत्‌में समता, **समकायशिरोग्रीवं**—शरीरमें समता, तब मनमें समता लानेमें मदद मिलती है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥

कई लोग योग करने चलते हैं, वे सोचते हैं कि हम आसन कर लेंगे। बस इतना योग है। हम प्राणायाम कर लेंगे, बस इतना योग है। हम प्राणायाम कर लेंगे, बस इतना योग है, त्राटक कर लेंगे बस इतना योग है। आगे बढ़ते हैं तो नेति-धौति-वस्ति कर लेते हैं, बोले इतना ही योग है। बड़ा चमत्कार है। नीचेके रास्तेसे पानी खींच लेते हैं। दूध खींच लेते हैं। शहद खींच लेते हैं। वस्ति हो जाती है। ऊपरके रास्तेसे वह कपड़ा घुसेड़ते हैं शरीरके भीतर नेति धौति हो जाती है। लोग समझते हैं बड़ा भारी योग है। शरीरकी किसी खास क्रियाका नाम योग नहीं है। योगका अर्थ है अन्यसे जो हम एक हो गये हैं, मिल गये हैं, उनसे वियुक्त होकर अपने सिद्ध स्वरूपमें स्थित होना। अपने

आपमें बैठ जाना। तो इसके लिए थोड़ा खाना-पीना भी ठीक करना पड़ता है। **युक्ताहारविहारस्य**—जबलपुरमें एक डॉक्टर था। अभी है। बड़ा भारी डॉक्टर है। वहाँ बीमार पड़े थे। हमारे साथ शंकराचार्य जी थे, सन् बयालीसमें, तो उनकी चिकित्सा की थी उसने। उसने कहा कि स्वामीजी अन्न खाना तो कम कर दो और आपको पेटमें वजन रखनेकी आदत पड़ गयी है। अगर भरा नहीं रहेगा तो सन्तोष नहीं होगा। तो इतना साग खा लिया करो। कोई हर्ज नहीं है।

पर योग इस बातको भी बर्दाश्त नहीं करता है। वह डॉक्टरकी सलाहको योग नहीं मानता है। ***सव्यञ्जनस्यार्धम्***—अन्न भी खाओ और उसके साथ व्यंजन भी खाओ माने सब्जी भी हो। फल भी हो, धनिया-पुदीनाकी चटनी भी हो, तो वह भी चलेगी। नींबू भी चलेगा। लेकिन कुल मिलाकर आधा ही पेट होना चाहिए। आधा पेटसे ज्यादा नहीं होना चाहिए। सब्जीका, फलका वजन भी पेटमें आधे-से ज्यादा नहीं होना चाहिए। और फिर आधे-से-आधेमें पानी, और आधे-का-आधा खाली, जिससे साँस लेनेमें तकलीफ न हो।

लो अब योग तो भोजनपर ही आ गया। बिलकुल भोजन छोड़ दें तब भी योग नहीं होगा। और ज्यादा भोजन करें तब भी योग नहीं होगा। योग माने अपने मनको संतुलित रखनेका उपाय। देखो, यहाँ तो बताया जा रहा है—**योगो भवति दुःखहा**। तो शंकराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य दोनों जब दुःखहा शब्दकी व्याख्या करते हैं तब बोलते हैं कि ***सकलदुःखहा***—सब दुःखोंको मिटा देता है। इसका अर्थ है कि शरीरमें जो रोग आता है, उसको भी मिटा देगा और यह मनमें जो गुस्सा-उस्सा ज्यादा आता है, यह भी महाराज भूखे रहनेसे गर्मी चढ़ जाती है तो ज्यादा आता है। ज्यादा खा लेनेसे अपच जो होता है, तो उसका विकार भी अपच करता है। काम-क्रोध-लोभ ये अन्नके अपचसे भी होते हैं। ये काम, क्रोध, लोभ भी असलमें मनके अपच हैं। जैसे पेटमें अजीर्ण होता है, ऐसे मनमें जब गुस्सा नहीं पचा, तो फटाफट कहीं मुँहसे निकल पड़ा, कहीं चपत बनकर निकल पड़ा, कहेंगे अच्छा बच्चू तुमको समझ लेंगे, आज नहीं कल सही, यह जो गुस्सा आता है, असलमें मनका अपच ही है। यह जो काम है यह भी मनका अपच है। लोभ भी मनका अपच ही है। और यह जो मोह है मनमें बहुत, यह भी मनका अपच है। तो भोजनके साथ

इनका सम्बन्ध है। तो योग करनेका एक अर्थ यह भी है कि भोजन अपना सन्तुलित हो। तो शरीर सन्तुलित होगा और शरीर सन्तुलित होनेसे मन सन्तुलित होगा।

अच्छा अब **विहार**। विहारका अर्थ है पादक्रम, पाँवसे चलना। क्योंकि **ब्रह्मचारिव्रते स्थितः** पहले कह चुके हैं, तो उधर जानेकी जरूरत नहीं है। तो '*योजनात् न परं गच्छेत्*' पैदल चलना हो तो चार कोससे ज्यादा नहीं चलना चाहिए। बिलकुल न चलनेसे तो आदमी आलसी हो जाता है। तो उसमें तमोगुण आ जाता है और ज्यादा चलनेसे थकान आ जाती है। उसके बाद श्रान्तिसे फिर तमोगुण आ जाता हैं। आलस्य तमोगुण है और श्रान्तिजन्य विस्मृति भी तमोगुण ही है। तो काम न करना तो तमोगुण है ही, क्योंकि निकम्मेपनसे शरीरमें जो विकार होते हैं, वे काम करनेसे पकते हैं। निकम्मे आदमीका मन शैतान हो जाता है। बैठे-बैठे यही सोचते रहते हैं कि क्या अकल लगावें कि हमको काम न करना पड़े और रुपया बरस पड़े। ये आलसी लोग जो हैं, आओ भाई जुआ खेलकर कमा लें। सट्टा करके कमा लें कि हे भगवान्! कहीं मकानमें गड़ा हो, तो वह निकल आवे, कहीं लाटरी लग जाये, यह सब निकम्मे लोगोंका काम है। यह—

'दैव दैव आलसी पुकारा'

भगवान्ने तुमको हाथ दिये, अकल दी, काम करना चाहिए। रोटी खाना चाहिए कपड़ा, पहनना चाहिए। एक दिनमें करोड़पति होनेका सपना क्यों देखना? तो **युक्ताहारविहारस्य**। आलसी भी नहीं होना और ज्यादा परिश्रम भी नहीं करना, उसमें भी समत्व चाहिए—आहारमें समता चाहिए, विहारमें समता चाहिए। यह समत्व-ही युक्ति है।

युक्तचेष्टस्य कर्मसु—कर्मका भी समय रखना चाहिए। देशके-स्थानके अनुरूप कर्म करना चाहिए।

अब महाराज, एक जने गये सभामें तो सभामें जाकर वहाँसे यहाँ, यहाँसे वहाँ टहलने लगे। पूछा कि भाई, आये तो शिष्टोंकी सभामें, यहाँसे वहाँ, वहाँसे यहाँ क्यों फिर रहे हो? बोले—हमारा टहलनेका नियम है उसको पूरा कर रहे हैं। तो समयके अनुसार कर्म करना चाहिए। स्थानके अनुसार कर्म

करना चाहिए। अपनी शक्तिके अनुसार कर्म करना चाहिए। अपने वयके अनुसार कर्म करना चाहिए। ये जो बच्चे उपदेश करने लगते हैं, ऐसी आदत बिगड़ती है कि अपने माँ-बाप-दादा परदादाको भी उपदेश करते हैं कि पिताजी तुमको यह बात नहीं मालूम है हम बताते हैं, तुमको ऐसा करना चाहिए। हमारे गाँवमें ऐसे बोलते हैं—

'कहिआ सिआर जनमलैं!' माने गीदड़ कब पैदा हुए और बोले कि हमने जन्मभर में तो ऐसी बात देखी नहीं!

तो जरा अपनी उम्र देखनी चाहिए, शक्ति देखना चाहिए, स्थान देखना चाहिए, समय देखना चाहिए, और इस सम्बन्धमें हमारी स्थिति कहाँ है यह भी देखना चाहिए। जिससे बात कर रहे हैं उसकी पात्रता देखनी चाहिए। तो कर्ममें भी अपनी चेष्टा युक्तियुक्त होनी चाहिए। नहीं तो योग दुःखहा नहीं होगा। भले आसन करो, प्राणायाम करो। उपदेश करोगे अपने बड़े बूढ़ोंको तो अहंकार बढ़ेगा कि घटेगा? योग तो अहंकार घटानेके लिए है—**युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य**—अपने शरीरमें तो शक्ति है पाँच सेर उठानेकी और एक मन उठा लिया। एक आदमी हमारे गाँवमें था, जातिका बिन्द। वह महाराज साँस अपनी रोक लेता था और पत्थरका पटिया रखवाकर अपनी छातीपर और उसपर ऊखल रखवाता और उसपर ऊँचा रखवाता था और मूसलसे कुटवाता था। बचपनमें हमने देखा था। तो यह काम तो कर लेता वह! एकदिन उसने कहा कि मैं साँस रोकके हाथीका पाँव अपनी छातीपर रखवा लूँगा। जो हाथीने अपना एक ही पाँव रखा था, अब वह छाती हो गयी पिच और मुँहसे खून निकल गया और मर गया वह।

तो अपना कर्म, अपनी चेष्टा भी शक्तिको देखकर तब करना चाहिए। तो आहारमें समता, विहारमें समता, कर्ममें समता और जाग्रत् और स्वप्नमें समता। जाग्रत् और स्वप्नमें समता क्या है? तो इसके सम्बन्धमें पहले ही दिन तो शुरू नहीं करना चाहिए। धीरे-धीरे, योग जो है वह अभ्याससे ***शनैर्विद्या, शनैर्तपः*** विद्याका अभ्यास भी धीरे-धीरे करना चाहिए। हम पहले बचपनमें पढ़ते थे। हमको खूब याद है। हमारे पितामहसे ज्योतिष, कर्मकाण्ड पढ़नेके लिए दूर-दूरसे विद्यार्थी आते थे। बत्तीस-तैंतीस विद्यार्थी पढ़ते थे। मैं भी था

एक विद्यार्थी। तो महाराज और विद्यार्थी जितना कंठस्थ करते थे, मैं कहतां मैं पीछे कैसे रहूँगा! आगे बढ़ जाता। मैं तीस-बत्तीस श्लोक रोज नये कंठस्थ करता था। मुहूर्त चिन्तामणि, मुहूर्त मार्तण्ड आदि। तो हमारे बाबाने एकदिन डाँटा, क्या हाउ-हाउ करते हो, जितनी जल्दी याद करोगे, उतनी जल्दी यह बादमें फिर भूल जायगा। इसलिए जब एक श्लोक याद हो जाये, तो माला लेकर एक सौ आठबार उसका जप करके तब अगला श्लोक पढ़ो। जल्दी-जल्दी करोगे तो टिकेगा कैसे ? किसी काममें हाउर-हाउर नहीं करना चाहिए। जल्दी-जल्दी नहीं करना चाहिए।

शनैः कन्था, शनैः पन्था शनैः पर्वतलंघनम्।
शनैर्भुक्तिः शनैर्मुक्तिः शनैर्विद्या शनैर्तपः॥

कंथा सीना हो तो धीरे-धीरे सीना, रास्तेमें चलना हो तो धीरे-धीरे चलना, दौड़कर धमाधम करके नहीं चलना। एक गाँवका श्लोक है—

हाथ मोट पाँव मोट चलत चूतड़ थुलथुलम्।
डाँटि भोजन चापि निद्रा पंच मूरख लक्षणम्।

मोटे-मोटे तो हाथ पाँव हैं, नितम्ब थुलथुला है, डटकर खाते हैं और खूब सोते हैं। ये मूर्खके पाँच लक्षण हैं। तो,

युक्तस्वप्नावबोधस्य, इसके सम्बन्धमें ऐसा है कि रात्रिके चार भाग कर दो।

पहाड़ पार करना हो तो धीरे-धीरे करना, यह नहीं कि एक ही दिनमें पार कर जायेंगे। भोजन भी धीरे धीरे उसका स्वाद लेकर करना, कई लोग तो एक ग्रासको सोलहबार चबाते हैं जिससे वह बिलकुल पिस जाये और उसका जो सार-सार रस है, खाया भी थोड़ा जायेगा और मजा भी ज्यादा आवेगा और पचानेमें आँतोंको तकलीफ भी नहीं होगी, और बैठे महाराज, खासकर स्त्रियाँ ऐसा चाहती हैं कि खाते समय कोई देखे नहीं, वे उड़ा जाती हैं बिलकुल सड़ासड़। सपासप बिलकुल मुँहमें फेंका और पानी घूँट लिया। तो ऐसा नहीं करना चाहिए—**शनैर्भुक्तिः**। और खाटपर गये और पट्ट पड़ गये, ऐसे नहीं धीरेसे बैठे, कहीं खाट टूट न जाये, टूटी हुई हो तो सम्भालकर बैठना चाहिए। ये पाँच काम धीरे-धीरे करना चाहिए। जल्दी-जल्दी नहीं करना चाहिए। झाड़-झूड़कर बैठना चाहिए, भले नौकरने अच्छा बिछाया हो।

तो **युक्तस्वप्नावबोधस्य**का क्या अर्थ है कि आप रात्रिके चार विभाग कर दो, पहला पहर, दूसरा पहर, तीसरा पहर और चौथा पहर। बिलकुल निशाचर बननेकी कोशिश न करें। यह जैसे प्रकृतिने एक दिन बनाया है प्रकाशमय सूर्य देवताको, यह काम करनेके लिए है और प्रकृतिने रात्रि बनायी है, ये चन्द्र देवता विश्रामके लिए है। पितृयान और देवयान दो मार्ग होते हैं, दक्षिण मार्ग और उत्तर मार्ग, जैसे प्रकृतिने दिन और रातका विभाग किया है, वैसे ही जीवनमें जाग्रत् और सुषुप्तिका विभाग है। यह प्रकृतिके द्वारा विश्रामके लिए निर्मित है। रात्रिके चार विभाग करो। तो बीचका जो दो भाग है रात्रिमें, दूसरा पहर और तीसरा पहर; दो तो हैं सोनेके लिए और आखिरी पहर परमात्माका चिन्तन करनेके लिए है—चतुर्थ प्रहर। और प्रथम प्रहर जो है, वह भोजन, विश्राम, मनोरंजनके लिए है। उसमें थोड़ा हँसनेसे, थोड़ा विनोदसे, थोड़ा हास्यसे जो दिन भर कहीं डाँट सहनी पड़ती है तो वह सब विनोद करनेसे भूल जाता है। कोई कहते हैं तीन ही हिस्सा करना चाहिए रात्रिका, त्रियामा बोलते हैं, उसका अन्तिम जो तीसरा हिस्सा है उसमें भगवान्‌का भजन करो, दूसरेमें शयन करो और प्रथम जो है वह भोजनके लिए, विश्रामके लिए, विनोदके लिए,—

'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणाम्, निद्रया कलहेन वा।'

काव्य रसका आनन्द लेकर विद्वान् लोग अपना समय व्यतीत करते हैं और मूर्ख लोग व्यसनमें, कहीं जुआ खेलनेमें, शराब पीनेमें। निद्रामें, नहीं तो महाराज, चार जने इकट्ठे हुए और शास्त्रार्थ, ऐसे-ऐसे विषयमें मतभेद होता है. जिसका न अपने लिए कोई प्रयोजन न दूसरेके लिए कोई प्रयोजन। मतभेद भी हो तो किसी मतलबसे हो, कोई प्रयोजन हो तब उस मतभेदका अर्थ होता है। निष्प्रयोजन मतभेद। कटुता बढ़ जायेगी और फायदा कुछ नहीं होगा। तो काहेको मतभेद करना!

रज्जब रोष न कीजिये कोई कहे क्यों ही।
हँसके उत्तर दीजिये हाँ बाबा यों ही।

पर जब वह [illegible] जेबों से पैसा निकालने लगे तब रोक दो, उस समय

मतभेद हो जाये तो कोई हर्ज नहीं। लेकिन मुँहसे टुप्से कोई बात कह दे वह तो उसीके मुँहमें ज्यादा नुकसान करके आयी होगी, तुम अपने भीतर काहेको उसको लेते हो ? तो अपना मन मत बिगाड़ो—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

समयसे सो जाओ, समयसे जाग जाओ, विश्राम बिलकुल ठीक करो, अपनी जिन्दगी मत बिगाड़ो। एक नीतिकारने कहा है कि यदि नारायण भी ऐसा काम करेंगे—

कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणं बह्वाशिनं निष्ठुरभाषिणं च।
सूर्योदये चास्तमिते च शायिनं विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्॥

मैला, गन्दा कपड़ा पहनना, यदि नारायण पीताम्बर छोड़ दें बढ़िया और तिलक लगाना छोड़कर, वनमाला छोड़कर, मैला चीथड़ा पहनने लगें और वे तिलक न लगावें महाराज, राख ही पोत लें तो बोले—लक्ष्मीजी डर जायेंगी, बोले—वैसे नारायणके पास क्या रहना! तो *कुचैलिनं*-गन्दा कपड़ा मत पहनो और अपने मुँहमें दुर्गन्ध मत रखो, दाँतको, मुँहको बिलकुल साफ करके रखो, नहीं तो तुम्हारी पत्नी तुमसे परहेज करने लगेगी, लक्ष्मी नारायणसे परहेज़ करने लगेगी। और *बह्वाशिनं*—ज्यादा खाये तो लोग जरूर व्यंग्य किये बिना तो मानेंगे नहीं, और कोई निष्ठुर भाषण करे, हर समय कड़वा बोले, अरे बाबा कभी तो मीठा बोलो, कभी तो थोड़ा शहद मिलाओ और इधर देखो सूर्य आ रहे हैं तुम्हारे घरमें, इतने बड़े प्रकाशके महान् देवता, अपने हृदयमें नारायणको लेकर प्रकाशमयी किरणोंको फैलाते हुए सूर्य आ रहे हैं और तुम खर्र-खर्र कर रहे। अपने घरमें आये हुए नारायणयुक्त महापुरुषका तिरस्कार नहीं करना, उठकर नमस्कार करना चाहिए। प्रकाशका आदर, और जब घरसे जाने लगें, तब ? कि तब विदा भी करना चाहिए ना! यही नियम है। *आगतं स्वागतं कुर्यात् गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वियात्।*

आयें तो स्वागत करना चाहिए, जब जायें तो थोड़ी दूर जाकर पहुँचाना चाहिए। तो जाते समय भी और आते समय भी सूर्यको हाथसे अर्घ्य दो तो अच्छा, मनसे अर्घ्य दो, लेकिन मनका जो अर्घ्य है, यह कभी-कभी संसारी

लोग मन-मन जो बोलते हैं न, यह धोखा होता है। क्या धोखा होता है कि कुछ मन-वनका भाव तो बनता नहीं और वह *'हर्रे लगे ना फिटकरी, रंग चोखा आवे'* बोलते हैं, बड़ा श्रेष्ठ, मानसिक उपासना कर रहे हैं, बिना द्रव्यके, बिना वस्तुके भाव बनता नहीं, इसलिए हमारे धर्मशास्त्रका कहना है कि जल मिले तो जलका अर्घ्य दो और जल न मिले तो मिट्टीका अर्घ्य दो। बालूका अर्घ्य दो। कि क्यों बाबा? वस्तु क्यों मिलाना? अरे, उस मिट्टीमें भी तो कुछ न कुछ जल है, तभी तो कण है, जब वस्तु देंगे, एक फूल देकर प्रणाम करो, एक पत्ता देकर प्रणाम करो, एक इलायची रखकर प्रणाम करो, तो देखो, तुम्हारे मनमें संतोष होगा कि कुछ किया। नहीं तो वह ठनठनपाल जो है, इससे भाव नहीं बनता है। भाव बनानेके लिए चाहिए वस्तु, बिना वस्तुके संकल्प बनता ही नहीं है। और बिना संकल्पके कर्म फलप्रद होता ही नहीं—यह धर्मशास्त्रका पक्का सिद्धान्त है। बिना संकल्पके कर्म पूरा नहीं होता और बिना वस्तुके, बिना कर्मके संकल्पमें बल नहीं आता।

आओ देखो **युक्तस्वप्नावबोधस्य**। तब क्या होगा? कि **योगो भवति दुःखहा**। कि हम तो मन-ही-मन कर लेते हैं महाराज। कि तब तुम एक दिन मन-ही-मन खाकर रहो, नहीं तो मन-ही-मन कपड़ा पहन लिया करो। होगा सन्तोष? मन-ही-मन बाल सँवार लिया करो, मन ही मन तेल लगा लिया करो। क्योंकि वस्तुमें तुम्हारी महत्त्वबुद्धि है, क्रियामें महत्त्व बुद्धि है। जबतक वस्तुको और क्रियाको नहीं जोड़ोगे, तबतक मन-मनसे कोई काम नहीं बनेगा।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।

योग क्या करता है? कि दुःख मिटाता है। कौन-सा दुःख मिटाता है? दुःख सामान्य। उसका अर्थ है कि बाहरसे आनेवाले दुःख। असलमें दुःख बाहरसे नहीं आता। दुःख दो ही तरहका होता है। दुःख या तो भौतिक वस्तुके संयोग-वियोगसे, शरीरको कोई चोट पहँच जाये, या तो मनको कोई चोट पहुँच जाये। तो मनको चोट भौतिक वस्तुसे भी पहुँचती है, कभी बिजली गिरनेसे भी पहुँचती है। हमारा कर्मशास्त्र है, पूर्वमीमांसा जिसको बोलते हैं न, जैसे ब्रह्मशास्त्र है वेदान्त, वैसे धर्मशास्त्र है पूर्वमीमांसा, उसमें मूलमें ही दो मतभेद हैं, पंडित लोग इसको जानते होंगे कि मंत्रसे देवता उत्पन्न होकर यज्ञमें

ह्रविष्यको ग्रहण करता है कि कोई देवता सामान्य नामके कोई देवताकी जाति है ? तो इसपर कुमारिल्लभट्टका मत है कि देवता सामान्य है ही नहीं। केवल मन्त्रसे और कर्मसे देवता उत्पन्न होकरके होम लेता है। माने कर्म ही सब कुछ है, देवता कुछ नहीं। यह उसका अर्थ है। कर्म करोगे उसका फल पाओगे, कर्मसे उत्पन्न होकर अपूर्व तुमको फल देगा—यह है कुमारिल्लभट्टका मत। और प्रभाकर गुरुका मत है कि नहीं देवता सामान्य भी एक वस्तु है और वेदान्ती लोग इस विषयमें मानते हैं कि नहीं, देवता है और वह फलदानमें मदद करता है। शबरस्वामी और जैमिनीका भी यही मत है कि देवता है, वह गौण है। मुख्य क्या है ? कि मुख्य कर्म है। तो देवताका हाथ जोड़ लिया सातवें आसमानमेंसे, वह शुक्र हमारे लिए रुपयेकी वर्षा करेगा, शुक्र हमारा ब्याह कर देगा। तो ब्याह लड़कीसे होगा, उसका बाप करेगा। तो बुध हमारे व्यापारमें पैसा भेज देगा, व्यापार करोगे तब पैसा आवेगा। तो नारायण पौरुष करनेपर देवता भी मदद करते हैं और पौरुषहीनकी देवता मदद नहीं करते हैं। तो आध्यात्मिक, आधिदैविक, आदिभौतिक—तीन तरहके होते हैं ताप, इन तीनों प्रकारके दुःखोंको निवारण करता है योग, परन्तु योग सीखकर करना चाहिए—**योगो भवति दुःखहा।**

आप अपना दुःख मिटाना चाहते हैं ? असलमें देखो, डाक्टर लोग भी क्या करते हैं ! कभी-कभी जब शरीरमें बहुत पीड़ा होती है, तो हमारे मनको सुला देते हैं, यही तो दवा करते हैं न वे, कोई ऐसी दवा खिला देते हैं या रक्तमें कोई ऐसी दवा डाल देते हैं या सुँघा देते हैं, और क्या करते हैं, वे भी बेचारे हमारे मनकी दवा करते हैं, उस समय शरीरकी दवा नहीं करते हैं। देखते हैं कि शरीरमें बड़ी पीड़ा हो रही है तो हमारे मनकी ही तो दवा करते हैं न ! तो अन्तमें जहाँ शरीरकी दवा काम नहीं देती है वहाँ मनकी दवा काम देती है। यदि हम अपने मनको अभ्यास करके ऐसा बना लें कि उसके भीतर दुःख घुसने न पावे।

दुष्टं खं हृदयाकाशं यस्माद् तद् दुःखम्।

खं माने आकाश। कौन-सा आकाश ? कि जो शरीरके भीतर यहाँ कलेजेमें जो खोल है, जैसे कानमें खोल है, वह शब्दको पकड़ती है। कर्ण

शष्कुलीसे उपहित जो आकाश है, कर्ण छिद्रसे वह शब्दको ग्रहण करता है। इसी प्रकार हमारे हृदय छिद्रसे उपहित जो आकाश है—चित्ताकाश, वह दुःखको ग्रहण करता है, उसको ऐसा साफ स्वच्छ कर लो, कि वह दुःखको ग्रहण न करे। परन्तु उसको साफ करनेका तरीक़ा हँसिया-हथौड़ा नहीं है, उसको साफ करनेका तरीका योग है—

योगो भवति दुःखहा।
दुष्टानि खानि यस्मिन् तद् दुःखम्।
खानि इन्द्रियाणि, इन्द्रिय - छिद्राणि।

इन्द्रियोंके जो छेद हैं नाक, आँख, कान, मुँह, त्वचामें छेद हैं, ये जिससे दूषित हो जाते हैं, उसका नाम दुःख है। कैसा मुँह बिगड़ता है जब दुःख होता है, जरा कभी शीशा लेकर देखना, कि उस समय कैसी आँख बनती है, कैसा होंठ बनता है, कैसा गाल होता है। जिसको रोज़ सजाते-सँवारते हो जब दुःखी होते हो तो सब-का-सब चौपट। तो इसीको बोलते हैं दुःख। यह योगाभ्यास जो है वह हमारे शारीरिक, मानसिक, जितने प्रकारके दुःख हैं, सब दुःखोंको मिटानेकी एक विद्या है। सब दुःखोंको मिटानेकी एक कला है। यह आध्यात्मिक आर्ट है। कला है! यह ऐसी कला है कि जितना भी दुःख़ संसारमें होवे, परन्तु दुःख जरा भी तुमको छू न सके। बोले—बाबा, यह दुःख कब होता है?

अब आपको, एक होता है सम्प्रज्ञात, और एक होता है असम्प्रज्ञात। समाधिकी दो अवस्थाएँ होती हैं—

: १८ :

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥

कि भाई खाने-पीनेकी बहुत चर्चा कर दी, अब जरा गम्भीर बातको थोड़ा समझते हैं। सब बात बच्चोंके लिए ही नहीं होती है, उसको जो योगाभ्यास करते हैं, उसके लिए भी तो होती है न! कई लोग कहते हैं स्वामीजी कथामें ऐसी बात्त करने लगते हैं जो समझमें नहीं आती है। अब जो लोग बीस-बीस बरससे सत्संग कर रहे हैं उनकी भी तो खुराक होनी चाहिए न कुछ। जो आज ही आये हों नये-नये उनकी खुराक दूसरी है और जो बीस-बीस बरससे सत्संग कर रहे हैं जिनकी अकल बढ़ गयी है, उनकी खुराक दूसरी है तो—पहली बात लो, **निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो** अपना चित्त, यह चित्त क्या है? यह की तरहसे चित्त शब्द होता है, एक तो तकार हलन्त होता है न, चित्, वह तो चिन्मात्र ब्रह्म है। एक होता है चित, 'त' आधा नहीं पूरा। 'संचित कर्म'। चुना हुआ-इकट्ठा किया हुआ। और एक होता है चित्त-डबल त्त वाला। आधा त् वाला, पूरा त वाला और डिबल त (त्त) वाला। दो बल जिसमें द्विवल हैं। यह भी तो इठलाता हुआ बल खाता हुआ चलता है भाषामें।

चित्त क्या बोलते हैं! *चिति संज्ञाने* धातु है, तो घट संज्ञान, पट संज्ञान, मठ संज्ञान, स्त्री संज्ञान, पुरुष संज्ञान, सुख संज्ञान, दुःख संज्ञान, माने तरह-तरहकी जो चीजें हैं। क्या-क्या अबतक देखा है, घड़ा देखा है, कपड़ा देखा है, उसका एक ज्ञान बना। विशेष ज्ञान और उसकी परत-पर-परत, आप देखो, आपने कभी कलकत्ता देखा, कभी दिल्ली देखी, कभी हरिद्वार देखा, कभी नासिक देखा, कभी पूना देखा; कभी प्रियको देखा, कभी शत्रुको देखा, और उनको जो आप देखते हैं, उनके ज्ञानकी एक राशि, आपके हृदयमें इकट्ठी

होती जाती है, और वह समय-समयपर उभरकर निकलती है, जैसे घड़ेमें रखी हुई हो। तो वह जो ज्ञानका घड़ा है, जिसमें यह तरह-तरहके ज्ञान इकट्ठे करके रखे जाते हैं, संज्ञान बोलते हैं उनको। *चिति संज्ञाने,* तह-पर-तह, उसका नाम होता है चित।

अब महाराज, चित्तमें क्या होता है कि तरह-तरहकी चीजें भरती हैं। तो बोले—अच्छा, पहले इसको काम संकल्पसे रहित करो। हमने स्वामी रामतीर्थकी जो अट्ठाईस पुस्तकें एक साथ छपी थीं, लखनऊसे अट्ठाईस भागोंमें 'स्वामी राम तीर्थ पब्लिकेशन लीग' से छपी थीं, अब वह संस्था नहीं है। तो बचपनमें मैंने सब बाँची थीं। अच्छा, स्वामी विवेकानन्दकी बाँची थी। तो स्वामी रामतीर्थ इस बातपर बहुत जोर देते थे कि मनके साथ खटपट मत करो, केवल उनसे तटस्थ होकर उन्हें देखो। बचपनमें मैंने बहुत पढ़ा था और बहुत देखा था। यह देखो, यह मन है और इससे अलग होकर मैं देख रहा हूँ। उनका कहना था कि इतनेसे ही मन बेहोश होकर, मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। स्वामी विवेकानन्दजीका राजयोग पढ़ा था, भक्तियोग पढ़ा था। एक योगी रामाचार्यकी ग्रन्थमाला निकली थी, वे विलायत गये थे प्रचार करने, तो हमारे ठाकुर प्रसिद्ध नारायण सिंहने उनके हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग, राजयोग, सबका अनुवाद अंग्रेजीसे हिन्दीमें किया था, उन्हीं दिनोंमें प्रकाशित हुई थी, तो वह भी पढ़ा था। अब यह बचपनकी बात है। उस समय तो मालूम पड़ता था कि क्या अमृत है। अब मालूम पड़ता है कि संस्कृत भाषामें जिस वस्तुका निरूपण है, जिस गम्भीर तत्त्वका, उसके सामने तो यह कोई पासंगके बराबर भी नहीं है। जैसे कोई एक किलो सामान खरीदे और गाँवमें पहले घलुवा देनेका रिवाज़ था न कि घलुवा दे दो! महाराज लोग एक लीटर दूध लेते हैं तो एक चुल्लू और माँग लेते हैं। तो जैसे वह एक चुल्लू पीछेसे दिया जाता है न, उतना भी नहीं है, वह संस्कृत भाषामें जो योगका ज्ञानका रहस्य वर्णित है। **यदा विनियतं चित्तं**—यह जो चित्त है हमारा, तरह-तरहके ज्ञानोंकी राशि राशि, जिसमें तह-पर-तह दबाकर रखा हुआ है और यदि हम उसको खोलने लगें तो जिस दिन पैदा हुए थे उस दिन क्या था और माताके पेटमें क्या था और पेटमें आनेके पहले हम

कहाँ थे, वह भी बीचमें रखा है—*जन्म कथन्ता संबोधाः। अपरिग्रह स्थैर्य जन्म कथन्ता संबोधाः।* यदि उसको खोलकर देखने लगें तो हमारा जन्म इस योनिमें, इस घरमें क्यों हुआ है, इस बापके द्वारा, इस माँसे हमारा जन्म क्यों हुआ है, इसका भी पता चल जाये।

चित्त तरह-तरहकी जानकारियोंकी एक राशि है, एक ढेर है, तो इसको क्या करो? कि विशेषरूपसे नियत करो। एक जगह चाहे भावमें चाहे अभावमें, चाहे साकारमें चाहे निराकारमें, उसको स्थापित कर दो। अब, **निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो।** यह जब नहीं स्थापित कर पाते हैं तब आलम्बनकी जरूरत पड़ती है। यह सालम्बन, निरालम्बन—दो प्रकारका योग होता है। तो यह कहते हैं—**सर्वकामेभ्यो निःस्पृहः।** सम्पूर्ण काम और संकल्पसे निःस्पृह हो जाओ। यहाँ केवल भोग छोड़नेकी बात नहीं है। क्योंकि गीतामें काम और भोग दोनों शब्दोंका प्रयोग एक साथ भी आया है। **कामोपभोग परमा एतावदिति निश्चितः। (१६.११)**

काम अलग चीज़ है और भोग अलग चीज़ है। तो केवल उपभोग छोड़नेकी बात नहीं है, यहाँ काम छोड़नेकी बात है। ***कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।*** कामना सारथिका काम करती है, जहाँ चाहोगे वहाँ लेजाकर बैठा देगी। तो पहली बात यह कि कामनासे निःस्पृह हो जाओ, संसारमें कोई देश-काल-वस्तु-व्यक्ति प्राप्त करनेका संकल्प मत करो, कोई भी आकार चित्तमें मत आने दो और इस आकाररहित स्थितिको विनियत कर दो, विशेष रूपसे नियत कर दो। जहाँ-का-तहाँ, जब-का-तब, ज्यों-का-त्यों रहने दो। बोले—तब होगा क्या? एक बड़ी बढ़िया बात है, नास्तिक लोग इस बातको नहीं समझ सकते। हमने नास्तिकताका दर्शन किया है, साक्षात्कार किया है। आस्तिकता और नास्तिकता दोनों हाथ जोड़कर हमारे सामने खड़ी हुई हैं भला! ये दोनों बहन हैं, जैसे लक्ष्मी और दरिद्रा। एक ज्येष्ठा होती है, एक लक्ष्मी देवी। दोनों बहिन हैं न, ऐसे आस्तिकता और नास्तिकता दोनों बहन-बहन हैं भला! वही जो दरिद्रा, अलक्ष्मी, ज्येष्ठा है , उसीका नाम है नास्तिकता। और जो लक्ष्मी है, श्री है, उसका नाम है आस्तिकता। इन दोनोंको मैंने देखा है, दर्शन किया है। दोनोंका

अधिदैव रूप देखा है, दोनोंका ध्यात्मरूप देखा है। अब देखो, नास्तिकता-नास्तिकता लोग कहते हैं, हम कहते हैं आप अपने चित्तको जरा निराकार करके देखिये, कोई आकार नहीं। आकार न होनेका अर्थ कोई गुण नहीं, कोई रूप नहीं, कोई नाम नहीं। आप जरा इसका देखिये तो असर क्या होता है! एक बात मैं आपको सुनाता हूँ। भले आपके चित्तमें कोई आकार नहीं रहे, पर उस समय ***आत्माकारता किं दण्डवारिता भवति!*** उस समय चित्तकी आत्माकारताको क्या कोई डंडेसे मारकर खदेड़ सकता है? जब चित्त निराकार होगा तब आत्मासे अभिन्न होकर ही तो रहेगा न! अच्छा, कहो कि जब चित्त मर गया तो हम भी मर गये! तुम नहीं मर गये, उस मुर्दा चित्तको तुम देख रहे हो, वह निराकार चित्त तुमसे भिन्न रूपमें अपनेको नहीं दिखा रहा है।

आत्मन्येवावतिष्ठते। बल्कि जबतक अज्ञान है तबतक वह चित्त अपनेको न दिखा करके भी जिंदा ही रहता है। क्योंकि जब उठकर फिर खड़ा होता है, तो अपनी स्मृतियोंका जो भानुमतीका पिटारा है खोल देता है, मैय्या-गैय्या-छैय्या सब उसमें फिरसे निकल आते हैं। सब उसीमें रहते हैं और फिर सब-के-सब निकल आते हैं। परन्तु अज्ञान यदि निवृत्त हो गया है तो सबकुछ प्रतीत होते रहनेपर भी आत्माके सिवाय और कुछ नहीं रहता। तो यह जो—

निः स्पृहः सर्वकामेभ्यः सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित मुक्त-चित्त है, वह अपने आश्रय, अपने प्रकाशक, अपने अधिष्ठान स्वयं प्रकाश आत्मासे पृथक् नहीं होता, उस समय जो चित्त है, वह आत्मासे अभिन्न है, इसलिए—

युक्त इत्युच्यते तदा।

अब **आत्मन्येवावतिष्ठते** लो भला! यह क्या है? आप अभ्यास करने बैठते हो तो आप यह देखो कि आपका मन, समझो कि आप भारतीय विद्या भवनके हालमें बैठे हुए हो, तो आपका मन इस हालके बाहरकी चीजको सोचता है कि सिर्फ हालके भीतरकी चीजोंको ही सोचता है? पहले यह बात देखो। यह जो सभा मण्डप है, इसके बाहरकी बात सोच रहा है कि भीतरकी! छोड़ो मण्डपको, आपका यह जो साढ़े तीन हाथकी गुफा है इसके भीतरकी बात सोचता है कि बाहरकी? **आत्मन्येवावतिष्ठते।** छोड़ दो श्रीमतीजीको थोड़ी देर और श्रीमानजीको भी छोड़ दो। सबको छोड़कर यह देखो, कि

शरीरके बाहरकी कोई भी वस्तु न आवे। **आत्मनि**का अर्थ शरीर करो भला! अब इसके बाद देखो कि आपके मनमें मनके बाहरकी कोई चीज न आवे। आप अपनी मनोवृत्तियोंके बारेमें विचार करो, हड्डी, मांस, चामके बारेमें विचार मत करो, अन्नमय और प्राणमय दोनों कोशोंको छोड़कर, मनोवृत्तियाँ आपकी कैसी-कैसी हैं, उनके बारेमें देखो। उसके बाद वृत्तियाँ तो बहुत-सी हैं पर विज्ञान जो है, अहं एक है यह विचार करो। और उसके बाद अहं अहं अहं आपके शरीरमें अनेक हो रहा है और दूसरोंके शरीरमें भी अनेक हो रहा है, परन्तु सबमें जो एक चेतन अखण्ड प्रकाशक है, उसको देखो। आप अखण्ड चेतन प्रकाशकके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं हैं। और यह देश-काल-वस्तु तो चित्तवृत्तिके विकल्प हैं, इनकी तो कोई गिनती नहीं है, इनके बारेमें सोचनेकी जरूरत क्या है? तो यही जो चेतन अखण्ड है, जिसकी एक-एक किरणोंमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड प्रतीत होते हैं और मिट जाते हैं, यह जो आपका अखण्ड चेतन स्वरूप है—**आत्मन्येवावतिष्ठते** आपका चित्त इस अधिष्ठान स्वयं प्रकाश आत्मवस्तुसे पृथक् कोई कल्पना न करे।

देखो, अब आपकी असम्प्रज्ञात समाधि लगती है। सम्प्रज्ञात ऐसे चुटकीमें उड़ जायेगी, क्योंकि ध्याता और ध्येयका भेद जहाँ नहीं रहेगा, वहाँ सम्प्रज्ञात समाधि भी पहले स्थूल आलम्बन, शिला, जैसे नीलमका आलम्बन, स्थूलालम्बन, मनमें किसी मूर्तिका आलम्बन, सूक्ष्मालम्बन, फिर सुखाकार वृत्तिका आलम्बन, स्वाद उसके बाद केवल अस्मिताका आलम्बन और अस्मिता अहं अहं अहं, अस्मि-अस्मि-अस्मि, ये खण्ड-खण्ड हैं और उसमें केवल खण्डका आलम्बन और अखण्डताको तो कोई छूनेवाला ही नहीं है— **आत्मन्येवावतिष्ठते**। उस समय कहो कि चित्त शून्य हो गया? कि शून्य नहीं हो गया, वह तो अपने अधिष्ठान, अपने स्वयं प्रकाश, अपने प्रकाशकमें खो गया। इसलिए उस चित्तको आत्माकार बोलेंगे, उसको शून्य कभी बोला नहीं जा सकता। यदि शून्य हो जाता, तो फिर समाधिसे उठनेके बाद मैं-मेरा, तू-तेराकी याद ही नहीं आती और ज्ञान हो गया तो याद भी आती है तो बाधित है और ज्ञान नहीं हुआ तो फिर सच्चे रूपमें ही मैं-मेरा आ जाता है।

योगो भवति दुःखहा

योग दुःखोंका नाश कर देता है। योग शब्दका अर्थ ही योग्यताके अनुसार होता है। किसके साथ योग करना है, वैद्य लोग भी 'योग' शब्दका प्रयोग करते हैं। एक दवा दूसरी दवामें जब मिलाते हैं तो उसको योग ही कहते हैं। ये जो रसिक लोग हैं, वे योगका संयोग कर देते हैं। योगका वियोग कर देते हैं—'*योगः संहनोपाय संस्कार* में अनेक अर्थ बताये हैं।

यहाँ '*योगो भवति दुःखहा*' में योग किसका? किसके साथ किसका योग? कौन किससे मिलता है? **'योगी युञ्जीत सततं आत्मानं' युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः। आत्मानं युञ्जन्। आत्मानं युञ्जीत।** अपने आपके साथ अपने आपका योग अद्‌भुत है, यहाँ तो योग शब्दका धात्वर्थ बिलकुल ही काट देना पड़ेगा। बल्कि यहाँ अनेकार्थ धात्वर्थ करके यहाँ **युञ्जीत, युञ्जन** शब्दका अर्थ ज्ञान होगा। क्योंकि अपना अपनेसे योग ही नहीं है, तब अपना आनेसे योग कैसा? इसका अर्थ है कि अपनेमें वियोगकी दृष्टिसे योगकी कल्पना है और स्वरूप दृष्टिसे न योग है न वियोग है। यदि यह अर्थ नहीं निकलेगा तो **आत्मानं युञ्जीत, युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी युञ्जीत सततं आत्मानं रहसि स्थितः**, तब प्रश्न यह होगा कि यहाँ योगका अर्थ परमयोग है कि भक्तियोग है, कि अष्टांग योग है, कि ज्ञानयोग है, यहाँ योग शब्दका अर्थ क्या है? अरे बाबा, जिससे वियोग हो, उससे योग करो। जिससे वियोग ही नहीं है उसका योग क्या करना? तो यह बात समझनी पड़ती है **योगो भवति दुःखहा।**

अब आपको थोड़ी बात योगशास्त्रकी रीतिसे सुनाता हूँ। यह जो अपना आत्मा है जाग्रत्‌में जिसका नाम विश्वात्मा, मन और इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंसे तादात्म्य प्राप्त करके विषयोंका भोक्ता, स्वप्नमें जो अपने अन्तरमें ही कल्पित विषयोंका भोक्ता, सुषुप्तिमें जो सम्पूर्ण मन और इन्द्रियोंकी उपरामताका भोक्ता और तीनोंमें अनुसन्तत भोक्ता भोग्यके भावसे रहित तुरीय **आत्मानं युञ्जीत,** किस आत्माके साथ योग करना है! तो असलमें यह जो देहात्मा हो गये हैं न, यह देहात्माका तो करो वियोग, यह विश्वात्मा जो है यह देहात्मा नहीं है, वह तो जितना भूत भौतिक स्थूल प्रपंच है, विराट्‌से उसके साथ जो तादात्म्य है उसका नाम विश्वात्मा है। हिरण्यगर्भके साथ जो तादात्म्य है, उसका नाम तैजसात्मा है। ईश्वरके साथ जो तादात्म्य है उसका नाम प्रज्ञात्मा है और तीनों

उपाधिक औपाधिक उपाधि सम्बन्धीको छोड़कर जो अपना स्वरूप है वह तुरीय है और वह तुरीय देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न परिपूर्ण तत्त्व है, ब्रह्म है। तब **आत्मानं युञ्जीत**का अर्थ क्या होगा? बोले—भाई,

मेरा हीरा हेराय गयो कचरे में।

ये जो विषय हैं, इन्द्रियाँ हैं, अन्तःकरणकी वृत्तियाँ हैं, ये जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति हैं, यह जो कचरा है, अविद्याका कचरा है, मायाका कचरा, यह जो बरेलीका बाजार लगा हुआ है, इसमें अपने गुरुओंसे, शास्त्रसे, सम्प्रदायसे जो श्रवण किया हुआ, श्रवणभूषण, जो तत्त्व था वह गिर गया—

मोरा झुमका गिरा रे बरेलीके बाज़ार में।

हमने वेद-वेदान्तके तत्त्वको, रहस्यको बरेलीके बाजारमें खो दिया। **'आत्मानं युञ्जीत'**, अपने आप **'योगो भवति दुःखहा'** अपने आपसे मिलो।

तो कई लोग ऐसे असमर्थ होते हैं कि वे विषय-भोगको नहीं छोड़ सकते। और उनकी अहंता-ममता-मोह विषयमें लगा हुआ है। न्याय-अन्याय कैसे भी विषय-भोग करते हैं और फिर बोलते हैं कि हम समाधि लगा रहे हैं, हम द्रष्टाके स्वरूपमें स्थित हो रहे हैं। नावका जो लंगर है वह तो डाल दिया कीचड़में और बोले कि बस, हम इस नावपर चढ़कर समुद्र पार कर रहे हैं। तो जब लंगर गड़ा है कीचड़में घाटपर, तो नाव कहाँ जायेगी, कहाँ पार होगी, विषयोंकी ममता, विषयोंका मोह, विषयोंका राग, विषयोंका द्वेष, अपनी सम्पूर्ण वृत्तियोंको तो बाँध दिया विषयोंके साथ। नावकी रस्सी खूँटेमें बँधी हुई है, लंगरमें लगी हुई है, बोले—हम स्वरूपमें स्थित हो रहे हैं। अरे भाई, तुम अपनेको कि दूसरोंको धोखा देते हो? लोग सोचते हैं कि खूब विषय-भोग करते रहें, खूब धन-दौलत अपने पास रखे रहें, खूब कारखाने चलाते रहें, हमारे इसमें तो कोई बाधा पड़े नहीं और उधर योगियोंको जो मिलता है सो, उसके भी हम मालिक बन जायें, अभिमानी बन जायें, कितना बढ़िया होगा! तो ये त्यागहीन, वैराग्यहीन लोग जब आत्मस्थितिका दावा करते हैं, तब उपहासास्पद हो जाते हैं ***पराचः कामाननुयन्ति बालाः।*** ये बाहरके जो विषय-भोग हैं, इनके लिए बच्चे दौड़ते हैं। बादमें, ***अथो धीराः अमृतत्वं भजन्ते*** जो धीर पुरुष हैं वे संसारमें अनेक-अनेक विषयोंकी उपस्थिति होनेपर

भी *विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।* निर्विकार जो रहते हैं उनका नाम धीर है, उन्हें अमृतत्वकी प्राप्ति होती है।

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र। तो काम भी रखो। **निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः**—यह कहनेका अभिप्राय यह है कि पहले तो विषयकी बात देखो। फिर किसीका विषयके साथ बन्धन नहीं होता, परन्तु इन्द्रियोंके साथ बन्धन होता है—किसीका इन्द्रियोंके साथ भी बन्धन नहीं होता, मनके साथ बन्धन होता है। किसीका मनके साथ भी बन्धन नहीं होता है, किसीका अहंके साथ बन्धन होता है। तो अभिनिवेश, द्वेष, राग और अस्मिता इनसे छूट करके तब अपने स्वरूपमें बैठना होता है। इसके लिए दो प्रकारका वैराग्य अपेक्षित होता है, एक अपर वैराग्य और एक पर-वैराग्य। तो

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

जो कुछ देखा है, जो कुछ सुना है, दृष्टानुश्रविकमें जब हमलोग समाधिकी ओर बढ़नेकी कोशिश करते हैं तो आपका वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, कैलास—ये सब आनुश्रविक विषय हो जाता है। यह देखा हुआ नहीं है, केवल श्रुत है, सुना हुआ है। साम्राज्यादिका जो सुख-भोग है वह दृष्ट है और इन्द्रादिका जो सुख-भोग है वह आनुश्रविक है। दोनों प्रकारके विषय-भोगोंसे जब वैतृष्ण्य होता है, क्या महिमा है! कि इसका नाम वैराग्य हुआ? कि नहीं, इसका नाम अपर वैराग्य हुआ। यह तो उरला है, छोटा वैराग्य है। सम्राट्का भोग और इन्द्रादि-सुख विषयका भोग स्वर्गसे लेकर हिरण्यगर्भके भोगपर्यन्त। वही हिरण्यगर्भके ही अनेक भेद हैं। ये आनुश्रविक विषय हैं।

तत्परं पुरुषख्यातिर्गुणवैतृष्ण्यम्।

पर वैराग्य क्या है? ये महाराज तो तीन दिन आँख बन्द करके बैठाते हैं पाँच-पाँच मिनट, और कहते हैं मिल गया परमात्मा, हो गया द्रष्टा, हो गये साक्षी, लग गयी समाधि! हे भगवान् कहाँ ठगे गये, किसीको भूत-भभूत फेंकने लगता है, तो कहने लगते हैं बस, बस, हमारे घरमें ईश्वर आगया। कोई पितर-पिशाच यदि कुंकुम फेंक दे तो बोलेंगे—मिल गया ईश्वर, मिल गया ईश्वर। इसका नाम ईश्वर नहीं है। ये भूत-भभूत, ओझा सयाना, जिनके प्रेत-पिशाच-पितर सिद्ध हैं उनका नाम महात्मा नहीं होता है।

आओ फिर पर-वैराग्यकी बात करें। **योगो भवति दुःखहा।** योगका अर्थ है अनात्म वियोगपूर्वक आत्मामें स्थिति।

अभी एक प्रश्न बाकी है कि क्या अनात्माका संयोग वास्तविक है? तो वेदान्त उसका समाधान करता है। पर **योगो भवति दुःखहा** का अर्थ यह है ***'तत्परं पुरुषख्यातिर्गुणवैतृष्ण्यम्'***—अपने स्वरूपकी जब ख्याति हो, माने तत्त्वान्यथाख्याति हो, मैं अन्तःकरणसे पृथक् हूँ, अन्तःकरणके साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। कोई रिश्ता नाता, उल्टा-पल्टा, बादरायण सम्बन्ध भी नहीं है। बादरायण सम्बन्ध आप जानते हैं न, रिश्तेदारी कैसे जोड़ते हैं लोग! एक सज्जन किसीके घरमें घुस गये, उन्होंने पूछा कैसे आये महाशय? बोले—हमारा आपका रिश्ता है, इसलिए आये हैं। क्या रिश्ता है? कि मैंने देखा आपके आंगनमें एक टोकरी बेर रखा हुआ था। बोले—इसमें क्या रिश्ता हुआ? रिश्ता यह हुआ कि मेरे आंगनमें बेरका पेड़ है और आपके आँगनमें बेरके फल रखे हुए हैं। तो हम आप रिश्तेदार हो गये ना! तो यह जैसे कल्पित रिश्ता होता है, उतना भी आत्मा और अनात्माका बादरायण सम्बन्ध भी नहीं है। कल्पित सम्बन्ध भी नहीं है। लेकिन जब स्वरूपकी ख्याति होती है, अन्तःकरणसे न्यारा अपनेको जान लेते हैं, तब अन्तःकरणमें जो गुण बर्तते हैं कभी निद्रा आती है, तमस्की वृत्ति है निद्रा और कभी स्वप्न आता है, रजस्की वृत्ति है और कभी समाधि लगती है, कभी जाग्रत्, यह सत्त्वकी वृत्ति है। सत्त्वकी व्यावहारिक वृत्ति जाग्रत् है और सत्त्वकी शान्तवृत्ति समाधि है। तो ***पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्***का अर्थ है कि जब जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति समाधिमें कहीं भी तृष्णा नहीं रहती है कि मेरी समाधि लगी रहे कि मैं जागता रहूँ, कि मैं सोता रहूँ, कि मैं सपना देखता रहूँ, अन्तःकरणकी किसी भी स्थितिसे, जब अपना मेल न हो। अपने स्वरूपका ज्ञान हो गया, इस विवेक ख्यातिके फलका नाम है—पर-वैराग्य। पुरुष ख्यातिका जो फल है गुणवैतृष्ण्य, समाधिका भी लोभ न रहना, उसका नाम है परमवैराग्य। यह परमवैराग्य होनेपर अपने स्वरूपका बोध होता है कि आत्मा ब्रह्म है।

अच्छा, अब आपको सुनाते हैं—**योगो भवति दुःखहा,** यह कौनसा योग है? क्या निष्काम कर्मयोग है? अच्छा, यह उपासनायोग है? कि नहीं,

वह तो तत्–पदार्थप्रधान है। कर्मयोगमें क्रियाका विक्षेप है और उपासनायोगमें देवताकी प्रधानता, अन्यकी प्रधानता है। और ध्यानयोगमें अपनी वृत्तिका प्रवाह है, वृत्तिके साथ सम्बन्ध है। और, निरोधमें मैं समाधिस्थ होता हूँ—यह अस्मिता है और द्रष्टाकी स्वरूप ख्यातिमें परिच्छिन्नता है। अपने अद्वय स्वरूपका बोध नहीं है, केवल साक्षी स्वरूपका बोध है। तब ? कि असंलमें आत्मज्ञान ही आत्मयोग है। ब्रह्मात्मैक्य–बोध ही वास्तविक आत्मयोग है। तो जब दुःख मिटांना हो भाई, दुःख माने सब तरहका, कई लोग दुःखको ही सुख मानते हैं। महाराज, जब बेटा मूँछ पकड़कर खींचता है तो कितनी खुशी होती है कि ओहो हमारे बेटेके हाथमें इतनी ताकत आ गयी और जब श्रीमतीजी रूठती हैं, उनका पाँव छूना पड़ता है तो कहते हैं आहा कितना प्रेम है इनका! विश्वास है मना लेंगे तभी तो रूठती हैं। महाराज, मित्र घरमें-से पैसा उठाकर ले जाता है तो कहते हैं देखो, अपना समझते हैं। यह है सृष्टिकी महिमा!

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥

मधुसूदन सरस्वतीने बहुत बढ़िया टीका लिखी है। जब चित्त विनियत होता है, विशेष रूपसे नियत, नियत माने संयत होता है। बाह्यालम्बन, देशालम्बन होकर दूर नहीं जाता है। कालालम्बन होकर विषयमें टिकता नहीं है और बाह्य विषय जो अन्तःकरणमें प्रतिविम्बित होते हैं उनके आकारको पकड़ता नहीं है। तीन बात लो—एक तो स्थानका, बाहर-भीतर कहाँ है ? कि यह शरीरमें ही है। जो चामके अन्दर है सो अन्दर और जो चामके बाहर है सो बाहर, यह चामकी इतनी कीमत है कि यह आत्माको बाहर और भीतर बना देता है। यह आकाशको तो बाहर-भीतर बना नहीं सकता। एक ही आकाश रहता है। मिट्टीको बाहर-भीतर बना नहीं सकता, पानीको बाहर-भीतर बना नहीं सकता। गर्मीको बाहर भीतर बना नहीं सकता। प्राणशक्तिको, ऊर्जाको बाहर-भीतर बना नहीं सकता और यह चामकी इतनी ताकत कि अखण्ड चिदाकाशको बाहर-भीतर बनाकर रख देता है। यह मोह लीलाके सिवाय और क्या हो सकती है ?

पाषाणखण्डेष्वपि रत्नबुद्धिः कान्तेऽपि धीः शोणितमांसपिंडे।
आत्मेऽपि धीर्यतुणपेत्र धातुके जयति काञ्चन मोहलीला॥

पत्थरके टुकड़ेको कहते हैं हीरा है, क्या दिखाते चलते हैं कि देखो, हमारा हीरा। एकने एक दिन अंगूठी दिखायी, आठलाख रुपयेकी है महाराज! मैंने कहा—तुमको डर नहीं लगता है पहनकर घूमनेमें? बोले—महाराज, पिस्तौल हमेशा साथ रखते हैं।

देखो न, आठ लाखकी अंगूठी होनेका अभिमान भी है और डर इतना है कि जेबमें पिस्तौल। उसीके लिए तो है न!

एक बहुरानी थीं। तों उनकी ढाई लाखकी अंगूठी थी। तो मैंने कहा—तुम पहनकर घूमती हो, तुमको डर नहीं लगता है? तो बोली कि महाराज मोटरके पिछले हिस्सेमें पिस्तौल रहती है।

अब देखो न, यह सुख है। पत्थरके टुकड़ोंको हीरा बोलते हैं। ***पाषाणखण्डेष्वपि रत्नबुद्धिः कान्तेऽपि धीः शोणितमांसपिण्डे***—ये हमारी प्यारीजी हैं। यह बुद्धि कहाँ होती है कि खून और मांसके एक लोथड़ेमें।

आत्मेऽपिधीर्यतुणपेत्र धातुके

कफ-पित-वातके पुलिन्देमें आत्म बुद्धि हो रही है। यह क्या है? कि **जयत्यऽसौ काचन मोहलीला**—यह मोह देवताकी लीला है। यह ईश्वरकी—आत्मदेवताकी लीला नहीं है। यह मोह देवताकी लीला है। सुनो भाई, अभी थोड़ी-सी वैराग्यकी बात सुनाते हैं।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।

चित्त संयत करना। इसको नेचरपर नहीं छोड़ना कि जहाँ जाता है वहाँ जाने दो। यह हमारे धर्मके, योगके, उपासनाके, तत्त्वज्ञानके—सबके विपरीत पड़ता है, क्योंकि धर्मकी उत्पत्ति वहाँ होती है जहाँ कर्तृत्व आता हैं। उपासनाका फल वहाँ प्राप्त होता है जहाँ कर्तृत्व आता है। अभ्यासका फल-निरोध वहाँ होता है जहाँ कर्तृत्त्व आता है। और जहाँ हम स्वयं श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न करते हैं वहाँ अविद्याका नाश होता है। यदि अविद्याके नाशके पूर्व ही किसीने मान लिया कि हमारा कर्तृत्त्व मिट

गया तो वह गड्ढेमें गया। अविद्याकी निवृत्तिके पूर्व कर्तृत्वकी निवृत्ति नहीं हो सकती और जबतक कर्तृत्व है तबतक साधन-भजन करना चाहिए। भले झाँझ बजाओ— *श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव!* संकीर्तन करो। माला फेरो। जप करो। पूजा करो। ध्यान करो। अभ्यास करो।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

यह जो हमारी भारतीय साधनाकी पद्धति है, ऐसी वैज्ञानिक! यदि तुम्हें कुछ पाना नहीं है तो कुछ मत करो। यदि तुम्हें कुछ पाना है तो उस प्राप्तव्य वस्तुकी प्राप्तिके लिए तुम्हें साधना करनी पड़ेगी। यहाँतक कि छोड़ना जिसको बोलते हैं न, वह छोड़ना भी करना ही पड़ता है। वह छोड़ना भी एक साधन है, कि छोड़ दो। इसको प्रकृतिपर मत छोड़ो इसको नेचरपर मत छोड़ो। जानबूझकर छोड़ो। इसका नाम है योग।

अब दूसरी बात सुनो। समाधिकी बात समझना है तो आप अपने चित्तको तैयार करो। नियत द्रव्य, नियत क्रिया, नियत भाव, नियत देश, नियत काल और नियत रूपसे कामभावमें स्थित चित्त है। यह हमारे मनको कौन काटता है? कौन-सा कीड़ा घुसा हुआ है, हमारे मनमें? हमारे गाँवमें तो इसके लिए ऐसी दो टूक बात कही जाती है, वह मैं नहीं कहूँगा आपलोगोंके बीचमें। कहते हैं कि इसके शरीरके भीतर कामका उद्रेक होनेसे ऐसी उत्तेजना इसके धातुओंमें हो रही है कि भीतर-ही-भीतर इसको कुछ काट रहा है। यह शान्तिसे बैठ नहीं सकता। आपको अपने घरमें रहनेसे कौन रोकता है? क्यों बाहर घूमनेके लिए जाते हो? आप अपने अन्तःकरणमें अपने मनको क्यों नहीं रोकते? आपका मन क्यों बाहर जाता है? इसीलिए कि कोई ऐसी सुन्दरता आपको चाहिए जो आपके हृदयमें, आपमें नहीं है। कोई ऐसी मिठास आपको चाहिए जो आपके हृदयमें, आपमें नहीं है। कोई ऐसा आनन्द आपको चाहिए जो आपके हृदयमें, आपमें नहीं है। उसीको ढूँढ़नेके लिए—

लोलुप भ्रमत गृहपशु ज्यों जहँ तहँ।
सिर पदत्रान बजे तदपि अधम बिचरत।
तेहि मारग, अजहूँ न मूढ़ लजै।
मेरो मन हरिजू हठ न तजै।

हे हरि, हमारा मन हठ नहीं तजता है। यह कुत्तेकी तरह दरवाजे-दरवाजे भटकता है। जैसे कुत्तेजी महाराज दरवाजे-दरवाजे घूमते हैं, ऐसे महाराज, लाठीपर लाठी लगती है। बड़ा जिद्दी हो गया है यह मन, हठ नहीं छोड़ता है। यहाँ-से-वहाँ भटकता है। यदि तुम्हारे हृदयमें कोई शान्ति है, कोई रस है, कोई आनन्द है, कोई माधुर्य है, कोई सौन्दर्य है, तो उस अमृत-सरोवरका रस लेना छोड़कर तुम पनालेकी ओर क्यों दौड़ते हो?

तो यह काम ही है महाराज जो भीतर-ही-भीतर काटता है। यह काम ही चूना है, यह हाथ काट देता है, मुँह काट देता है, उत्तेजना होनेपर यही श्वेत धातुके रूपमें, अन्तिम धातुके रूपमें निकलता है न, काम ही; तो वह लक्षणासे गाँवके लोग उसको चूना बोलते हैं। यह भीतर-भीतर काटता है मनुष्यको शान्तिसे नहीं बैठने देता। तो जब चित्तको हम संयत कर लेते हैं और विषयदेश, विषयकाल, विषयाकाश, विषय के भीतर कोई है ही नहीं। यह तो आप चाहे जैसे समझ लो! आपके दिलके भीतर एक शीशेकी तरह प्रकाशमान ज्ञान है। वहाँ न कोई विषय है न कोई इन्द्रिय, न कोई स्त्री है, न पुरुष। वहाँ न कोई देश है, न काल। वह तो सब ज्ञानमें दमक चमक है। उड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे यह सृष्टि क्या है? बोले, यह सब द्रष्टाकी दमक है।

एकबार बोले—क्यों हो, द्रष्टा और दृश्यके बीचमें क्या चीज है जो द्रष्टाको दृश्यसे और दृश्यको द्रष्टासे—दोनोंको अलग करती है? महाराज दृष्टि है। द्रष्टा, दृश्य, दृष्टि। बोले कि न, द्रष्टाके स्वरूपका अज्ञान ही है जो द्रष्टा और दृश्यको दो करके रख देता है। द्रष्टाके स्वरूपका अज्ञान ही द्वैतकी, भेदकी सृष्टि करता है। जहाँ द्रष्टाके स्वरूपका ज्ञान हुआ अज्ञानकी निवृत्ति हुई, वहाँ एक ही सत्त्व द्रष्टा और दृश्य। यह दृश्य क्या है? यह द्रष्टाकी दृष्टि नहीं है। तब क्या है? कि यह द्रष्टाकी दमक है। स्वयं द्रष्टा ही दृश्यके रूपमें चमक रहा है, दमक रहा है, यह तो आत्म दीप्ति ही प्रपंचके रूपमें भास रही है। एक बात आपको सुनायी।

अब देखो—**यदा विनियतं चित्तमान्येवावतिष्ठते।**

मधुसूदन सरस्वतीका इसके सम्बन्धमें कहना यह है कि जब देश-कालसहित जो बाह्य विषय प्रतिविम्बित हो रहा है चित्तमें, वह भ्रम भी हो

सकता है और प्रमा भी हो सकती है। जो बाह्य विषय चित्तमें प्रतिविम्बित हाता है, यदि यथार्थ विषयमें-से आया है तो वह प्रमा है और यदि अयथार्थ विषयमें आया है तो वह भ्रम है। परन्तु जो ज्ञान-स्वरूप आत्मा है, वह प्रमा और भ्रम दोनोंसे रहित है— ***प्रमाभ्रमाभ्यां रहिते स्वरूपे।***

कोई भी आकृति जिस समय अन्तःकरणमें नहीं है, उस समय चित्तका स्वरूप क्या है? **आत्मन्येवावतिष्ठते।** बोले कि अब चित्तका कोई आकार नहीं है, शून्य हो गया। बोले—गलत। जब चित्तमें देश-काल सहित वर्तमान अथवा पूर्व विज्ञान जनित कोई आकृति नहीं रही, उस समय चित्त आत्मासे अभिन्न हो गया, उस समय चित्तका अपना आकार नहीं है,आत्मा ही है। सम्पूर्ण आकारका निषेध हो जानेपर जो चित्त है वह आत्मासे विलक्षण नहीं है **आत्मन्येवावतिष्ठते।** चित्त स्थिर है। कोई बदलता नहीं है, आकृति नहीं आती है। देश नहीं है, काल नहीं है, तो कौन है? स्वरूपसे अभिन्न है।

अच्छा ये लोग 'है-है' बोलते हैं ना, आपने सुना होगा, है को संस्कृतमे बोलेंगे सत्। यह मत समझना कि 'है' कोई सातवें आसमानेसे टपक पड़ा है, या कहीं चीनसे उधार मँगाया गया है, ऐसा नहीं है-'

अस्तीत्येवोपलब्धव्यः तत्त्वभावेन भारती।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव प्रसीदति॥
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद परोक्षज्ञानमेव तत्।
अहं ब्रह्मेति चेद् वेद अपरोक्षं तदुच्यते॥

है-है-है-यह क्या है? आपसे हम प्रश्न करते हैं कि केवल 'है-है' कि उपलब्धि और है दोनों हैं? केवल 'है' है कि 'है' का ज्ञान भी है और 'है' भी है? दोनों दो हैं कि एक है? तो है के मरनेपर ज्ञान रहेगा कि ज्ञानके मरनेपर है रहेगा? तय कर लो—यदि ज्ञानसे पृथक् 'है' है तो 'है' मर जायेगा, ज्ञान रहेगा। जहाँ ज्ञानस्वरूप 'है' मर जायेगा, ज्ञान रहेगा। जहाँ ज्ञान स्वरूप सत् है, वहाँ अखण्ड सत् अखण्ड ज्ञान है और जहाँ ज्ञानका विषय सत् है वहाँ मिथ्या है। और जहाँ सत्तारहित ज्ञान है वह क्षणिक है। तो सत् रहित ज्ञान तो बौद्धोंका क्षणिक विज्ञान है और ज्ञान रहित सत् जड़ है। आप बिना उपलब्धिकी सत्ता बता दो, किसीके अनुभवका विषय हो जाये। बिना

अनुभवका सत्, इसका अर्थ है कि केवल आत्मा ही है।

आत्मन्येवावतिष्ठते का अर्थ है चित्त नहीं है, आत्मा ही है। **निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो** अब कौन किसको चाहता है? सम्पूर्ण कामना छूट गयी। बोले—व्यवहार नहीं होगा। अच्छा मान लेते हैं। बोले कि तब हमको नहीं चाहिए। कि अच्छा अभी आप वैराग्यकी शिक्षा प्राप्त कीजिये। यदि किसीने कहा कि इसमें व्यवहार है कि नहीं है? अच्छा हम कहते हैं कि नहीं है, तब हमको नहीं चाहिए, कि अभी आप वैराग्य प्राप्त कीजिये। आपके हृदयमें वैराग्य नहीं है। बोले—अच्छा मान लो, अच्छा व्यवहार है तो कैसा व्यवहार है? तो **विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः**। वही **निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।**

अरे महाराज सारा ही व्यवहार हो रहा है—**यक्षत् कीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे** पूछ लो उपनिषद्से खा रहा है, खेल रहा है, विहार कर रहा है। कहाँ? बोले—मोटरोंमें, हवाई जहाज़ोंमें, विमानोंमें घूम रहा है। खा रहा है, पी रहा है, विहार कर रहा है, स्त्रियाँ उसके साथ हैं, उसके हमजोली उसके साथ हैं, परन्तु मैं यह शरीर हूँ, यह भ्रांति, यह अभिमान कभी उसके अन्दर उत्पन्न नहीं होता। विद्यारण्य स्वामीने अनुभूति प्रकाशमें इस श्रुतिकी व्याख्या करते हुए कहा है—

इन्द्रराजादिदेवेषु नानाखाद्यानि भक्ष्यन्।

जो अनुभव करता है कि राजा के शरीरमें बैठकरके मैं ही भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, पेयका आस्वादन कर रहा हूँ। वह अनुभव करता है कि इन्द्रके रूपमें स्वर्गका राजा रहकर मैं ही वहाँ देवभोग भोग रहा हूँ। मैं ही ब्रह्मा होकर सृष्टि बना रहा हूँ, मैं ही विष्णु होकर पालन कर रहा हूँ, मैं ही रुद्र होकर संहार कर रहा हूँ। मुझ ईश्वरका ही सर्वरूप है और मुझ ब्रह्ममें कोई दूसरी वस्तु नहीं है। यह अनुभव है उसका। तो,

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।

यह करो, यह मत करो। यह जहाँ पख लगी हुई है, वहाँ शान्ति कहाँ

है ? यह खाओ, यह मत खाओ, इधर देखो उधर मत देखो, यह सोचो यह मत सोचो, जहाँ तक कर्तव्यता-भोग्यता प्रासव्यता, त्यक्तव्यता, ज्ञातव्यताका बोझ लगा हुआ है। वहाँ तक शान्ति कहाँ?

तो सम्पूर्ण कामनाओंसे निःस्पृह। अब **सर्वकामेभ्यो निःस्पृहः** का अभिप्रय सुनो। सर्वकामेभ्यः, कि यह ऐसा योगी है, मेरी समाधि लग जाय—यह कामना भी इसे नहीं है। तब सर्वकामेभ्यःका क्या अर्थ होगा ? अच्छा मुझे मोक्ष मिल जाये—यह कामना भी नहीं है। मुझे ज्ञान हो जाय यह कामना भी नहीं है। जिज्ञासा भी एक कामना है। मुमुक्षा भी एक कामना है। समाधिस्थता भी एक कामना है। **सर्वकामेभ्यो निःस्पृहः**। स्पृहाका अर्थ क्या है? निःस्पृहाका अर्थ यह है—महात्मा बैठा हुआ है, किसीसे माँगने गया नहीं, और उसके मनमें कुछ पानेका संकल्प उदय हुआ नहीं फिर भी किसीने कोई वस्तु लाके उसके सामने रख दी। कि देखो भाई मैंने माँगा नहीं। और मैंने चाहा नहीं, अब यह चीज मेरे पास आगयी तो बनी रहे—इसका नाम क्या हुआ? इसीका नाम हुआ स्पृहा। बोले—माँगा नहीं भाई! क्या हुआ, नहीं माँगा, बहुत अच्छे हैं नहीं माँगते हैं। चाहा नहीं भाई! कि बहुत अच्छा है चाहा नहीं। आपके मनमें कोई कामना नहीं है। पर आनेके बाद भी, रख तो लिया ना, अपनी मान लिया ना! नहीं, आनेके बाद भी अपनी नहीं मानो। कि नहीं जी वहाँ दूसरा कोई उठानेवाला नहीं है और आपकी कुटियामें ही रखी हुई है, बोले—**निर्ममः**। रखी रहने दो। पर अपनी तो मत मानो। और आगे बढ़ गये कि नहीं ? स्पृहा नहीं थी, परन्तु चीज गयी नहीं रह गयी, निःस्पृह होनेपर भी, तो बोले—निर्मम रहो। जब निर्मम रहे तो मनमें अहंकार आया कि ओहो हो मेरे सरीखा त्यागी दुनियामें कौन होगा कि मैंने चीज माँगी नहीं, चाही नहीं, अपने आप आगयी, रखनेकी इच्छा थी नहीं और रह गयी तो अपनी मानी नहीं मेरे सरीखा और कौन! कि बाबाजी नमस्कार! क्यों नमस्कार? कि आपका अहंकार है ना आपके अहंकारको नमस्कार है। त्यागीपनाका अहंकार, आपके भीतर निर्ममताका अहंकार आ गया। तो **विहाय कामान्**, कामका विहान—कामका परित्याग। फिर कामसे निःस्पृहता, फिर कामसे निर्ममता। फिर कामसे निरहंकारता **स शान्तिमधिगच्छति**।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।

अब आओ—युक्त इत्युच्यते तदा। यह 'युक्त' तो भाई ऐसा प्यारा है भगवान्‌को, अभी आपने सुना,

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ ६.१७
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्। ४.१८

× × ×

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः। ५.२३

यह मालूम होता है, यह युक्त क्या है? यह भगवान्‌का कोई प्राण है, भगवान्‌का कोई दोस्त है। हमारा जो यह साँवरा सलोना भगवान् है, जिसमें अपने भगवान्‌पनेका अभिमान नहीं है। जबतक प्रगट होकर रहा, कभी तो यशोदा मैय्याने पंसेरी उठवायी, बाट ढोवाया, खड़ाऊँ उठवायी। कि अच्छा ईश्वर रहते ऐसा मजा नहीं आया, आओ भाई खड़ाऊँ ढो दें तुम्हारी! गोपियोंने महाराज माखनके लोंदे-लोंदेके लिए नचवाया। ग्वालोंने कहा कि हमें ताड़का फल चाहिए खानेको, असुरको मारो इसके लिए। चोर कहलाये, जार कहलाये। अर्जुनने क्या किया? जैसे एक नौकर ड्राईवर रखते हैं, ऐसे भगवान्‌को अपने यहाँ रथ हाँकनेके लिए कह दिया कि हमारा रथ हाँको!

यह देखो इसका नाम है **निरहंकारः**। भगवान् वह होता है जिसमें अपने भगवान्‌पनेका अहंकार नहीं होता। यह महाराज चार-चार पैसे जिनके पास हो जाते हैं, वे लक्ष्मीपति बने डोलते हैं। होते हैं कौड़ीपति, कौड़ीपति भी नहीं होते और मानते हैं अपनेको लक्ष्मीपति। यह देखो, यह हमारा कृष्ण! रातको पाण्डव सोते हैं और वह जागके पहरा देता है, पहरेदार है वह! वीरासनसे बैठकर। आगे-आगे युधिष्ठिर चलते हैं, पीछे श्रीकृष्ण। अनुगमन। एक कथा आती है द्रौपदीकी जूती पीताम्बरमें लपेट ली, और पीछे-पीछे चले गये। यदि कहते कि मैं त्रिलोकीनाथ हूँ, कौन होती है तू बावरी! हट यहाँसे!

तो अस्मिता जिसका स्पर्श नहीं करती है, वह आत्माका स्वरूप होता है। तो युक्तसे भगवान्‌का कुछ प्यार है।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।

अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणये न वापि॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि----११.४२-४३

असत्कृतोऽसि--जिसके सिवाय दूसरा कोई सत् है ही नहीं, उसके लिए असत् कहा, असत्कृतो; सो भी कहाँ? कि **विहारशय्यासनभोजनेषु।** खानेमें तिरस्कार, सोनेमें तिरस्कार, विहारमें तिरस्कार, बैठनेमें तिरस्कार, अपने आप ऊपर बैठ गये। कृष्ण आये बोले—कोई बात नहीं, बैठो-बैठो। अपने पाँव फैलाके सोये हुए हैं, सोते रहो कोई बात नहीं, कि भाई आज तो मैंने खा लिया, कि कोई बात नहीं। **विहारशय्यासनभोजनेषु।** कि अपना अहं छोड़करके, युक्त कौन होता है, आप देखो,

शक्नोतीहैव यः सोढु प्राक्शरीरविमोक्षणात्।

कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ ५.२३

कामी परेशान करता है, क्रोधी परेशान करता है। भगवान्को कामी-क्रोधी इनसे इतनी दोस्ती नहीं है। युक्तसे दोस्ती है। आप देखो ना,—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ १४.२४

यह प्यारा है भगवान्का। इसीसे बोले—**युक्त आसीत मत्परः।** तुम तो युक्त होके बैठ जाओ। **युक्त आसीत मत्परः**—यह दो जगह है गीतामें, दूसरे अध्यायमें भी है और छटे अध्यायमें भी है। (२.६१-६.१४)

बोले—अच्छा जब युक्त होके बैठ गया यह भगवान्का प्यारा, जिसमें अहं नहीं, मम नहीं, स्पृहा नहीं, त्याग है। त्यागी है, निःस्पृह है, निर्मम है, निरहंकार है। चार काट दिया। संग्रह काट दिया, स्पृहा काट दी। ममता काट दी और अहंकार काट दिया। बैठा है। अब उसके चित्तकी क्या दशा है? अरे क्या बतावें? अरे चलो ना इस दुनियाँमें—

: १६ :

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥

दो दिन करके डूबना नहीं, बोले—कुछ नहीं, कुछ नहीं, योग तो हमारे आत्माका हमारा स्वरूप है। स्वतः सिद्धयोग, अपने आत्माका स्वरूप है योग।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते—निर्वात स्थानमें जैसे प्रज्वलित दीपक हो। आपको रंगीन रोशनी देखनेकी आदत पड़ गयी है। यह बल्बमें जो रोशनी है, यह सब रंगीन है, सबमें रंग है बिना रंगके रोशनी नहीं है। आपने कभी सूर्यकी रोशनीपर संयम किया है? सूर्यपर आँख मत गड़ाना, बेवकूफीका काम नहीं करना। उसकी विधि दूसरी है।

ना सजन्तम् कथंचन। नोपरक्तं नवारिष्ठं ना मध्यमानं।

परन्तु सूर्यकी रोशनी, सूर्यकी रश्मियाँ, सूर्यकी किरणें कभी ध्यान दिया इसपर, कोई रंग नहीं। कहीं आना नहीं, कहीं जाना नहीं, गति नहीं, केवल प्रकाश। किरणें नहीं, केवल प्रकाश। तो जैसे निर्वात स्थानमें शुद्ध रश्मिमय प्रकाश हो, नेङ्गते—न हिले, न डोले।

अरे, आपका मन भी नहीं हिलेगा, नहीं डोलेगा। यह नहीं, कब ऐसा होगा महाराज, कब ऐसा होगा! यह कब-कब पूछकर तो संहार ही कर देते हैं, डण्डा मार देते हैं। कब पूछना कि सत्य कब मिलेगा, यह सत्यको कालके विकराल गालमें डालना है। सत्य कहाँ मिलेगा? यह सत्यको अपनेसे दूर खींचना है। सत्य कैसा होता है—यह सत्यको अपनेसे जुदा फेंक देना है। सत्य कैसा है—यह पूछना सत्यको अपनेसे जुदा करना है। कहाँ है? यह दूर फेंकना है। कब है? यह कालके गालमें डालना है। अरे बाबा, सत्य-सत्य पूछते हो, तुम कौन हो? तो यह जो तुम्हारा ज्ञान स्वरूप आत्मदेव सत्य है, इनको जरा देश-काल और विषयसे बचा करके, **यथा दीपो निवातस्थः**, यही तो दीप्ति है, यही आत्मदीप है। **ज्ञानदीपेन भास्वता** ज्ञानदीप है न।

और **निवातस्थ**का अर्थ है प्राण-कल्पनाका परित्याग करके, निस्पृह ज्ञानको देखो।

सुनायेंगे आपको, वह सुखका स्वरूप, बताया है, यह विलक्षण है। आपको उपनिषदोंमें मिलेगा, परन्तु ढूँढ़नेपर मिलेगा। और वह उपनिषदोंका सार-सार है, निचोड़ है, सुखका क्या स्वरूप है—

सुखमात्यन्तिकं यत् तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। ६.२१

यहीं देख लो सुख, करो सुखका दर्शन, करो शान्तिका दर्शन। यह तुम्हारा ज्ञानस्वरूप आत्मदीप बिलकुल निश्चल है, न कहीं आना है, न जाना है, न हिलना है, न डोलना है, न इसमें जड़ता है, न इसमें परिच्छेद है।

अच्छा, अब आगे सुनाते हैं—

अम्ब त्वामनुसंदधामि—अम्बा बड़े प्यारकी बोली है, बड़ा वात्सल्य; मैं तुम्हारा अनुसन्धान करता हूँ। अनुसन्धानकी पद्धति यह है कि पाँवसे लेकर सिरतक, सिरसे लेके पाँवतक रोम-रोम ध्यानमें देखा जाय, कैसे बाल, कैसे तिलक, कैसी आँख कैसी नासिका, कैसी मुस्कान। क्या वात्सल्य बरस रहा है। मातासे भी शतगुणित वात्सल्यमयी भगवद्गीता। माता, कहीं, नौकरीमें लगा दे, कहीं ब्याहमें फँसा दे, कहीं धर्ममें लगा दे और गीता तो संसारके समग्र बन्धनोंसे छुड़ानेवाली माता है।

तो यह कहते हैं कि जब योगी आत्मायोग करने लगता है। तो उसके चित्तकी स्थिति कैसी होती है—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।

कि भाई उस चित्तका वर्णन तो कैसे करें? एक उपमाके द्वारा उसका वर्णन करते हैं। जब वस्तुका स्वतः वर्णन करना सम्भव नहीं होता, तब उसके लिए उपमा ढूँढ़कर वर्णन करना पड़ता है। यह माँ नहीं है, उपमा है। यह माँ नहीं, मौसी है। उप मा माने मौसी। मातृ सदृशी। उपमा। असली माँ नहीं। सभापति नहीं है, उपसभापति है। 'उप' लग गया है, तो माँ नहीं है उपमा है।

अच्छा, तो उपमा देनेका क्या अभिप्राय है, यह आपको बतायें, जिस समय चित्तकी निरुद्ध दशा या उपराम दशा होगी, उस समय वाक् प्रयोग नहीं होगा और जब वाक् प्रयोग होगा तब चित्तकी उपरत दशा नहीं होगी। चित्त

जब सर्वथा उपराम हो जायगा, तब वाणीका प्रयोग नहीं होगा। और जब वाणीका प्रयोग होगा तब चित्त सर्वथा उपराम नहीं होगा। तो जब वाणीके द्वारा उपरत चित्तका वर्णन होगा उस समय तो उपरत चित्त होगा नहीं। तब ? सीधे चित्तका वर्णन नहीं होगा। चित्तकी उपमाका वर्णन होगा।

गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

उस उपरामकी मूर्तिका यह उपराम जो है, यह लक्ष्मण है, रामके सौन्दर्यका हम वर्णन कहाँसे करेंगे ? लक्ष्मणकी सुन्दरताका वर्णन भी हम नहीं कर सकते। तो आओ अब 'उपमा' देखो।

रंगीन रोशनीका भी दीपक होता है। परन्तु वह प्रकाशका रंग नहीं होता है, रंग उसमें बाहरसे डाला हुआ होता है। तो आपका जो ज्ञानदीप है, ज्ञानका प्रकाश, पहली बात यह है कि उसमें कोई रंग न हो। कोई गंध न हो, कोई रस न हो, कोई रूप न हो, कोई स्पर्श न हो और कोई शब्द न हो। ऐसा हो आपके चित्तमें ज्ञान प्रकाश। जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसे मुक्त हो।

श्री उड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे कि सात चीज मत रखो चित्तमें। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख और दुःख; इन सातोंको चित्तसे निकाल दो। वेदान्तके ग्रन्थोंमें आता है कि ये सातों, इन सातोंकी जाति, इन सातोंका अभाव, इनका चिन्तन न हो! कहीं-कहीं सिद्धि, शक्ति—इनका भी उल्लेख मिलता है। तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, तो आपके ज्ञानस्वरूप चित्तमें, प्रकाश स्वरूप चित्तमें, न तो कोई ध्वनि हो और न तो वह छूआ जाता हो, न तो उसमें कोई रूप हो, न कोई रस आये और न कोई वासनाका गन्ध हो और न इनकी किस्में—जातियाँ दिखें, और न इनका अभाव दिखे, और न इसमें सिद्धि या शक्तिका संकल्प हो। अब देखो, आपके सिवाय और कोई नहीं है। पहुँच गये एकान्तमें। योगदृष्टिसे इसीका नाम एकान्त है। कि हे प्यारे एकान्तमें आके मिलना।

अच्छा अब दूसरी बात देखो! पहली बात तो यह हुई कि प्रकाशमें रंग न हो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इनके प्रकार सुख-दुःख, इनका अभाव और चित्त अपने आपमें ही हिलता न हो। बाह्य संस्पर्श न हो—यह एक बात पहले सुना दी। दूसरी बात है कि अपने आपमें भी हिलता हुआ न हो। एक प्रकाश, दो प्रकाश, तीन प्रकाश, प्रकाशमें भी जाति न हो, ज्ञानमें भी जाति न हो। ज्ञान

गिना न जाये। ज्ञानमें धारा न हो—यह एक और बात है। यह देखो, बल्ब चाहे रंगीन हो चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा हो, चाहे आवाज करता हो, चाहे देखकर मजा आता हो, चाहे सुगन्ध बिखेरता हो, लेकिन वह प्रकाश नहीं है वह प्रकाशमें दूसरी चीज मिली हुई है। यह बल्बमें जो प्रकाश आता है न, वह एक-दो-तीन-चार आता है, आपके यह ध्यानमें है कि नहीं है। अगर यह एक, दो, तीन, प्रकाशकी धाराकी गिनती नहीं होती, तो यह यूनिट होती है न, जिसमें पैसे लगते हैं, वह नहीं हो सकती। इस विद्युत्में एक प्रवाह है, इसके खर्चका हिसाब होता है। अब आपके प्रकाशकी जो धारा है उसमें धारा नहीं है, यूनिट नहीं है, एक, दो, तीन, चार.....क्रम नहीं है।

अच्छा मशीन जो है, बल्ब जो है वह छोटा, बड़ा होता है, उसमें फैलाव होता है, प्रकाशमें फैलाव नहीं है, प्रकाशमें क्रम नहीं है, प्रकाशमें ध्वनि नहीं है, रूप नहीं है, रस नहीं है, गन्ध नहीं है, सुख नहीं है, दुःख नहीं है। एक ऐसा प्रकाश आपके हृदयमें प्रज्वलित है। वह हृदयकी उपाधिसे नहीं है, वह हृदयकी उपाधिका प्रकाशक है।

एक बात आपको और सुनाते हैं। यह मत कहना कि स्वामीजी कोई ऐसी किंभूत, किमाकार बात बोलते हैं। हमारे एक नेता ध्यानका तो बड़ा सुन्दर वर्णन करते थे, पढ़े-लिखे थे। लेकिन उनका यह दृढ़ आग्रह था कि यह ज्ञान कन्याकुमारीसे हिमालयके बीचमें कहीं इस राष्ट्रमें ही प्रकट हुआ है। आपको हम बताते हैं, उनका यह ख्याल था कि सृष्टि पहले-पहल हुई तो भारतवर्षमें हीं हुई। राष्ट्रीयता उनकी बड़ी भारी थी। उनका कहना था कि यहीं सत्ययुगमें, इसी देशमें, सत्ययुग रूपी कालमें और जिस गोत्रमें मैं पैदा हुआ हूँ, उस वसिष्ठ, विश्वामित्र, भारद्वाज, उसी गोत्रके, उसी पूर्वजके हृदयमें ज्ञानका आविर्भाव पहले-पहल हुआ।

देखो बात बहुत बढ़िया है और जहाँतक राष्ट्रीयताका सम्बन्ध है, हम भी उसके महत्त्वको स्वीकार करते हैं, लेकिन ऐसे नहीं सोचा जाता है, ज्ञानके सच्चे स्वरूपको यदि मालूम करना है तो ज्ञानमें स्थानका प्रकाश होता है, सो भी झूठा अधिकरण, अधिकृत भाव जो है वह झूठा है। कि ज्ञानमें अमुक देश होता है, अमुक राष्ट्रका उदय होता है, यह मिथ्या कल्पना है। सत्ययुग कालमें

होता है, मिथ्या कल्पना है। हमारे पूर्वजके ही अन्तःकरणमें हुआ, यह मिथ्या कल्पना है। यह राष्ट्र, भारत देश, सत्ययुग काल और हमारा पूर्वज महर्षि, जिस ज्ञानसे प्रकाशित हो रहा है रंगीन होकर, सत्ययुगके तरंगमें प्रकाशित हो रहा है, भारत राष्ट्र श्वेत रंगमें प्रकाशित हो रहा है, हमारे पूर्वज श्वेत रंगमें प्रकाशित हो रहे हैं, ये जिस ज्ञानसे प्रकाशित होते हैं वह ज्ञान तो हमारा अपना स्वरूप है, उसमें न देश है, न काल है, न व्यक्ति है, न वस्तु है। यदि सत्ययुगका मोह, राष्ट्रीयताका मोह, पूर्वजका मोह छोड़कर ज्ञानके स्वरूपका विवेक नहीं करोगे; तो वह अपूर्ण होगा! देखो हम बहुत कट्टर सनातनी हैं, फिर भी ज्ञानके स्वरूपको हम जानकर महत्त्वकी दृष्टिसे यह बोल रहे हैं, राष्ट्रीयताका प्रतिपादन करना हो, तो हमसे ऐसी बात सुन लेना, हम बतायेंगे कि—

गिरीनां सङ्गमे च नदीनां-विप्रो-अजायत।
पञ्चनद्यः सरस्वती.....................
सरस्वती च पंचधा
गङ्गे यमुने चैव सरस्वती.............

हमारे यहाँ नदियोंका वर्णन है वेदमें बहुत बढ़िया। परन्तु महाराज, राष्ट्रीयताके व्यामोहसे ज्ञानका शुद्ध स्वरूप समझमें नहीं आयेगा और चार युगके व्यामोहसे भी ज्ञानका स्वरूप समझमें नहीं आवेगा और अपने पूर्वजोंके व्यामोहसे भी ज्ञानका स्वरूप समझमें नहीं आवेगा; ज्ञानका स्वरूप, वह तो ज्ञान अखण्ड तत्त्व है और उसमें देश, काल, वस्तु, व्यक्ति—ये सब केवल प्रतीतिमात्र, भानमात्र भास रहे हैं। तो आपको आओ—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥

आप बैठें ध्यान करने, तो चार बातका ध्यान रखना—

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गमनाभासं सम्पन्नं ब्रह्म तत्पदा।
लये सम्बोधयेत् चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।

यदि आपका चित्त डूबने लग जाये, लीन होने लग जाये, यह मत समझना कि समाधि लग रही है, जगा लेना उसको फिरसे, सोने मत देना।

हम देखते हैं जब दो प्रेमी एक साथ सोते हैं तो सोने नहीं देते हैं, चिकोटी काट-काटकर जगा लेते हैं। अगर नींद आये तो कहेंगे तुम्हारे प्रेम ही नहीं है, हम यहाँ हैं और तुम सोते हो! हमारे रहते सोते हो! वे प्रेमी दूसरे होते हैं जो सिर सहलाकर सुला देते हैं।

तो परब्रह्म परमात्मामें चित्तका सो जाना परमार्थ नहीं है, *'लये सम्बोधयेत् चित्तं'* उसे जगाकर रखना।

जब चित्तमें विक्षेप हो, दूसरेका वर्णन करने लगें, जैसे मैं भोजनके लिए बैठता हूँ और वहाँ हमारे भगत लोग घेरकर बैठते हैं, तो कोई अपने ससुरका वर्णन करता है, कोई अपनी विलायत यात्राका वर्णन करता है, कोई अपने दुश्मनका वर्णन करता है, कोई बहू-बेटेका वर्णन करता है। हम कहते हैं— हट! हमारे इस रोटीमें-से जो स्वाद आ रहा है, इसका नाम है ब्रह्म। न तेरी सास न ससुर, न तेरे बेटा न बेटी, हम सुनते ही नहीं हैं उसकी, हम सोचते हैं कि हमारे भोजनका स्वाद बिगाड़नेके लिए आया है। हम उसके सास-बहूका ध्यान करेंगे, तो चौबीस घण्टेमें एक बार तो खाना, वहाँसे भी यह मन हटा देगा, तो इसका भी मजा नहीं आयेगा। कई लोग भोजनके पहले चाहते हैं कि दुःख दे लें। बोले—वे मर गये, वे बिछड़ गये। कई लोग भोजन करनेके पहले जुलाब ही का वर्णन करने लगते हैं कि ऐसा जुलाब लिया और वह फराफर। भोजनका स्वाद बिगाड़ दें! माने देश-काल-वस्तुके अनुसार कोई चर्चा करनी चाहिए! जहाँ परमात्मामें स्थित होना है, यदि वहाँ आपका मन वैकुण्ठमें भी जाये, समाधिमें भी जाये तो जगा लेना कि नहीं बाबू, परमात्मासे बड़ी समाधि नहीं है और गोलोकमें जाकर राधाकृष्णकी लीला देखने लगे तो कहना—नहीं, नहीं, अभी स्वरूपमें बैठो। यह न सोनेकी जगह है, न लीला देखनेकी। समाधि तो है सुषुप्तिके समान और लीलाका जो दर्शन होता है, वह है स्वप्नवत्। स्वप्न सुषुप्तिमें नहीं जाना, जाग्रत रहना अपने स्वरूपमें—

लये सम्बोधयेत् चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत्॥

राग-द्वेषका उदय हो जाये कहीं, दोस्त-दुश्मन याद आ जाये। बोले— बाबा, आज हम होश हवासमें बैठकर अपने मनको शान्त कर रहे हैं, तब तो ये

दोस्त दुश्मन हमारा पिंड छोड़ते नहीं, हमारे जागते नहीं, जागतेमें हमको सता रहे हैं और जब हम मरने लगेंगे, तब तो ये जरूर हमारे दिल-दिमागमें चढ़ बैठेंगे और हमारा सत्यानाश करेंगे। जो हमारी आँखके सामने हमको सता रहा है, वह मरनेके समय अगर हमारी मनोवृत्ति कमजोर हो जायेगी तब तो जरूर सतायेगा भला! तो पहचान लो इसको। राग-द्वेषको पहचानो। राग-द्वेषके वशमें मत जाने दो। *समप्राप्तं न चालयेत्*—जब लयमें, विक्षेपमें, रागमें, द्वेषमें, रंगभूमिमें जब ज्ञानकी समता नष्ट न होये, एक चमक रहे हैं गुब्बारे, और अपना जो ज्ञानस्वरूप प्रकाश है वह ज्यों-का-त्यों, तो विचलित न करे।

अनिङ्गनमनाभासं सम्पन्नं ब्रह्म तत्पदा।
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः॥

लय न हो, विक्षेप न हो, अपनेमें हिले नहीं, अपने आपमें भी न हिले और किसीकी परछाईं न पड़े; हीरा तो ऐसा हो महाराज कि अपनी चमकसे सबको भगा दे। किसी दूसरेकी चमक अपने अन्दर न ले, वह तो काँचका काम है जो दूसरेकी चमक लेकर रंगीन हो जाता है। तो दूसरेकी बात सुनकर, दूसरेकी क्रिया देखकर; भागते-भागते दुनियामें कहीं ठौर-ठिकाना नहीं मिलेगा। हम बिलकुल दो टूक बात कहते हैं अगर तुम दुनियाकी बुराई देखकर भागने लगोगे और अच्छाईको देखकर पकड़ने लगोगे, तो सारी जिन्दगी तुम्हारी भागते और पकड़ते बीत जायेगी, कभी शान्तिका और सुखका अवसर नहीं मिलेगा! यह आग लगी है तुम्हारे हृदयमें, द्वेषकी आग, उनको देखकर जल रहे हैं। उनको देखकर मुँहका स्वाद बिगाड़ रहे हैं! तुम्हारा दिल है कि यह कोई शैतान है, जो तुम्हारे काबूमें नहीं, तुम्हारे हाथमें नहीं! हे नारायण!

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः। अनिङ्गन मनाभासं-धारा भी वही बहे कि शान्त और उदित एक ही प्रत्यय राम राम राम, घड़ा घड़ा घड़ा—यह धारा होती है। यह धारा जब न हो और *अनाभासं* कोई चीज़ अपना प्रतिविम्ब हमारे ठसाठस ठोस ज्ञानमें अपनी परछाई कोई न डाल सके। *सम्पन्नं ब्रह्म तत्पदा* उसका नाम होता है ब्रह्म। ब्रह्म हो गया माने—चित्त अपनेको आत्मासे जुदा नहीं दिखा रहा है। जब चित्त किसीकी परछाईं लेगा तब चित्त है, ब्रह्म नहीं। जब चित्त हिलेगा तब वह चित्त है, ब्रह्म नहीं है। जब

चित्त किसी विषयके साथ जायेगा, तब वह चित्त है, ब्रह्म नहीं है। जब चित्त सो जायेगा, तब वह चित्त है, ब्रह्म नहीं है। और ब्रह्मसे जब एक हुआ, तो न सोता है, न सपना देखता है, न उसमें धारा बहती है। और किसी भी वस्तुका प्रतिविम्ब प्रतिच्छाया भी ग्रहण नहीं करता है, उस समय चित्त अपना आकार छोड़ देता है। ब्रह्मसे पृथक् उसका आकार नहीं रहता है।

जब हमलोग पहले गौड़पादीय कारिका पढ़ते थे, तब उसमें, इस दशाके लिए यही परमार्थ ज्ञान है, ब्रह्म यही है! शंकराचार्यने कहा—नहीं, इसका नाम परमार्थ-ज्ञान नहीं है; अब इसके आगे और है। बोले—यह तो अपरमार्थ दर्शी योगीके लिये हमने एक समाधि बतायी है। यह परमार्थदर्शी योगीके लिए नहीं हमने यह समाधि बतायी है—जो अपरमार्थ दर्शी हैं। अब कोई जाकर कहे कि हे ब्रह्म प्रकाशजी यह समाधि लगाओ, हे उड़ियाबाबाजी तुम रोटी क्यों बाँटते हो, समाधि क्यों नहीं लगाते?

ये बच्चे लोग बिचारे जानते नहीं हैं कि करोड़ो-करोड़ समाधि जिनके ऊपर निछावर करके फेंक दी जाये, उसका नाम महात्मा होता है। समाधिकी नींद, वैकुण्ठका सपना, आत्म प्रतिविम्बित आत्माकार, अन्तःकरण-वृत्ति, बारम्बार धारावाहिक एकाग्रता, उपासना, ध्यान—ये सब महात्माओंके आत्म-स्वरूपपर निछावर करके फेंक दिया जाता है तब महात्माका साक्षात्कार होता है। महात्माका स्वरूप ही बिलकुल निराला है। दुनिया क्या जाने!

'यह प्रेमका पन्थ निराला है, यह ज्ञानका पन्थ निराला है, यह बावरी दुनिया क्या जाने।'

ज्ञानिनो हृदयैर्मूढ विज्ञापनं चेत् जगद्भवेत्।

ज्ञानीकी स्थितिको यदि ये मूढ़ लोग समझ जायें, तो फिर जगत् सच्चा न हो जाये! ज्ञानीका हृदय, उसका स्वरूप समझना मूर्खोंके वशकी बात नहीं है, इसीसे ज्ञानी साक्षात् ब्रह्म है। अब देखो—**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता** इंगन नहीं है, माने जैसे भीतपर एक ही नाम आये राम, राम, राम सोऽहं, सोऽहं, सोऽहं यह परमार्थ नहीं है धारा है, पर यह इंगन है, चित्तका चलन है। यह आत्मदीप, अन्तःकरणकी उपाधि स्नेहके तेलसे दीपान्तरसे प्रज्वलित होकर जलता नहीं है। जैसे आप दीया जलाते हैं, तो एक दीपक होता

है, उसमें घी होता है, उसमें बत्ती होती है, और एक दीयासे दूसरा दीया जला दिया, तब वह जलता है। यह हृदय उस प्रकाशरूप दीपकके लिए आधार नहीं है। इसमें वासनाका तेल नहीं है, इसमें प्रारब्धकी बत्ती नहीं है और एक दीयेसे जलाके यह दीया नहीं रखा गया है, ऐसा है यह स्वयंप्रकाश आत्मज्योति, यह उपाधिमें प्रकाशित नहीं है, यह उपाधिको प्रकाशित करनेवाला है।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।

एक अर्थ है **यतचित्तस्य**—योगीका विशेषण है, **यतं चित्तं यस्य तस्य योगिनः।** दूसरा अर्थ करते हैं नहीं, नहीं, ***योगिनः यतस्य चित्तस्य परम धारयस्मात् यतं च तत् चित्तं, यत् चित्तं तस्य;*** योगीका जो वशमें किया हुआ चित्त है, उसकी यह गति है। किसकी? कि **युञ्जतो योगामात्मनः** किसको चाह रहे हो? तुम्हारा ईश्वर कहाँ है? ठण्डकमें रहता है कि राकेटमें उड़ रहा है? भला तुम्हारा ईश्वर रहता कहाँ है? चन्द्रलोकके खण्डमें क्या उसका निवास है! कहाँ रहता है तुम्हारा ईश्वर? यदि तुम्हारे इस हृदय-गुहामें, तुमसे अभिन्न होकर तुम्हारा ईश्वर नहीं रहता है, तो कहाँ ढूँढ़ रहे हो ईश्वरको?

भाई देखो, योगके समाधिकी बात करनी पड़ेगी तब ऐसे करनी पड़ेगी। आपको भगवान्‌की लीला सुननी है, तो भागवतमें खूब प्रेमसे हम आपको सुनायेंगे। वेदान्त सुनना हो तो ब्रह्मसूत्र सुनो, उपनिषद् सुनो। कोई-कोई पूछते हैं कि महाराज, आपकी कौन-सी निष्ठा है? वेदान्त बोलते हो तो वेदान्त, लीला बोलते हो तो लीला, योग बोलते हो तो योग, आपकी भी कोई निष्ठा है? श्री उड़िया बाबाजी महाराज तो खास उसकी चर्चा करते थे। हम कहते थे कि यह निष्ठा-निष्ठ जो लोग होते हैं वे तो देहाभिमानी होते हैं। एक देहमें रहकर किसी निष्ठामें लगे हुए होते हैं। हम तो अनिष्ठानिष्ठ हैं। कि महाराज, आप अपने जीवनमें कुछ नियमका पालन करते हैं! बोले—हम नियमका पालन नहीं करते हैं, अनियम ही हमारा नियम है। आप क्या चिन्तन करते हैं? अचिन्तन ही हमारा चिन्तन है।

अपनी-अपनी जगहपर सब ठीक है। भक्तिमें भक्ति ठीक है, योगमें योग ठीक है, वेदान्त ठीक है, जो जिसका अधिकारी है उसके लिए वह ठीक है। वैद्यसे पूछो, तुम्हारे औषधालयमें इतनी दवा रखी हैं, इसमें अच्छी दवा कौन-

सी है? वैद्य पूछेगा पहले अपना रोग बताओ गुरु, तब बतायेंगे कि सबसे अच्छी दवा हमारे पास कौन-सी है। अरे, तुम्हारे जैसा रोग है उस रोगके लिए दवा अच्छी होती है। दवा अच्छी-बुरी नहीं होती है। रोगीके अनुरूप दवा अच्छी-बुरी होती है। न योग बुरा है, न उपासना बुरी है, न तत्त्वज्ञान बुरा है, न धर्म बुरा है। जो जहाँ गिरा है वहाँसे उठानेके लिए उसने दवा खाई है।

अब आओ आप—**यत्रोपरमते चित्तं तो यतचित्तस्य उपरत चित्तस्य, उपरतं चित्तम्। आत्मनः योगयुञ्जतः।** तुम किससे मिलनेके लिए पधार रहे हो? यह अभिसार कहाँ? अभिसार तो आप लोग जानते होंगे न! जब गोपी अपने घरसे लोगोंसे छिपाकर कृष्णसे मिलनेके लिए चलती है, तब उसको बोलते हैं अभिसार कर रही है। तो आपका यह अभिसार किसके लिए है? किसके मिलनेके लिए पधार रहे हैं? यह अन्धेरी रात अमावस्याकी, और इसमें यह काली साड़ी, गोरा तन छिपानेके लिए काला अंजन भी शरीरमें लगा लिया; आप कहाँ पधार रहे हैं? कुछ पता है! यह नदी बहकर कहाँ जा रही है, अभिसारका अर्थ यह होता है, सरिता कहाँ जा रही है?

सरिता मिली तड़ाग से हो दीन्ही कूल बिंदार।
नाम मिटै सरिता भई अब कौन निबेरै बारि?

नदी जाकर सरोवरसे मिली और जो किनारा था वह टूट गया, तड़ागका नाम मिट गया, नदी रह गयी, अब नदीका पानी है और यह तड़ागका पानी है, कौन अलग-अलग कर सकता है?

ग्वालिनी प्रगट्यो पूरन नेह।
दधि भाजन सिर पर लिये हो कहति गोपालहिं लेहु।
मन्दिर में दीपक जरै बाहर लखै न कोय।
तृण परसत प्रज्वलित भयो अब कौन विधि होय।
ग्वालिनी प्रगट्यौ पूरन नेह।

: २० :

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥

यहाँ क्या होता है कि **यत्र चित्तं उपरमते**—जहाँ चित्त उपराम हो जाता है। उपराम हो जाना माने कहीं जानेकी कोई रुचि ही नहीं है। हमारे जो सत्संगीलोग हैं न, उनकी जब साधनमें बड़ी ऊँची गति होती है, तो कहते हैं—महाराज, अब कथा सुननेकी, सत्संगमें जानेकी रुचि नहीं होती। कि आपकी रुचि कहाँ है ? कि बोले—महाराज, बिलकुल एकान्तमें रहनेकी रुचि है। पर महाराज, जब ये निकलते हैं बाजारमें तो लौटनेका नाम ही नहीं लेते हैं। दो-दो घंटे बाजारमें रह जायेंगे। बोले—सत्संगमें तो अब रुचि नहीं है, बाजारमें तो रुचि है। इसके बिना तो काम ही नहीं चलेगा। कि महाराज, बातचीतमें रुचि नहीं है। किसीकी बहू-बेटीकी बात हो, दुश्मनी-दोस्ती करनी हो तब देखना दुश्मनी-दोस्ती जो तुम्हारे चित्तमें भरी है, वह प्रकट हो जायेगी। भगवान्की चर्चा करनेमें अरुचि हो गयी। अभागे हैं, अभागे-सत्संग छूट गया, भगवान् छूट गये। यदि तुम्हारी समझ ठीक नहीं होगी, तो मन ठीक हो जायेगा ? सत्संगके बिना समझ ठीक नहीं होती और समझ ठीक हुए बिना मनकी वासना नहीं मिटती। और, मनकी वासना मिटे बिना भजनका स्वाद नहीं आता। और भजनमें स्वाद आये बिना भजनमें निष्ठा नहीं होती। भजनमें निष्ठा हुए बिना भजनीय साक्षात्कार नहीं होता। भजनीयका साक्षात्कार हुए बिना हमारी और उसकी आत्मा एक है इसका पता कैसे चलेगा! जब तुम्हारी बुद्धि ही नहीं समझेगी तो तुम अपने मनसे अट सट, जैसे कोई आमके पेड़को पहचानता तो न हो और जाकर अफ्रीकाके जंगलोंमें भटकने लगे कि कहीं-न-कहीं एक दिन हमको आमका पेड़ मिल ही जायेगा, ऐसे ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती। जिस

चीजको तुम पहले सत्संग करके पहचान नहीं लोगे, वह चीज तुमको दिलके अँधेरेमें कहाँसे मिल जायेगी ? पहले पहचान तो लो।

मुझको क्या तू ढूँढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास हूँ।
बन्दे से बन्दा खुला से खुदा।

यत्रोपरमते चित्तं—पहले यह चित्त है, उपराम हो जाये। फिर उसके बाद **योगसेवया निरुद्धं तत्। आत्मना आत्मनि आत्मानं पश्यन् तुष्यति।** अरे यह जगत् कर दिया। यह अजब है, यह साधारण बात नहीं है। **यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।** स्वयंमें स्वयंको देखकर; जो देखनेवाला है वह स्वयं है और जिसको देख रहा है वह स्वयं है और जो देखा जा रहा है, वही नैनोंकी ज्योति बन रहा है और वही अपने प्रियतममें प्रकाश बन रहा है। प्रियतममें जो रौशनी है सो भी वही, आँखमें जो रोशनी है सो भी वही और दिलमें जो रोशनी है सो भी वही। दिल गया, आँख गयी, प्रियतमा गयी, रह गयी वह रश्मिमाला, वह अखण्ड ज्योति, वह अखण्ड अद्वय रश्मि। जहाँ आत्मना, आत्मनि आत्मानं। आत्मनि अधिकरण। किसमें कौन किसको देखता है ? बोले स्वयंमें स्वयं, स्वयंको देखता है। गोली मार दी न दूसरेको !

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।

क्या दिख रहा है ? एक महात्मा एक दिन पोथी पढ़ रहे थे। किसीने पूछा—इसमें क्या पढ़ रहे हो ? बोले—इसमें अपनेको पढ़ रहा हूँ। इस पोथीमें मेरी तारीफ लिखी है। दुनियामें जिस किसी पोथीमें जो कुछ लिखा हुआ है जिस क़िसी जीभपर जो कुछ शब्द आता है, जिस किसी दिलमें जो भाव उठता है वह मुझमें, मुझसे, मेरे लिए उठता है। वह मुझमें है, वह मुझसे है, वह मेरे लिए है। क्या काटकर रख दिया अपनेको कहीं, और एक छटांतक़ ही अगर देखनी है, तो सत्संगमें काहेको आते हो ? पहले असत्संग कर लो, अगर कटावत देखनी है तो असत्संग करो। एक महात्माने कहा कि बेटा, अगर तुम्हारा संसारमें जानेका मन है, तो जाओ ! बोले—महाराज जायेंगे तो फँस जायेंगे। कि नहीं, बिलकुल नहीं फँसोगे, हम जिम्मेवारी लेते हैं। तुम वह चीज़ नहीं हो जो संसारमें फँस जाती है। महाराज, हमारे एक चाचा थे, ऐसे उठाकर हमको

ऊपर फेंक देते, फिर लोक लेते, नीचे कभी नहीं गिरने दिया। कभी-कभी तो ऐसा खतरेका काम करते थे, हमको याद है, दोनों हाथ पकड़कर कुएँमें लटका देते थे। जब वे उचकाते थे ना ऊपर, तो बड़ा मजा आता था, हम कहते—और और उचकाओ। और जब लटकाते थे कुएँमें तो हँसी आती थी, खूब हँसी आती थी। वाह-वाह-वाह, साहसका काम है न! तो जब चाचाके हाथमें हैं, तब मरनेका क्या डर! तो यदि बेटा, संसार ही भोगना है तो जाओ जरा खुले-खुले भोगकर आओ। जाओ देखकर आओ, संसारमें क्या मजा है! बोले—रह जाओगे संसारमें, कि सो नहीं। अब ऐसा चूरा पड़ गया है, तुम्हारे कलेजेमें ऐसी दवा घुस गयी है, तुम्हारे अन्तःकरणमें, ऐसी विद्या, ऐसा जादू हो गया है कि अब तुम संसारमें फँस नहीं सकते, भटक नहीं सकते, जहाँ जाओगे वहाँसे निकल आओगे, यह सत्संगका असर क्या मामूली है! यह सत्संगका रंग क्या मामूली है! तुमको ऐसा कोई मिलेगा ही नहीं। सत्संग सरीखी जगह कहीं मिलेगी ही नहीं सृष्टिमें तुमको! लौटकर आना पड़ेगा सत्संगमें तुमको। लोग काममें, प्रेममें, लोभमें, मोहमें फँसे हुए हैं! तो कहाँ चलना है?

योगसेवया निरुद्धं चित्तं यत्र उपरमते।

योगका सेवन करते-करते पहले चित्त निरुद्ध हुआ, रोका गया। यह जो लोग कहते हैं रोको मत, आप समझते होंगे आ-हा-हा हमारे मनकी बात कह गये! कोई बीमार बच्चा मिठाई खाने जा रहा हो और कह दो कि अच्छा बेटा खा लो, तो सोचेगा ये हमसे बहुत प्रेम करते हैं, हमको मिठाई खानेको कह दिया। जहाँ तुम्हारा मन जाता है, तुम्हारी हाँ-में-हाँ मिला दें, तब तुम समझोगे कि बड़ा प्रेम, बड़ा प्रेम; यही चाहते हो न कि हम गड्ढेमें जा रहे हों, तो सब लोग कह दें कि हाँ शाबाश बेटा, गड्ढेमें कूदकर देख तो लो! नहीं, नहीं, आपको सच्ची बात बताते हैं। अगर आप अपने कर्मको छोड़ दोगे तो ऐसे कर्म करोगे जिससे आप ही के हाथ और पाँव और मुँह कट जायेंगे भला! गला कट जायेगा आपका। और यदि आप भोगमें अपनेको खुला छोड़ दोगे तो ऐसा भोग करोगे कि मर जाओगे। कहीं-न-कहीं आपको कर्मसे रोककर रखना पड़ेगा, कहीं-न-कहीं आपको अपने भोगको बन्द करना पड़ेगा, कहीं-न-कहीं आपको अपनी बोलीको रोकना पड़ेगा; कहीं-

न-कहीं आपको अपना संग्रह भी रोकना पड़ेगा। तो यदि आप अपने मनको रोकते नहीं हो, ऐसा रोको कि उसकी आदत बन जाये, प्यारसे रोको, नियमसे रोको, दण्डसे रोको पर मनको रोको। तो **यदा निरुद्धं तत उपरमते**—हम तो उसको रोकें। पहले जब घोड़ा-बैल खरीदकर ले आते हैं, तो जरा छूटा और भागकर अपने पहलेके मालिकके घर चला जाता है, तो फिर ले आते हैं, फिर फिर ले आते हैं। दो-चार दिनमें जब देखता है कि यहाँ भी भुस अच्छा है, यहाँ भी खली अच्छी है, यहाँ भी चनाका बहुत बढ़िया दाना खानेको मिलता है, तो घोड़े भी चना खाना पसन्द करते हैं। तो ऐसी आदत बनाओ कि न अगाड़ी रहे न पिछाड़ी, न बागडोर रहे और घोड़ा अपना स्थान छोड़कर कहीं न जाये। घोड़ेको ऐसा सधा लो कि बिना लगामके, बिना बागडोरके, बिना अगाड़ीके, बिना पिछाड़ीके घोड़ा पीछे-पीछे चले तुम्हारे। एकका घोड़ा तो इतना सधाया हुआ था, कि एक दिन घोड़ेका मालिक घोड़ेपर-से गिर गया। अब घोड़ा गिरे हुए मालिकके पास इधर-उधर घूमता रहा कि क्या करे, उसकी समझमें नहीं आया, फिर वह महाराज, बैठ गया और मुँहसे मालिककी पैंट पकड़कर पीठपर फेंक लिया, जब पीठपर मालिक बैठ गया, तो वह सीधे अस्पतालमें ले गया, परन्तु उस अस्पतालमें ले गया जहाँ घोड़ेकी दवा होती थी। अब घोड़ेपर अगर खुदको छोड़ भी दिया जायेगा, तो चाहे कितना भी सधा हो, घोड़ा तो जहाँ उसकी आदत होगी वहीं ले जायेगा। तो

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।

योगकी सेवा करके चित्तको ऐसा बनाओ कि सब ओरसे उपराम हो जाओ। चित्त अपने मालिक आत्माको छोड़कर और कहीं जाना पसन्द ही न करे। और,

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।

दूसरा नहीं, **आत्मना**, न तु **अनात्मना**, आप अपनेको मनसे मत देखिये, आप अपनी आँखसे अपनेको मत देखिये। अरे शीशेमें देखना हो तो आँख चाहिए, उसका तो उपाय भी है अगर शीशेमें अपनी आँख छोटी लगे तो एक डण्डा मार लीजिये।

आँख देखनी हो तो शीशेमें देखिये, लेकिन आँख ही देखनी है तो अपने मनसे देखिये, मनसे मत देखिये, मनको देखिये, बुद्धिसे मत देखिये, बुद्धिको देखिये, अहंसे मत देखिये, अहंको देखिये, **आत्मना**। तो मनको मत देखिये, बुद्धिको मत देखिये, अहंको मत देखिये, अपनेको देखिये। देखनेवाला कहाँ है और देखा जानेवाला कहाँ है! अपने आपमें है। अपने आपमें, अपने आपसे अपने आपको देखिये। इसका अर्थ है देखनेवाला, देखनेके औज़ार और देखा जानेवाला—ये तीनों ज़ुदा नहीं हैं और फिर **तुष्यति**। असन्तोष नहीं रहे कि महाराज, दस बरस इस मन्त्रका जप किया, फिर एक महात्माके पास गये। बोले—महाराज, मैं जो जप करता हूँ, वह ठीक है कि नहीं? संशय हुआ न; आप नहीं जानते होंगे कि दस हजार बरस चाहे जप करो, लेकिन अपने गुरुमें, मन्त्रमें, इष्टमें यदि संशयकी उत्पत्ति हो जाये, तो उसकी नींव हिल जाती है, वह खम्भा ही हिल गया, वह आपके मकानको सम्हाल ही नहीं सकता। संशय जो है, यह निश्चय कि नींवको डाँवाडोल कर देती है तो '**तुष्यति**'का अर्थ है, सम्पूर्ण सन्तोषके साथ अपने आपमें, अपने आपसे, अपने आपको देखो। माने हृदयमें बैठकर, मनकी ज्योतिसे, मनके किसी विषयको मत देखो।

भगवान् श्रीकृष्णका हृदय अर्जुनके प्रति करुणाके वशीभूत होकर, स्नेह तत्त्वके वशीभूत होकर उनका हृदय वाणीपर आ गया और अर्जुनकी आज्ञा मान ली, युद्धमें दोनों ओरके बीचमें ले जाकर रथ स्थापित किया, जब अर्जुन मोहसे ग्रस्त हो गया तो डाँटकर बोले—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।

या **प्रज्ञावादांश्च भाषसे**, यह बड़ी ममता है, बड़ा स्नेह है। नहीं तो ईश्वरका स्वभाव यह है कि दुनियामें चाहे कोई कुछ करे और चाहे कुछ बोले और चाहे कुछ भोगे वह तो तटस्थ है, कूटस्थ है, अधिष्ठान है, स्वयं प्रकाश है। असली ईश्वरका स्वरूप यही है। किसीको न आज्ञा देता, न किसीको निषेध करता। उसके दिलमें जो कर्म संस्कार इकट्ठे होते हैं, वही अपना सब काम कर लेते हैं। यह माया महारानी ऐसी चतुर हैं कि परब्रह्म परमात्मासे मिले बिना ही दुनिया पैदा कर लेती हैं। उनकी निठुरता बड़ी विलक्षण है। परन्तु जब किसीके प्रति ममता होती है कि यह अपना है और

गड्ढेमें गिरेगा तो उसके प्रति ईश्वरका हृदय भी द्रवित हो जाता है, उसकी आँखमें आँसू आ जाते हैं, उसका हृदय करुणासे व्याकुल हो जाता है। और वह कहता है—अर्जुन! **अशोच्यान्नवशोचस्त्वं**, जिस बातके लिए शोक नहीं करना चाहिए, उसके लिए तुम शोक करते हो। माने तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। उसका यही अर्थ है कि तटस्थ कूटस्थ स्वयंप्रकाश सर्वाधिष्ठान परमेश्वर भी जब देखता है कि मोहकी उपाधिसे जीवात्मा ग्रस्त है, तो स्वयं करुणाकी उपाधिसे ग्रस्त होकर वह बोधका दान करनेके लिए, बोधका संगीत गानेके लिए उद्यत हो जाता है। नहीं तो कहाँ युद्धभूमि और कहाँ योगका उपदेश! उपदेश नहीं है, यह तो एक मित्रका अपने दूसरे मित्रके प्रति हृदयका दान है ***गीता मे हृदयं पार्थ***, अर्जुन ले ले मेरा दिल। लेकिन यह मोह तो छोड़ दे। कहाँ नरकमें जा रहा है मोह ग्रस्त होकर।

तो इस युद्धभूमिमें भगवान् श्रीकृष्ण योगका संगीत गा रहे हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।

'योगसेवया निरुद्धं चित्तं यत्र उपरमते'—साधन बताया। क्या? **योगसेवया**। निरन्तर। अन्तर कहते हैं, जैसे दो अंगुलियोंके बीचमें फाँक है न, फर्क है न, इसको बोलते हैं अन्तर। दो अंगुलियोंमें अन्तर है, क्या? अवकाश है। तो निरन्तरका अर्थ होता है कि जहाँ दो चीजके बीचमें कोई अन्तर न पड़े। उसका नाम निरन्तर, उसका नाम अनन्तर, बिना फाँककी चीज़, आमको काटके दो फाँक बना दिया। दो फाँक न होने पाये चित्तकी, दीर्घकालतक निरन्तर, सत्कार-बुद्धिसे योगकी सेवा करनेके पश्चात् यह चित्त निरुद्ध होता है। माने रुक जाता है। इधर-उधर भटकना बन्द कर देता है। पिंजड़ेमें बन्द चिड़िया फड़फड़ाती है, परन्तु जब वहाँ खाना मिलने लगता है, पानी मिलने लगता है, जब वही रचपच जाती है, रम जाती है, तब फड़फड़ाती नहीं है। **निरुद्धं, पुरा निरुद्धं पश्चात् उपरमते**। पहले उसको रोकना पड़ता है, पीछे वह स्वयं उपराम हो जाता है।

देखो, योगसेवा साधन है, निरुद्ध अवान्तर स्थिति है और उपरमते फल है। उपराम हो गया, अब स्वयं चिड़ियाका कहीं जानेका उड़नेका मन नहीं है। हमने ऐसा देखा है, लोग तोता पालते हैं, वही तोता जो पहले दिन पिंजड़ेको

अपने चोंचसे काट डालना चाहता था, जो पंख फड़फड़ाकर मय पिंजड़ेके उड़ जाना चाहता था, एक दिन ऐसा आता है कि उसी तोतेको पिंजड़ेसे निकालकर बाहर रख देते हैं और वह कहीं उड़कर नहीं जाता, फिर पिजड़ेमें, घुस आता है। अब वह उपराम हो गया। अब उसको किसी दूसरे पोपटसे मिलना नहीं है, कहीं दूसरी जगह जाकर चारा चुगना नहीं है। कहीं दूसरे पेड़पर जाकर फल खाना नहीं है, उसको तो वहीं तृप्ति है—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।

ऐसा अभ्यास करो, ऐसी योगसेवा करो कि चित्त पहले हो निरुद्ध। चित्त विक्षिप्त एकाग्र भूमिका परित्याग करके, मूढ़ताकी तो चर्चा ही मत करो; मूढ़ भूमिमें तो योग सेवा नहीं है। चित्त विक्षिप्त, एकाग्र भूमिकाका परित्याग करके निरुद्ध भूमिमें चला जाये। और निरुद्ध भूमिके बाद चाहे आसन हो चाहे न हो, प्राणायाम हो चाहे न हो, धारणा हो चाहे न हो, ध्यान हो चाहे ना हो, पर मनीराम तो मौजसे चाहे जहाँ-के-तहाँ पड़े हैं। किसीने कहा-मनीराम! जरा कहीं चलो तो सैर कर आवें। बोले—अभी क्या रखा है जानेमें। हमारे साईंको किसीने कहा कि चलो कश्मीर ले चलें। तो बोले—हमारे आँख बन्द करनेपर जैसी सुन्दरता दिखती है, जो वृन्दावन धाम, जो गोलोकके दिव्य दृश्य हमको हमारे भीतर दिखते हैं वे क्या कश्मीरमें देखनेको मिलेंगे? अरे करोड़-करोड़ कश्मीर उसपर निछावर करके फेंक दें, जो सौन्दर्य, जो माधुर्य, जो सौस्वर्य, जो सौकुमार्य, जो सौरस्य, जो सौरभ्य हमारे हृदयमें है, उसपर बाहरकी हजार-हजार सुन्दरता निछावर करके फेंक दें—**उपरमते।**

अब देखो—दूसरी भूमिका आ गयी—

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।

चक्षुर्भ्यां मंजूषायां रत्नं पश्यति।

कोई ऐसा आदमी है जो अपनी दोनों आँखोंको एकमें मिलाकर, कोण मिलता है दोनोंका, पेटीमें रखे हुए, मंजूषामें रखे हुए हीरेको देखता है। हीरा कहाँ रखा है? कि मंजूषामें; और कैसे दिखता है? कि आँखसे दिखता है। परन्तु इस स्थितिमें यह चमत्कार हुआ कि ***तत्र रत्नमपि नास्ति मंजूषापि नास्ति चक्षूंषिऽपि नष्टः।*** वहाँ हीरा नहीं है, वहाँ मंजूषा नहीं है, वहाँ आँख

नहीं है। **तत्र आत्मनैव आत्मनि एव आत्मानं एव पश्यति।** वहाँ मंजूषाकी जगहपर अपना आपा है, आँखकी जगहपर अपना आपा है। हीरेकी जगहपर अपना आपा है। देखनेवाला खुद, देखनेके लिए आँखकी तरह औज़ार खुद, देखे जानेवाली चीज हीरा खुद। अपने आपमें, अपने आपसे अपने आपको देख रहा है। थोड़ा-सा इस पर और विचार कर लो! बाहरकी चीज़ देखनेमें तीन चीजें हैं, लेकिन जरा आँख बन्द करके आप कुछ देखें। हे भगवान् आप समझते होंगे कि हम तो नहीं देख सकते कि आप अपने मनमें क्या देखते हैं। कि भाई जैसे दो आँख हमारे वैसे ही दो आँख बाबाजीकी। तो यह बाबाजी हम अपने दिलमें जो देखेंगे उनको क्या दीखेगा! अच्छा, ठीक है, हम नहीं देख सकते, लेकिन यह साधनाका मार्ग दूसरेको दिखाकर करनेका नहीं है, यह ईमानदारीका मार्ग है। आप यदि अपने तईं, अपने दिलमें अपने बारेमें ईमानदार नहीं है, तो दूसरा कोई आपको क्या मानता है, इससे साधनाके क्षेत्रमें आपका कुछ बननेवाला नहीं है। दूसरा आपको योगी माने, सिद्ध माने, भगवान् माने, लेकिन आप अपनेको क्या देखते हैं, आपके काम तो आपकी नज़र आयेगी। यह ईमानदारीका मार्ग है और खास करके अपने प्रति ईमानदारीका मार्ग है, यह दूसरेको दिखानेके लिए, यह भरी सभामें बैठकर शीर्षासनकी नुमाइश करनेके लिए नहीं है, यह लोगोंको प्राणायाम दिखानेके लिए नहीं है, साधनाका क्षेत्र तो अपने आपको अपने आपमें बैठानेके लिए है। स्वयं आपकी ईमानदारी आपके साथ चलेगी।

अब देखो, आप आँख बन्द कर लो। आपको अपने दिलके भीतर कुछ दीखता है? तो आपका दो मन है भला एक मन देख रहा है और एक मन शत्रुका रूप धारण करके या मित्रका रूप धारणकर, गायका रूप धारणकर सुअरका रूप धारण करके आपके हृदयमें दीख रहा है। हृदय तो हुआ पेटीकी जग़हपर और हीरेकी जगह हुई वह सुअर, गाय, औरत या मर्द और मनकी ही आँखोंसे वह दिखती है। बोले—यह भी नहीं, ठहरो! इसमें भी *'अनात्मनि अनात्मना अनात्मानं पश्यति।'* हृदय रूप अनात्मामें मनरूप अनात्मासे अनात्मारूप शत्रु या मित्रको आप देख रहे हैं। इसको भी छोड़िये!

यत्र चैवत्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।

बाहरका तो आप तरह-तरहसे जैसे विचार चन्द्रोदयमें समझाया है, वैसे आप समझिये। आप कानके द्वारा, बाँसुरीसे निकलते हुए, शंखके बजते हुए शब्दको सुनते हैं। वह बाहरका मामला है, इसको छोड़ दो। आप त्वचाके द्वारा, कपड़ेमें रहनेवाले सुकोमल स्पर्शका अनुभव कर रहे हैं, उसको बाहर छोड़ दो। आप नेत्रके द्वारा बल्बमें जगमगाती हुई रोशनी देख रहे हैं, उसे छोड़िये। आप जीभके द्वारा अंगूरमें आनेवाले स्वादको चख रहे हैं, उसको छोड़िये। आइये, जरा मनमें जो आपको हृदयरूप पेटीमें शत्रु-मित्ररूप कुछ हीरा-मोती-पत्थर, अमृत-विष जो आपको अपने मनसे दिख रहा है, इस त्रिपुटीको भी छोड़िये। जो कुछ अनात्मनि अनात्मना अनात्मानं है उसको छोड़ दो। अब क्या हुआ कि अब कुछ नहीं है। अरे 'कुछ नहीं है' यह ज्ञान है न; कुछ नहींमें भी है और यहाँ 'है' और ज्ञान—ये पृथक्-पृथक् नहीं हैं। ज्ञानका यही स्भाव है। आप ज्ञानके स्वभावको देखें। यह पुस्तक है, चौकीपर रखी हुई और यह पुस्तक शब्द है मुँहमें जीभपर नाचता हुआ और पुस्तक शब्द मुँहमें, पुस्तक चौकीपर, शब्दका और अर्थका सम्बन्ध है वह आपके हृदयमें कुलबुला रहा है, नाच रहा है। इन तीनोंको छोड़ दीजिये, आप क्या हैं? आप इसीमें—शरीरमें बैठे हुए नहीं हैं। आपका आधार दिल नहीं है। दिलके आधार ज्ञानस्वरूप आप हैं। आप आँखमें, मनमें बैठकर देखनेवाले नहीं हैं, आप आँख और मनके आधार हैं। आप हीरेकी तरह दीखनेवाले नहीं, आप स्वयं द्रष्टा दृङ्मात्र हैं। देश-काल-और वस्तुका सम्बन्ध छोड़कर आप जो स्वयं हैं, उसका अनुभव कीजिये। सचमुच आप अनुभवस्वरूप हैं। अनुभवके विषय नहीं हैं, अनुभवस्वरूप हैं। यह अनुभवका विषय बनानेके जो आदमी चक्करमें पड़ जाता है, उसको जिन्दगी भर चेला बनकर रहना पड़ता है और जो अपनेको अनुभवस्वरूप जान लेता है और जानता है कि यह अनुभवस्वरूप अनुभवका विषय नहीं है, स्वयं अनुभव है, वह चेला, गुरु दोनोंके चक्करसे छूट जाता है। तो यह अनुभव स्वरूप अपना आत्मा है। सचमुच परम सुख यही है। सच्चा सुख यही है। परमार्थ सुख यही है। अपना आत्मा, न गुरु, न चेला, सबसे भला अकेला।

अब देखो, हम आत्माके साक्षात्कारका जहाँ वर्णन कर रहे हैं वहाँ न जीवका जीवत्व है, तब गुरुत्व और शिष्यत्व कहाँसे होगा, वहाँ ईश्वरका ईश्वरत्व नहीं है, वहाँ प्रकृतिका प्रकृतित्व नहीं है। उस अखण्ड अद्वय तत्त्वमें जब किसी प्रकारका भेद ही नहीं है तो आपको कैसे सुनायें! वेद भी तो कहता है—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

एक बार श्रीआनन्दमयी माँ और श्री उड़ियाबाबाजी दोनों बाँधपर विराजमान थे। माँके भगत महाराज, बड़े ही श्रद्धालु, क्या पूछना। दोनों ही विराजमान थे। एक भक्तने आकर पूछा कि महाराजश्री आप आनन्दमयी माँको क्या मानते हैं? महाराजजी सहज स्वभावसे बोले—जो मैं हूँ सो माँ है, जो माँ है सो मैं हूँ! अरे मैं-माँ-ये शब्द ही अलग-अलग हैं, इनका जो परमार्थी अर्थ है सो कहीं अलग-अलग थोड़े ही है। एक भक्तने कहा—महाराज, आप तो वेदान्तकी बात करते हैं, जरा व्यवहारकी बात सुनाइये! तो उड़िया बाबाजी महाराज बोले कि देखो, यदि मुझसे, मेरे स्वरूपसे माँ कुछ भिन्न है तो वह मिथ्या है, वह माया है, वह प्रतीतिमात्र है। आत्मसत्ताके सिवाय, आत्मस्वरूपके सिवाय उससे माँको अलग करो या मुझको उससे अलग करो, जिसको उससे अलग करोगे, चाहे उससे अपने शरीरको अलग करो, चाहे दूसरेके शरीरको अलग करो वह तो परमार्थसत्ता, आत्मदेव पृथक् होते ही अनात्मा माया मिथ्या है। अखण्ड, अद्वय तत्त्वमें माँका और मैंका, जीवका और ईश्वरका, गुरुका और चेलाका, तुमका और मैंका, यहका और वहका, अबका और तबका, यहाँका और वहाँका यह सब कुछ भेद नहीं होता और यह अभेद ही परम सुख है, क्योंकि इसमें जिज्ञासु और ज्ञानीका भेद नहीं है। क्योंकि इसमें कर्त्ता और कर्मका भेद नहीं है, क्योंकि इसमें उपलब्धा और उपलब्धिका भेद नहीं है।

: २१ :

सुखमात्यन्तिकं तत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥

अच्छाजी अब आगे चलो! बोले—यही परम सुख है। अच्छा, आपको सुनाते हैं, ज्ञान और सुख—दोनोंको आप अलग-अलग करके जरा रखो। तब हम आपसे बात करेंगे। ज्ञानसे अलग होकर सुख जिन्दा रहेगा कि मर जायेगा? ज्ञानसे अलग होते ही सुख सुख मालूम ही नहीं पड़ेगा कि सुख है। तुम जो तिजोरीमें सुख रखते हो और बैंकमें सुख रखते हो, और श्रीमती-श्रीमानमें सुख रखते हो, वह तुम्हारा रखा हुआ सुख किसी काम नहीं आयेगा। असलमें ज्ञानसे अलग रहकरके सुख जिन्दा ही नहीं रह सकता, मर जायेगा।

बोले—कि नहीं, हमारे एक पड़ोसी हैं, वे सुख कैसे मानते हैं, हमारे एक मामा लगते थे। वे तगड़े थे महाराज, हमारी माँ भी तगड़ी थी। आजकल तो लोग जानबूझकर सींकिया पहलवान बनते हैं। हमारे पिताजी भी बड़े तगड़े थे। सो बड़े तगड़े मामा थे महाराज! तो भाँग पीते थे। छोटीसी जमींदारी थी, एक छोटासा छंप्पर डाल लिया था, पट्टा बिछा लिया था, और उसपर मौजसे सोते थे। कहते थे कि बस दो ही सुख हैं दुनियामें, एक तो चभन्त और एक लिटन्त,

माने मौजसे खाओ और खूब मौजसे सोते रहो। एक हमारे मित्र हैं, कहते हैं दो विद्याओंमें मैं निपुण हूँ, एक खाना और एक पाखाना। तो अब यह नशावशा खाकर जो लोग सुखी होते हैं, *न शं शान्ति यया स नशा।* तो तमोगुणी सुख, रजोगुणी सुख और सत्त्वसगुणी सुख, इन तीनोंको जब अलग करेंगे तब आपको सुखस्वरूप आत्मसुखका पता चलेगा।

तो आओ; जरा अलग-अलग करके देखें। एक तो आप समझ लो कि ज्ञानसे आप जिस चीजको अलग कर देंगे, वह जड़ हो जायेगी। दूसरी बात, ज्ञानसे अलग होनेपर वह है कि नहीं है, इसकी जानकारी आपको कैसे होगी? यदि किसी भी चीजको आप अपनी जानकारीसे अलग फेंक देते हैं, ईश्वर भी जानकारीसे अलग होकर या तो जड़ होगा या तो कल्पित होगा। हमारे ज्ञानसे अलग होकर हमारे ईश्वरको या तो कल्पनामात्र होना पड़ेगा या तो मुर्दा होकर रहना पड़ेगा। दो ही स्थिति है परमेश्वरकी—

त्वां विनान स्वरूपोऽहं मां विना त्वं कथं स्थितः।

ईश्वरके बिना मैं परिच्छिन्न हो जाता हूँ और मेरे बिना ईश्वर जड़ हो जाता है। मैं ही ईश्वरको चेतन करता हूँ, ज्ञानस्वरूप बनाता हूँ। तो आओ आपको जरा तमोगुणी सुख, रजोगुणी सुख और सत्त्वगुणी सुख, इनको पहले समझ लो, बादमें आत्मसुखको देखो; यह तीनोंसे विलक्षण है। तो जो हमारे मामाका सुख था, भाँगसुख, वे रोटी नहीं बनाते थे खानेको और दूसरेके हाथका बना वे खाते भी नहीं थे। तो बोले—जब दही मिले, दूध मिले, मलाई मिले, रबड़ी मिले खानेको, चभन्त मिल जाये तो आगपर रोटी क्यों सेंकें! वे बिलकुल आलसीकी तरह पड़े रहते थे। न कोई काम न धन्धा तो—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।

निद्रा है, आलस्य है, प्रमाद है और बस मोह हीका सुख है, देहमें मूढ़ हो रहे हैं, उसीको खिलाते हैं, पिलाते हैं; बोले, परिश्रम न करना पड़े, हाथ-पाँव हिलाना न पड़े, चभन्त या लिटन्त। साधो खूब खाओ, यह तमोगुणी सुख है। यह तो महाराज दो चपत अगर कर सके लगाया जाये तो यह सुख भाग जायेगा। वह तो जबतक कोई चोर नहीं आता है, डाकू नहीं आता है, साँप नहीं

आता है, कोई लाठी लेकर दो आदमी खड़े नहीं होते हैं, तबतक ये तमोगुणी लोग सुखी रहते हैं, उनके सुखमें तो कोई तत्त्व ही नहीं है।

अब रजोगुणी सुख देखो। यह—

विषयेन्द्रिय - संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

विषय और इन्द्रियका संयोग, उसमें कुछ चहल-पहल तो है, छेड़छाड़ तो है और पहले मालूम पड़ता है कि बड़ा मजा आया, बड़ा मजा आया। जिस सुख भोगनेके बाद थकान आती हो, माने परिणाममें तमोगुण ही आता हो, जो सुख भोगकर थक जाये, अलसा जायें, सो जायें, प्रमाद आने लगे, वह सुख विषयेन्द्रिय-संयोगजन्य जो सुख है वह रजोगुणी सुख है।

अब सत्त्वगुणी सुख देखो—

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि - प्रसादजम्।

सूर्य नमस्कार करने लगे; जिस दिन नहीं करेंगे, बोले—आज शरीरमें दर्द हो रहा था। हमारे पितामह लगते थे, पहलवान थे, पाँच-सात पीढ़ीका फर्क था, पर हमलोगोंमें वही सबसे नजदीक थे। तो जब बुड्ढे हो गये न, तो लेट जाते थे धरतीपर पट्ट बिलकुल, और कहते थे चढ़कर हमारे ऊपर अपनी एड़ीसे खूब रौंदो, लताड़ो। बाबा, हम तो गिर जायेंगे, तब कहते डण्डा ले लो हाथमें, डण्डा लेकर खड़े हो जाओ और हमारे पिंडलियोंको पाँवसे रौंदो। अपनी जवानीमें ऐसे पहलवान थे। तो कसरत करनेका उनको ऐसा अभ्यास हो गया महाराज, कि अब उस कसरतके बिना व्यायामके बिना बुढ़ापेमें एक-एक गाँठ टूटे और दर्द होये। यह जो अभ्यास होता है न, यह जबतक बना रहता है, तबतक तो सुख देता है, परन्तु जब अभ्यास छूटने लगता है, तब बड़ा दुःख देता है। नहानेका अभ्यास भी दुःख देता है, माला फेरनेका अभ्यास भी दुःख देता है, बैठनेका अभ्यास भी दुःख देता है, पवित्रताका अभ्यास भी दुःख देता है। हायरे अब नहीं होता, मनमें ग्लानि होती है। आप नाराज मत होना, मैं योगकी बात कर रहा हूँ भला! तो जिसको हम अपने अभ्याससे ही संस्कार

डाल-डालकर अपने जीवनमें ले आते हैं, अपनेको सात्त्विक बनाते हैं, उससे दुःख तो जरूर मिट जाता है, लेकिन कबतक? कि जबतक अभ्यास रहेगा, तबतक।

अब जो स्वरूपसुख है, वह न तो आलस्य-प्रमाद-निद्रा-मोहजनित है, न तो वह विषयेन्द्रिय-संयोगजन्य है और न तो अभ्यासजन्य है, क्योंकि यह तो अपना स्वरूप है; तीन बातें कहनी हैं। अब आप इस श्लोकके शब्दको पकड़ो—

अतीन्द्रियम्—वह इन्द्रियातीत है, माने विषय और इन्द्रियके संयोगसे रजोगुणी सुख होता है, वह नहीं है—कट गया। रजोगुणी सुखको काटनेके लिए अतीन्द्रियम् है। यह इन्द्रिय और विषयके संयोगसे जो सुख होता है, महाराज जब आदत बिगड़ जाती है इस रजोगुणी सुखमें, जब भैंस इकट्ठी हो जाती हैं, दूध दोहते समय जब मोटे-मोटे थनवाली भैंसें होती हैं तो हाथ खिंच जाता है, जब दूधसे फूल जाता है उसका स्तन तो कभी-कभी हाथसे पकड़नेमें मुश्किल पड़ता है। परन्तु जब भैंसको आदत पड़ जाती है कि एक ही आदमीके हाथसे दुही जाय तो दूसरा जाकर नीचे बैठे तो वह हटा देती हैं। पाँवसे मारकर सींगसे मारकर हटा देती हैं, दुहने नहीं देती हैं। ये जब हमारी इन्द्रियाँ बिगड़ जाती हैं कि हमको यही विषय-सुख चाहिए, हमको तो यह भोग चाहिए -ही- चाहिए, पहले तो मालूम पड़ता है अमृत, पीछे हो जाता है वह विष। यह आदमी मिलेगा तब हम सुखी होंगे, यह भोग मिलेगा तब हम सुखी होंगे, हम ईश्वरको छोड़ेंगे, हम शास्त्रको छोड़ेंगे, हम सम्प्रदायको छोड़ेंगे, हम गुरुको छोड़ेंगे, हम तो महाराज बस, इस विषयका भोग जहाँ मिलेगा वहीं रहेंगे, गये। इन्द्रिय और विषयके सुखसे इसको मानते हैं। यह रजोगुणी सुख है। रागात्मक है द्वेषात्मक है। यह नही मिलेगा, तो नहीं रहेंगे।

हमारे पास एक साधु आकर बैठा करते थे पहले। तो जानेका नाम ही न लें। एक दूसरे साधू थे, जिनसे उनका द्वेष था, यदि वे आकर बैठ जायँ, नाम लेकर बता दें, पण्डित सुन्दरलालजी हमारे पास बैठे हों और पल्टू बाबा आ जायें, तो वे दूरसे देखते ही महाराज वहाँसे चलते बनते थे। अच्छा पल्टू बाबा बैठे हों और जरा रेडियो खोल दें या अखबार हाथमें ले लें, बस चार बात

वह कहीं सँडसीसे पकड़नेके लिए ब्रह्म थोड़े ही होता है, वह तो सँडसीसे पकड़नेवाला जो हाथ है उसकी भी आत्मा है।

अच्छा लो, अब तीसरा लो। यह जो सात्त्विक सुख है उसको काटनेके लिए क्या है? बोले—अभ्याससे जो चीज़ बनती है वह कालमें रहती है और कालमें मिट जाती है। *यज्जन्यं तदनित्यं*। जो चीज़ पैदा होती है, वह मिट जाती है। *यद् दृष्टं तन्नष्टं*। जो देखी जाती है वह नष्ट हो जाती है।

अरे महाराज, हमारे गाँवके गृहस्थ लोग बड़े जानकार होते हैं—

जो फरा सो झरा। जो बरा सो बुताना।

माने पेड़में जो फल लगा वह झड़ जायेगा एक दिन और जो जल गया वह बुझ जायेगा। जब अभ्यास करके तुमने अपने जीवनमें अनिष्ट प्रविष्ट किया तो अभ्यास शिथिल पड़नेपर वह तुमको छोड़कर चला जायेगा, यह तो एक प्रकारका तनाव है। हम दोनों अँगूठेसे नाखूनको दबाकर बैठते हैं। थोड़ी देरके बाद जब मन दूसरी तरफ चला जाता है न तो यह ढीला पड़ जाता है। वहाँ हमारा जोर फिर नहीं चलता है। न कहीं जोर मारा जाता है, न कहीं मैं भाग जाता हूँ, न अंगूठा भाग जाता है, लेकिन वह तो हम ध्यानसे दबाये रखें तब दबा रहेगा और हमारा ध्यान दूसरी तरफ गया तो हट गया। तो दोहरा-दोहराकर आता है, हमारे एक मित्र थे। उन्होंने पचास बरस गीताका लगातार पाठ किया, प्रतिदिन पाठ करते थे। उनको '**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे**'से लेकरके '**ध्रुर्वानीतिर्मतिर्मम**' 'धर्म' से सम्पुटित है गीता, पहला अक्षर-'**धर्**' गीताका और आखिरी अक्षर '**म**' है धर्म। धर्म शब्दसे सम्पुटित है गीता। '**धर्**' से प्रारम्भ होती है और '**म**' से समाप्त होती है। यह सारी गीता उनको याद थी। याद ही नहीं थी, शुरूसे पढ़कर आखिर तक और आखिरसे प्रारम्भकर शुरूतक, किस नम्बरका, कौन-सा श्लोक है और किस श्लोकका कौनसा नम्बर है और किन-किन शब्दोंका कितनी जगह प्रयोग है, पचास बरसमें उन्होंने सब रट लिया था। लेकिन जब बुड्ढे हो गये महाराज, तो श्लोक बोलते थे, तो अशुद्ध बोलते थे। हमने अपनी आँखसे देखा है। कहाँतक, तुम्हारा यह अभ्यास कहाँतक टिकेगा? यदि सच्ची वस्तुको नहीं मानोगे तो! इस अभ्यासजन्य सात्त्विक सुखको काटनेके लिए **आत्यन्तिकं** शब्दका प्रयोग है।

अभ्यासजन्य सात्त्विक सुखसे विलक्षण, मोहजन्य तामसिक सुखसे विलक्षण और विषयेन्द्रिय संयोगजन्य राजसिक सुखसे विलक्षण यह आत्मसुख है।

अब देखो, दूसरा इसका भाव और सुनाते हैं—

सुखमात्यन्तिकं तत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥

'यत्तद्' का अर्थ तो अनिर्वचनीय है। उसको अपनी डायरीमें अलग नोट करके रखना। 'जो है सो।' हमारे पण्डित लोग जब कथा पहले करते थे, ऐसा तकियाकलाम होता था कि कोई बात भी बोलें तो बोलते थे, 'जो है सो' 'गोविन्दाय नमो नमः।' और बात अपनी करते थे। तो 'जो है सो' का अर्थ यह होता था, बड़े बूढ़ोंकी आदतका भी रहस्य था। यह सृष्टिमें जो कुछ है, सो सब अनिर्वचनीय ही है। अनिर्वचनीय है तो 'यत्तद्' कहे बिना, 'जो है सो' कहे बिना काम कैसे चलेगा। अरे भाई, जो है सो एक रकम सेती हम उसके बारेमें बोल रहे हैं, वह तो जो है सो। तो आओ 'यत्तद्' को तो रखो अलग। अब दूसरी तरहसे देखो—**आत्यन्तिकं** माने कालसे अपरिच्छिन्न, *अन्तम् अतिक्रान्तः* जिसका अन्त कभी न हो उसको बोलते हैं आत्यन्तिक। अन्त होता है देश या कालमें। तो देश और कालमें जिसका अन्त नहीं होता है, वह सुख।

अच्छा, अब तीसरा देखो—**बुद्धिग्राह्यम्।** बुद्धिग्राह्यम् कहनेका अभिप्राय कि उसको चलकर नरक या स्वर्गमें नहीं मिलेगा, वैकुण्ठ, गोलोकमें नहीं जाना पड़ेगा। तो बोले कि केवल अज्ञापन—अज्ञापन रहने दो, कि नहीं ज्ञापन है। उसका अर्थ है देशान्तरमें नहीं है, कालान्तरमें नहीं है, आनन्दान्तर नहीं है। बुद्धिग्राह्यम् कहनेका अभिप्राय यह है कि वह पद संचारसे या हाथकी क्रिया-क्लापसे मिलनेवाला नहीं है। उस क्रियाकलाप और भावविशेषका निरूपण करके केवल समझ मात्रसे ही मिलता है अर्थात् नासमझी दूर होनेसे ही मिलता है। देशान्तरमें नहीं है। और **अतीन्द्रियम्** कहनेका क्या अभिप्राय है? कि विषयान्तरमें नहीं है।

तो द्रव्य-परिच्छेद काटनेके लिए *अतीन्द्रियम्,* देश-परिच्छेद काटनेके लिए *बुद्धिग्राह्यम्* और काल-परिच्छेद काटनेके लिए *आप्यन्तिकम्,* ऐसा सुख। कि महाराज तब फिर *अज्ञातम्* कहो। तो बोले—अज्ञातं नहीं, **वेत्ति,** ज्ञानस्वरूप है।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ ६.२१
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२॥

महाराज, कोई-कोई कहानी, किस्सा, चुटकुला सुनने आते हैं, तो उनको तो बहुत निराश होना पड़ता है। क्योंकि देखो भाई, जब हफ्ते भरके लिए या पन्द्रह दिनके लिए कथा प्रवचन करना हो न, तो उसमें कहानी, किस्सा, चुटकुला सुनाकर भी हम पार पा सकते हैं। अरे, पन्द्रह-बीस, सौ-पचास याद होंगे, हम सुना देंगे और लोग कहेंगे वाह-वाह कैसा बढ़िया चुटकुला, कैसी बढ़िया कहानी। पाँच-सात दिन-पन्द्रह दिन। हमारे एक मित्र हैं, वे घूम-घूमकर कथा प्रवचन करते हैं, तो कहते हैं एक गाँवमें अगर एक महीने बोलना हो, तो मैं रोज वही कहानी सुना सकता हूँ। एक सज्जन तो बोलते हैं कि बाबा हमारा तो आठ-दस दिनमें ही दिवाला निकल जाता है, तो फिर दूसरे गाँवमें जाना पड़ता है और आप सोचो कि हम बारह बरससे रोज आपको सुनाते हैं यदि वही चुटकुला, वही कहानी, वही रसगुल्ला आपको रोज सुनावें तो आप बोर हो जायेंगे बिलकुल, इनको तो कुछ नहीं आता है, कहानी तो आपको याद हो जायगी तुरन्त, चुटकुला याद हो जायेगा, और बोलेंगे बस वही-वही तो सुना दिया। एक शहरमें गये थे तो वहाँ रोज दस बीस हजार आदमी रोज आते थे। वहाँके लोग बड़ा आश्चर्य करते हैं कि दो सौ, पाँचसौ लोग बम्बईमें आते हैं और हम कथा करते हैं। वे कहते हैं हमारे शहरमें आप क्यों नहीं रहते? रोज दस-पन्द्रह हजार आदमी आते हैं। वहाँके लोग कहते हैं। तो एक दिन वहाँके एक नेताने व्याख्यान दिया। उसने कहा—हमारे राजनीतिक नेता जब एक दिनके लिए आते हैं तब बीस-तीस हजार आदमी इकट्ठे हो जाते हैं, हम किसी भी नेताको चुनौती देते हैं कि तुम हमारे गाँवमें एक महीना रहो और रोज लेक्चर दो! देखो, एक हफ्तेके बाद कितने लोग आते हैं तुम्हारे लेक्चरमें। यह पुरानी बात है।

अब आप देखो कि ऐसी चीज है—**वेत्ति**। सुख और ज्ञान अलग-अलग हैं क्या? तो अज्ञात सुख, सुख नहीं होता, एक यह भी देखो कि सुख तिजोरीमें बन्द नहीं होता। हमारे तिजोरीवाला कहते हैं कि आप रोज हमारा नाम लेते हैं। तो सुख तिजोरीमें नहीं रखा जाता। बैंकमें नहीं रखा जाता। सुख किताबमें

लिखकर नहीं रखा जाता। सुख तो होता है अपने दिलमें और जबतक तुम दिलफेंक रहोगे न, अपने दिलको भीतरसे निकालकर बाहर फेंकते रहोगे, तबतक तुमको सुख कहाँसे मिलेगा ? तो सुखकी सत्ता परोक्ष नहीं होती। अपने दिलसे दूर सुखका अस्तित्व नहीं होता। इसलिए यदि आप सच्चा सुख चाहेंगे तो जब अपने आपमें मिलेगा तब वह सच्चा सुख होगा। जबतक आपका सुख बैकुण्ठ या गोलोकमें है तबतक तो आप सुखके दरिद्र हैं, सुखके कंगाल हैं। किसी औरतके साथ हैं, किसी मर्दके साथ हैं, किसी खाने-पीनेमें हैं। अरे महाराज, मौजसे चलो, खाते-पीते चलो। तुम्हारा सुख तुम्हारे दिलमें है। हम अपने सपने साथ लिये फिरते हैं। सुखकी सत्ता परोक्ष नहीं होती और सुख कभी अज्ञात नहीं होता। यह सुखकी दो बात आप समझ लो भला! और पैदा किया हुआ सुख मर जाता है। और ज्ञानसे भिन्न जो सुख होगा वह दृश्य होगा, जड़ होगा, वह हमेशा दिखेगा नहीं। कितनी देर ज्ञान बेचारा तनावमें रहकर उसको देखेगा ? इसलिए सुख ज्ञानस्वरूप अपना आत्मा ही होता है, तो जब इसमें स्थिति हो जाती है माने यह जान जाते हैं कि हम ही सुख हैं, आत्मा ही सुख है, यही परमानन्द है तब इसमें विचलित होनेकी कोई बात नहीं रहती। अब देखो—**स्थितश्चलति तत्त्वतः।**

कथामें जिस सुखका अनुभव होता है, माने जो सुख अनुभव स्वरूप है, सुख-स्वरूप अनुभव और अनुभव-स्वरूप सुख। वह कैसा है, उसका स्वरूप समझाया। तो विषय और इन्द्रियके संयोगसे जो सुख होता है वह संयोगसे उत्पन्न हुआ और वियोग होनेपर वह सुख नष्ट हो गया। माने सुखमें जो निमित्त है, निमित्तजन्य सुख है। नैमित्तिक सुख है। तो निमित्तसे जो सुख मिलता है, निमित्त टूट जानेपर वह भी छूट जाता है।

निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः।

यह नियम है। विद्वान् लोग विचार करके चिन्तन करके, एक सूत्र, एक परिभाषा बना देते हैं। आग तापनेसे जो सुख होगा, वह आग न रहनेपर नहीं मिलेगा। बरफ लगानेपर जो सुख होगा वह बरफ न रहनेपर नहीं होगा। जब बरफ रूप निमित्त नहीं रहेगा तो बरफजन्य ठण्डीका सुख भी न रहेगा। जब एयरकण्डीशनकी मशीन बिगड़ जायेगी या बिजली फेल हो जायगी तो एयर कण्डीशन कमरेमें रहनेका जो सुख है वह नहीं मिलेगा। तो जो सुख किसी

निमित्तसे मिलता है, वह निमित्तसे पैदा हुआ और निमित्तके न रहनेपर नहीं रहता है और यह समाधिमें आत्माका सुख जो अनुभवमें आता है वह समाधिजन्य नहीं है। जैसे एयरकण्डीशनके संयोगसे, बरफके संयोगसे या अग्निके संयोगसे जैसा सुख आता है, ऐसा समाधिके संयोगसे सुखकी उत्पत्ति नहीं होती है। तब क्या होता है? आप इसको एक दृष्टान्तसे समझो। एक आदमी जंगलमें गया। वहाँ देखा एक पुरानी देवताकी मढ़िया है। भीतर गया तो वहाँ न कोई देवता न दानी। वहाँ तो कबूतरकी बीट और घोंसलेकी लकड़ी गिरी हुई। तो उसने सोचा मढ़िया तो बहुत बढ़िया है जंगलमें, इसमें एक शंकरजी की मूर्ति होती तो स्थापित कर देते। तो जब वह तैयारी करने लगा, तब लोगोंने बताया कि देखो, यहाँ यह जो कबूतरने लकड़ी लाकर डाली है घोंसलेकी और जो उसकी बीट गिरी हुई है, इसको पहले तुम हटा दो, तो शंकरजीका लिंग जो है, शिवमूर्ति जो है, वह पहलेसे यहाँ है, यहाँ तो स्वयंभू लिंग है, ज्योतिर्लिंग है, परन्तु यह कबूतरकी बीटसे और घोंसलेसे दब गया है। अब समझो उसने वह लकड़ी उठाके फेंक दी, बीट हटा दिया। देखा तो वह चमचम महाराज स्फटिक लिंग निर्मल वहाँ पहलेसे ही स्थापित था। तो क्या वह सफाई करनेसे वहाँ ज्योतिर्लिंग कोई स्थापित हुआ? कि स्थापित नहीं हुआ, वह तो पहलेसे ही था। ऐसे ही यह समाधि लगाना क्या है?

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

उपनिषद्‌का कहना है चित्तके मलको आप समाधि लगाकर धो डालिये। समाधि मनके मैलको धोनेके लिए लगायी जाती है, सुखरूप जो शिवलिंग है, उसका निर्माण करनेके लिए नहीं। वह बीट और लकड़ीके हटाये जानेसे लगायी जाती, चित्त घूम फिर कर कहीं दूसरी जगह नहीं जाता, अपने आपमें बैठ जाता है। इस समय जो सुख होता है, वाणीके द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जाता है। वह स्वयं, अन्तःकरण उस सुखमें प्रवेश नहीं करता, अन्तःकरणके निर्मल होनेपर वह सुख ही अन्तःकरणमें प्रतिविम्बित होकरके भासता है।

अब देखो, पहली बात यह बतायी कि '**सुखमात्यन्तिकं**'—एक ऐसा सुख है जिसमें भोजनसे उत्पन्न होना नहीं है, कर्मसे उत्पन्न होना नहीं है। स्त्री-

पुरुषके मिलनसे उत्पन्न होना नहीं है। यह तो केवल वासनाओंके प्रक्षालन मात्रसे ही हृदयमें प्रकट होता है। सुख तो है अनादि और अनन्त। न उसकी आदि है न उसका अन्त, वह समाधिरूप निमित्तसे पैदा सुख नहीं है, नैमित्तिक सुख नहीं है, वह तो छोटा सुख है। **आत्यन्तिकम्।**

अब **'बुद्धिग्राह्यम्'** क्यों कहा? तो आपको एक बात बताते हैं, आजकल ऐसा समय आगया कि जो वेदान्त-विद्याका सम्प्रदाय था, उसका लोप हो रहा था। क्योंकि जने-जने तो आचार्य बन गये, जिन्होंने कभी उपनिषद् कानसे सुनी नहीं, कभी गुरुजीका मुँह देखा नहीं, ये स्वयंभू आचार्य लोग बहुत पैदा हो गये, वे कहते हैं, 'कुछ नहीं, अपनी अकलको ठप्प कर दो! अपनी अकलसे कुछ मत सोचो. बस जो है सो है।' परन्तु आपको मालूम होना चाहिए कि जो है सो है कर लेनेमें आपका जो अज्ञान है, वह नहीं मिटता है। आप एक मानकारीमें फँस जाते हैं और जानकारीका तिरस्कार कर देते हैं। वेदान्त सम्प्रदाय, औपनिषद सम्प्रदाय, शांकर सम्प्रदाय, रामानुज सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, मध्वसम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय—ये जो हमारे श्रौत सम्प्रदाय हैं, कोई उपासनाके हैं, कोई योगके हैं, कोई ज्ञानके हैं, वह बात बिलकुल अलग, परन्तु सब मानते हैं कि उपनिषद्के श्रवणसे एक बुद्धि उदय होती है। आपके लिए यह कितनी खुशीका संदेश है कि बुद्धिका नाश करनेवाले जो स्वयंभू आचार्य हैं उनका मत गलत है, हम तो स्वयं बुद्धि देकर आपको सत्यका साक्षात्कार कराना चाहते हैं। आप अपनी बुद्धिका मटियामेट करके सत्यका साक्षात्कार करना चाहते हैं, कि बुद्धिको जाग्रत् करके? तो जब एकबार बुद्धिसे आप सत्को ग्रहण नहीं करेंगे कि सत्का स्वरूप ऐसा है; न कालमें सत्की आदि है न अन्त है, यह भी बुद्धिसे समझना पड़ेगा। न देशमें उसकी आदि है न अन्त है। न तो वह विषयवत् दृश्य है। सत् कैसा है? सत् वह है जो अबाधित है। आप यदि सत्के स्वरूपको अपनी बुद्धिसे नहीं समझेंगे, **बुद्धिग्राह्यम्** यदि आप सत्के स्वरूपको नहीं समझेंगे तो आप कहीं असत्को ही सत् मान बैठेंगे। और असत्को ही सत् यदि मान बैठेंगे तो वहाँ सत्का साक्षात्कार नहीं होगा। आप तो बिलकुल असत्के चक्करमें फँस जायेंगे। इसलिए आपको सत् कैसा मिलना चाहिए? कि पहले तो बुद्धिग्राह्य

करके उसके सम्बन्धमें जो भ्रम है उसको मिटा दीजिये और बुद्धिका उपयोग इतना ही है, भ्रम मिट गया तब तो आप परन्तु जबतक भ्रम नहीं मिटता, अज्ञान नहीं मिटता तबतक आप सत् स्वयं हैं, आपके अतिरिक्त दूसरा कोई सत् हो ही नहीं सकता—यह आप कैसे समझेंगे ? तो समाधि जो है वहाँका साक्षात्कार; पहले बुद्धिसे समाधिको समझें, सत्को समझें।

अब दूसरी बात देखो आप। आप चित्तको समझो, ज्ञानस्वरूप क्या है ? आप कहते हैं कि विषयको छोड़ दो, वृत्तिको छोड़ दो, अन्तःकरणको छोड़ दो, शान्त होकर बैठ जाओ, आपको ज्ञानस्वरूपका साक्षात्कार हो गया। आप बिलकुल सही मान लो, आप भूलमें पड़ जायेंगे। पहले बुद्धिसे आप समझिये कि ज्ञान कैसा होता है। आप बुद्धिका तिरस्कार मत कीजिये। यदि बुद्धिसे समझनेके पहले ही आप कुछ मान बैठेंगे कि ज्ञान ऐसा होता है तो वह नासमझीसे मानेंगे, भ्रमसे मानेंगे और आपकी नासमझी कभी निवृत्त नहीं होगी। यह हमारा औपनिषद दर्शन है। है कहीं ऐसा धर्म ? हम चुनौती दे सकते हैं। है कहीं ऐसा पन्थ ? है कोई ऐसा ग्रन्थ ? जो आपको बुद्धि देकर परमात्माका साक्षात्कार कराये ? बुद्धिको मिटाकर परमात्माका साक्षात्कार करानेवाले, आपकी बुद्धि मिट गयी तो परमात्मा क्या मिलेगा ? आपको अज्ञान मिलेगा। पहले अज्ञानको मिटानेके लिए बुद्धि चाहिए। देखो, हम उपनिषद्का मन्त्र बोलकर बताते हैं—

दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

एकाग्र और सूक्ष्म बुद्धिसे परमात्माका दर्शन होता है। हमारा एक औपनिषद पन्थ ऐसा है जहाँ बुद्धिमत्ताका तिरस्कार नहीं है। हम तो, **बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।** (१८.५७) हम कहते हैं आओ-आओ, तुम बुद्धियोगका आश्रय लो, क्या अन्धे बन रहे हो ! अज्ञानके पन्थमें चल रहे हो ! यदि बुद्धिका आश्रय नहीं लेते तो। भगवान् खुश होगा तो क्या देगा ?

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते। १०.१०

भगवान् खुश होकर आपको बुद्धियोग देता है। वह भगवान् उनको नहीं चाहिए, एकबार एक भगतने महाराज एक पत्रिकामें एक पद लिख दिया—

बना दो बुद्धिहीन भगवान।
हरे सभ्यता शिक्षा संस्कृति और जगत्की शान।

भाव तो उसका बड़ा अच्छा था, सरल, ऋजु। लेकिन देशके कई विद्वानोंने चिट्ठी लिखी कि अब तुम वेदान्त परिभ्रष्ट हो जाओगे, यदि बुद्धिका तिरस्कार करोगे। यह हमारा जो वैदिक पन्थ है, औपनिषद पन्थ है, यह बुद्धिका सत्यानाश करके नहीं है, बुद्धिको शुद्ध करके है। आप देख लेना,

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। २.५०

यदि तुमको बुद्धि मिलेगी तो पाप और पुण्यसे इसी जीवनमें छूट जाओगे।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। २.५२

बुद्धिसे मोह कलिलका पार पाओगे, निर्बुद्धितासे नहीं।

तो आप यदि चिन्मात्रसे, कालसे अपरिच्छिन्न, देशसे अपरिच्छिन्न, वस्तुसे अपरिच्छिन्न स्वरूपको बुद्धिसे पहले समझ लोगे तो चिन्मात्र वस्तु विषयक, सन्मात्र वस्तु विषयक जो अज्ञान है, भ्रम है वह नष्ट हो जायेगा और जब अज्ञान भ्रमका नाश हो जायेगा, तब तुम देखोगे कि स्वयं तुम सन्मात्र हो, स्वयं तुम चिन्मात्र हो।

अब यही न्याय सुखके सम्बन्धमें है। आप यदि सच्चा सुख पाना चाहते हैं तो उसमें बुद्धिको नष्ट करनेकी जरूरत नहीं है, बुद्धिको भ्रष्ट करनेकी जरूरत नहीं है। बुद्धि बिगाड़नेवालोंके चक्करमें बुद्धिको डालनेकी जरूरत नहीं है! तो बोले—अच्छा बुद्धि सुषप्तिमें ही नहीं रहती है तो जो आपको कहता है कि तुम इन्द्रियोंसे विषयका ग्रहण करो और मनसे वस्तुका संकल्प करो और बुद्धिको लीन हो जाने दो और देखो, तुम द्रष्टा! जरा आपको हम इसका रहस्य समझाते हैं। आप यदि इसको पहले समझ नहीं लोगे, पहले समझ लो उसके बाद तुम्हारी जो मौज हो सो करो, यहाँ हम व्याख्या कर रहे हैं **बुद्धिग्राह्यम्** की, इसको मत छोड़ो। माने तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य **बुद्धिग्राह्यम्**—तत्त्वमस्यादि महावाक्यसे उत्पन्न होने वाली जो बुद्धि है उसीसे उसका ग्रहण होता है।

तो पहले हम एक आपको यह बात सुनाते हैं कि सुषुप्तिमें आपकी बुद्धि, आपका मन और आपकी इन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं। वहाँ न कोई विषय रहता है और न कोई वासना उठती है और न वहाँ सुषुप्ति सुषुप्तिके रूपमें मालूम पड़ती है। अच्छा तो समाधि लगती है तो आपकी यही दशा होती है कि इससे कुछ विलक्षण होती है? अब महाराज, आप जरा अपनी अकल लगाओ, अकल

लगाये बिना यह वेदान्त-सम्प्रदाय, औपनिषद-सम्प्रदाय सिद्ध नहीं होता है। आपको बुद्धि छुड़ानेवाले बहुत मिल जायेंगे, क्योंकि जबतक आपकी बुद्धि रहेगी तबतक आप किसीके चक्करमें फँसेंगे नहीं, तो वे सोचते हैं कि जबतक इनकी बुद्धिका हम सत्यानाश नहीं कर लेंगे, तबतक ये हमारे पक्के चेले नहीं बनेंगे। तो बुद्धिको मत मिटाओ। पहले आप देखो, हम कहते हैं कि समाधिमें भी विषय-ग्रहण नहीं है। हमने कहा अरी मेरी आँख, तू रूप देखती है, तो तू रूपकी है कि मेरी है ? पहले यह तो बता दे! बोली कि मैं हूँ तो तुम्हारी। अच्छा, मेरी है तो मेरे कहनेसे यह जो तू, जिस रूपमें फँसी है, उस रूपको छोड़ दे। बोली कि सो नहीं छोड़ूँगी। तब तो तू मेरी नहीं रही, उसकी हो गयी। तू तो मुझे पकड़कर रूपके साथ ले जाती है. अरे ओ मेरी अँखिया, तू तो मुझको कहती है कि जिस रूपसे मेरी आसक्ति है, उसकी तू सेवा कर! तो इससे तीनोंको, अपने मालिकको विषयके अधीन कर दिया। आँख, तेरा यही धर्म था! कि तू खुद तो पराधीन हुई सो हुई विषयके पराधीन हुई और तूने अपने देखनेवाले जीवात्माको भी रूपके पराधीन बना दिया। अरी ओ मेरी आँख, तूने मेरे साथ क्या न्याय किया ? बड़ा भारी अधर्म किया मेरे साथ! तू जा विषयके साथ, मुझे तो छोड़ दे, कर ले ब्याह तू विषयके साथ आँख! वह बोली कि अरे आपके बिना तो मेरा क्या स्वरूप है! कि ठीक है फिर आँख और विषय तो एक हो जाय।

अच्छा तो देखो, सुषुप्तिकालमें न विषय है और न तो आँख है। ये दोनों जाग्रतावस्थामें रहते हैं। और, स्वप्नावस्थामें न मन है, न उसमें उठनेवाले संकल्प हैं। माने विषय नहीं, आँख नहीं स्वप्नमें, परन्तु मन है और मनमें वासना रूप धारण करके आती-जाती रहती है।

अच्छा, अब आगे चलो। उसके बाद आयी सुषुप्ति। तो उसमें तो रूप, आँख, वासना, मन, बुद्धि, विचार सब-के-सब लीन हो गये। यह तो हुई सुषुप्ति और समाधिमें भी यही हुआ कि न वहाँ रूप है न आँख है, न वासना है, न मन है, न विचार है, न बुद्धि है। तो समाधि और सुषुप्ति दोनों एक। अरे अक़ल खोकर मत आना भाई! गौड़पादाचार्यजीने एक लाइन बोल दी है इसके बारेमें—*'लीयते तु सुषुप्तौ तत् निगृहीतं न लीयते।'* जब स्वाभाविक सुषुप्तिकाल होता है तब उसमें बुद्धिका लय हो जाता है, लीन हो जाती है,

परन्तु जब हम निग्रह करते हैं, जानबूझकर अभ्यासके द्वारा उसको पकड़ते हैं, तो बुद्धिका लय नहीं होता, तमससे आक्रान्त नहीं होती बुद्धि उस समय; सुषुप्ति तमससे आक्रान्त; वह मन सुषुप्तिमें तो लीन हो जाता है, परन्तु जब मनका निग्रह किया जाता है तो मनका लय नहीं होता है, मन जागता रहता है। परन्तु उसमें न लय है, न विक्षेप है, न कषाय है, न रसास्वाद है। सुषुप्तिकी तरह लय नहीं है, स्वप्नकी तरह विक्षेप नहीं है और जाग्रत्‌में जैसे हम राग-द्वेष करते हैं वैसा राग-द्वेष नहीं है और अहं जैसा रसास्वाद करता है कि बड़ा मजा आ रहा है, वह मजा नहीं है। तब क्या है? बोले—**बुद्धिग्राह्यम्** कि पहले उसको समझो! माने जैसे सब विषयक अज्ञान है कि विवेक न होनेपर आप असत्‌को ही सत् समझ बैठते हैं। तो इस अज्ञानको दूर करनेके लिए बुद्धिकी जरूरत है और जैसे चिद् विषयक अज्ञान है, माने अज्ञानकालमें आप अचिद्‌को ही चिद् समझ बैठते हैं, अज्ञानको ही ज्ञान समझ बैठते हैं, अनात्माको ही आत्मा समझ बैठे हैं, इस अनात्मभ्रान्तिको दूर करनेके लिए समझकी जरूरत है। वैसे ही महाराज, आप दुःखको ही सुख समझकर बैठे हैं। यह जो भोगसे सुख होता है *भोगानुविवर्धन्ते रागः।*

आदमी मनमुखी है कि गुरुमुखी? जब तुम कहते हो कि हमारा मन नहीं मानता, तब तुम अपने मनकी आज्ञा मानते होते हो कि गुरुशास्त्रकी आज्ञा मानते होते हो? तो गुरुभाई विचार कर लें! मनकी आज्ञा मानकर तुम कहाँ जाओगे? और गुरु, शास्त्रकी आज्ञा मानकर तुम कहाँ जाओगे? तो यह जो दुःखको ही सुख मान लेते हैं, इसीको अविद्या बोलते हैं शास्त्रमें। अनित्यको नित्य मान बैठना—यह अविद्या है योगशास्त्रमें। अशुचि शरीरको शुचि मान बैठना; धर्मशास्त्रके अनुसार शरीर कभी अपवित्र होता है और कभी पवित्र है, और योगशास्त्रके अनुसार यह शरीर हमेशा अपवित्र ही होता है। धर्मात्मा लोग स्नान करके और भस्मावगुंठित होकर चंदन-मंडन लगाकर जनेऊ पहनकर, चोटी बाँधकर, मार्जन-वार्जन करके महाराज बैठते हैं कि *शुचि अहम्* मैं पवित्र हूँ। योगदर्शनकी दृष्टिसे हड्डी-मांस-चामका शरीर अपनेमें अशुचि है। तो वहाँ अशुचिमें ही शुचि-बुद्धि हो गयी। अनित्यमें ही नित्यबुद्धि हो गयी, अनात्मामें ही आत्मबुद्धि हो गयी और दुःखमें ही सुख बुद्धि हो गयी।

तो उस बुद्धिको काटनेके लिए आपको गुरुकी जरूरत है, आपको शास्त्रकी जरूरत है, आपको सत्संगकी जरूरत है।

आपके घरमें एक महात्मा आये थे, उन्होंने कहा—देखो, अब आजसे मन्दिरमें जानेकी जरूरत नहीं है। अच्छा महाराज, आपकी आज्ञासे आजसे हम मन्दिरमें पूजा करने नहीं ज़ायेंगे, कथा-वार्ता सुनने नहीं जायेंगे, राम-राम नहीं करेंगे, अब आपसे हम यह पूछना चाहते हैं कि अपने दिशान्तर जायें कि नहीं? बोले—भाई, वहाँ तो जाना पड़ेगा, अच्छा दुनियाकी बात सुनें कि न सुनें? कि वह तो सुनना पड़ेगा। मन ही मन अपने दुश्मनका ध्यान करें कि न करें? कि वह तो करना ही पड़ेगा। कि यह जो तुम्हारे घरमें महात्माजी आये, व्रे तुमसे नरकका रास्ता बताकर चले गये, क्योंकि जो तुम्हें अपनी जगहसे उठनेका मार्ग था, भगवान्‌का दर्शन करना, भगवान्‌का नाम लेना, सत्संगमें कथा प्रवचन सुनना, वह तो छुड़ा दिया, बोले—तब हम करें क्या महाराज? अरे जो *आँखके अन्धे, गाँठके पूरे* तू अपनी बुद्धिसे सोचना बन्द कर, नहीं तो द्रष्टाके स्वरूपमें स्थित नहीं होगा। लो बुद्धिका दरवाज़ा भी बन्द हो गया, अक्ल भी पैबन्द हुई, अब क्या करोगे?

तो हमरा कहना यह है कि *दृश्यते त्वग्रया बुद्धया,* गीतामें आप देखना, समूची गीतामें बुद्धियोगकी प्रशंसा है। प्रज्ञाकी प्रशंसा है—**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन, बहुशाखा ह्यनन्ताश्च** बुद्धिको चंचल मत रखो, बुद्धिको एकाग्र करो। भगवान्‌को प्रसन्न करके उनसे बुद्धि लो? बुद्धिसे पाप-पुण्य छोड़ो, बुद्धिसे दुःखसे बचो, बुद्धिसे असत्‌से बचो, बुद्धिसे अचित्‌से बचो, बुद्धिसे अपवित्रतासे बचो, यह बुद्धि तुम्हारी रक्षा करेगी। तो **बुद्धिग्राह्यम्**का अर्थ यह है कि हम तुमको एक ऐसा सुख बताते हैं जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है। यह जो तुम जिह्वासे खा-पीकर सुखी होना चाहते हो, अँखियासे देख-सुनकर, कर्णोंसे सुनकर जो सुखी होना चाहते हो, यह जो त्वचासे छूकर, सुखी होना चाहते हो, कहाँ गयी बुद्धि? *मुखं लालात् क्लिन्नं*—मुँहमें तो लार भरा है उसको बोलते हैं अमृत। वक्षःस्थलपर एक मांसकी गाँठ है, उसको बोलते हैं कनक कलश, सोनेका घड़ा, अक्ल कहाँ गयी? तो बुद्धिसे विचार करो, इन्द्रियग्राह्य यह जो सुख है, यह सच्चा सुख नहीं है। वासनाजन्य जो सुख है वह

सच्चा सुख नहीं है। बुद्धिसे विचार करो, जैसे बुद्धिसे असत्‌का पर्दा फाड़ देते हो, तब सत्‌का अपरोक्ष होता है, जैसे बुद्धिसे अचित्‌का पर्दा फाड़ देते हो, तब चिन्मात्रका अपरोक्ष होता है, वैसे बुद्धिसे दुःखका पर्दा फाड़ दो, तुम सुखस्वरूपका साक्षात्कार होगा। भगवान्‌ने इसीलिए बुद्धि दी है कि तुम मनके पीछे चलनेवाली बुद्धिसे अपनी रक्षा करो। ***त्रायस्व त्रायस्व*** रक्षा करो, रक्षा करो। **बुद्धिग्राह्यम्**—निर्वाणसुखका अनुभव करो।

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्।

यह हमारे दादा गौड़पादाचार्यने कहा। हमारे बाप तो हैं श्रीशंकराचार्य और दादा हैं गौड़पादाचार्य। ये अपने गुरु शुकदेवजीसे मिलनेके लिए पाँवसे चलकर एक हजार योजन गये थे। गौड़ देशसे जो पाद द्वारा, पैदल चलकर गया, आकाशमार्गसे नहीं गया, कि सिद्धि दिखायेंगे तो अभिमान हो जायेगा, गुरुके सामने सिद्ध होकर नहीं जाना चाहिए, उड़कर जा सकते थे, पर उड़कर नहीं गये, विमानसे नहीं गये, बोले पाँवसे चलकर जायेंगे, इसलिए, उनका नाम गौड़पाद हुआ। यह 'गुरु परम्परा' नामका एक ग्रन्थ है उसमें गौड़पादजीका यह चरित्र बताया है, यह उत्प्रेक्षा करके नहीं बोल रहा हूँ। 'गुरु परम्परा' प्राचीन ग्रन्थ है, उसमें नारायणसे लेकर शंकराचार्य पर्यन्त जितने महापुरुष हुए हैं, सबके चरित्रका वर्णन है। सिद्ध होकर नहीं गये, बोले कि बाबा कहीं उड़कर गया और शुकदेवजीने देखा कि यह कोई अभिमानी अपनी सिद्धि दिखानेके लिए उड़ता हुआ आ रहा है, तो बोलें कि हम इस अभिमानीको दर्शन नहीं देंगे। तो पाँवसे जैसे दीन-हीन गरीब जाता है। अपना बड़प्पन गुरु-शास्त्रके सामने नहीं दिखाया जाता है, जिज्ञासु होकर, दीन-हीन होकर पूछा जाता है। उन्होंने बताया—

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्।

सुख कौन-सा उत्तम है ? पहली बात तो यह है कि सुख स्वस्थ हो, अपने घरका हो, पराये घरका न हो, उधार लेकर भोजन करनेमें जो सुख आता है, वह कर्ज चुकानेके समय महाराज सब ब्याज ले लेता है। आदमीका स्वभाव ऐसा होता है कि कोई चीज आती है घरमें तो बड़ा मजा आता है और जब देना पड़ता है, तो बड़ा दुःख होता है। यहाँतक हमने देखा है कि कोई आदमी धरोहर भी रख जाता है और

जब वापिस लेनेके लिए आता है तो धरोहर लौटानेवालेको दुःख होता है, वह कहता है ये आज ही क्यों आ गये लेनेके लिए, कहता है, अच्छा भाई, तुम्हारा हमारे ऊपर विश्वास नहीं है, तो ले जाओ! अब यह क्या हुआ? दुःखी होकर आये, सुखी हो कि ले जायेगा। कि अच्छा, आज ही सब ले जाओगे? दो बारमें ले जाओ! क्यों भाई, हमने एकबार रखा था तो दो बारमें क्यों ले जायें! पर धरोहर रखी हुई चीज़ लौटानेमें भी दुःख होता है। अपने पास किसीकी चीज़ उसके कहे अनुसार खर्च करनेमें भी दुःख होता है। यह क्या लीला है?

तो महाराज पहली बात तो यह है कि सुख होना चाहिए स्वस्थ, अपने आत्माका सुख होना चाहिए, परसे सुख नहीं होना चाहिए इन्द्रियमें-से नहीं लेना चाहिए, मनमें-से नहीं लेना चाहिए, बुद्धिमें-से भी नहीं लेना चाहिए। सुख दुश्मनके घरमें नहीं होना चाहिए, परदेशमेंसे नहीं होना चाहिए, विषयमेंसे नहीं लेना चाहिए। बुद्धिको सुख देना चाहिए। अपनी बुद्धिको आत्मसुखमें विकसित कर दो। क्या दीन-हीन कंगाल होकर बुद्धिके पास भी सुख माँगनेके लिए जाते हो?

पहली बात तो यह है कि स्वस्थ। बीमारीका सुख नहीं चाहिए। स्वस्थताका सुख चाहिए। *स्वस्थं* एक और दूसरा *शान्तं*—विक्षेपका सुख नहीं चाहिए। विक्षेपका सुख क्या होता है? हाथसे उठाकर कुछ खाते हैं तो सुख मिलता है—विक्षेप है, पलक हिलानेसे सुख मिलता है, नहीं, शान्तिका सुख मिलना चाहिए, जिसमें हाथ भी नहीं हिलाना, पलक भी नहीं हिलाना।

सनिर्वाणं—तीसरी बात यह कि वासना बुझ जानी चाहिए। ऐसा सुख होना चाहिए **अकथ्यम् सुखमुत्तमम्** और वह अनिवर्चनीय होना चाहिए। सुख कहकर बताया जानेवाला पदार्थ नहीं।

तो **बुद्धिग्राह्यम्**का अर्थ है कि पहले आप अपनी बुद्धिसे समझ लो कि सच्चा सुख कैसा होता है और कहाँ-कहाँ आपने भ्रान्तिसे सुख मान रखा है, दुःखको सुख मान रखा है। वेदान्तमें एक 'सर्वदर्शन संग्रह' विद्यारण्य स्वामीका ग्रन्थ है, उसमें ऐसा लिखा है कि आप सुखकी भिक्षा माँगनेके लिए जबतक ईश्वरके दरवाजे तक जाते हैं, तबतक आप सुखके बारेमें पराधीन हैं। वे कहते हैं औरकी बात छोड़ो, सरकारसे जाकर पैसा ले आना दूसरी बात है और बनिये्रसे कर्जा ले आना दूसरी बात है, और बोले—ईश्वरसे हमें सुख मँगनी नहीं

लेना, उधार नहीं लेना, अध्याहार्य सुख हमको नहीं चाहिए। नहीं तो पराधीन हो जाओगे, बेटा! जब पराधीन हो गये तो सुख काहेका! तो बोले—सुख ऐसा चाहिए जो वासना बुझ जानेसे हो, दूसरेके आगे हाथ न पसारना पड़े कि हे श्रीमतीजी, हमको सुख दो, हे श्रीमानजी, हमको सुख दो, माने अपनेको दीन-हीन-कंगाल दुःखी स्वीकार करके। तो **बुद्धिग्राह्यम्**—पहले सुखके स्वरूपको समझो। अमुक देशमें सुख मिलेगा, अमुक कालमें सुख मिलेगा, अमुक वस्तुमें सुख मिलेगा, अमुक अवस्थामें सुख मिलेगा, अमुक जीव, ईश्वरसे सुख मिलेगा, यह सब कल्पना जो दिमागमें बैठी हुई है, उसे पहले बुद्धिसे निकालकर फेंक दो। और, यह कब होगा?

अतीन्द्रियम्—***इन्द्रियाणि अतिक्राम्य अतीत्यस्थितम् अतीन्द्रियम्।*** यह ऐन्द्रियक नहीं है। इन्द्रियजन्य सुख कैसा होता है? वह इन्द्र देवता जैसा होता है। यह हमारा हाथ जो है, इससे हम कर्म करते हैं, होम करते हैं, पूजा करते हैं, तो वह कर्ममात्रका उपलक्षण है। किसी इन्द्रियसे जब हम कर्म करते हैं और कर्मसे अपूर्वकी उत्पत्ति होती है, तब इन्द्र देवता, कर्मका फलरूप जो सुख है वह प्राप्त होता है। तो हमारी इन्द्रियोंको जितना भोग मिलता है, चाहे शब्द मिले, स्पर्श मिले, रूप मिले, रस मिले, गन्ध मिले, यह सब ऐन्द्रियक भोग है। इसमें अपना आत्मा न इन्द्रिय है और न इन्द्रियका विषय है। **अतीन्द्रियम्**—न मन है। जैन लोग मनको इन्द्रिय नहीं मानते हैं, अन्-इन्द्रियम् मानते हैं। मनका एक नाम ही उन लोगोंने *नेन्द्रियम्* रखा है। माने वह नित्य ही प्राप्त है। अनादि और नित्य प्राप्त है। परन्तु उसके भी पराधीन सुख नहीं होना, **बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम्।**

तो दूसरे देशमें नहीं, दूसरे कालमें नहीं, दूसरे विषयमें नहीं। देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं, सात्त्विक नहीं, राजस नहीं, तामस नहीं, तब कैसा? कि,

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः। ६.२१

जहाँ वेद्यरूपसे कुछ दूसरा रहता ही नहीं है और जहाँ स्थित होकर फिर गिरना नहीं होता, अच्युत स्वभावकी चर्चा, आपको फिर सुनायेंगे।

अम्ब त्वामनुसंदधामि—नारायण कभी आप लोगोंने इस बात पर ध्यान दिया है कि आप और आपका होना-ये दोनों अलग-अलग हो सकते हैं

क्या ? बड़ी सीधी बात है, आपका रुपया और आप–दोनों अलग–अलग हो सकते हैं। रुपया तिजोरी या बैंकमें हो सकता है और आप अलग हो सकते हैं। आपकी पत्नी और पतिदेव—दोनों अलग–अलग हो सकते हैं। मकान और आप अलग–अलग हो सकते हैं। बाल, नाखून और आप अलग–अलग हो सकते हैं। कभी देह और आप भी अलग हो सकते हैं। कभी देह और कभी अन्त:करण और आप भी अलग–अलग हो सकते हैं, परन्तु आप और आपका होना; होना जरा दो नम्बरका शब्द है, *भवति* और *अस्ति;* किसी चीजका होते रहना, बदलते हुए भी, यह होना है। बचपनमें आपका होना है, जवानीमें आपका होना है, बुढ़ापेमें आपका होना है, लेकिन होनेसे जुदा भी एक आपका है, आप हैं। जरा है को अलग करके आपको ढूँढो, आपसे अलग आपका है और है से अलग आप बिलकुल नहीं कर सकते। दुनियामें कोई माईका लाल कभी पैदा ही ऐसा नहीं हुआ। जो है से अपनेको अलग करेगा, वह अलग है, जिससे अलग किया, वह दो नम्बरका है और अपना आपा एक नम्बरका है।

यह बात मैं, ईश्वरको ढूँढ़नेके लिए किस ढंगका विचार करना पड़ता है, इसका एक नमूना आपको बताता हूँ। अच्छा, आपका जानना और आप—इन दोनोंको अलग–अलग कर लीजिये, कि नहीं हो सकता। यदि जाननेसे आप होंगे तो मैं जाननेसे अलग हूँ, यह भी आप नहीं जान सकेंगे। एक जानना, अलग जानना, जानना आपका स्वरूप है। होना आपका स्वरूप है अर्थात् सत् चित् आपका स्वरूप है।

अब एक तीसरी चीज़ आप देखिये, यह दोनोंका जो होना है, जो सत् है सो चित् है, जो चित् है सो सत् है, जो जानना है सो है, जो है सो जानना है— ***'यदस्ति तद् भाति, यद् भाति तदस्ति।'*** भाति और अस्ति दोनोंमें कोई भेद नहीं है। ***'यत् चेतति तद् अस्ति, यदस्ति तद् चेतति।' चेतति प्रकाशते।*** सन्मात्र–चिन्मात्र आप ही हैं। अभी यह बात मैं रास्तेपर ले चलनेके लिए कह रहा हूँ। हम कहना चाहते हैं कि जैसे आपका होना और आपका जानना आपसे अलग नहीं है, वैसे ही आप और आपका सुख भी अलग–अलग नहीं है। यह जो आपका सुख पैसेमें है या पेड़ेमें है, मोतीचूरके लड्डूमें है, यह जो आपने अपना सुख गुलाबजामुनमें रख दिया है, कपड़े–लत्तेमें रख दिया, वह

बजाजकी दुकानपर रख दिया है, वह पटापट फट रहा है, वह मशीन पर सीया जा रहा है, वह आपका कौन है ? कि वह आपका सुख है।

अरे, आपका कोई नहीं है। जैसा आपके पास कपड़ा है, वैसा दूसरेके पास कपड़ा नहीं है, वह भी सुखी है और कहीं आपसे ज्यादा सुखी है। तो आपके कानोंमें जो आपकी तारीफ पड़ती है, वही सुख है ? हे भगवान् ऐसा कोई दुनियामें कभी कोई हुआ ही नहीं है जिसकी निन्दा सृष्टिमें न हुई हो। अगर आप कानके कच्चे हैं, तो दिन भरमें सत्रह बार दुःखी होंगे, सत्रह बार सुखी होंगे। कोई कहेगा सेठजी आप बड़े धर्मात्मा, बड़े उदार, बड़े दाता, फूलकर कुप्पा हो गये, और किसीने कहा बड़े बेईमान, बड़े स्वार्थी तो दुःखी हो गये। एकने कहा कि सेठजी बड़े करोड़पति हैं, ठीक है भाई! बड़े उदार धर्मात्मा हैं। बोले—धर्मात्मा होते तो करोड़पति काहेको होते! इसमें नाराज़ होनेकी कोई बात नहीं है। अगर कृपण न होते, उदार होते, लुटाते चलते, तो करोड़पति कहाँसे हो जाते ? वे तो मुट्ठी जरा कड़ा करके रखते हैं, इसीलिए तो इकट्ठा हुआ है। वह तो उनकी तारीफ करनेके लिए, उनको खुश करनेके लिए कहते हैं।

अच्छा, तो आपका सुख कहाँ है ? आपका सुख बैंकमें है, तिजोरीमें है, हलवाईकी दुकानपर है, स्नोमें है, लिपिस्टकमें है, साड़ीमें है, ऊँची कुर्सीपर है, आपका सुख आखिर रहता कहाँपर है ? असलमें जो आप हैं माने आप क्या हैं ? कि एक तो 'हैं', दूसरे ज्ञान स्वरूप हैं। यह आपका जो ज्ञानस्वरूप है, 'है' रूप जो आप हैं, जानना रूप जो आप हैं, यह आप ही सुखस्वरूप हैं, आप जहाँ हैं वही सुख है, आप जो हैं वही सुख है। आपको यह दुनिया दीख रही है, आप सिनेमा देख रहे हैं और देखनेवाला तो हमेशा सुख ही लेता है। चाहे कैसा भी दृश्य हो। हम लोग मैसूर गये, महाराजाकी कलाशाला देखने, वे बढ़िया-बढ़िया चित्र बनाकर रखे हैं। कोई-कोई चित्र ऐसा है महाराज, कि देखकर गुस्सा आ जाये, कोई चित्र देखकर हृदयमें करुणा आ जाये, कोई चित्र देखकर हृदयमें ललित भावनाका उदय हो जाये, कोई चित्र वीभत्स, देखकर मुँह गन्दा हो जाये। अब आप देखो, वह सब देखकर हम कभी सुखी कभी दुःखी हो रहे हैं कि सब देख करके मजा ले रहे हैं ? बहुत दिनकी बात है, हमने दो-तीन सिनेमा देखे हैं, गृहस्थाश्रममें था तो एक बार 'शीरी फरहाद' देखा था, उस समय बोलता नहीं था। वह महाराज ब्याह करनेके

लिए, शीरीको प्राप्त करनेके लिए उसने पहाड़ खोदा और उसमें-से दूधकी धारा निकली। एक बार 'सन्त तुकाराम' देखा, एक बार रामराज्य देखा। और एक बार बहुत जबरदस्ती एक सेठने कलकत्तेमें कहा कि चलिये घूमने जायेंगे। अब उनकी मोटरमें बैठकर घूमने गये। तो वह मोटर लेजाकर सिनेमाके सामने उन्होंने खड़ा किया और बोले कि स्वामीजी, हमने टिकट मँगा रखा है सिनेमा देखनेके लिए, अगर आप चलोगे तब तो मैं चलूँगा और नहीं चलोगे तो मैं भी आपके साथ घूमने चलूँगा। तो मैंने कहा—अच्छा चलो देख लें, हमारा क्या बिगड़ेगा! तो 'बरसात' उसका नाम था, उसमें कश्मीरके दृश्य थे। मैंने कश्मीर सिनेमामें ही देखा है, बाहर नहीं देखा, तो वह भरतमिलाप, और रामराज्यवाली बात आपको सुनाता हूँ। जब सीताजीका वनवास कर दिया रामचन्द्रने और उनके वियोगमें रामचन्द्र रोते हैं, उनकी आँखसे आँसू गिरता है, उस समय हम भी रामचन्द्रके साथ रोने लगे। आप लोग ज्यादा खेल देखते होंगे, तो आपको इसका अनुभव ज्यादा होगा! सिनेमाके पर्देपर न सीता है, न सीताका वनवास, न रामचन्द्र, न उनका वियोग, वह तो तस्वीर होती है, परछाईं ही तो है न, झूठी चीज़ होती हैं बिलकुल। वहाँ कुछ नहीं होता है। न बरसात, न नदी, न पहाड़, केवल परछाईं तो होती है, लेकिन उसको देखकर रोने लगे। अच्छा, जब हम देखकर निकले या मैसूरकी चित्रशाला देखकर निकले, हमने काशीमें भारतमाताका मन्दिर देखा था पराधीनताके जमानेमें, पराधीन भारतमाताको देखकर पटापट आँखसे आँसू गिरने लगते थे, लेकिन हम आपसे यह पूछते हैं कि यह चित्र देखकर जो करुण रसका उदय हो जाता है या शृंगारका उदय हो जाता है या वीभत्स रस आ जाता है वह अन्तमें जब रुलाकर जाता है, तो हम अपनेको दुःखी अनुभव करते हैं कि सुखी? तो जैसी तस्वीर असलमें सिनेमाके पर्देपर होती है, वैसी ही तस्वीर यह अपने ज्ञानस्वरूप आत्माके पर्देपर, न कहीं बाहर न कहीं भीतर, न दिनमें न रातमें, न काली न पीली, न मिट्टीकी, न पानीकी, ऐसा ही हमारे ज्ञानस्वरूप आत्माके पर्देपर, वही तो है अधिष्ठान पर्दा और वही है रोशनी, उसीपर यह सम्पूर्ण प्रपञ्चकी तस्वीर दिखायी पड़ रही है। यह जो इस तस्वीरका दीखना है, वह हमारा मज़ा है, जैसे हम चित्रशाला वा सिनेमा देख करके अपनेको तृप्त अनुभव करते हैं, हमारा देखना मजा है, दुनियाका कोई भी दृश्य देखना हमारा मजा है।

तो आपको क्या सुनायें—

बादशाह दुनियाके हैं मोहरे मेरी शतरंजके।
दिल्लगीकी चाल है, सब रंग सुलहो जंगके।
रकसे सादीसे मेरे जब काँप उठती है जमीन,
देखकर मैं कहकहाता खिलखिलाता हूँ—

कहते हैं—'ये बड़े आदमी हैं, इनका ख्याल करो। अरे, यह महाराजा आपकी कथामें आयेंगे।' हमारी कथा बड़ी है, हमारी कथामें ईश्वर बड़ा है, और कथाका ईश्वर है श्रोता, जिस ज्ञानस्वरूपमें प्रतीत हो रहे हैं वह अखण्ड ब्रह्म हैं, हमको क्या बड़ा दिखा रहे हो? हमने वह बड़ा देखा है, जिससे बड़ा कोई नहीं है। हमारा आत्मा वह बड़ा है जिससे बड़ी सृष्टिमें कभी कोई चीज़ हो नहीं सकती। थी नहीं, है नहीं, होगी नहीं, क्या बड़ा दिखाते हो हमको दुनियामें!

अच्छा तो आपको यह बात सुना रहे हैं कि जो अपना आपा है ज्ञानस्वरूप, सबको जाहिर करनेवाला, सबको रोशन करनेवाला, जो आत्मरश्मि है, आत्मप्रतीति है, आत्म भान है, वही सब होना है, है। और इस स्वतंत्रताके सिवाय सुख नामकी कोई वस्तु नहीं है। आत्माका सुख, आत्माका ज्ञान, माने ज्ञानस्वरूप आत्मा और सत्स्वरूप आत्मा, यही परमानन्द है। और यदि आपका सुख तिजोरीमें है तो एकदिन आपको उसके बिना रोना पड़ेगा। आपका सुख बैंकमें है तो उसके बिना रोना पड़ेगा, आपका सुख ईंट-पत्थरमें है तो एक दिन रोना पड़ेगा। एक दिन प्यारा चाहे जाये, चाहे तुम उसको छोड़कर जाओ, उसके वियोगमें आपको रोना पड़ेगा। अगर आपका सुख, आपका प्यारा आपसे न्यारा है तो उसके वियोगमें रोना पड़ेगा वियोग सोते समय होगा, मरे समय होगा पर होगा, बेहोशीके समय होगा। यदि आपका सुख आपका आपा है तो आप कभी दुःखी, कभी सुखी नहीं हो सकते।

देखो, यह आपको सुख-दुःखका स्वरूप बताया। वेदान्ती लोग जो हैं वे सुखका स्वरूप बड़ा विलक्षण मानते हैं। मनुजी कहते हैं मनुस्मृतिमें, जो हमारा आचार शास्त्र है। वे कहते हैं अपने आचार-विचारमें भाई, इस बातका ध्यान रखो-

सर्वं परवशं दुखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात्समासेन लक्षणं सुख दुःखयोः॥

परवश ही दुःख है, स्ववश ही सुख है। थोड़ेमें तुम सुख और दुःखकी यह पहचान जान लो। यह जो तुम्हारे जीवनमें पराधीनता आती जा रही है। मैंने सुना महाराज, सच कि झूठ राम जाने, एक श्रीमती और श्रीमानमें यह निश्चय हो गया कि आज सिनेमा देखनेके लिए जाना है। श्रीमान तैयार हो गये श्रीमतीजी भी तैयार हो गयीं, साड़ी पहन ली, उसीसे मैच करती हुई चूड़ी पहन ली, टीका लगा लिया। सब बिलकुल तैयार लेकिन जब जूती पहनने गयीं श्रीमतीजी तो पोशाकसे मैच करती हुई जूती नहीं मिली। अब तो वे बैठ गयीं कि हमारी चप्पल ही नहीं मिली तो हम जायें कैसे? सारा प्रोग्राम टायँ-टायँ फिस्स, दोनोंमें हुई लड़ाई, दोनों रोकर अलग-अलग सो गये। सिनेमाका कार्यक्रम रद्द। क्यों? कि श्रीमतीजी समझती होंगी कि हम बहुत सुसभ्य, सुसंस्कृत, सुशिक्षित, महिला समाजमें प्रतिष्ठित, हम साड़ीके रंगकी अगर जूती नहीं पहनेंगी, तो लोग क्या समझेंगे! आजकल तो महाराज एक ही जूतीमें तरह-तरहकी रस्सी लगा लेती हैं, बार-बार बदलती रहती हैं, उतनेसे ही काम चल जाता है। तो हे भगवान्, केवल उस जूतीने घरको चौबीस घण्टेके लिए दुःखमय बना दिया। इसीका नाम है पराधीनता।

तो दुःख कहाँ है—इसका आप निर्णय कीजिये। योग आपके लिए सुख कढ़ाहीमें पकाकर नहीं देता। यह कपड़ा बुननेकी मशीनमें सुख बुना नहीं जाता, सुख-ईंट पत्थरसे नहीं बनता। सुख आपके भीतर है, आपमें है। अगर आप सुखी नहीं हैं तो आपको दुनियामें कोई सुख नहीं दे सकता। इस बातको आप समझिये और हमारा वेदान्त, हमारी भक्ति, हमारा योग, हमारा धर्म यही—***स्वातन्त्र्यपरमं सुखं*** अष्टावक्र भगवान् कहते हैं, आप पराधीन न हों। इतने तक पराधीन न हों कि हमारा मन ऐसा रहेगा तब हम सुखी रहेंगे, अगर ऐसा आप सोचते हैं तो आपका मन वैसा नहीं रहेगा और आपको दुःखी होना पड़ेगा। यदि आप सोचें हमारा बाल ऐसा रहेगा, तो हम सुखी होंगे, हमारी आँख ऐसी रहेगी, तो सुखी होंगे, हमारी पीठकी रीढ़ ऐसी रहेगी तो सुखी होंगे, अगर ऐसा कुछ आप सोचते हैं तो बिलकुल गलत सोचते हैं। आइये आपको हम सुखकी दुनियामें ले चलते हैं। वह सुख जहाँ—***'बादशाह दुनियाके हैं मोहरे मेरी शतरंजके।'*** इन्द्र, चन्द्रमा, ब्रह्मा, रुद्र, वरुण एक ब्रह्माण्डके नहीं,

कोटि-कोटि ब्रह्माण्डके हमारी आँखमें सूर्यके रश्मि कण हैं, प्रतीतिकण हैं। ये मेरी शतरंजके मोहरे हैं। युद्ध करो कि सुलह करो, ये सब दिल्लगीकी चाल है। तो सुख कहाँ है? कि देखो, जो आप और आपका होना है, जो आप और आपका ज्ञान है, इसमें का माने कुछ नहीं। 'का' का जो ककहरा है यह भी नहीं है, आपका कुछ नहीं, आप कुछ, आपका ज्ञान नहीं, आप ज्ञान, और आपका होना नहीं, आप स्वयं होना, आप स्वयं सच्चिदानन्द घन, यह ज्ञानमात्र जो अपना स्वरूप है, चाहे जागो चाहे सोओ, चाहे सपना देखो, चाहे काम करो, चाहे निकम्मे रहो, लेकिन जैसे तुम तुमसे अलग नहीं होते, वैसे कुछ भी तुमसे अलग नहीं होता, क्योंकि वह तुम हो। इसीको हम बोलते हैं *सत् चित् एकम्* इसका नाम है सत्-चित् एक। अस्तित्व और ज्ञान, ज्ञान और तुम। यदि सुख उपलब्धिसे न्यारा है, तो कभी उपलब्ध हो, कभी न हो, तभी तो ज्ञानसे न्यारा माना जायेगा और जब उपलब्ध होगा तब तो आप सुखी रहेंगे और जब उपलब्ध नहीं होगा तब आप सुखी नहीं रहेंगे। इसलिए उपलब्धिस्वरूप आत्मासे, ज्ञान स्वरूप आत्मासे सुख जुदा नहीं है। और उसमें देश-काल-वस्तु—ये तो देहाभिमानके कारण भासते हैं, वैसे तो हैं नहीं।

अच्छा, सुखको पहले बताया इसमें सत्त्व-रज-तम—इन तीनोंका प्रवेश नहीं है। और इसमें देश-काल-वस्तुका प्रवेश नहीं है—

सुखमात्यन्तिकं यद्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

यह है क्या? कि केवल जानना है और क्योंकि यह अपना स्वरूप है, इसलिए अच्युत है, आप स्वयं अच्युत हैं। ऐसी भावना करनेके लिए नहीं बोलता हूँ, आप जाकर ध्यान करना घरमें—यह नहीं बोलते हैं। ध्यान-व्यान करनेकी बात छोड़ो। सुखकी कला आपको बता रहे हैं। वह आप, वह विद्या, वह चमत्कार, वह जौहर आपको बता रहे हैं, वह हीरा हम आपको अपनी जुबानसे दे रहे हैं कि यदि आप इसको समझेंगे, जानेंगे, मानेंगे तो इसी समय आपका सारा दुःख मिट जायेगा, दुःख आपको छू नहीं सकता और यदि समझेंगे नहीं, जानेंगे नहीं, तो जाकर भले तीन घण्टे ध्यान कर लो और भले भोग भोग लो, और भले पैसेके मालिक बन लो और भले ऊँची कुर्सीपर बैठकर किसी राज्यके किसी देशके प्राइम मिनिस्टर बन जाओ या राष्ट्रपति बन जाओ,

आपका दुःख दूर करनेवाली जो विद्या है, इस विद्याका आचार्य मैं हूँ। और आपका मैं है। इस दुःखको अगर दूर आप कर सकते हैं तो अपने स्वरूपको जान करके ही कर सकते हैं और न धर्म, न कर्म, न उपासना, न अपासना, न योग, न भोग, न ध्यान, न विज्ञान, कोई इस दुःखको दूर नहीं कर सकता। एक जैसे तिलके ओटमें पहाड़ हो, ऐसे आपकी नासमझीकी ओटमें यह दुःख आपके सिरपर सवार हो गया है। आप नासमझीको उठाकर फेंक दो, दुःख आपका स्पर्श नहीं करेगा। जहाँ नासमझी है, वहीं दुःख है। और इस दुःखको पकड़नेके लिए पकड़ रखनेकी जरूरत नहीं है। वह तो जब दूसरेके घरसे कुत्ता ले आते हैं, तब बाँधकर रखनेकी जरूरत पड़ती है।

तो आओ, अब यह बात बताते हैं कि **न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः**। यदि आप इसको जान लें, तो आप तत्त्वत: कभी इससे विचलित नहीं होंगे। देखो, अगर परायी चीज हो तो जानकर उसको पकड़ना पड़ेगा। जैसे यह रूमाल है, यह एक दूसरी चीज है। परायी नहीं है, अपनी हम मानते हैं इसको, लेकिन फिर भी यह सूतकी बनी हुई है और पंचभूतका बना हुआ सूत है, इसको जब हम हाथसे पकड़कर रखेंगे, तब अपने पास रहेगी तो पकड़ना पड़ेगा, तो ऐसे यदि आप ध्यानमें किसी चीजको देख-देखकर सुख लेना चाहेंगे, तो वह साधन है, हम जानते हैं, मानते हैं, दूसरी जगहसे मन हटानेके लिए, एकको हटानेके लिए एकको पकड़ना पड़ता है और यही बात है, यदि तुम अपने आपको नहीं पकड़ सके, अपने इष्टको नहीं पकड़ सके, अपने गुरुको नहीं पकड़ सके, तो दूसरेको कभी तुम पकड़कर रख सकोगे! ये हैं सब साधन, और ये हैं लच्छन-कुलच्छन जैसे होते हैं! जिस चीजसे साधना बनती थी, उस चीजको जब तुमने पकड़कर नहीं रखा, तो आगे किसी चीजको पकड़कर रखोगे—इसकी तो कोई सम्भावना ही नहीं है। तो '**तत्त्वतः न चलति**'का अर्थ यही है, यह विद्या भी समझो! मान लो कि दुःखका दृश्य भी कभी आगया, लेकिन आकाशमें बादल आनेसे क्या आकाश काले रंगका हो जाता है? या आकाशमें इन्द्र-धनुष दिखता है लाल और पीला, तो क्या आकाश उससे रंग जाता है? इसी तरह आपमें कभी दुःखकी परछाईं भी पड़ने लगे आपके शीशेमें—दर्पणमें कभी मोटर चलती हुई दिखे या कभी हाथी चलता हुआ दिखे, तो क्या आप शीशा फोड़कर उसमें-से मोटर या हाथी निकालेंगे? आप जानते हैं यह तो परछाईं

है, आयी है और चली जायेगी। इसी तरहसे दुःखकी छाया यदि आपके जीवनमें कभी आयी है, तो आप सोच लो, वह रहेगी ? एक महात्मा ऐसे बोलते थे, कभी कोई दुःख हो जाये न, एकके ऊपर नाराज हुए, तो महात्माने कहा—ठहरो, इस समय तो तुमको गुस्सा आ गया, अब यह तुम सोचो कि दो दिन बाद ऐसा ही यह रहेगा तुम्हारे दिलमें कि कुछ ठंडा पड़ जायेगा ? वे बोले कि भाई ठंडा तो पड़ जायेगा। बोले—तीन महीने बाद ? बोले—छह महीने बाद इस बातकी याद आयेगी कि इस बातपर हमको गुस्सा आया था ? बोले कि नहीं आयेगी। तो बोले कि अरे ऐसी चीजपर और ऐसा गुस्सा, जो दो दिनके बाद ही, दो घण्टेके बाद ही ठंडा पड़ जायेगा और दो दिनके बाद ही याद करनी पड़ेगी, इसको इस समय तुम इतनी कीमत क्यों देते हो ? यह तो एक बाहरकी परछाईं है बाबा, और तुम्हारा स्पर्श किये बिना तुम्हारे शीशेमें हाथी अपना रंग-कालापन नहीं डालेगा। मोटर जो धूल उड़ा रही है वह तुम्हारे शीशेको नहीं लगेगी, वह चली जायेगी, तुम काहेको यह अपने दर्पणको कलुषित हुआ समझते हो ? इसमें हाथी समझते हो ? तो ये सब बाहरी तूफ़ान आने-जानेपर भी, वह तूफान चला जायेगा, लेकिन तुम नहीं चले जाओगे ! तुम अच्युत रहोगे, अचल, ज्यों-का-त्यों ! यह विद्या सीखो। यह दुःख मिटानेकी ऐसी विद्या दुनियामें कहीं नहीं है। यह जो हमारी वेदान्त विद्या, हमारी वैदिक संस्कृति, यह जो हमारा उपनिषद् ज्ञान धर्म, यह दुनियामें कहीं नहीं है।

इसके लिए जंगलमें जानेकी जरूरत नहीं है। यह जंगलमें जानेसे नहीं मिलता है, यह तो विद्या जिसके पास होती है, उससे मिलती है। यह मन्दिरमें नहीं मिलता है, मूर्तिमें नहीं मिलता है, यह यार-प्यारसे नहीं मिलता है। यह विद्या तो जिसमें होती है उससे मिलती है। और यह जिससे मिलती है उसकी भी जरूरत नहीं है तो तत्त्वतः न चलतिका अर्थ है कि कभी-कभी तूफान आकाशमें आता है और जाता है, कभी बादल आता है, कभी बरसता है, कभी गर्मी पड़ती है, पर आकाश ज्यों-का-त्यों। इसी प्रकार आत्मधातु, आत्मतत्त्व बिलकुल अखण्ड है अखण्ड !

: २२-२३ :

अब एक बात और देखो—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ २३॥

महाराज, आजकल तो लोग जब मिलने आते हैं, तो अपना सुख चाहे दुकानमें छोड़कर आते हैं, कहीं परदेशमें छोड़कर आते हैं, एकने बताया कि महाराज, हमारा सारा सुख चोरी चला गया। तो ऐसे अपने सुखको जिन्होंने अपने आपसे अलग करके रखा है, वे तो सुखके कंगाल हैं, वे तो दुःखी हैं, वे तो दरिद्र हैं। उनका सुख कभी मरता है, कभी जीता है, यह तो ऐसा सुख है, देखो, यह न देशसे परिच्छिन्न, न कालसे परिच्छिन्न, न वस्तुसे परिच्छिन्न।

न सात्त्विक, न राजस, न तामस, यह तो त्रिगुणातीत, परिपूर्ण, अद्वय अपने आत्माका स्वरूप है और यदि यह मिल जाय तो **यं लब्ध्वा चापरं लाभं** इससे बड़ी चीज दूसरी नहीं है। और इसमें स्थित हो जानेपर— **यस्मिन्स्थितो, 'न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'** बड़ा भारी दुःख आ जाय तब भी आप अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होंगे। **गुरुणापि दुःखेन**। कि नहीं, **गुरुणापि विचाल्यते**—बृहस्पति आकर समझाने लगें कि नहीं, तुम सुखस्वरूप नहीं हो, वह जो श्रीमती पार्कमें घूम रही हैं, वह तुम्हारा सुख है तो मार देंगे भला कि हट, यहाँ गुरुडम फैलाने आया है। कि इस अपार्कमें कहीं हमारा सुख रखा है! अरे बाबा, **'दुःखेन न विचाल्यते'** और **'गुरुणापि न विचाल्यते'**।

श्रीउड़ियाबाबा महाराज कहते थे कि यदि ब्रह्मा भी आकर कहें कि तुम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा नहीं हो तो क्या विचलित हो जाओगे? अरे वह ब्रह्मा तुम्हारे सपनेका एक दृश्य है। स्वप्नपुरुषके कहनेसे तुम स्वप्न द्रष्टा नहीं रहोगे? तो *गुरुणाऽपि-बृहस्पतिनापि विचाल्यते। स्व गुरुणाऽपि न विचाल्यते।* **गुरुणा दुःखेनापि न विचाल्यते।** बड़े-से-बड़े दुःखके द्वारा भी विचलित नहीं हो सकता है।

यह बात जो कही जा रही है, वह उपनिषद्‌की है। भगवान् श्रीकृष्ण इस बातको छिपाते नहीं हैं। क्योंकि आजकल लोग ज्ञान-चोर होते हैं। हमने देखा है, हम भागवतका कभी प्रवचन करते हैं न, तो लोग वहाँ बैठकर लिख लेते हैं और फिर हमारे पास कभी आते हैं, तो उसको इस ढंगसे हमको सुनाते हैं, जैसे हमको ही सिखा रहे हों। तो यह जो ज्ञानकी चोरी है यह तो फलवती नहीं होती, इसके लिए हमारे सत्सम्प्रदायका, औपनिषद संस्कृतिका ज्ञान होना चाहिए देखो कृष्ण बोलते हैं, आप देखना, ज्यों-का-त्यों शब्द बोलते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

'आत्मलाभात् न परं विद्यते।' यह उपनिषद् है। दुनियामें सबसे बड़ी प्राप्ति क्या है? बोले—महाराज, एक सर्टिफिकेट मिला, विलायत गये थे तो एक खिताब। पहले हमारे बड़े-बूढ़े लोगोंको अंग्रेज सरकार किसीको

रायबहादुर, किसीको रायसाहब ऐसे पदवी देती। कोई जमीन नहीं, महल नहीं, राज्य नहीं और राजाका, साहबका खिताब मिल गया। वे लोग लिखन्त-पढ़न्त लेकर समझते कि हमारे पास तो सर्टिफ़िकेट है। काशीमें हम जाते हैं और कोई पण्डित आकर दिखाता है कि स्वामीजी, हम देखो वेदान्ताचार्य हैं। अच्छा, वेदान्ताचार्य हो तो यह बताओ कि उपनिषद् वचनके बिना तत्त्वज्ञान हो सकता है कि नहीं? वह अंग्रेजीमें हो चाहे संस्कृतमें हो, पर यह परिच्छिन्नत्वेन प्रतीयमान आत्मा और अनन्तत्वेन प्रतीयमान जगदधिष्ठान दोनों दो नहीं हैं, एक हैं—इस अर्थके सूचक महावाक्यके बिना, चाहे किसी भी भाषामें हो, तत्त्वज्ञान हो सकता है कि नहीं? तो बोले—हो क्यों नहीं सकता महाराज, आँख बन्द करके बैठेंगे। तो हम कहते हैं—तुम झूठे वेदान्ताचार्य हो! तुम अज्ञानी और जिसने तुम्हें सर्टिफिकेट दिया वेदान्ताचार्यका, वह भी अज्ञानी। क्योंकि तुम्हारा यह सर्टिफिकेट तो ब्लैकका है, जैसे बीमारीका सर्टिफिकेट आजकल डाक्टर लोग सोलह रुपया लेकर दे देते हैं, ऐसा सर्टिफिकेट है। दो सौ रुपयेमें एम. ए.का सर्टिफिकेट। तो इस सर्टिफिकेटका कोई अर्थ नहीं है, खिताबी राजा बननेसे कोई राजा नहीं बनता। इसमें अपनेको माननेकी जरूरत नहीं है कि हम मान लेते हैं कि हम ऐसे हैं, हम ध्यान कर लेते हैं, हम ऐसे हैं। यह सब कुछ नहीं चलता है। यहाँ तो अविद्याकी निवृत्ति होनी पड़ती है और जैसी अविद्या है—

यादृशी शीतलादेवी तादृशो वाहनः खरः।

जैसी आत्माकी अद्वितीयतामें कल्पित अविद्याकी व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता है वैसे ही व्यावहारिक और प्रातिभासिक तत्त्वज्ञानके द्वारा ही इसकी निवृत्ति होती है। परमार्थमें न अविद्या है, न अविद्याका निवर्तक है, न अविद्याकी निवृत्ति है। यह है परमार्थ। तो महाराज ने सर्टिफ़िकेट हैं इसमें; न जंगलमें जानेकी जरूरत है, न मन्दिरमें। न इसमें त्यागकी जरूरत है, न वेष बनानेकी। यह तो अन्तःकरणमें उस विद्यावृत्तिका उदय होना चाहिए, वह कला सीखनी चाहिए, जहाँ अपने मैं का जो सार है सो और ईश्वरका सार है। ईश्वरका भी सार होता है, ईश्वर सार-सार नहीं है, उसका भी एक सार होता है। ईश्वरका सार क्या है? उसकी उपाधिको जब अलग करोगे तो

सार-सार ईश्वर रह जायेगा और जीवका सार-सार क्या है? कि उसकी उपाधिको अलग कर दो तो उसका सार-सार रह जायेगा। और, उपाधिको अलग करना कोई हाथ-वाथसे नहीं होता है, दुनियामें उचंत खातेमें कुछ डालते हैं तो उसमें तिजोरीसे निकालकर बाहर थोड़े ही फेंक देते हैं। वह तो तिजोरीमें रहता है, उतना हिसाब-में-से बट्टे खातेमें डालना पड़ता है। तो उपाधिको हिसाब-में-से बट्टे-खातेमें डाल दिया और आत्मा और ब्रह्म बिलकुल एक।

हमको क्या तू ढूँढे बन्दे हम तो तेरे पास में।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणामपि विचाल्यते॥ २२॥

यं लब्ध्वा, उपलब्धि। यह सुख क्या है? यह उपलब्धि मात्र है। दुनियामें सबसे बड़ा लाभ नहीं, क्या है, कुर्सीका लाभ, धनका लाभ नहीं, परिवारका लाभ नहीं, ब्याह बहूका लाभ नहीं, बेटे, नाती, पोतेका लाभ नहीं, सबसे बड़ा लाभ है अपने आपको पा लेना। तुमने सब कुछ पा लिया, परन्तु अपने आपको नहीं पांया। तब क्या पाया? अपने आपको खो दिया और दूसरेको पा लिया तो तुम सुखी कहाँसे होओगे? वही अपने आपको पानेकी जो विद्या है, इसीका नाम योगविद्या है, इसीका नाम ब्रह्मविद्या है, इसीका नाम तत्त्वज्ञान है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

जब यह लाभ हो जायेगा, तो एक बहुत बढ़िया शैली, संस्कृत भाषामें तो इसको भंगी बोलते हैं। 'भंगी' शब्दका अर्थ यह है कि जैसे श्रीकृष्ण भगवान् खड़े होते हैं न, तो क्या? पाँवके ऊपर पाँव रखा, घुटना एक तरफ गया और कमर एक तरफ गयी और टेढ़े होकर ऐसे खड़े होकर, यों बाँसुरी ले ली, इसको त्रिभंगी बोलते हैं, तीन जगहसे टेढ़े। तो यह बोलनेकी एक भंगी है, शैली। यह बोलनेकी एक रीति है!

अच्छा, इन्होंने कहा—चाहे कुछ हो, हम मानते ही नहीं, ऐसा मानना यह नहीं है—'**मन्यते नाधिकं ततः।**' जिसको साक्षात्कार हो जाता है, जिसने अपने आपको पा लिया। इसमें बात यह है कि अलग अगर ईश्वरको पाया तो,

नहीं पाया। वह अलग मिला हुआ जो ईश्वर है वह तो हमारी बुद्धि जबतक जाग रही है तबतक काम देगा, नहीं तो फिर नहीं काम देगा। रामको पा लिया कृष्णको पा लिया, शिवको पा लिया। ध्यान रखोगे तो काम देगा, प्रेम करोगे तो काम देगा और ध्यान और प्रेम छूट जायेगा तो काम नहीं देगा। अपना आपा ऐसा है कि ध्यान रखो चाहे मत करो, प्रेम करो चाहे मत करो, सोवो चाहे जागो, अपना आपा तुमको छोड़कर नहीं जायेगा। तो जबतक अपने आपको नहीं पाया, तबतक क्या पाया? रुपया पाया, पैसा पाया, कुर्सी पायी, मकान पाया, कि देख लो जादूका खेल, खोल दे पलक, देखले झलक। तो अपने आपको पाना। असलमें अपने आपको पाना ही ईश्वरके सच्चे रूपको पाना है। अपने आपको पाना ही समाधिके सच्चे रूपको पाना है। अपने आपको पाना ही वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, कैलासके सच्चे रूपको पाना है। अपने आपको नहीं पाया तो ये जो सपनेकी तरह आने-जानेवाले हैं

साधो आवे जाये सो माया।
है प्रतिपाल काल नहिं जाके न कछु गया न आया॥

हमारे पल्टू बाबा थे आश्रममें, वे बोलते थे।

तो यह जो अपना आपा है, यह बिलकुल न्यारा है। जो आकर चला गया, वह क्या अपना।

अपना आपा ही रह गया और बाकी तो ये मेहमान, कई बार ममता करके आये अरे बस बस, अब तो तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं, हम-तुम हमेशा साथ रहेंगे युग-युग तक रहेंगे, कितने सपने आये,

निराकार साकार रूप धरि आये कई एक बारा।
सपने होय होय मिट गये रह्यो सार को सारा।
कोटि कलप ब्रह्मा भये दस कोटि कन्हाई हो।
छप्पन कोटि जादव भये मोरी एक पलाई हो।
साधो क्या पूछो उमर हमारी हो!

तो यह जो अपने आपको पाना है तब तुम्हें स्वयं साक्षात्कार होगा कि सचमुच इससे बड़ी दूसरी कोई चीज नहीं है। एक बार श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे किसीने पूछा—महाराज ज्ञान बड़ा कि भक्ति बड़ी? तो बोले कि

भक्ति बड़ी। तो पूछनेवालेने कहा—भक्ति बड़ी है तो ज्ञान क्या है फिर? तो बोले कि ज्ञानमें छोटा-बड़ा नहीं होता है। जहाँ छोटे-बड़ेका भेद ही नहीं है उसका नाम है ज्ञान। तो आओ,

मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।

क्या यह विद्या है! दुनियामें वह देश भाग्यशाली होगा—भारतवर्ष, वह काल भाग्यशाली होगा, जिस समय अन्तःकरणमें वृत्ति व्याप्ति होकर अविद्याका निषेध होता है, वह शिष्य भाग्यशाली, वह गुरु भाग्यशाली, वह विद्या भाग्यशाली, जिसने द्वैतकी गन्धको बिलकुल धोकर बहा दिया एकाएक।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।

बड़े-से-बड़ा दुःख आया महाराज; कभी बाहरसे जो बहुत भलेमानुस दिखते हैं और बड़े भलमनसाहतका भी व्यवहार करते हैं, भीतर उनके व्यवहारका जहाँ हम रहस्य देखते हैं, वहाँ शैतानकी गुण्डागिरी, माया वहाँ प्रविष्ट रहती है। जबतक ब्रह्मका, आत्मा ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हुआ, तबतक महाराज, दुःखं; **स्थितः**का अर्थ है कुछ करना नहीं है, बैंकमें है। यहाँ दुःखको दूर करनेके लिए, एकके पास दुःख आ रहा था तो वह डण्डा लेकर दौड़ा कि हम दुःखको मारेंगे। तो क्या हुआ? अरे उसके दाँतसे जीभ कटने जा रही थी, तो लेकर लोहा उसने दाँत ही तोड़ दिया कि दुष्ट दाँत तू मेरी जीभको काट रहा है। अब महाराज, जीभ तो नहीं कटी, लेकिन दाँत टूटनेका दर्द तो उसीको होगा न! घरमें आये डाकू और बुलाने जाओ पुलिसको, तो पुलिस महाराज, तब आती है जब डाकू चले जाते हैं। हमने अपनी आँखसे डाका पड़ते देखा है। अपने आपसे दंगा होते देखा है मारापीट होते देखी है, मरते देखा है लोगोंको, समयपर पड़ोसी भी मदद करने नहीं आते। कहते हैं—मेहमानोंसे चोर नहीं पकड़ा जाता। पुलिस आकर तुम्हारा दुःख दूर करेगी?

एक सज्जन महाराज, दादाजीसे रेडियो माँगकर ले गये, उनके यहाँसे कोई चुरा ले गया। तो उन्होंने जाकर पुलिसमें रिपोर्ट कर दी, हमारा रेडियो चोरी चला गया। पुलिसने उनको कहा कि लाइसेंस ले आओ रेडियोका

तुम्हारे पास कहाँसे आया ? बैठा लिया थानेमें फिर फोन आया, हमारे यहाँसे लाइसेंस गया तब बेचारे घंटे-दो घंटे बाद छूटे। चोर कहाँ पकड़ेगी पुलिस ? वह तो जो रिपोर्ट लिखाने गये थे, वही पकड़े गये। यह दूसरेकी मददसे हम सुखी हो जायेंगे, पड़ोसीकी मददसे सुखी हो जायेंगे, रिश्तेदारकी मददसे सुखी हो जायेंगे, लाठी मारकर सुखी हो जायेंगे, पुलिससे सुखी हो जायेंगे, कोई देवता-दानी आकर समयपर हमको सुखी कर जायेगा, ऐसे सुख नहीं मिलता। जब तुम्हारे अन्दरसे सुखका फव्वारा छूटेगा, जिसको देखोगे वह सुख, जिसको छुओगे वह सुख, जिससे बोलोगे वह सुख, सुखका सदावर्त तुम्हारे अन्दरसे निकलता होगा! सुखकें तुम कंगाल रहोगे, दूसरोंसे सुख माँगते डोलोगे तो तुमको सुख मिलनेवाला नहीं है। और यदि यह सुखका स्रोत खुल गया तो—

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।

बड़े-से-बड़ा दुःख आ जाये, बोले अरे भाई पाँच मिनट बाद जानेवाला है। वृन्दावनमें एक सज्जन थे, उनकी कोई निन्दा कर रहा था। वे उड़िया बाबाजीके पास आये, बोले—महाराज, वह हमारी बड़ी निन्दा करता है, हमारा मन होता है कि हम उससे बदला लें। बाबाने कहा—बेटा, क्या बदला लेना है, अब तो बस वह छह महीनेके भीतर मर जायेगा। वह तो मरनेवाला है, उससे क्या बदला लेना!

अब छह महीना नहीं, छह बरस हो गया, वह तो जिन्दा ही है महाराज। मैंने कहा कि महाराज, यह आपने क्या कहा! तो बोले कि भैया वह तो खुश हो गया कि हमारी निन्दा करनेवाला छह महीनेके भीतर मर जायेगा, उसका गुस्सा उतर गया, खुशी आ गयी और छह महीना बीतते-बीतते तो उसको याद भी नहीं रहेगा कि वह हमारी निन्दा करता है।

नारायण, यह राग-द्वेषका जब पहला झोंका आता है न जीवनमें, इसको बर्दाश्त कर लो, मुहब्बतको भी और दुश्मनीको भी; श्री उड़िया बाबाजी महाराजने कहा कि बर्दास्त करना ही तो सिद्धि है। जिसने रागके झोंकेको बर्दाश्त कर लिया, सह लिया, बह नहीं गया उसके साथ, जिसने द्वेषके झोंकेको बर्दाश्त कर लिया, उसीका नाम सिद्ध है दुनियामें। भभूत

निकालनेवालेका सिद्ध नाम नहीं है, कुंकुम बरसानेवालेका नहीं, तुमको कोई चीज निकालकर जादूके खेलमेंसे दे दे, उसका नाम सिद्ध नहीं है। असलमें सिद्ध उसको कहते हैं कि जो राग और द्वेषकी लहरमें, तूफानमें बह न जाये, अपनी जगहपर ठीक बैठा रहे। यह विद्या तुम्हें आती है? आती है तो तुम्हारा सत्संग सफल है और नहीं आती है तो और सत्संग करो।

असलमें सब लोग सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं; परन्तु दुःख मिटानेकी जो विद्या है और सुख पानेकी जो विद्या है, उसको सीखते नहीं। ऐसे सब लोग ज्ञान चाहते हैं, अज्ञान कोई नहीं चाहता, पर अज्ञान मिटानेकी और ज्ञान पानेकी जो विद्या है, रीति है, उसको सीखते नहीं। सब लोग जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, पर जो जीनेकी कला है, जो ज़ीनेकी कारीगरी है, कौशल है, उसको नहीं सीखते हैं। तो यह जो हमारी ब्रह्मविद्या है योगविद्या है, भक्तिविद्या है, यह ऐसा आप बिलकुल नहीं समझें कि यह मरनेके बाद काम आनेवाली चीज़ है। गाँवमें जब कोई जवान आदमी या बच्चे गीता सुननेके लिए जाते हैं, तो कहते हैं अभी तुम्हारी उम्र खेलने-खानेकी है, अभीसे गीता सुनकर क्या करोगे? तो असलमें जो चीज़ मरनेके बाद काम आनेवाली होती है, उसको तो आप मंरनेके समय भी जान लें तो चल जाये लेकिन जो चीज़ जिन्दगीमें ही काम आनेवाली है, वह विद्या अगर आप अपने बचपनमें नहीं सीखोगे, जवानीमें नहीं सीखोगे, जीवनकालमें नहीं सीखोगे तो एक बड़ी भारी हानि हो जायेगी आपकी! तो जो बात वह आपको सुनाते हैं, यह मरनेके बाद आपको नरकसे बचायेगी या स्वर्गमें ले जायेगी, वह विद्या नहीं है, जो आपके जीवनमें आनेवाले दुःखोंसे आपको बचायेगी और आपकी जिन्दगीको सुखी कर देगी हमेशाके लिए, वह विद्या है।

हमको महात्माओंने सुनाया, आपको तो मैंने पहले यह सुनाया ही होगा कि हमको मरनेका बड़ा डर हो गया था। ज्योतषी लोगोंने, हमारे पिता ज्योतषी, हमारे पितामह ज्योतषी बड़े-बड़े ज्योतिषियोंसे उनका सम्बन्ध, तो उनके ख्यालमें यह बात बैठ गयी कि हमारा अल्पायु योग है, मृत्युयोग है।

तो जल्दी-जल्दी शादी की गयी कि वंश चले। काशीके महामहोपाध्याय पंडित अयोध्यानाथ शास्त्री, हमारी कुण्डली तो पं० गंगाधर शास्त्रीने बनायी हुई थी। उनसे हमारे पिताजी पढ़ते थे। ज्योतिषके बहुत बड़े विद्वान्। तो यह जो डर समा गया कि हम जल्दी मर जायेंगे, इसके कारण हम महात्माओंमें जरा जल्दी घूमने लगे कि शायद कोई महात्मा टोना-टोटका ऐसा बता दे कि हमारी मौत टल जाये। अब भगवान् जाने वह ग्रहयोग कैसा था, मृत्यु होनेवाली थी कि नहीं होनेवाली थी, पर महात्माओंके पास उन्होंने, हम किसी चमत्कारीके पास नहीं गये, ये सिद्धि विद्धि दिखानेवाले जो लोग हैं न, उनको तो दूरसे ही हाथ जोड़ लेते थे। काशीमें एक महात्मा थे, उनके बारेमें उन दिनों यह मशहूर था कि वे मरी हुई चिड़ियाको जिलाकर दिखा देते हैं। उनके पास कोई ऐसी विद्या थी। उनकी आँखमें इतनी ज्योति थी कि वे कोई पत्थरका टुकड़ा अपनी आँखके सामने रखकर देखते थे तो वह फूट जाता था—ऐसा बड़े-बड़े लोगोंने हमको बताया था। एकको उन्होंने अपनी आँखमें कृष्णका दर्शन करा दिया, ऐसा भी एक बड़े आदमीने बताया। धनी लोग, विद्वान् लोग सब उनके भक्त, परन्तु मैं उनके दरवाजेके बाहरसे सैकड़ों मर्तबे निकला होऊँगा, परन्तु उनके दरवाजेके भीतर नहीं गया, क्योंकि हमको चमत्कार नहीं चाहिए, हमको सिद्धि नहीं चाहिए। उनके बारेमें पाल ब्रंटनने तो लिखा था कि यह तो बनारसका जादूगर है। तो हम चमत्कारी महात्माओंके पास नहीं गये, हम तो जो ब्रह्मवेत्ता महापुरुष हैं उनके पास गये। हमारा तो वेदशास्त्रसे सम्पन्न सनातन धर्मी वंशमें जन्म; यह टोना-टोटका, यह चमत्कार, भूत-प्रेत-पिशाच, यह हाकिनी, शाकिनी, डाकिनी-योग, चमत्कार उनकी तरफ हमारी कोई रुचि नहीं थी। ब्रह्मवेत्ता महात्माओंके पास गया और उन्होंने कहा कि देखो, मौत अगर होनेवाली होगी तो उसको हम नहीं रोक सकते। यह बात दो टूक बताते हैं, लेकिन हम तुमको ऐसी बुद्धि दे सकते हैं, जिससे तुम्हारे मनसे मृत्युका डर निकल जाये। वह विद्या हमारे पास है, जिससे मृत्युका डर निकल जाये—

पल्टू हम मरते नहिं साधो करो विचार।
साधो करो विचार हमहिं कर्ताके कर्ता॥

तो उन्होंने वह विद्या बतायी महाराज, कि जिससे अज्ञानकी निवृत्ति हो जाये मृत्युका डर न रहे, दुःख न आये। आपको मैं सुनाता हूँ—***प्रज्ञापराध एषः दुःखमित्येतत्***—जिसको दुनियामें दुःख कहते हैं वह बुद्धिका अपराध है। माने हमारे दिलमें जब किसी भी कारणसे दुःख होता है, तो उस कारणको गाली देनेकी जरूरत नहीं है कि इस आदमीने हमको दुःख दिया है, अरे वह तो बाहर है और दुःख तो भीतर है। तो क्या उसने तुम्हारे कलेजेमें हाथ डालकर तुमको दुःख दिया है? दुःख तो पैदा हुआ तुम्हारे कलेजेमें, वह आदमी बाहर है, वह चीज़ बाहर है, तुमको दुःख कैसे हो गया? तो असलमें तुम्हारे कलेजेमें कोई सड़ाँध—सड़ी हुई चीज पैदा हुई है, उसके कारण तुम्हारे दिलमें दुःख होता है। तो दूसरा कोई हमको गाली न दे तब हम सुखी होंगे, ऐसा सोचोगे तो कभी सुखी नहीं हो सकते। क्योंकि गाली तो उसके मुखसे निकलती है, दुःख तुम्हारे दिलमें होता है, तुम अपना दिल ठीक करो, ऐसा बनाओ, दुःखप्रूफ बना लो। जैसे घड़ीको बनाते हो ना कि वह पानीमें गिरनेसे बिगड़े नहीं, ऐसे अपने दिलको बनाओ कि दुनियाकी कोई चीज़ आकर टकराये और तुम्हारे दिलको छू न सके, फाड़ न सके, कड़वा न कर सके, वह विद्या है। अपने दिलको सुधारनेवाली विद्या दूसरी है और बैकुण्ठसे परमेश्वरको बुलानेवाली विद्या दूसरी है। योगिनी और भोगनीको बुलानेवाली विद्या दूसरी है, यक्षणी और रक्षणीको बुलानेवाली विद्या दूसरी है। बिलकुल उनकी तरफ नहीं जाना। यह तो हृदयके निर्माणकी विद्या है। आप अपने दिलको ऐसा बनाओ जिससे दुःख उसको छू न सके।

तो 'योग' शब्दका अर्थ हमारे यहाँ क्या है? तुम्हारा एक अनन्त जीवन है, मृत्यु उसका स्पर्श नहीं कर सकती! तुम ऐसे मीठे हो, ऐसा मधुर जीवन है तुम्हारा, तुम नहीं जानते, हमको मालूम है। तुम्हारा कुत्ता तुमसे कितना प्यार करता है, तुम्हारा बच्चा तुमसे कितना प्यार करता है, तुम्हारा प्रेमी तुमसे कितना प्यार करता है। तुम्हारे अन्दर मिठास है, मधु है, **'मधुवाता ऋतायते'** तुम्हारे अन्दर, तुम उसे पहचानते नहीं हो। आँखकी शक्ल मत देखो कि कैसी है, यह देखो कि उसके भीतर जो पुतली है, कैसी चमकती है और दुनियाकी चीजोंको देख लेती हैं। तुम्हारा दिल, तुम्हारा दिमाग, तुम्हारा वह सौन्दर्य है, वह माधुर्य

है, वह ऐश्वर्य है, वह सौस्वर्य है, सौकुमार्य है, सौरस्य है, सौरभ्य है। तुम्हारे अन्दर वह रस है तुम रसका खजाना हो। तुम मिठासके खजाना हो, तुम सुकुमारताके खजाना हो।

न खुदा न बंदा था मुझे मालूम न था।
मैं दोनों इल्लतसे जुदा था मुझे मालूम न था।

तो तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

आओ जानो, यह हिमालयकी गुफामें जाकर प्राणायाम करनेकी बात नहीं है, यह मन्दिरमें बैठकर मूर्तिमें समा जानेकी बात नहीं है, यह आत्महत्या नहीं है। **तं विद्याद्,** विद्याद् माने जानियात्, इसको जानो, इसको समझो। शराब पीकर जो लोग गम गलत करते हैं और इन्जैक्शन लगाकर बेहोश होते हैं और गोली खाकर जो लोग स्वर्गका सपना देख.. हैं, वह चीज़ यह नहीं है, होशोहवासमें जान लेनेकी विद्या है। न तो यह यज्ञशालामें बैठकर होम करनेकी विद्या है, न मन्दिरमें बैठकर पूजा करनेकी विद्या है, नाक बन्द करके योगाभ्यासकी विद्या भी नहीं है, गुपचुप कानमें बोलनेकी विद्या भी नहीं है, पता नहीं कानमें महाराज, यह एकान्तमें क्या गड़बड़ बता दे कोई! यह चौड़े मैदानमें लोगोंके भीतर खुलेमें बता देनेकी विद्या है। यह रहस्य विद्या नहीं है, बिलकुल प्रकट जाहिरा खबर है।

तं विद्याद्, इसको जानो, समझो! यह समझनेकी विद्या है। कौन-सी विद्या है यह ? कि **दुःखसंयोगवियोगं,** दुनियामें गर्मी पड़े, सर्दी पड़े, भूचाल आये, प्रलय हो, मौत आये, बीमारी आये, परन्तु दुःखका संयोग न हो सके तुमसे; **दुःखसंयोगवियोगं।** हमारे, योग माने किसीसे मिलन नहीं, अन्यसे मिलकर हम सुखी होंगे—यह ख्याल नहीं है। यहाँ तो अकेला जो है—हरि ॐ तत्सत्। यह आत्मदेव महाराज़ **दुःखसंयोगवियोगं;** इसमें कोई आसन नहीं है, किसी भी आसनसे बैठो, इसमें कोई प्राणायाम नहीं है। साँस जोरसे चले चाहे धीरेसे। इसमें कोई प्रत्याहार नहीं है, कहींसे मनको खींचना नहीं है—***यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।*** जहाँ-जहाँ मन जाये वहाँ-वहाँ परमात्मा दीखे, कहींसे मनको खींचना नहीं है, किसी कालमें मनको बाँधकर

ध्यान नहीं करना है, किसी विषयमें मनको मिलाना नहीं है, न इसमें आसन है, न प्राणायाम है, न मुद्रा है, न धारणा है, न ध्यान है, अंकुश मुद्रा करके खींचना नहीं है।

यह क्या है? कि **तं विद्याद्**—जानो। केवल जानना है और चार जनोंके साथ, सन्त सद्गुरुके समाने बैठकर जानना है। यह दुनियाके लोग जानते नहीं कि योगाभ्यास क्या होता है, उपासना क्या होती है। असलमें अपने आत्माके पास बैठना ही उपासना है, शरीरसे बैठना उपासना नहीं है, अपने आत्माके पास बैठना उपासना है। अनात्मासे योग न करना योग है। अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपमें स्थित होना, इसीका नाम धर्म है। और अपने सिवाय कोई वस्तु नहीं है, न देश, न काल, न वस्तु, इसका नाम ज्ञान है। अरे, यह सब एक ही चीज़ है।

तो *'तं विद्याद्' दुःखसंयोग वियोगं योगसंज्ञितम्।* कि भाई यह बात जल्दी समझमें नहीं आती। अच्छा, हम आपको दो बात बताते हैं। एक बार एक महात्माके पास हम गये थे। तो उन्होंने कहा हम ब्रह्म थे पहले और अब नहीं हैं, यह कल्पना छोड़ो। यह कल्पना भी छोड़ो कि हम अभी तो नहीं हैं, आगे हो जायेंगे। आओ तुम झूठमूठ, जैसे मानसी पूजा की जाती है न, जैसे मन-मनमें कोई लड्डू खाये, ऐसे एक बार तुम कल्पना करो कि मैं ऐसा अद्वय ज्ञान-तत्त्व हूँ—प्रकाशतत्त्व, जिसमें देश-काल और वस्तुका अस्तित्व नहीं है, मेरे सिवाय कुछ नहीं, झूठी कल्पना करो! अब तुम देखो कि तुम्हारी अद्वयतामें, अखण्डतामें माया कहाँ है! अविद्या कहाँ है! प्रकृति कहाँ है! यह प्रपञ्च कहाँ है, जीव कहाँ है! यह जो तुम अपनेको जीव मानते हो, सो कभी तुमने अपनेको जीव देखकर माना है? जब तुमको किसी माँने, बापने, दादीने, नानीने, चाचीने, ताईने, किसीने तुमको सिखाया कि तुम जीवात्मा हो, तो क्या तुमने देखकर माना था? पहले जाँच करली मशीनसे कि मैं जीवात्मा हूँ, उसके बाद तुमने माना था? कि नहीं माना था? अच्छा, तो हम हमेशाके लिए थोड़ेही बोलते हैं, हम तो कहते हैं कि तुम दस मिनटके लिए यह झूठमूठ मान लो, अच्छा शायद करके ही मान लो, झूठी कल्पना करलो, कि मैं एक ऐसा अखण्ड अद्वय परमार्थ तत्त्व हूँ, वह बिलकुल ज्ञानस्वरूप है, सबका प्रकाशक,

देश-काल-वस्तुका प्रकाशक और सबका अधिष्ठान; बोले—इससे क्या होगा ? इससे तुम्हारी कल्पनामें जो दोस्त हैं, जो दुश्मन है, मरना है, जीना है, ज्ञान-अज्ञानका भेद है, सुख-दुःखका भेद है, आना-जाना है, यह सब कट जायेगा।

अच्छा, तो कट जाने दो न! हम कहते हैं भाई जिसकी कल्पनाकी तलवार इतनी तीखी है, उसका यदि तुम निश्चय कर सको, जिसकी कल्पनामें इतनी ताकत है कि पाँच मिनटके भीतर तुम्हारे सारे दुःखको मिटा दे, इस कल्पनाको यदि तुम अपने निश्चयमें ले लो—यह पहली बात है। कि स्वामीजी इस प्रसंगमें काहेको कह रहे हो ? इस प्रसंगमें श्लोक बोल रहा है न—

स निश्चयेन योक्तव्यो—यह योग कैसे प्राप्त होता है ? निश्चयके द्वारा प्राप्त होता है। तुम इस निश्चयपर पहुँच जाओ। बोले—महाराज आपने कह दिया और हमने सुन लिया, निश्चयादि तो हुआ नहीं कुछ, हमारे पास तो जो व्याख्यान देने आता है, ऐसा झकझोरता है जैसे कुछ हुआ ही नहीं आकर महाराज, ललकार देता है कि तुमको बीस बरस सत्संग करते हो गया, तुमने क्या पाया बताओ ? लेखा-जोखा बताओ, हिसाब बताओ! तुम तो बिलकुल ठन-ठनपाल हो। आजसे हमारे चेले बनो तब आगे बढ़ोगे। और, ऐसे महाराज बीसों आते और जाते हैं। सब अपना चेला ही बनाना चाहते हैं। चेला बनते-बनते चैला हो जाओगे भला! किसी गुरुका तुम्हारे ऊपर कोई असर नहीं पड़ेगा। हम कहते हैं तुम जिस मन्त्रका जप करते आये हो, करो भला, मन्त्र मत बदलो! तुम अपना गुरु मत बदलो। तुम अपनी उपासना मत बदलो। अपना इष्ट मत बदलो। वह तो एक दूसरी चीज है। जो तुम्हारी वाणीपर मन्त्र चलता है, तुम्हारे मनमें ध्यान होता है और तुमने संस्कार करानेके लिए एक मन्त्र ले लिया है। तुम्हारे कानमें मन्त्र पड़ गया। तुम्हारे दिलमें इष्ट आ गया। तुम्हारे जीभपर मन्त्र आ गया। हम उसको हाथ जोड़कर बहुमानके साथ उसका आदर करते हैं। तुम वही रखो, उसको बिलकुल मत बदलो। हम न तुम्हारा गुरु बदलवाना चाहते हैं और न इष्ट बदलवाना चाहते हैं। न मन्त्र बदलवाना चाहते हैं। तुम हमारे चेले बन

जाओ—इसकी हमको वासना नहीं है। क्योंकि हम अपने चेले हैं और चूँकि तुम हमारे स्वरूप हो, इसलिए तुम हमारे गुरु-स्वरूप भी हो। इष्ट-स्वरूप भी हो और आत्म-स्वरूप भी हो। हमारे गुरु भी तुम्हीं, चेला भी तुम्हीं और हम भी तुम्हीं। क्योंकि गुरु चेला हम, यह सब एक ही है। अलग-अलग नहीं है। तो **स निश्चयेन योक्तव्यो**—पहली बात तो यह है कि जब तुमको कोई ललकारे, तुमको कोई चुनौती दे तो तुमको मालूम तो होना चाहिए कि हमको कुछ मिला है। तो अपना इष्ट, अपना मन्त्र, अपना गुरु तो बिलकुल ठीक रखो। लेकिन अपने स्वरूपके सम्बन्धमें एक निश्चय करो। यह सब तो अन्तःकरणसे, वाणीसे, शरीरसे—शरीरसे पूजा होती है, वाणीसे जप होता है, मनसे ध्यान होता है। सब ठीक है। वह होने दो। लेकिन निश्चय करो तुम्हारा स्वरूप क्या है। तुम वह ज्ञान हो जिसको अज्ञान कभी छूता नहीं। तुम वह तत्त्व हो जिसमें जन्म-मरण है नहीं। तुम वह सुख हो, वह माधुर्य हो, वह सौन्दर्य हो। वह आनन्द हो। वह रस हो तुम, वह परम सुख हो तुम, जिसको दुःख कभी स्पर्श नहीं करता। तुम वह परमार्थ हो! बोले—महाराज, निश्चय तो होता ही नहीं। अच्छा, तब एक बात और आपको सुनाता हूँ। अब दूसरे नम्बरकी बात लो! दो ही बात बतानेको तो कहा था न, एक तो तुम निश्चय करो। अब निश्चय करनेमें तुम्हारे मनमें संशय हो, विपर्यय हो। तुम इसी क्षण निश्चय न कर सको तो यह तो तुम्हारा सौभाग्य-दुर्भाग्य तुम्हारे साथ है। यदि तुम इसी क्षणमें निश्चय नहीं कर पाते हो तो तुम्हारा संशय, तुम्हारा विपर्यय, तुम्हारा सौभाग्य, तुम्हारा दुर्भाग्य तुम्हारे साथ लगा हुआ है। तुम अगर करोड़ों जन्मतक दुःखी होते रहो, तो कोई क्या करे! लेकिन तुम अभी निश्चय कर लो कि दुनिया चाहे जन्मे, चाहे मरे, चाहे महाप्रलय हो, चाहे सृष्टि हो, चाहे गर्मी पड़े, चाहे सर्दी पड़े, चाहे वर्षा पड़े, चाहे ठंड पड़े और हम! हम तो बाबा,

तू तो राम भजो जग लड़वा दे।

निश्चय कर लो अपने स्वरूपके सम्बन्धमें, न उसका स्वर्ग है न नरक है, न जाना है न आना है, न उसमें जन्म है न मरण है, न उसमें देश है न काल है, न उसमें वस्तु है। एक नम्बरकी बात।

अच्छा, आज तो निश्चय नहीं हुआ। बोले—होगा कोई संशय होगा। एकने कहा महाराज, हमने बीस बरसतक निराकारकी उपासना की। कुछ नहीं हुआ। अब हम साकारकी करेंगे। हमने कहा कि बाबा (चिट्ठी लिखकर पूछा था) तुम्हारे मनमें कोई ऐसी वासना है जो निराकारसे पूरी नहीं हो रही है। तुम चाहते हो निराकारको चूमना, वह चूमनेमें नहीं आ रहा है। तुम्हारे मनमें चुम्बनकी वासना है। तुम निराकारका आलिंगन करना चाहते हो। अब वह आलिंगन करनेके लिए नहीं मिलता है तो तुम कहते हो निराकारसे ब्याह नहीं करेंगे, साकारसे करेंगे। असलमें निराकारको छुड़ानेवाला अगर कोई है, तो यह वासनारूप एक वेश्या, वासनारूप एक कुटनी तुम्हारे साथ लग गयी है और वह तुमको निश्चय करनेमें बाधा डालती है। नहीं तो तुम अभी क्यों नहीं निश्चय कर लेते? इधरसे उधर भटकनेकी क्या जरूरत? कि नहीं होता।

अच्छा नहीं होता तो दूसरी बात बता दें! वह क्या है? कि **अनिर्विण्ण चेतसा।**

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।

दो ही तो बात है—**निश्चयेन** और **अनिर्विण्णचेतसा**। इसी क्षणमें निश्चय करलो बेड़ा पार, तुमसे पूछनेवाला कि तुमको अनन्त फल मिला कि नहीं, ब्रह्म मिला कि नहीं; बेवकूफ है। मिलता है? अरे तुम खुद हो।

अच्छा, बोले कि अभी तो निश्चय नहीं हुआ महाराज! मैंने पहले ही बताया कि जिसकी झूठी कल्पना तुमको मुक्त कर सकती है। वेदान्त शास्त्रका यह विचार है। अविद्याकी कल्पना बिलकुल झूठी है। इसलिए ब्रह्मकी झूठी कल्पना मुक्त कर देती है। सच्चे निश्चयकी तो बात ही क्या? लेकिन दूसरी बात लो! क्या? कि **अनिर्विण्णचेतसा**—थको मत। हार मत मानो। यह मत कहो कि हमको इतना करते हो गया। निश्चय नहीं होता, यह नहीं होता। बारम्बार निश्चय करो। दिनभरमें हजार बार निश्चय करो। दिनभरमें लाख बार निश्चय करो कि ऐसा नहीं, ऐसा है। हार मत मानो। बारम्बार यह माया, बारम्बार अविद्या, बारम्बार वासना, बारम्बार बेवकूफी आकर तुमको कहे कि नहीं, तुम तो परमार्थ सत्य, परमानन्दघन सच्चिदानन्दघन नहीं हो,

तुम तो दुःखी हो। तुम तो नरक स्वर्गमें जाने-आनेवाले हो, तुम तो मरने-जीनेवाले हो। ऐसे आकर तुम्हारी वासना लाख बार कहे, परन्तु हार मत मानो। जब-जब वह कहे कि ऐसा है, तब तुम झटसे उसको जवाब दो कि नहीं, ऐसा नहीं है। हमारा निश्चय पक्का है। **अनिर्विण्णचेतसा**—अपने चित्तमें निर्वेद मत आने दो। ऊबो मत। थको मत। यदि तुमको दिनभरमें हजार बार कोई पशु कहे, तो तुम मान लोगे? कि अरे तुम दो हाथके, दो पाँवके सीधे मनुष्य हो, स्त्री हो, पुरुष हो, साक्षात् मनुष्य हो तुम! दिनभरमें अगर तुमको कोई हजार बार कहे कि अरे यह कम्बख्त तो पशु है। तो उसको क्या जवाब दोगे। यही जवाब देओगे न, कि इसके दिमागमें पशु भर गया है, हम तो मनुष्य हैं। यदि कोई दिनभरमें हजारबार तुमको कहे कि तुम पापी हो, पुण्यात्मा हो, सुखी हो, दुःखी हो, नारकी हो, स्वर्गी हो, संसारी हो, परिच्छिन्न हो, हजार बार कहे, उसको कहने दो, उसका दिमाग खराब है। तुम तो जो हो, सो ही हो। **अनिर्विण्णचेतसा,** अपने निश्चयसे अपने निर्णयसे विरुद्ध हार मानकरके विपर्ययको स्वीकार मत करो कि मैं परिच्छिन्न हूँ। अपने चित्तको निर्विण्ण मत होने दो। माने इस निश्चयसे बोर मत होवो कि हाय-हाय निश्चय करते-करते बहुत दिन हो गया। निर्वेद मत आने दो। और, जब हार मान गये महाराज, तो यदि बीस बरसमें तुमसे कुछ नहीं हुआ, पन्द्रह बरसमें तुम यह निश्चय नहीं कर सके! हार जहाँ मानोगे वहाँ ये पन्द्रह बरस तो तुम खो ही दोगे। जन्म-जन्म खो दोगे। बिलकुल हस्तलब्ध परमेश्वर जहाँ हम ईश्वरको हाथसे पकड़ सकते हैं वहाँ पहुँचकर फिर उससे दूर हो जायेंगे। यह तो हस्तलब्ध परमेश्वर, हम तो प्रत्यक्षको मानते हैं। परमात्मा इन्हीं आँखोंसे दिखता है। इसी नाकसे सूँघा जाता है। इसी जीभसे चखा जा रहा है। इसी कानसे सुना जा रहा है। इसी त्वचासे छूआ जा रहा है। उसके सिवाय तो और कुछ है ही नहीं। **'मानि-मानि बन्धनमें आये।'** ऐसा स्वच्छन्द, ऐसा उन्मुक्त, ऐसा मुक्त जीवन तुम्हारा स्वरूप है। तो एक तो चाहिए निश्चय और निश्चय न हो तो बिना ऊबे, उद्विग्न हुए बिना, बोर हुए बिना. जब-जब कोई कहे कि तुम पशु हो, तो जैसे तुम जानते हो कि उसके कहनेका कोई अर्थ नहीं है। मैं मनुष्य हूँ। इसी प्रकार कोई तुमको कुछ भी

कहे, तुम जो हो सो ही हो। किसी दूसरेके कहनेसे कुछ हो नहीं सकते, अपने चित्तको निर्विण्ण मत होने दो। अपने दिलको मत गिराओ। गिरानेवाले गिर जायेंगे, लेकिन तुम अखण्ड ज्यों-के-त्यों!

अब आओ, आपको जहाँ दुःख-संयोगका वियोग हो जाता है वहाँ ले चलते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

हम आसनको योग नहीं कहते, वह भी एक योग है। परन्तु उसको हम योग नहीं कहते। आसन सिद्ध होनेसे एकबात होती है कि सफलताका एक लक्षण है '*ततो द्वन्द्वा*' योग दर्शनमें ऐसी बात कही गयी कि यदि किसीको आसन सिद्ध हो जाय तो सर्दी-गर्मी नहीं लगेगी, भूख- प्यास नहीं सतायेगी। द्वन्द्व अपनी चोट नहीं करेंगे। आसनकी सिद्धि हो जायेगी; परन्तु यह कोई योगाभ्यास थोड़े ही हुआ! अगर आपने प्राणायाम सीख लिया हो तो जैसे करते हो वैसे करना। लेकिन सिर्फ प्राणायाम करना ही योग नहीं है, सिर्फ धारणाका नाम योग नहीं है कि आप कोई रूपका ध्यान करते हो, सिर्फ ध्यानका नाम योग नहीं है कि आपकी वृत्ति एक ही विषयमें जाकर गिरती है। सिर्फ निरोधका नाम योग नहीं है कि अब वृत्ति रुक गयी। और सिर्फ द्रष्टाका नाम ही योग नहीं है कि अब हम द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थित हो गये। अब हम योग किसको बोलते हैं, यह तो आप जानते हैं। गीतामें ऐसे एकांगी योग जो आपको ले जाकर एकान्तमें डाल दे, सातवें आसमानमें फेंक दे, निराकारमें डाल दे, उसको योग नहीं कहते हैं। गीतामें तो योग बोलते हैं—***योगः कर्मसु कौशलम्।*** (२.५०)आप कर्म कीजिये, परन्तु इतनी कुशलतासे कीजिये कि इसमें निद्रा, आलस्य, प्रमाद न आये। उसमें विक्षेप, विस्मृति न आये। आपकी समता बनी रहे, ऐसा कौशल **समत्वं योग उच्यते।** (२.४८) **सिद्ध्योसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।** (२.४८) समत्वका नाम योग है।

अब हम आपको यहाँ जिस योगकी चर्चा कर रहे हैं, वह क्या योग है—

दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

यह नहीं कि आप ऐसे बेहोश हो जायें कि आपका हाथ कोई काट ले, तो मालूम न पड़े। एक सज्जन हमारे पास आये, तो बोले—महाराज हमारा योग अभी सिद्ध तो हो रहा है। लेकिन जैसा होना चाहिए वैसा नहीं होता। क्या बात है महाराज! वैसे तो महाराज मक्खी बैठती है, मच्छर बैठता है, चींटी काट लेती है, तब भी हम चुपचाप बैठे रहते हैं, उससे अपना आसन नहीं छोड़ते हैं, लेकिन अभी ऐसी स्थिति नहीं आयी कि कोई सुई चुभो दे और मालूम न पड़े! मैंने कहा—ऐसी स्थिति करनेकी तो हमारे पास युक्ति है। बोले—महाराज क्या करना पड़ेगा? कैसे आसन करें, कैसे प्राणायाम करें? मैंने कहा—नहीं, इसके लिए एक रुपया खर्च करना पड़ेगा, हम डॉक्टरसे एक इन्जेक्शन या एक गोली तुमको दिलवा देते हैं और फिर सुई चुभो दी जाये तो मालूम नहीं पड़ेगी, तो तुम यदि योगाभ्यास करके यही स्थिति प्राप्त करना चाहते हो तो यह कोई योगकी स्थिति नहीं है। एक आदमीने बारह बरस भजन किया घर द्वारसे दूर रहकर, लौटकर आया तो बापने पूछा—बेटा, बारह बरस तुमने योगाभ्यास किया। क्या लेकर आया? बोले—अब हम खड़ाऊँ पहनकर पिताजी, नदी पार कर लेते हैं, हमारे खड़ाऊँमें सिद्धि आ गयी। तो पिताजीने कहा कि बेटा हम तो नाव वालेको दो पैसा देते हैं, तुम्हारी खड़ाऊँ तो बारह बरसमें तैरने लगी है और हमारी नाव तो दो ही पैसेमें तैर जाती है। तो तुमने दो पैसेका काम बारह बरसमें किया है। इसका नाम योग-सिद्धि नहीं है। योग-सिद्धि माने क्या है? कि दुनियाका दुःख और दुनियाका सुख अपनेको प्रभावित न कर सके। और हम जागते रहें। हम काम भी करें, भोग भी करें, चलें भी, फिरें भी, ऑफिस भी सम्भालें, अपने मनको ऐसा बना लें **'दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।'** दुनियामें सब चीज मरनेवाली है और सब चीज पैदा हुई हैं। ***जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।*** *संयोगविप्रयोगान्ता*, एक दिन सब बिछुड़ने-वाले हैं।

एकबार कोई हमारा बहुत प्रेमी था तो उसने हमारे पास आना छोड़ दिया। मनमें थोड़ा ख्याल हुआ, बहुत पुरानी बात है। तो मैंने एक महात्मासे कहा कि महाराज, वे तो पहले बहुत प्रेम करते थे, अब हमसे मिलते ही नहीं

हैं। तो महात्मा बोले कि देखो भाई, एक-न-एक दिन तो वे या तुम दोनोंमें-से एक तो चल बसते न! तो वियोग होता ही होता। तुम समझ लो कि गये, अकाल ही में चले गये। अब संतोष कर लो। अरे जीवनमें कितने लोग आते हैं, कितने लोग जाते हैं, सबके लिए रो-रोकर अपनी जिन्दगी क्यों खराब करना। अपना मन क्यों बिगाड़ना! अपने मनको भगवान्‌में रखो, बिना नमकके तुम पानी पीते हो कि नहीं! तो कोई तकलीफ होती है? तो एकदिन घरमें दालमें अगर नमक न पड़ा हो और उसको पी लो! पानीसे तो उसका बढ़िया स्वाद रहेगा कि नहीं? और ताकत भी ज्यादा रहेगी। अब वह नमक न पड़नेपर लड़ाई करनेकी क्या जरूरत है? बस महाराज, यह घरोंमें एक दूसरेकी काँट-छाँट जो करते रहते हैं, बस इसीमेंसे दुःख निकलता है। दूसरेकी जुबान मत पकड़ो, अपने मनको पकड़ो, यह मत कहो कि ये जब नहीं बोलेंगे तब सुखी हो जायेंगे। कि भाई ये जब धरतीपर नहीं रहेंगे तब हम सुखी हो जायेंगे। दूसरेकी जबान मत पकड़ो, अपने कानको जरा कड़ा कर लो कि उस आवाजको सह जाये। दूसरेपर गँड़ासा मत चलाओ कि मर जायेंगे तब हम सुखी होंगे, जरा अपनी आँख ही पक्की कर लो कि इनको देखकर भी हम दुःखी नहीं होंगे। यह जो तुम चाहते हो कि हम अपने दुश्मनसे धरती खाली करेंगे। यह तो महाराज, बड़े संसारी लोगोंका काम है। हमारे तो पहले आते थे 'आल्हा' गानेवाले लोग, महोबावाले, गाते थे—

जाके सन्मुख दुश्मन बैठे ताके जीवन को धिक्कार।

वे नट लोग ढोल बजाते थे। तो महाराज गाँवके लोग इकट्ठे हुए, आल्हा हुआ। अब दो दुश्मन आमने सामने बैठे थे। वह आल्हा हो ही रहा था, एकने कहा—अरे *'जाकर समुहे दुश्मन बैठे, ताके जीवनको धिक्कार'* और उठायी लाठी और चला दी। अब उसने दूसरी लगायी। अब कहाँ तो 'आल्हा-ऊदल' का गाना हो रहा था, आनन्द आ रहा था और कहाँ दोनोंमें लाठी चल गयी।

तो यह जो बहुत निम्न प्रकारकी प्रकृति है, इसको तो अपने जीवनमेंसे निकाल ही देना चाहिए। तब तुम सुखी होओगे।

देखो, जब तुम्हारी साड़ी बहुत बढ़िया हो, तब इस बातका तुमको सुख होना चाहिए कि हमारी साड़ी बहुत बढ़िया है। और जब तुम्हारी साड़ी सादी हो, घटिया किस्मकी हो तो कहो गाँधीजी तो खादी पहनते थे तो खुश होते थे, हम आज सादी साड़ी पहनकर खुश होते हैं। इसमें तो बड़ा भारी बड़प्पन है। मिठाई खाओ तो कहो मिठाई मिल गयी, बहुत बढ़िया और सादा मिले तो कहो आजकलके डॉक्टरोंने कह रखा है कि मिठाई तो ज़हर है। जिसमें घी हो, मावा हो, वह तो बिलकुल नहीं खाना चाहिए। सादा ही भोजन करना चाहिए। तुम हर हालतमें सुख लेनेकी जो विद्या है, वह क्यों नहीं सीखते?

तो योग असलमें वह है जहाँ समता आती है अपने चित्तमें और जहाँ कर्म करनेका कौशल है। जहाँ ईश्वरकी ओरसे आज्ञा आये, बस दोनों हाथ उठा लिया। एकबार हमलोग गये थे राजगिरिमें, सन् अड़तीसकी बात है, शौचालयमें शौच जायें वह बात नहीं बनती थी। तो चले जायें गोदावरीके किनारे-किनारे ऊपरकी ओर और शौच हो आयें, तो वहाँ था किसीका बंगला, अंधेरे ही जाते थे। सिपाही बन्दूक लिये खड़ा था, उसने कहा हाथ उठाओ। मय लोटा हाथमें लिये हाथ उठा दिया क्योंकि हाथ न उठायें तो बन्दूककी गोली लगे। अब उसकी बोली हम न समझें कि वह क्या समझाना चाहता है। वहाँकी भाषा दूसरी तो अन्तमें वह समझ गया लोटाका पानी हाथमें देखकर, तब उसने कहा कि अच्छा, इशारा किया कि हमारे बंगलेमें आ जाओ और नौकरोंके लिए जो शौचालय बना था, कहा कि इसमें जाओ बाहर नहीं जाने देंगे।

तो जब कभी हाथ उठानेका हुकुम हो ईश्वरका, तो हाथ उठा दिया, गिराना हुआ तो गिरा दिया। अपनी इसमें जिद क्या है? असलमें दुनियामें जितना दुःख है, वह अपने मनकी जिद रखनेमें ही सारा-का-सारा, अपनी शान, अपना अभिमान, अपना बड़प्पन, अपनी जिद, यही दुःखका हेतु है। तो योगाभ्यासका फल यह है कि अपने आपको ऐसा बनाओ **दुःखवियोगं योग-संज्ञितम्** नहीं; दुःख न होनेका नाम योग नहीं है। कि नहीं, दुःख खूब हो, लेकिन अपनेको छू न सके, इसका नाम है योग। तो धर्म भी अपनी ओरसे

ही करना है। आपकी जेबमें-से पाँच पैसा गिर जाये तो धर्म नहीं होगा; लेकिन पाँच पैसा अपने हाथसे निकालकर किसी गरीबको दे दो तो धर्म हो जायगा, और यह यदि अच्छे देशमें, अच्छे कालमें, अच्छे पात्रको दो तो ज्यादा धर्म होगा। क्योंकि आपका कर्तृत्त्व भी रहे, संकल्प भी रहे, विधि भी रहे। आपका संकल्प जितना ढीला होगा उतनी ही धर्मकी उत्पत्ति कम होगी। इसलिए अपने संकल्पसे धर्म करना पड़ता है। यह धर्मका रहस्य है। यह निसर्गपर, प्रकृतिपर छोड़नेसे कभी धर्म नहीं होता। तो साधनाके मार्गमें चलना पड़ता है। विद्वान् ब्राह्मणको संकल्पपूर्वक, विधिपूर्वक, उत्तम स्थानमें दान करनेका फल दूसरा है और गरीबको देखकर उसको कुछ दे देनेका फल दूसरा है। गरीबकी गरीबी देखकर तत्काल जो दुःख हुआ, हायरे गरीब इतना दुःखी तो वह जो अपने चित्तमें दुःखाकार वृत्ति हुई, कुछ अगर दे दोगे तो तत्काल वह दुःखाकार वृत्ति मिट जायेगी। तत्काल आपका दुःख मिट जायगा। लेकिन यदि आपको सारे जीवनके लिए, पुनर्जन्मके लिए, परलोकके लिए यदि कोई धर्म-स्थापन करना है, धर्म-प्रतिष्ठा करनी है तो उत्तम देशमें, उत्तम कालमें, उत्तम वस्तु संकल्पपूर्वक, विधिपूर्वक दान करनी पड़ेगी। उससे अदृष्टकी उत्पत्ति होती है। यह धर्मकी मर्यादा दूसरी है। यह आप अपनी मनमानी न समझें इसको तो—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्ध समन्ततः॥ ६.२४

इसका अर्थ है कीजिये, इसका अर्थ है छोड़िये मत, कीजिये।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्। ६.२५

सर्वान् कामान् अशेषतः त्यक्त्वा। जितनी कामनाएँ हैं, माने एक तो तरह-तरहकी जो कामना कामत्व इसमें जाति हो गयी तरह-तरहकी कामना, और उसको बताया **अशेषतः त्यक्त्वा,** पूरी तरहसे छोड़ दीजिये, बोले— आओ भाई, कामनाको पहले पहचानें कि इसके माँ-बाप कौन हैं? जरा उसका हुलिया भी चाहिए। माने उसकी शक्ल-सूरत कैसी है, और उसकी वल्दीयत भी तो चाहिए न, उसके बापका नाम क्या है, यह वल्दीयत हो गयी। वह किस गाँवमें रहता है, हुलिया!

हम बच्चे थे; अपने बाबाके साथ अदालतोंमें जाते थे, वहाँ वकील लोग अर्जी लिखते थे, दस्तावेज लिखते थे, दरखास्त लिखते थे। वे सब चेले थे। हमारे मुख्तार होते, मुहर्रिर होते! खूब आनन्दसे दिनभर उनके पास बैठते। वे खिलाते-पिलाते भी, हम देखते भी रहते थे दिनभर। तो सब उर्दूके कुछ शब्द याद हो गये।

तो आओ आपको सुनायें, कामनाके बापका नाम है संकल्प जहाँ आपके मनमें आयेगा कि यह साड़ी बहुत बढ़िया, तो बोले—यह हमको पहननेके लिए मिलनी चाहिए। किसीने कहा कि अब बुढ़ापेमें तुम यह साड़ी क्या पहनोगे? तो बोले कि अच्छा, अपनी बहूको पहनायेंगे, लेकिन यह साड़ी हमारे ही घरमें जायेगी। देखो, साड़ी खरीदनेके लिए बाजारमें गये नहीं। निकले महाराज बंगाली टोलामें-से बनारसमें निकले और वह मलाईकी पूरी बन रही, दो तरफ मलाई, ऊपर-भी नीचे भी, और बीचमें उसके चाशनी भरते हैं। एक दिन मन चल गया। आपकी जीभपर भी पानी आये तो बुरा नहीं मानना, वह बढ़िया होती है, खानेमें कि क्या पूछना! तो पहले खानेके लिए नहीं गये थे। पर जब देखनेपर उसके स्वादकी कल्पना हुई कि बड़ा बढ़िया है, तब मनमें कामना उठ गयी कि इसे खा लें। और पैसेसे खरीदा और खा लिया। देखो अब, पेटको तो जरूरत नहीं थी खानेकी, खानेके लिए तो आप गये नहीं थे। उस रास्तेमें चल रहे थे। कचौरी गलीमें गये महाराज। बनारसमें कचौरी गली है। दिल्लीमें पराठा गली है। बनारसमें राम भण्डार है, शुद्ध मिठाई लो, विज्ञापन नहीं कर रहे हैं। हम आपको यह बता रहे हैं कि यह बम्बईमें जब आप सड़कपरसे निकलते हैं, तो पहलेसे घरमें-से पैसा लेकर गये नहीं होते हैं, सोचकर गये नहीं होते हैं, चीज़को देखनेके बाद आपका मन चला जाता है कि इसको ले लें कि यह तो बहुत बढ़िया है। अब इसमें सवाल यह है कि जो चीज़ आपके लिए आवश्यक है, आपके लिए हितकारी है कि केवल तत्काल स्वाद देनेवाली है, अभिमान बढ़ जायेगा या आपकी जीभका स्वाद बदल जायेगा, क्या इसीके लिए चाहते हैं? तो जब वस्तुको देखकर मनमें संकल्पका उदय होता है कि यह बढ़िया है, तब कामनाको पूरी करनेकी कोई जरूरत नहीं है। जब आप घरमें

बैठे हों, रातको चार जने मिलकर विचार-विमर्श कर रहे हों या अकेलेमें आप घरकी आवश्यकताओंपर विचार कर रहे हों और उसमें कोई चीज़ आवश्यक हो कि भाई ऐसा भोजन कल बाज़ारसे लाना है, ऐसी भोजनकी सामग्री लानी है, पहननेके कपड़ेकी सामग्री लानी है, जब चार जने विचार विमर्शसे, जो घरमें आवश्यक मालूम पड़ता हो या आपकी दृष्टिसे वह घरके लिए हितकारी हो, पहले आप बुद्धिसे विचार करते हो, आप किसी चीज़को चाहते हैं, लेते हैं, वह विचारपूर्वक लाते हैं कि जैसे खानेकी चीज़ देखकर मुँहमें पानी आया, खा लिया, वैसे दुनियाकी चीज़को आप पहले देख लेते हैं और संकल्प करते हैं और फिर लेते हैं। हम आपको, आपके जीवनको सुखी रखनेका, क्योंकि यह संकल्प आपको कभी-कभी, अगर मान लो ब्याहसे पहले आपको अच्छी स्त्री नहीं दिखी है और बादमें दिख जायेगी, तो क्या अच्छी लड़की होनेसे आप उससे शादी करेंगे? पहलेकी शादी जो हुई है उसको छोड़ देंगे? संकल्प तो होगा! क्या आपका विवाह हो चुका है, अच्छा पुरुष कोई दिख गया कि बड़ा स्वस्थ, बड़ा सुन्दर है, अरे हाय-हाय पहले नहीं मिला हमको, गलती हुई, अब इससे विवाह कर लेंगे, तो ठीक होगा, कि नहीं होगा। तो वस्तुको देखकर, जैसे बारम्बार विवाह नहीं बदलता है। लड़की नहीं बदलती है, लड़का नहीं बदलता है। यह हमारे धर्मकी मर्यादा है, हम विलायतकी बात नहीं करते महाराज, विलायतमें भी ऐसा नहीं है। जैसी कल्पना मैं कर रहा हूँ, बड़े भलेमानुस हैं, बड़े दृढ़ हैं, एक दूसरेके लिए बड़े-बड़े संकट सहते हैं, बड़े-बड़े कष्ट उठाते हैं लेकिन हम तो आपको अपनी मनोवृत्ति समझनेके लिए आप अपनी मनोवृत्तिको समझिये कि यदि आप अपनी मनकी पसंदगीके अनुसार चलेंगे, तो यह आपको कहाँ ले जायेगा और यदि आप बुद्धिसे अपना हित सोचकर चलेंगे तो यह हित दृष्टि आपको कहाँ ले जायेगी! योग माने जीवनकी उत्तम-से-उत्तम कला; परलोकमें ले जाकर आपको सुख देगा, वह योग नहीं, जो मरनेके बाद सुख देगा सो योग नहीं जो आपकी इस समय सब दुःखोंसे बचनेका तरीका, वह परलोकवाले भगवान्का मिलना योग नहीं मरनेके बाद शुद्ध हो जाना योग नहीं है, आप अपनेको इस समय देखिये कि आप क्या

दुनियाकी बुरी-बुरी चीजोंको देखकरके घबरा जाते हैं ? और क्या अच्छी-अच्छी चीजोंको देखकर ललचा जाते हैं ? तो वह जो आपके चित्तमें लालच और उद्वेग हैं इसको मिटानेकी जो विद्या है उसका नाम योग है, हम उसकी चर्चा कर रहे हैं।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

ये सब संकल्प क्या हैं ? आपने अपने सौन्दर्यको, अपने माधुर्यको, अपने ऐश्वर्यको, अपी अच्छाईको, इधर ख्याल करना छोड़ दिया, दूसरेका सौन्दर्य, दूसरेका माधुर्य, दूसरेकी अच्छाई देखने लगे और इसका फल ही यह है कि एक अच्छा लगेगा और दूसरा बुरा लगेगा। यह आसक्ति ससुरी इतनी बदमाश है महाराज, कि यह, बनारसी भाषामें बोला,. व्रजकी भाषामें बोलें तो ससुरी नहीं बोलेंगे, साली बोलेंगे। तो इसके साथ सब सम्बन्ध होता है। यह आसक्ति इतनी बुरी है कि यह मस्तिष्कको बिलकुल असंतुलित कर देती है, इसमें न ईश्वर रहता है, न शास्त्र रहता है, न गुरु रहता है, न समता रहती है। तो जब कड़वाहट पैदा करनेकी भूमिकामें चली जाती है, तब मनुष्य फिर मनुष्य नहीं रहता है। इसलिए अपने अन्तःकरणको, अपनी बुद्धिको संतुलित करनेकी जरूरत है। सबसे बड़ा योग यही है कि हमारा मन पक्षपात भरा न हो ! सबसे बड़ा योग यही है कि हमारा मन पक्षपात और क्रूरतासे मुक्त हो जाये। इस योगकी चर्चा हम आपसे फिर करेंगे !

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥

संकल्पप्रभवान्कामान्—कामके बापका नाम है संकल्प। बाप ही न पैदा हो, तो बेटा कहाँसे पैदा हो। पर आप संकल्पके स्वरूपको ठीक-ठीक समझें। संकल्प केवल ग्रहणका ही नहीं होता है, त्यागका संकल्प भी संकल्प ही है। माने या तो जन्म-जन्मान्तर या तो इस जन्ममें किसी चीजकी तारीफ सुनी हुई होती है या उसका सुख अनुभव किया हुआ होता है। तब उस चीजको पानेका संकल्प होता है और इस जन्ममें या पूर्व-पूर्व जन्ममें किसी चीजकी निन्दा सुनी हुई है या उससे दुःख हुआ है, तो उसके त्यागका संकल्प उठता है। यह ग्रहण और त्याग दोनोंका संकल्प बाहरी वस्तुके सम्बन्धमें होता है, अपने आपका ग्रहण और अपने आपके त्यागका संकल्प नहीं होता। तो जहाँ-जहाँ आपके मनमें कोई ग्रहणका या त्यागका संकल्प उदय होता है, वहाँ-वहाँ वह संकल्पके पेटमें जो चीज भरी है दोस्त या दुश्मन, वह बाहरसे घुसेड़ी हुई है। उससे कुछ दुःख हुआ है या उसकी कुछ निन्दा सुनी है, या उससे कुछ सुख मिला है या उसकी कुछ तारीफ सुनी है, दृष्ट हो या आनुश्रविक हो—दोनों तरहसे अपने मनमें वह चीज बाहरसे ही भर गयी है। तो ग्रहण या त्याग दोनोंका जो काम है वह बाहरकी वस्तुके सम्बन्धमें ही होता है। यह साधु-महात्माको भी होता है। इसमें ऐसा नहीं समझना कि दो पैसेके रंगसे कपड़ा रँग लेनेसे ही हम संकल्पोंसे बच जायेंगे सो बात नहीं है।

मन न रँगाए, रँगाए जोगी कपड़ा

भाई वेषका आदर दूसरी चीज़ है और निस्संकल्प होकर अपने स्वरूपमें बैठना दूसरी चीज है। वेष बहिरंग है और स्वरूप निष्ठा अन्तरंग है। उसमें यदि बाहरकी चीजोंको पकड़कर बैठेंगे तो संकल्पका पेट भरा रहेगा और वह खाली नहीं होगा कभी और रीति तो यह है कि चाहे कोई गृहस्थ हो, चाहे संन्यासी वह अपने मनके पेटको खाली करे।

मुखड़ा क्या देखे दर्पणमें, तेरे दया धर्म न तनमें।

अच्छा तो आओ भाई, यह कहते हैं कि सब काम संकल्पसे पैदा होते हैं। माने बाहरसे आये हुए हैं। किसी दूसरेने भर दिया है या तुमने भर लिया है। पर भरे होंगे बाहरसे। जंगलमें जानेसे भी ये नहीं छूटते हैं।

न मे रति जनस्थस्य यते रेकान्तवासिनः।

संन्यासी भी हैं, मौन भी रहते हैं, वनमें हैं, एकान्तवासी हैं। परन्तु वहाँ भी किसीसे दोस्ती और किसीसे दुश्मनी हो जाती है। जब एकसे दुश्मनी होगी तो दूसरेसे दोस्ती करनेकी जरूरत पड़ेगी और जब किसीसे दोस्ती हो जांयेगी तो किसीसे दुश्मनी करनेकी भी जरूरत पड़ेगी। ऐसा ही यह संसारका नियम ही ऐसा है कि अपने मनको ठीक करोगे, तब तो ठीक हो जाओगे और अगर बाहर ठीक करने लगोगे तो बस महाराज, बाहर तो कभी ठीक होगा नहीं, और तुम बेठीक हो जाओगे। तो यह आध्यात्मिक साधनाका अर्थ ही यह है कि अपने आपकी ओर देखो, दूसरेकी ओर मत देखो।

अच्छा तो, काम कहाँसे आता है? आपने दूसरे अध्यायमें पढ़ा है कि काम कहाँसे आता है?

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ २.६२

अच्छा, आपके जीवनमें बार-बार क्रोध आता है? एक बार तो महारुद्रके जीवनमें भी क्रोध आया है और ईश्वरके जीवनमें एक साथ ही काम, लोभ और क्रोध युगपत् एक संकल्पमें आता है। सृष्टिका निर्माण, सृष्टिका पालन और सृष्टिका संहार एक साथ एक संकल्पमें ईश्वरके मनमें आता है और ब्रह्माके मनमें सर्जन, विष्णुके मनमें पालन और रुद्रके मनमें संहार एक-एक संकल्प एक-एकबार आता है। यह हिसाब बताता हूँ। रुद्रको एकबार क्रोध आता है और हमेशा प्रलय होता रहता है। विष्णुके मनमें एकबार पालनका संकल्प आता है। हमेशा पालन होता रहता है। ब्रह्माके मनमें एक संकल्प आता है और सृष्टि होती रहती है और ईश्वरके मनमें एक ही संकल्प आता है, उसमें कोटि-कोटि ब्रह्मा-विष्णु महेश सृष्टि-स्थिति-प्रलय करते रहते हैं और ब्रह्म उसको कहते हैं जिसमें संकल्प और संकल्पाभाव दोनों मायामात्र, प्रतीति मात्र कल्पित हैं। वस्तुतः है ही नहीं, उसको ब्रह्म बोलते हैं। यह हम अपने

शब्दोंकी परिभाषा आपको पहले सुना देते हैं। अब आप देखो, एक जगह तो यह बात कहीं गयी कि विषयोंका ध्यान करोगे, तो तुम्हारे मनमें ऐसी शक्ति है कि जिसका ध्यान करोगे, वह तुम्हारे पास आ जायेगा।

'यद् वै ध्यायन् ते वयं।' जिसका ध्यान करोगे तुम; तुम्हारे दुश्मनका संकल्प पूरा हो जायेगा कब ? कि जब तुम दुश्मनका ध्यान करोगे। तो मन हो जायेगा शत्रु-आकार और जिसको तुम शत्रु समझकर छोड़ना चाहते हो, वही तुम्हारे अन्तरंगमें आकर बैठ जायेगा। तो किसका मनोरथ पूरा हुआ ? तुम्हारा हुआ कि उसका हुआ ? बोले—वह तुमको अपनी पार्टीमें लेना चाहता था, तो तुम चले गये। वह चाहता था कि हमारा दुश्मन; एक आदमीका दुश्मन ईश्वरसे हमेशा यह प्रार्थना करता था कि हे भगवान् यह हमारा दुश्मन है, यह धरतीपर न रहे, तो एक दिन स्वयं उसके मनमें आया कि अब हम इस धरतीपर नहीं रहेंगे। तो उसने अपने संकल्पको पूरा किया कि अपने दुश्मनके संकल्पको पूरा किया ? उसने तो अपने दुश्मनके संकल्पको पूरा किया। तो ये दुनियादार लोग जो हैं वे इन बातोंको नहीं समझते। कभी-कभी तो वे अपने शत्रुकी इच्छा ही पूरी करते हैं, परन्तु अनजानमें। तो जिस वस्तुका तुम ध्यान करोगे, चिन्तन करोगे, संकल्प करोगे, उसका मिलेगा तुमको संग, उसीका चढ़ेगा रंग और तुम्हारे इष्टके ध्यानमें पड़ेगा भंग। इष्टका ध्यान छूट जायगा। विनायकका ध्यान छूट जायेगा, वानरका ध्यान होने लगेगा। बिलकुल उल्टा-पल्टा अपने दिमागको कर लेते हैं।

अच्छा, तो होने दो। जिसका ध्यान करोगे उसका संग और जिसका संग होगा उसके प्रति काम, अनुकूल होगा तो पानेका काम, प्रतिकूल होगा तो छोड़नेका काम, होगा। वह दोनों काम है। कामना ही दोनोंका नाम है। और काम जहाँ आता है, वहाँ राम छिप जाता है। गीतामें यह प्रसंग आया कि आखिर मनुष्य पाप क्यों करता है ? पक्षपात क्यों करता है ? क्रूरता क्यों करता है ? बोले-

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३.३७

तुम किसी आदमीको अपना दुश्मन जानते हो कि नहीं ? हाँ, किसी आदमीको अपना दुश्मन जानते हैं! एक आदमीकी एक दिन अपने दाँतसे अपनी जीभ कट गयी। हमारा दाँत भी हमारी जीभको कई बार लग चुका है। बचपनमें

तो खास तौरसे लग जाता था। अपने दाँतसे अपनी जीभ कई बार कटती थी। तो वह जरा गुस्सैल आदमी था। उसने कहा कि अच्छा दाँतों, तुमने हमारी जीभको काट दिया ? तो लो अब हम तुमको तोड़ देते हैं और लेकर महाराज बट्टा, लोढ़ा उठाकर अपने दाँतपर मारा और उसका दाँत ही टूट गया। अब एक तो जोभ कटनेका दुःख था और एक दाँत टूटनेका दुःख और आगया। उसने अपनी बेवकूफीसे अपने हाथसे अपने दुःखको दोहरा किया कि नहीं किया ? इसीका नाम बेवकूफी है और दुःखको डबल करनेका यही तरीका है। किसीकी अपने दाँतसे जीभ कट गयी तो वे अपने हाथसे अपने दाँतको तोड़ देंगे। इसीका नाम बेवकूफी होता है। तो गुस्सैल आदमी यही करते हैं।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

कामका पेट कभी भरता नहीं और क्रोध पाप कराकर छोड़ता है। काम महाशन है और क्रोध महापाप्मा है। तुम अपने दुश्मनको पहचानते हो ? वह विलायतमें, रूसमें नहीं रहता। वह तुम्हारा दुश्मन अमेरिकामें रहनेवाला नहीं है। चाइना, पाकिस्तान दुश्मन नहीं हुआ करते। सबसे बड़ा दुश्मन तो वह है जो तुम्हारे गाँवमें, तुम्हारे घरमें नहीं जो तुम्हारे दिलमें घर करके बैठ गया है। ***विद्धि एनं वैरिणम्। एनम् कामं च क्रोधं च। एनम् कामं। एनम् क्रोधं वैरिणम् विद्धि।*** अपने दुश्मनको पहचानो। यह तुम्हारा दुश्मन है। यह वैरकी आग. बेरका फल होता है न, इसकी लकड़ीकी आग भी बड़ी तेज होती है। लकड़ी-लकड़ीकी आग भी अलग-अलग होती है। इमलीकी लकड़ीकी चिनगारी छूटती है। बबूलकी लकड़ी बड़ी देर तक जलती है, शीशमकी लकड़ी हो तो थोड़ीसी लकड़ीमें रसोई बन जाय। बेरकी लकड़ीकी आग बड़ी तेज होती है। तो *विद्धि एनं वैरिणम्*। बदरीफल कुपथ्य है और बदरीकी आग जला देती है। बेरकी आग है, वैरकी आग है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्। ३.३८
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च। ३.३९

यह है तुम्हारा दुश्मन जो **इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः अस्याधिष्ठान-मुच्यते।** ३.४० तुम्हारी इन्द्रियोंमें रहता है। यह दुश्मन है जो तुम्हारे मनमें रहता है, यह दुश्मन है जो तुम्हारी बुद्धिमें रहता है। कौन तुम्हारा दुश्मन? तुम दुश्मनको ढूँढ़नेके लिए लाठी लेकर, टार्च लेके जंगलमें मत जाओ, गाँवघरमें मत जाओ, तुम्हारा दुश्मन तुम्हारे दिलमें निवास करता है। अगर दुश्मनको हटाना हो, तो यहाँसे हटाओ। इसीके कारण तुम्हारी जिह्वा गन्दी हो जाती है। उसपर दुर्वचन आता है। इसीके कारण तुम्हारे हाथ गन्दे हो जाते हैं। उससे बुरे काम होते हैं। इसीके कारण तुम्हारे मन गन्दे हो जाते हैं। एकके घरमें दिल्लीमें जो हमारे मित्र हैं, बड़े सात्त्विक, कनखलमें रहते हैं, भजन करते हैं, सेठ हैं, अब वह सेठ उनके घरमें गये। अब वे जिसके पास गये, बड़े धनी, इतनी सफाईके शौकीन महाराज, जब जाकर उन्होंने मेल-जोल किया तो बोले—देखो हम नाई बुलवा देते हैं, पहले क्षौर करालो! स्नान करके तब हमारे सामने आओ। यह बढ़ी हुई दाढ़ी हमको गड़ती है। हम इसको देख नहीं सकते। बढ़ी हुई दाढ़ीसे हमारे सामने मत बैठो। पहले दाढ़ी बनवाकर आओ।

तो देखो न दाढ़ी लोगोंको गड़ती है। किसीके घरमें जाकर आप आलूका छिलका डाल दो। मटर खाये और उसका छिलका जहाँ-का-तहाँ डाल दें, तो कहेगा हमारा घर गन्दा कर दिया। लेकिन महाराज, घर गन्दा आप नहीं सह सकते, बाथरूम गन्दा नहीं सह सकते और तुम्हारा दिल जो गन्दा रहता है; इसको तुम सहते हो! तो दिलकी गन्दगी निकालकर फेंक दो। दिलकी गन्दगी क्या है? कि यही काम-क्रोध है। तो देखो, आपको तीसरे अध्यायमें-से बताया कि जिसका आप ध्यान करते हो, वह तुम्हारे हृदयमें काम उत्पन्न करता है। जिसका तुम संकल्प करते हो, वह तुम्हारे हृदयमें काम उत्पन्न करता है और यह तुम्हारे जीवनमें जो **रजोगुणसमुद्भवः** है ध्यानमें बात आयी कि नहीं? यह जो तुम्हारा जीवन रजोगुणी हो गया है। रागी, रजोगुणका राग उसका रंग तुम्हारे दिमागमें चढ़ गया। यह महाराज एक होते हैं त्यागी बाबा, एक होते हैं रागी बाबा। तो त्यागी बाबा, वैरागी बाबा, ज्ञानी बाबा, ये दूसरे होते हैं, रागी बाबा दूसरे होते हैं। रागका रंग बड़ा तीखा होता है—**रजोगुण समुद्भवः**। इसी रागमें-से काम, इसी रागमें-से क्रोध निकलता है। यह बात

तीसरे अध्यायमें कही गयी। ध्यानसे काम आता है। ध्यानसे संग, संगसे काम यह बात दूसरे अध्यायमें है और तीसरे अध्यायमें यह बात कही गयी कि रजोगुणसे काम-क्रोध निकलते हैं। और आप छठे अध्यायमें देख ही रहे हैं—**'संकल्पप्रभवान्तामान्'** संकल्पसे कामका उदय होता है।

तो बोले—अच्छा भाई, कुछ थोड़ेसे रख लें, कुछ थोड़ेसे छोड़ दें। अब इसमें क्या बात है, कुछ लोग कहेंगे कि महाराज, यह कामना तो बड़ी चीज है। हम गरीबोंमें बैठकर उनको रोटी बाँटते हैं, कपड़ा बाँटते हैं, अब हमारी इच्छा है कि और कहींसे माँगकर ले आयें और उनको बाँटे। तो यह भी धर्मका एक रूप है। उसका आदर करते हैं। ऐसा नहीं समझना कि हम खण्डन करते हैं। लेकिन जिसको अपने मनको समाहित करना है वहाँ यह पैसा-कपड़ा बाँटना इसको बड़ा काम नहीं समझा जाता है। बड़ा काम है अपने मनको शान्त रखकर अपने आपमें रखना। तो जब कोई कहेगा कि यह अच्छा काम, यह बुरा काम। तो काम तो ठीक है। संसारमें अच्छा- बुरा ठीक है। बुरा छोड़ दो। अच्छा काम करो। कोई कहेगा कि देखो भाई, गुण्डा लोगोंकी संगत करना तो अच्छा नहीं है, पर भले लोगोंकी संगत तो करनी चाहिए। तो कौन कहता है मत करो। गुण्डेकी संगतिसे, पतुरियाकी संगतसे, पण्डेकी संगतसे, अच्छे लोगोंकी संगत करना अच्छा ही है। इसे कौन काटेगा? लेकिन जब मनको एकाग्र करना होगा तो अच्छे और बुरे दोनों तरहकी संगत, दोनों तरहका काम, दोनों तरहकी क्रिया करनी पड़ेगी। बोले कि हम तो माँगते हैं। माँगना तो बुरा है। बोले—अपने लिये माँगते तो बुरा होता न! हम तो परमार्थके लिए माँगते हैं। तो उसमें बुराई क्या है? तो देखो, ठीक है। अपने लिए माँगनेसे परमार्थके लिए माँगना ठीक है। परन्तु यदि आपको अपने स्वरूपमें बैठना है तो माँगना मात्र ही छोड़ना पड़ेगा न, चाहे स्वार्थके लिए हो चाहे परमार्थके लिए। नहीं तो विक्षेप कहाँसे कटेगा? विक्षेप तो नहीं कटेगा न, समाधि तो नहीं लगेगी ना। स्वरूपमें स्थिति तो नहीं होगी न, भगवान्‌का चिन्तन तो नहीं होगा न! तो हमारे महात्मा लोग कहते हैं कि देखोजी अपने स्वार्थके लिए तो नहीं, लेकिन स्वर्गके लिए तो विक्षेपको मान लो! यहाँ विक्षेप करेंगे और मरनके बाद स्वर्ग मिलेगा। अरे स्वर्गमें भी विक्षेप ही मिलेगा। जिसके साधनमें विक्षेप है उसके फलमें शान्ति कहाँसे हो सकती है? तो लो यह

तो बड़ा बमगोला हुआ कि नहीं! बोले—यहाँ तो भाई हम आग जलायेंगे, यज्ञ मण्डप बनायेंगे, ब्राह्मण बुलायेंगे। पाण्डाल बनायेंगे, स्वाहा-स्वाहा आहुत देंगे। बड़ा भारी यज्ञ करेंगे। बोले—तो ठीक है। आप स्वर्गमें जायेंगे तो वहाँ भी आपको इन्द्रका सिंहासन मिलेगा, आपके सामने अप्सराएँ नाचेंगी। यहाँ स्वाहा-स्वाहा सुनते हैं। वहाँ स्वर्गका संगीत सुनना। बाजे-गाजे सुनना। यहाँ यज्ञमें परिक्रमा करते हो तो वहाँ विमानपर चढ़कर घूमना, यहाँ जवासा (जौ के अंकुर) उठाते हो, तो वहाँ नन्दन वनमें घूमना। वह तो जैसा तुम यहाँ करोगे विक्षेपका साधन होगा, तो फलमें भी विक्षेप रहेगा।

बोले—अच्छा भाई, आगे चलो। आओ यहाँ इष्टदेवके लिए थोड़ा रोयें, थोड़ा हँसें, थोड़ा रूठें, थोड़ा मनायें, थोड़ा पुकारें, थोड़ा गायें, इष्टदेवके लिए, अब तो शान्ति मिलेगी, तब वहाँ भी जाओगे तो वहाँ भी कोई रूठेगा। कोई मनायेगा, वहाँ भी रोना पड़ेगा। वहाँ भी हँसना पड़ेगा। वहाँ भी मिलना पड़ेगा। वहाँ भी बिछुड़ना पड़ेगा। अरे जैसी तुम्हारी उपासना यहाँ रहेगी, वैसा ही इष्ट देवका लोक मिलेगा। तो बोले कि नहीं, नहीं हमको तो शान्ति चाहिए। अच्छा तो शान्तिके लिए क्या होगा? कि अच्छा धौंकनी चढ़ाओ। अरे यहाँ दम घोटोगे तो वहाँ भी दम घटेगा।

तो देखो, आपने यदि हँसीमें यह बात नहीं सुनी हो। तो आप इसको विज्ञान सम्मत समझो कि यहाँके स्थूल द्रव्यके साथ जो साधना है। उससे आपको सूक्ष्म भावात्मक द्रव्य मिलेगा स्वर्गमें। और यहाँ जो केवल मानसिक साधना है। उससे मानसिक संयोग और वियोग, मान और मानना, छातीसे लगाना और रसास्वादन, वह मिलेगा इष्टदेवके लोकमें। और यहाँ यदि आप चुपचाप बैठोगे तो ऐसी समाधि लगेगी कि मरनेपर भी यही रह जायगी। लेकिन यही यदि महाराज,

संकल्पप्रभवन्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।

सम्पूर्ण रूपसे कामनाओंका, माने विज्ञान-सम्मन्त साधन और साध्यका सम्बन्ध आपको बताया है। यह हमारी आध्यात्मिक संस्कृतिका विज्ञान है कि कैसा साधन करनेपर, कैसा फल मिलता है। जैसा करोगे साधन, वैसा मिलेगा फल। जैसा होगा फल, वैसा होगा फल।

तो अब बोले—अच्छा भाई, असली शान्ति कैसे मिलेगी? असली शान्ति तब मिलेगी जब यहाँ करेंगे और वहाँ पायेंगे यह ख्याल बिलकुल हटाओ। मारो गोली कालको कि करेंगे यहाँ, पायेंगे वहाँ; करेंगे अब, मिलेगा तब; इस ख्यालको अपने दिमागसे बिलकुल निकाल दो! बोले—यहाँ सुख नहीं मिलेगा, बद्रीनाथ जानेपर मिलेगा। यदि यहाँ सुख नहीं है तुम्हारे मनमें, जैसे यहाँ तुमको चोरसे डर लगता है, तो बद्रीनाथ जाओगे तो वहाँ भी तुमको चोरसे डर लगेगा। और यहाँ मरनेका डर लगता हो। मोटरमें चलते हैं, ऐक्सीडेन्टका डर लगता होगा। तो वहाँ जब आप बससे चलोगे तो वहाँ भी ऐक्सीडेन्टका डर लगेगा भला, और मान लो यहाँ किसी साधुसे आप डरते हो कि वह हमको ठग न ले, तो बद्रीनाथ जानेपर आपका डर मिटेगा नहीं, वहाँ भी आप साधुको देखेंगे तो यही सन्देह होगा कि यह कहीं ठग न हो, हमको ठग न ले! अरे, अपना यही दिमाग, यही दिल, यही मन तो साथ लेकर आप कहीं जाओगे। घर छूट जायेगा, भाई-बन्धु छूट जायेंगे, लेकिन वह कलेजेका टुकड़ा जो तुम्हारे साथ लगा हुआ है, वह मांसपिंड जिसमें अच्छे-बुरे संकल्प भरकर रखे हैं, वह थैली तो तुम्हारे साथ जायेगी। तुम क्या समझते हो कि यहाँ वह खुलती है और वहाँ वह नहीं खुलेगी?

हम तो महाराज, बड़े सावधान रहकर, पैदल गये, अधिकांश तो पैदल गये, वहाँ बद्रीनाथतक मोटर थी ही नहीं, जब हम पहले पहल गये थे, तो वह ऊँचे-ऊँचे पहाड़ एक तरफ, वह नीचे गंगाजीकी धारा, एक तरफ, वह हरियाली कहीं देखकर आनन्द आता, कहीं डर जाते, ऐसा भी होता कि लौटकर घर जायेंगे कि नहीं जायेंगे, कहीं बरफ परसे भी चलना पड़ता। गंगाजीके ऊपर बरफ जम गयी, उसी परसे पार कर लिया, कहीं डर जाते तो बैठकर पार करते, एक बार गंगोत्री जा रहे थे तो उत्तरकाशीमें दोनों हाथ लगा कर पाँवसे खिसकते हजारों फुट नीचे उतर गये। पर वहाँ जानेपर यह नहीं समझना कि मनमें कुछ न आये! रातको सोये तो सपनेमें देखा, हमारे सम्बन्धी आकर सामने खड़े हैं, मैं संन्यासी हो गया था और वे पूर्वाश्रमके सम्बन्धी थे, और बोले कि हमारा श्राद्ध कराओ, यहाँ पिंडदान करवाओ, हम भूखे मर रहे हैं। अब लो, हम तो संन्यासी, हम तो श्राद्ध नहीं कर सकते। तो बोले—दो

ब्राह्मण बुलाओ, उनसे हमारे लिए श्राद्ध कराओ, हम तो भूखे हैं, हम तो प्रेत हैं, ऐसे देखो हमारे दिमागमें कहाँ बैठे थे, कहाँसे निकल पड़े।

तो कहीं भी हम जायें, बद्रीनाथ जायें, गंगोत्री जायें, मानसरोवर जायें, कैलास जायें! एक सज्जन गये कैलास-यात्रा करने, गौरीशंकरकी चोटी तो उनको किसीने बता रखा था कि चौबीस घण्टे भूखे रहकर फिर मानसरोवरमें स्नान करना, शंकरजी तुमको दर्शन देंगे। अब महाराज, ऐसा ही किया उन्होंने, आ गये शंकरजी। बोले कि क्या चाहता है, माँग। तो उन्होंने कहा हमारे बाप-दादा-परदादा जो भी नरकमें हों, उनको नरकसे छुड़ाओ। तो बोले—अच्छा तुम नाम हमको बताओ, कौन-कौनसे हैं? अब आठ-दस पीढ़ी आगे किसको नाम मालूम होगा भला! अब उनको जितना नाम, था बता दिया। शंकरजी मिले और अपनी पीढ़िओंका उद्धार कराकर आगये, अपना उद्धार नहीं करवाया।

एक बार लक्ष्मीजी किसीपर प्रसन्न हुईं, बोलीं—वरदान माँग! तो बोला कि हमारे यारके घरमें रुपया भेज दो! अरे खुद कंगाल रह जायेगा, जिन्दगी भर भीख माँगनी पड़ेगी; बोला—हमारा इतना प्रेम है कि हम जिन्दगी भर भीख माँगेंगे, लेकिन यारके घरमें पैसा भिजवायेंगे। लक्ष्मीजीने कहा—अच्छा भाई, है तो तू हमारा वाहन होने योग्य। उसको बुलाकर अपना वाहन बनाकर रख लिया। बोलीं—हमारा भक्त ऐसा ही त्यागी चाहिए जो खुद तो कुछ न चाहे।

तो यह हम आगे-पीछेकी बात आपको इसलिए सुनाते हैं कि बिलकुल आप कामनाके स्वरूपको समझें, जैसी साधना करेंगे, जैसा चाहेंगे, वैसा ही होनेवाला है। दुश्मनका ध्यान करते-करते आप मर जायेंगे, क्या होगा? दुश्मन हीके घर जायेंगे न! दुश्मन बनेंगे, नहीं तो उसकी औरत बनेंगे, उसके बेटे बनेंगे, दुश्मनके घर जाकर कोई-न-कोई, उसका बेटा, बेटी, औरत, व्याहता, नहीं तो उसकी रखेल बनना पड़ेगा, मँगेतर बनना पड़ेगा, जाना तो दुश्मनके घर ही पड़ेगा, क्योंकि दुश्मनका ध्यान करते हैं। तो इसका अर्थ यह है कि सारे संकल्प आप अपने, और संकल्पसे होनेवाली जो कामना है, काम है, उसका स्वतः परित्याग कर दें। बोले कि अच्छा ठीक है, यह छोड़ दिया महाराज! बोले कि छोड़नेके बाद भी यह इन्द्रियग्राम जो है, यह ग्राम शब्द बड़ा व्यापक हो गया है, हमारे तो रेडियो ग्राम बोलते हैं, फोनोग्राम बोलते है। यह ग्राम ग्राम

महाराज, जब दस परिवार रहते हैं, पाँच परिवार भीतर रहते हैं, दस परिवार बाहर रहते हैं, तो इनका ग्राम ही तो हो गया। यह गाँव बसा है। यह शरीर क्या है ? इन्द्रियोंका गाँव है, इन्द्रियोंका बसाया हुआ गाँव।

तो अब महाराज यह कहते हैं कि इन्द्रियग्रामका नियमन करो। अच्छा, तो एक बात आप पहले ले लेना अपने ध्यानमें। पहले संकल्पसे उदित होनेवाले कामका परित्याग करके, तब इन्द्रिय-ग्रामका नियन्त्रण है। देखो, आपको दो तरहकी बात सुनाते हैं गीतामें-से। क्या ?

इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ३.४२
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ३.४१
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ३.४३

आप गीता पढ़ो, गीताके स्वयं प्रकाश भाष्यके अनुसार सुना रहा हूँ। यह स्वयं विमर्श, स्वयं प्रकाश भाष्यकी बात है कि ***इन्द्रियाणि नियम आदौ, इन्द्रियाणि नियम्य एनं पाप्मानं प्रजहिहि,*** वह *प्रजहि* और *हि* अलग नहीं है, **प्रजहिहि** क्रिया है, वहाँ *त्यागे धातु* है, त्यागके अर्थमें। उसकी लोट् लकारमें *जहिहि, जहीहि जहाहि*-तीन रूप बनते हैं। तो प्र उपसर्ग लग गया तो *'प्रजहिहि'* हो गया वह 'हि' अलग नहीं है **प्रजहिहि** एकमें है। पहले इन्द्रियोंका नियमन करके कामका परित्याग करो। यह बात कहीं और अन्तमें कहा कि **बुद्धेः परं बुद्ध्वा जहि शत्रुं महाबाहो।** वहाँ जो जहि है, वहाँ त्यागका नहीं है, वहाँ हिंसा-का है, इस पापीको मार डालो! आत्मज्ञानसे यह पापी मरेगा और इन्द्रियोंके नियन्त्रणसे यह पापी छूटेगा। इन्द्रियोंके नियन्त्रणसे इस पापीको छोड़ो और आत्मज्ञानसे इस पापीको मारो। यह पहलेकी लड़ाई हुई। तीन जगह यह रहता है। एक तो घोड़ोंको-इन्द्रियोंको अपने काबूमें करता है, एक-बागडोरको ढीली कर देता है और एक-सारथिका दिमाग खराब कर देता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। ३.४०

अच्छाजी अब आपको और सुनाते हैं कि यहाँ यह बात कही गयी,

पहले तुम शुरू करो बाहरसे। इन्द्रियोंको विषयोंमें मत जाने दो, मनमें विषयोंकी कल्पना जाने दो, और बुद्धिसे विषय-भोगको हितकारी मत समझो और अपने आपको जानो और अपने आपको जानकर कामको मार डालो। यह शूरमाका काम है, बहादुरका काम है। यह जो मैं-मैं, पैं-पैं करनेवाले लोग हैं, यह उनका काम नहीं है, वे तो हार माने हुए हैं।

अच्छा तो देखो, आजकलके डॉक्टर लोग जैसी बात करते हैं, वैसी भी आपको सुनाते हैं। महाराज, जिनका उद्देश्य होता है चेतनको प्राप्त करना, उनका विज्ञान होता है दूसरा। आप अगर डायरीमें नोट करते हो तो इस बातको नोट करो कि चेतनको प्राप्त करनेका विज्ञान दूसरा होता है और जड़को प्राप्त करनेका विज्ञान दूसरा होता है। तो यह जो लोग कहते हैं कि इन्द्रियोंको यदि रोकोगे विषय-भोगसे, तो पागल हो जाओगे, ऐसा जो लोग कहते हैं उनका लक्ष्य है जड़-पदार्थ। बाहरके पदार्थोंको ही वे चाहते हैं, भौतिक वस्तुओंके भोगकी, संग्रहकी इच्छा है, भौतिक कर्मकी इच्छा है और इच्छा हो किसी चीज़को पानेकी, और उसको रोका जाये तो उसका दिमाग खराब होगा। तो पहले यदि तुम इन्द्रियोंके भीतरके साक्षी हो, द्रष्टा हो, जो समाधि स्वरूप है, उसको पाना चाहते हो, तो उसके लिए यदि इन्द्रियोंको बाहर नहीं जाने दोगे, तो पागल नहीं बनोगे, क्यों कि तुम तो उस चीज़को पाना चाह रहे हो जो तुम्हारा अपना स्वरूप है। तो यह लक्ष्य हो भौतिक और नियमन करें इन्द्रियोंका तो विरोधी हो जायेगा और लक्ष्य हो अन्तरात्मा और इन्द्रियोंका नियमन करें, तो वह विरोधी नहीं होगा, यह आप लिख लीजिये और कोई शंका हो तो कभी पूछ लीजिये!

आपका लक्ष्य बाहर है कि भीतर? लक्ष्य बाहर है तो इन्द्रियोंका निरोध संभव है आपके मनमें कुछ गड़बड़ी पैदा करे और यदि लक्ष्य भीतर है तो यह इन्द्रिय-निरोध आपके जीवनमें कोई गड़बड़ी नहीं पैदा करेगा।

तस्मात् नियम्य भरतवर्षभ। ३.४१

अब यहाँ क्या कहते हैं? यह तो और ऊँची बात है

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः। ६.२४

अरे महाराज कृपालु, आप गीता पर ध्यान दें, यह भगवान्‌का वचन है और सबकी भलाईके लिए है। इसमें तमोगुणी-रजोगुणी-सत्त्वगुणी—सबकी भलाई

भरी हुई है, त्रिगुणभागमय है। सच्चिदानन्द-स्वरूप है। यह गीता सती है, सत् है। यह गीता चित् है, यह गीता आनन्द है। और यह गीता सबको सच्चिदानन्दका दान करनेके लिए हैं। आप ध्यान दो इस बातपर। हमारे कलियुगके समय, कलियुगके नौकर-चाकर दुनियामें खूब घूमते हैं और वे परमार्थके समझनेमें बाधा डालते हैं द्रष्टाके स्वरूपस्थितिमें भी बाधा डालते हैं। आप बैठोगे शरीरमें और वे भ्रम पैदा कर देंगे कि आप द्रष्टा हो गये। बिलकुल देहाभिमान बना रहेगा। देहाभिमान बना हुआ है और द्रष्टा हो गये। अरे बाबा, देहाभिमान और द्रष्टाका कोई मेल नहीं है। आओ, आपको फिरसे सुनाते हैं। यह इन्द्रियग्रामका जो विनियमन है, यह यदि खपरिया बाबाकी तरह होता; हमारे गाँवके पास गगाजीके तटपर, हमारे गाँवसे कोई डेढ़ मील दूर एक नरौली गाँव है, बहुत व्यापारी गाँव था पहले जमानेमें। दो-दो हजार मन चावल लेकर वर्मासे, एक-एक नावपर ले आते थे वहाँ और यहाँसे लादकर ले जाते थे। गंगाजी उस समय बड़ी थीं, यह नहर-वहर नहीं निकली थी। तो बड़ा व्यापारका गाँव था। कई-कई लाखके आसामी थे मल्लाह लोग वहाँ; तो वहाँ रहते थे सिकड़िया बाबा; बचपनमें जब हम वहाँ जाते थे, जब कभी गंगापार करना होता नावसे, तो वहाँ सिकड़िया बाबाकी कुटिया थी। तो महाराज उन्होंने वह पीतलकी सिकड़ी बनवायी थी कमरके लिए और एक पट्टा बनवाया था पीतलका, लंगोटीकी जगहपर। वह पीतलका पट्टा पहनाता और पहनकर ताला लगाता यह इन्द्रियोंको निरोध था उसका। हे भगवान्! अब जाने दो, वृन्दावनमें ऐसा है, उसका नाम कोई जाननेवाला होगा, सुनेगा तो तो कहेगा कि हमारा नाम लेते हैं। अब महाराज, कहीं यह पीतल, सोना और चाँदीका पट्टा पहननेसे कोई ब्रह्मचारी होता है? तो इन्द्रिय-ग्रामका निरोध कैसे होता है, महाराज, एक जन बड़े परेशान हुए मूत्रेन्द्रियसे तो उन्होंने काट दिया। बेहोश हो गये। बड़ी-बड़ी चिकित्सा हुई। महीनोंके बाद तब कहीं जाकर कुछ ठौर-ठिकानेपर आये। तो ऐसे इन्द्रिय-ग्रामका निरोध नहीं होता। आपको हम स्पष्ट रूपसे मना करते हैं, ऐसे निरोध नहीं होता। कैसे होता है? तो आप भूलना नहीं, इसी श्लोकमें है, आप जमा लेना—

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः। ६.२४
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ ६.२५

यहाँ तो महाराज '**न किंचिदपि चिन्तयेत्**' है, उपासकोंकी टीका जो इसपर है, आपको क्या बतायें बलदेव विद्या भूषणकी टीका है, विश्वनाथ चक्रवर्तीकी टीका है, 'स्वयं प्रकाश' और 'स्वयं विमर्श' टीका है। डेढ़ सौ-के लगभग संस्कृत भाषामें लिखी हुई टीकाएँ मिलती हैं।

मनसैवेन्द्रियग्रामं—मनसैव, यह मनका चक्कर है। मनस शान्त हो जायेगा तब इन्द्रियाँ अपने आप शान्त हो जायेंगी। तो आप आँखपर पट्टी न बाँधे। एक सज्जनने बचपनमें हमको ऐसा सिखाया कि जब ध्यान-भजन करने बैठते हैं तो बाहरके शब्द आते हैं, तो मन चला जाता है उधर, तो एक-एक खूँटी दोनों कानमें लगा लिया करो, और वह खूँटी लकड़ीकी हो? कि नहीं, नहीं, लकड़ीकी नहीं चाहिए, उसके लिए केसर, कस्तूरी, जायफल, क्या-क्या सब मिलाकर दो खूँटी बनायी, और दोनों खूँटी अपने कानमें भजनके समय लगा लेते थे कि बाहरकी कोई आवाज़ न सुनायी पड़े। अब महाराज, थोड़े दिनोंके बाद क्या हुआ कि खूँटी निकाल देनेपर कान करें मीं मीं मीं, ऐसे कानमें-से आवाज आने लगी, मैंने हाथ जोड़ा खूँटीको। अब खूँटी लगाकर कानमें—थोड़े ही फूँकी जायेगी। आँखपर पट्टी बाँध ली कि हम किसीको देखेंगे नहीं, ऐसे तो आँखमें गर्मी बढ़ जाती है।

एक महाराज, आपने सुना नहीं होगा किसी सम्प्रदायवालेने बताया है। उसके खण्डनसे हमारा बिलकुल मतलब नहीं है। वे बैठ जाते और ये दो उँगली मुँहपर, तीसरी मध्यमा नाकपर, और तर्जनी आँखपर और अंगूठा कानमें और '*गली तो चारो बन्द भई, अब हरि सों मिलूँ मैं कैसे जाय*'। इसको चतुर्बन्ध बोलते हैं।

अरे, इतने पापड़ बेले हैं महाराज, कि यह मारवाड़ियोंके घरमें क्या पापड़ बेला जाता होगा, इतने पापड़ बेले, न खेचरी जाननेसे शब्दका निरोध होता है, न चार बन्द करनसे चारों दिशाओंका निरोध होता है, न पीतल-सोनेकी लंगोटी पहननेसे ब्रह्मचर्य होता है, असल तो यह जब मनको हम शान्त स्थिर, कर देते हैं और उसके लिए थोड़ा समझना-समझाना जरूरी है, बिना समझे कुछ मत करना। ***देखा देखी करे योग, छीजै काया बढ़े रोग।***

एक महाराज, यह एड़ी लगाकर और यह पाँवको घुटनेपर रखकर जो बैठ जाते हैं और कहते हैं ब्रह्मचर्यके लिए हम आसन करते हैं। कुक्कुट आसन नहीं,

अरे, किस-किस जानवरोंका आसन नहीं किया, उष्ट्रासन करते थे, वैसे कोई कहे ऊँट तो नाराज़ होंगे, खुद ऊँटकी तरह बैठते थे। मयूर आसन किया, सर्पासन किया, शवासन किया। पैंतीस-छत्तीस आसनोंका अभ्यास किया। आज कोई देखेगा निकला हुआ पेट, तो कहेगा यह बाबाजी क्या आसन करता होगा! हमको लोग सिखाते भी हैं कि कैसे आसन करो। तो हम सीख लेते हैं। लेकिन आप अपने स्वास्थ्यके लिए, रोगके लिए उसको कर लो! लेकिन यदि आपको इन्द्रिय निरोध करना है तो उसके लिए असली चोट मनपर होनी चाहिए। यदि आप कुछ नहीं चाहते हैं और अपने मनको काबूमें नहीं रखते हैं—मनको काबूमें रखनेका अर्थ यह नहीं है कि मनसे कोई जोर-जबरदस्ती करेंगे। आजकल अमेरिकामें लोग कोई गोली खाते हैं और स्वर्गमें सीधे पहुँच जाते हैं। यह तो भला है कि अपना शरीर लेकर स्वर्गमें नहीं जाते। नहीं तो एकबार ही काम तमाम हो जाता। वे तो शरीरको यहीं छोड़कर जाते हैं। तो आप यह जोर-जबरदस्ती करके अपने मनको नहीं रोकना।

देखो आपके मनमें, आप कौन-सा काम बार-बार करना चाहते हैं? किसके घर बार-बार जाना चाहते हैं? कहाँ-कहाँके लिए उठते होंगे? तो पाँव वहाँ जाना चाहते हैं, जिसे आप चाहते हैं। हम जानते हैं। कोई युक्तिसे सिद्ध नहीं कर सकते कि इस आदमीके घर जानेकी हमारी जरूरत है। क्या स्वार्थ है, क्या परमार्थ है, कौन-सा मन:संयम होता है, कौन-सा निरोध होता है, कौन-सी भलाई होती है। लेकिन मनमें हम चाहते हैं कि वहाँ कुछ हमको मिलेगा, तब वहाँ जाते हैं न! मनमें यह बात बैठ गयी है कि वहाँ कुछ मिलेगा। तो इन्द्रियाँ वहाँ जाती हैं, पाँव वहाँ जाता है, हाथ वहाँ जाता है, पाँव वहाँ जाता है, क्योंकि मनमें कुछ भरा हुआ है कि वहाँ जानेपर कुछ मिलेगा।

अच्छा, यह मनमें कहाँसे आया? तो यह उलटी बुद्धिसे आया, खोपड़ी ऐसी हो गयी। कुछ तो ब्रह्माकी खोपड़ी उलटी और कुछ अपनी उलटी। अब लोग अपनी तो उलटी मानते नहीं, ब्रह्माकी भले मान लें! आदमी अपना दोष कभी स्वीकार नहीं करता, ईश्वरके सिरपर भले दोष डाल दे! शास्त्र दोषी, ब्रह्मा दोषी, ईश्वर दोषी, मुझमें नहीं कुछ दोष! हे भगवान्, अहंकारकी भी कोई पराकाष्ठा है? तो आपके मनमें जो सुख-बुद्धि बैठी है, वह न आँख बन्द

करनेसे, न कान बन्द करनेसे, न जोर-जबरदस्ती करनेसे। वह जानेवाली नहीं है। तब वह कैसे जायेगी? आपकी बुद्धिमें जब परिवर्तन होगा तब जायेगी। तो बुद्धिमें परिवर्तन होगा कब? जब आप सत्संग करेंगे, जब श्रवण करेंगे। जब विचार करेंगे। एकाएक जाकर एकान्तमें बैठ गये और बोले, बस अब बुद्धि वशमें हो गयी, मन वशमें हो गया। अरे, तुम्हारे जैसे कितने वश करनेके लिए बैठे और स्वाहा हो गये। तब? कि पहले जब आपकी समझमें हो! पहले समझौती होती है। पहले समझ जब ठीक हो जायेगी तब मन ठीक होगा, यह ज्ञान-वादियोंका कहना है। और, जब मन ठीक होगा तब इन्द्रियाँ ठीक हो जायेंगी। और जब इन्द्रियाँ ठीक हो जायेंगी तब कर्म और भोग पवित्र हो जायेंगे। यह भीतरसे बाहर आनेकी पद्धति है। तो नारायण पहले इन्द्रियोंको बेकायदे जानेसे रोको, जब मन बेकायदे नहीं जायेगा और मन बेकायदे नहीं जायेगा तो बुद्धि ठीक हो जायेगी। यह साधनका मार्ग है।

अब एक तीसरा है, क्या कि पहले मनको भगवान्‌में लगा दो, तो उधर बुद्धियोगका स्वाद आनेपर हित बुद्धि हो जायेगी और इन्द्रियाँ अपने आप सिमट जायेंगी, तो पहले बुद्धि चले, फिर साधन, पहले इन्द्रियाँ चलें, यह दूसरा साधन। पहले मन चले उसके पीछे बुद्धि और इन्द्रियाँ चलें—यह दूसरा साधन, और इन तीनोंको एक साथ मनमें लगाओ, यह समन्वयात्मक साधन होता है। एकदिन चारोंसे नाराज। साधनका तो गणित होता है, विज्ञान होता है!

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥
शनैः शनैरुपरमेद्‌बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

जिन लोगोंको गीता सुननेका अभ्यास होगा, उनको हमारा पढ़ा हुआ श्लोक अच्छा लगेगा। क्या मजा है इसके सुननेका? एक श्लोकको कानसे सुननेका मजा होता है, एक मुँहसे बोलनेका मजा होता है और एक अर्थ समझनेका मजा होता है और एक उसके अर्थमें स्थित होनेका मजा होता है। अब आप कौन-सा मजा लेते हो। इसके आप अपनी ही कसौटी बन जाओगे, कि आप वाणीका रस लेते हो, कि कानका रस लेते हो, बुद्धिका रस लेते हो,

कि स्वरूप-स्थितिका रस लेते हो? ऐसे बतानेसे पता नहीं चलेगा कि आप कहाँ स्थित हो। शास्त्रमें तो गाकर जरा हलके दर्जेका बताया है।

गीती शीघ्री शिरःकंपी यथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाद्यमाः॥

पढ़नेवालोंमें पाठ करनेवालेको छह प्रकारके जो व्यक्ति हैं वे अधम हैं, एक तो गीति—गा-गाकर पाठ करनेवाले। उनको जीभका और कानका तो स्वाद आयेगा और श्लोकका जो अर्थ है उसपर दृष्टि नहीं जायेगी।

दूसरे शीघ्री। हमारे एक मित्र हैं वे पढ़ते हैं 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' धीरे-धीरे, फिर पूरा श्लोक तीव्र गतिसे। ऐसे दो तरहसे पढ़ते हैं।

असलमें श्लोकका अर्थ यदि आप समझेंगे और उसके अलग-अलग अर्थको छोड़कर उसमें जो परमार्थ है उसमें स्थित हो जायेंगे तब तो आपको सच्चा स्वाद, सच्चा सुख, सच्चा रस मिलेगा और यदि आप मजबूरीसे सुनेंगे, परमार्थको नहीं समझ सकते तो गाकर ही उसका मजा ले लीजिये। श्लोक गानेके लिए नहीं होता है, समझनेके लिए और परमार्थमें स्थित होनेके लिए होता है।

अच्छा, अब आपको सुनायें, क्या बात कही जा रही है कि पहले आप यह निश्चय करो कि आपके मनके अन्दर माने मनके अन्तरंग जो वस्तु है वह आप चाहते हैं कि मनसे, इन्द्रियोंसे बाहर दूर देशमें, दूसरे कालमें, दूसरे किसी रूपमें जो स्थित वस्तु है उसको आप चाहते हैं? यह निश्चय करलो कि आप चाहते क्या हैं? तो यदि आप बाहरी वस्तु चाहते हैं, चाहे वह आँखके सामने हो रूमालकी तरह, हीरा मोती हाथमें, चाहे वह दूर हो वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, कैलासमें, और जो आप चाहोगे कि हम अपने मनका संयम कर लें, मनका निरोध कर लें। तो चाहो तो बाहरकी चीज और इन्द्रियोंको और मनको चाहो रोकना, तो यह तो उल्टी बात हुई। जैसे आप पड़ोसीके घरमें जो चीज है उसको तो चाहते हो और किवाड़ी बन्द करके बैठते हो। तो पागलपनका उपाय कर लिया कि नहीं? अन्तर्द्वन्द्व मचा लिया। बाहरकी वस्तुको चाहना और भीतर बैठ बैठना। चाहते तो हो सिनेमा देखना और बत्ती बन्द करके अपने कमरेमें बैठते हो। तो यह अन्तर्द्वन्द्वकी सृष्टि है। जैसे चीज चाहते हो बम्बईकी

और जाते हो शिमला, तो वहाँ नहीं मिलेगी न, और चाहते हो कश्मीरकी वस्तु और बैठते हो बम्बईमें, तो नहीं मिलेगी न! वह तो जहाँ आपको वस्तु प्राप्त करनी है वहाँ जाना होगा। उल्टा उपाय करेगा आदमी तो पागलपनका ही तो उपाय करेगा न! करना चाहते हैं ब्याह और ढोंग करते हैं ब्रह्मचर्यका, तो ऐसे लोग पागल हो जाते हैं। इसका नाम अन्तर्द्वन्द्व है और यही मानसिक संघर्ष पागल बनाता है। तो आप पहले यह देखो, अपने आपको चाहते हो, आपके मनके भीतर जो परमात्मा निवास करता है, मनका प्रकाशक, मनका अधिष्ठान, स्वयंप्रकाश, अपना आत्मा, आप उसको चाहते हो कि आप इन्द्रियोंको मनको तृप्त करनेवाली अन्य कोई वस्तु चाहते हो। तो बाबा, हमारी बात मानो, कहीं आपको ब्याह करना है तो ब्रह्मचर्यका ढोंग मत करो, कश्मीरकी चीज चाहिए तो बम्बईमें ठप्प होकर मत बैठो, और बम्बईकी चीज चाहिए तो कश्मीर मत जाओ। पहले अपने दिलको ठोंक-पीटकर देख लो कि तुमको चाहिए क्या! आजकलके जो मनोवैज्ञानिक डॉक्टर यह बताते हैं कि मनको रोकनेसे पागलपन आ जाता है दिमागमें, नसोंमें तनाव बढ़ता है, उनकी बात भी समझो! उनकी बात यही है कि तुम इमानदारीसे तो चीज चाहते हो बाहरकी, रुपया चाहते हो, मकान चाहते हो, स्त्री चाहते हो, पुत्र चाहते हो, भोग-विलास चाहते हो और फिर मनका निरोध करनेके लिए बैठते हो, तब बेचारा मन क्या करेगा, पागल नहीं होगा तो क्या होगा! तो पहले दो टूक अपने लक्ष्यका निर्णय करलो, और वह सच्चा कि बाहरके पदार्थोंसे राग-द्वेष नहीं, वैराग्य है-**गुण वैतृष्ण्यम्**, न हमको सत्त्व चाहिए, न रज चाहिए न तम चाहिए। हमको तो अपने आपका साक्षात्कार चाहिए। हमको तो अपने परमेश्वर-स्वरूपका साक्षात्कार चाहिए। तो मनके भीतर वाली चीज अगर मनको चाहिए। तो मन मुड़नेपर पागल नहीं होगा और मनको मनके बाहरवाली चीज चाहिए और मनको मोड़ोगे तो पागलपन आयेगा, क्योंकि आप मिथ्याचारी हो।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

असलमें मिथ्याचारसे आदमी पागल होता है। मिथ्याचार क्या ? बोले— भाई चाहिए विषय, बन गये बाबाजी, यही मिथ्याचार है। अब

यास्त्विन्द्रियांणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ३.७

इतनी बात यहाँ निकल गयी कि आप पूर्व जन्मके संस्कारसे या माता-पिताके संस्कारसे या इस जन्मके संस्कारसे या नाना-नानीके संस्कारसे या संगी-साथीके संस्कारसे, अनेक जगहसे संस्कार आते हैं और उनसे मनमें उदय होता है संकल्प। तो प्रश्न है कि किसके बारेमें तुम्हारा संकल्प है ? उसको पाना चाहते हो कि नहीं, तो यदि ईमानदारीसे उसको नहीं पाना चाहते हो, तो छोड़ दो उसको। साधनके रास्तेमें, बेईमानी नहीं चलती है। यदि तुम अपने संग ईमानदार नहीं हो, तो न ऊपरका मन्तर, न जन्तर, न गुरु, न देवता, कोई तुम्हारा दुःख नहीं मिटा सकता, यदि तुम अपने प्रति ईमानदार नहीं हो।

अच्छा भाई, शंकरजीके साथ तो बहुत रहते हैं, वे कोई समाधि थोड़े ही लगाते हैं! तो जो स्वयं अपने तईं ईमानदार होकर आत्मसाक्षात्कार करना चाहेगा उसके लिए इन्द्रियग्रामका निरोध आसान हो जायेगा। आसान-अनायास। वह अशान्ति नहीं देगा, द्वन्द्व नहीं देगा, संघर्ष नहीं देगा, पागलपन नहीं देगा, वहाँ तो आपको परम शान्तिकी प्राप्ति होगी।

अच्छा, अब दूसरी चीज देखो। इन्द्रियग्रामका निरोध कैसे ? तो देखो, कोई-कोई वस्तुके द्वारा मनका निरोध करते हैं। कैसे ? कि सामने कोई चीज रख ली, हमारे गाँवमें योगी गुरु आये थे। तो सबको एक-एक पत्थर देते थे कि सामने रखके इसपर त्राटक करो। अच्छा, कोई दवा खिला देता, यह द्रव्यमूलक निरोध हुआ। यह हमको अभीष्ट नहीं है कि कोई दवा खाकर आप अपने मनको रोक लें। इससे क्या होगा कि जब इस दवाका असर उतर जायेगा, तब आप सुस्त हो जायेंगे।

हमने देखा है शराब पीकर लोग नशेमें आ जाते हैं, खूब उत्साहमें होते हैं, मारते हैं, पीटते हैं, उस समय अपनी माँ-माँ नहीं मालूम पड़ती, पत्नी-पत्नी नहीं मालूम पड़ती, ईश्वरको भी गाली देने लगते हैं। लेकिन जब नशा उतर जाता है तब पाँव छूते हैं कि हमसे बड़ी गलती हुई। सुस्त हो जाते हैं। बिलकुल फिर डर जाते हैं। लोग कहते हैं भाई, इसने नशेमें ऐसा किया। तो यह द्रव्यजन्य, वस्तु जन्य है। नशा खाकर जो, *'नशा पीकर धरे ध्यान'*, वाला जो है हमारे एक आश्रम था साधुका, पंजाबमें था तो वहाँ महाराज प्रसाद बाँटते रहते थे। एक ही थालीमें दो

तरहका प्रसाद रखा रहता था, वे जानते थे कि किसका क्या काम है। तो कोई नया आदमी आता तो उसमें-से उठाकर एक पेड़ा दिया। कहा, खा जा। खा लिया। तो बोलते तुरन्त चले जाओ सरोवरमें स्नान करो, और स्नान करके ध्यानमें बैठ जाओ, देखो, तपोवनकी महिमा! अब महाराज, वह स्नान करके जब बैठता था तो उसका मन उचकता था ऊपरको, और यह मालूम होता कि ओहो हम तो सातवें आसमानपर जा रहे हैं। अरे भाई, दिव्य आश्रमका प्रभाव देखो! अब महाराज, उसमें होती थी थोड़ीसीं भांग, और वे दिखाते थे प्रसादकी महिमा, तो यह वस्तुमूलक जो एकाग्रता है वह झूठी है। अब देखो, आपको एक क्रिया-मूलक बतायी थी। यदि आप आसन बाँध लो। शरीर स्थिर करलो, आँख स्थिर करलो तो यह देह क्रियामूलक मनकी स्थिरता हुई, इसमें भी जोर-जबरदस्ती चलती है। ऐसा नहीं हुआ तो महाराज साँस हीको खूब धौंकनीकी तरह चलाया। भस्त्रका-प्राणायाम किया, करते-करते थक गये, अब मन थककर गिर गया, तो थोड़ी देरके लिए महाराज विश्राम मिला। आप कभी अपने हाथको आँखपर ऐसे रखलो, तो आँख बन्द होनेसे ही आराम मिलेगा, थोड़ी गर्मी पहुँचेगी, जब हाथ हटाओगे तो बाहरका वातावरण आपकी आँखको ठंडा-ठंडा लगेगा। तो ये महाराज, योगीके बच्चे क्या करते हैं पहले तो खूब परिश्रम करवायेंगे, धौंकनी चलवा लेंगे, व्यायाम, आसन, प्राणायाम करवा लेंगे क्रियामूलक, उसके बाद कहेंगे कि अब बैठ जाओ, समाधि लगाओ, तब थोड़ा-सा विश्राम मिलेगा, उसका मजा आयेगा!

यह हम खण्डन करनेके लिए नहीं बताते हैं। हम एक बात आपको बताना चाहते हैं उस श्लोककी। उसमें जो बात कही गयी है उसकी व्याख्या करनेके लिए। बोले—जप करलो। सोऽहम् चढ़ाते जाओ ऊपर। मूलाधारसे प्रारम्भ करो, स्वाधिष्ठानमें आओ, मणिपूरकमें आओ, अनाहतमें आओ-सोऽहम्, विशुद्धमें आओ-सोऽहम्, ऊपर चढ़ो। नहीं, हम यह प्रक्रिया आपको नहीं बता रहे! न तो आप नशा कीजिये, न तो आसन बाँधिये, न तो धौंकनी चलाइये, न दम घोटिये, न तो शब्दका सहारा लीजिये कि भाई यह बाबाजी क्या बोल रहा है! कि बोल रहा है *मनसैव, मनसा एव। अत्र मनो व्यतिरिक्तं अन्यत् किंचिद् साधनम् नापेक्ष्यते इत्यर्थः एव है।*

अब देखो, आप अपने मनसे ही इन्द्रिय ग्रामको रोकिये। मनसे का क्या

अर्थ है ? अरे बाबा मनीराम जो हैं वे ठप्प पड़ गये। मनसे कोई काम मत करो। काम लेनेमें तनाव होता है। तो मनसे कोई काम मत लो। पर 'मनसैविन्द्रियग्रामं' का क्या अर्थ है ? एक हमारे सज्जन थे। आजकल क्या साधन कर रहे हो ? एक महात्माने पूछा। तो लोग सोच-विचारकर तो कोई बात ही नहीं करते। एक हमारे मित्र थे, तो तीर्थयात्राकी गाड़ी निकल रही थी। तो सेठजीने पूछा कि आपकी माता जा रही हैं ट्रेनमें, क्या उम्र है उनकी ? तो बोले कि कोई चालीस-बयालीस बरसकी हों। तो उन्होंने पूछा कि आपकी कितनी उम्र है ? तो उनकी तो अड़तीस बरसकी उम्र थी। तब उनको ध्यान आया कि अरे मैंने तो सोचे-विचारे बिना ही कह दिया। यह बात होती है न! तो जरा ध्यान दो! बोले—आजकल क्या साधना चल रहा है ? आजकल मैं जीभको वशमें कर रहा हूँ। दो चीज खाता हूँ। तीन चीज खाता हूँ। और ? कि और सब इन्द्रियोंको छुट्टी है। बस जीभको वशमें कर रहा हूँ। आप समझते हैं कि इन्द्रियाँ वशमें हो जायेंगी! एक घड़ेमें चार छेद हों और एकको बन्द कर दो और शेषको खुला छोड़ दो तो पानी रहेगा ? ऐसे नहीं होगा। बोले आजकल तो हम जीभसे भगवान्के नामके सिवाय और कोई शब्द नहीं बोलते। बोले—व्यवहार कैसे चलता है ? कि हाथसे लिखते हैं। अरे महाराज, वह हाथमें तो हजार शब्द आ गये हैं। हजार चीज मनमें आ गयी तो उन्होंने जीभपर तो राम-रामके सिवाय और कुछ नहीं आने दिया, पर मनमें अगर हजार शब्द नहीं आते तो हाथसे लिखा कैसे जाता ? तो इन्द्रियग्रामका अर्थ है आप अपने मनको जहाँ-का-तहाँ छोड़ दीजिये। इसमें कहीं लगाना नहीं हैं, कहीं पकड़ना नहीं है। मनको ही ठप्प कर दीजिये, मनीराम हम तुमको न कहीं भेजना चाहते हैं और न कहीं बुलाना चाहते हैं। बस तूष्णीम्, ठप्प, ज्यों-का-त्यों रहे। न हटाना चाहते हैं, न पटाना चाहते हैं। देखो, हमारे तो एक यह भी है—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

जहाँ-जहाँ मन जाये, वहीं समाधि, वहीं परमात्मा है। आओ तो भला, जाओ तो भला! एक बात है, जब तुम दूसरोंकी मनोवृत्तिका विरोध करते हो, तो अपने मनपर नजर रखना भी जरूरी है और यदि तुम दुनियामें किसीका विरोध नहीं करते, बिलकुल अविरोधी निर्विरोध हो, यदि ऐसा साम्य, ऐसा वैराग्य तुम्हारे जीवनमें आ गया है कि तुम्हारे बारेमें जो कहा जाये, वह कहा

जाने दो, जो हो सो होने दो, जो कोई करे सो करने दो, जो होय सो होने दो, जो बोले-सो बोलने दो। *तू तो राम भजो जग लड़वा दे!*

अगर दुनियासे इस प्रकार तुम बेख्वाहिश, बेपरवाह हो दुनियासे, तो अपने मनसे भी बेख्वाहिश, बेपरवाह हो जाओ। और महाराज, दुनियासे तो ख्वाहिश, कि यह देखो, इन्होंने हमको अच्छा भोजन नहीं दिया। मैंने आकर प्रणाम किया और सासजीने आशीर्वाद ही नहीं दिया। तो भाई जब सासजीके आशीर्वादकी तुमको जरूरत है तो तुमको भी प्रणाम करना चाहिए और जब आशीर्वादकी जरूरत न हो तो प्रणाम मत करो! **मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।**

एक बात यह है इसमें कि सब इन्द्रियोंपर एक साथ नजर रखनी पड़ेगी, और दूसरी यह बात है कि किसी भी बाहरी चीजका सहारा लोगे तो मन उसीमें चला जायेगा। इसलिए बाहरी चीजका सहारा मत लो, मनको मनसे मनमें रोको! ऐसा मन जिसमें कुछ न हो! यह महाराज, सबसे ज्यादा प्रबल राग-द्वेष है, यह पिण्ड नहीं छोड़ता, वैराग्यके बिना।

देखो, दो ही बात तो कही न, हमारे पतञ्जलिने—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ६.३५

अभ्यास माने अच्छी आदत डालो अपने जीवनमें और जो बुरी चीजें हैं उनसे राग द्वेष-मत करो। वैराग्यका अर्थ खाली राग मत करो, नहीं है, द्वेष भी मत करो। राग पदसे रागका भाई द्वेष भी उपलक्षित है। तो राग-द्वेषसे मुक्त होकरके जीवनमें अच्छी आदत डालो। मनोनिरोधका और कोई अर्थ नहीं है।

मनसैव—तो न तो दवा खाओ, न तो क्रिया करो, न तो साँसको दोहराओ, और न तो एक इन्द्रियको पकड़ो न एकको छोड़ो, ऐसा भी नहीं और न तो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धका सहारा लो। न सुखका स्वाद लो, न दुःखसे दुश्मनी करो। और बस मनको मनमें रहने दो। आँखका गोलक आँखमें रहे, बाहर न जाये। भीतर भी ले जानेकी जरूरत नहीं है। अगर कोई आँखको ऊपरसे हाथसे देखनेकी कोशिश करेगा, तो थोड़ी देरमें सिरमें दर्द होगा और पुतली दुखने लगेगी। यह आँखको उलटकर ऊपर नहीं ले जाना है। यह तो जहाँ-की-तहाँ छोड़ दो। जैसे दो गुलाबके फूल रखे हैं, ऐसे देखो, दो गुलाबके फूल भगवान्ने तुम्हारे मुँहपर लगा दिये हैं। देखो तो जरा, कैसी बढ़िया आँख गढ़ी है। शीशेमें

देखकर तुम मुग्ध हो जाते हो। दूसरे लोग कहते हैं कि तुम्हारी आँखें बड़ी सुन्दर हैं। तुम देखो न, कैसे दो फूल ईश्वरने लगा दिये हैं तुम्हारे मुँहपर, कैसे बढ़िया मोती जैसे हंसको चुगनेके लिए, देखो तो क्या बढ़िया! नाक-नाकमें रहे गन्धमें न जाय, आँख-आँखमें रहे रूपमें न जाये, कान-कानमें रहे शब्दमें न जाये, त्वचा त्वचामें रहे स्पर्शमें न जाये, रसना रसनामें रहे रसमें न जाये और मन-मनमें रहे विषयमें न जाये, सुख-दुःखमें न जाय। अरे बाबा, न लंगोटी पहननेकी जरूरत है, न काठिया बाबा बननेकी जरूरत है।

एक दिन महाराज कोई आये, बोले महाराज कुछ साधन बताओ! अरे, भगवान्‌का नाम लो। अब गये महाराज, घण्टेभर बैठकर भगवान्‌का नाम ले आये। बोले—हमने घण्टे भर भगवान्‌का नाम लिया। अभी तो भगवान् आये ही नहीं। ***अहीरन की चोरी करे, करे सुईको दान।***

योग वासिष्ठमें आया है कि जनम-जन्मान्तरकी अभ्यस्त जो वासना है, उसके लिये इतनी जल्दी क्यों करते हो? एकने आकर एक महात्मासे कहा कि महाराज, आज भगवान्‌का दर्शन करा दो! तो महात्माने कहा कि अच्छा, यह बताओ कि आज तुम्हें भगवान्‌का दर्शन हो जायेगा तो कलसे तुम क्या करोगे? बोले—महाराज, दुकान करेंगे। तो जब कलसे तुमको दुकान ही खोलनी है, ऑफिस ही चलाना है तो आज ही से चलाओ न, भगवान् बेचारेको परेशान क्यों करते हो? उनकी शान्तिमें क्यों खलल डाल रहे हो, कि तुमको दर्शन देनेके लिए आयें। अरे, तुमको कलसे जो करना है आज ही करो! कोई तुमको चेला बनानेके लिए आया हो, तो उसके चेले बन जाओ। पाँच-दस रुपया भेंट-पूजामें उसको दे दो। उससे तो तुम्हारा थोड़ा बोझा ही कम होगा, लेकिन भगवान् बेचारेको बीचमें क्यों डालते हो कि आज ही आओ।

एकसे पूछा महाराज, तुमको भगवान् मिल जायें तो क्या करोगे? बोले—एक मिनट-दो मिनट दर्शन देकर फिर तो चले जायेंगे, क्या करोगे तुम? बोले—खूब प्रेमसे भगवान्‌का भजन करेंगे। कि जिन्दगी भर यही करना है न! कि हाँ। तब आज ही से कर लो। भगवान्‌के बिना मिले ही कर लो। प्रेमसे भजन करना शुरू कर दो। वे तो सो रहे हैं मजेसे शेष-शैयापर, कोमल कोमल, दूधके समुद्रमें। काहेको उनकी नींदमें खलल डालते हो! सोने दो। तुम्हें प्रेमसे भजन करना है तो आज ही से शुरू कर दो!

: २५ :

शनैः शनरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

अब देखो, भगवान् तुम्हारे पास आते हैं—**शनैः शनैरुपरमेद्** उसीका नाम भगवान् है, उसीका नाम आत्मा है, उसीका नाम सत्य है। नाम ही बदलते हैं चीज तो एक है-ही-है। तो **शनैः शनैरुपरमेद्,** जल्दी बाजी करनेसे चीज बिगड़ जाती है। जब रसोई जल्दी जल्दी पकानी होती है न, उसमें स्वाद नहीं आता है। पहले तो लकड़ीसे पकाते थे। अँगीठीमें पकाते थे, जल्दी-जल्दीमें जल जाती थी, कच्ची रह जाती थी। तो जरा धीरे-धीरे परिपाक होने दो। जैसे चावल ही पकाते हैं तो जैसे पक गया, और झटसे बटलोहीमें-से उतारकर यदि खाना शुरू कर दें तो स्वाद नहीं आयेगा। लेकिन थोड़ी देरतक उसका पानी किरस जाने दो। पानी पककर जब उसमें रिस जाता है तब उसमें दूसरा ही स्वाद आता है। तो यह जल्दीबाजी कामको बिगाड़ देती है।

शनैः शनरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥

शनैः शनैःका अर्थ है धीरे-धीरे। अच्छा, ऊपर रमेद्का बहुत बढ़िया अर्थ है, तुमको प्रवृत्तिमें स्वाद आता है कि निवृत्तिमें? **'रमेद्'** है इसमें। यह तो 'उप' उपसर्गका प्रभाव है कि *रम धातु* परस्मैपदी होकर बोल रही है। नहीं यह तो आत्मनेपदी है। रमण आत्मामें होता है, रमण दूसरेमें थोड़े ही होता है। असलमें

यह असली रमण नहीं है। यह तो उपरमण है। **उपरमेद्**। यह करना नहीं है। *कुर्याद्* नहीं है। अच्छा, यह होना भी नहीं है— *भवेद्* भी नहीं है, तब क्या है? कि उपरमेद् है। उपरमेद्का अर्थ है धीरे-धीरे, ***ज्योंकी त्यों धरि दीनि चदरिया। दास कबीर जतनसे ओढ़ी ज्योंकी त्यों धरि दीन्हि चदरिया।***

यह कैसे होगा? इसमें दो चीजका प्रयोग बताते हैं—**बुद्ध्या** और **धृति गृहीतया**। इसका अर्थ आप देखो, यह है कि आपको वशमें तो करना है इन्द्रियग्रामको, परन्तु उनको तो छेड़ो मत, मनसे ही उनको शान्त हो जाने दो। तो भला मनकी शान्तिसे इन्द्रियाँ कैसे शान्त होंगी? मांने जरा और ऊपर चलो। **बुद्ध्या** तो फिर बुद्धिकी गति तो बड़ी तेज है, यह तो दौड़ जाती है महाराज! लो हमारी बुद्धि तो कैलास पहुँच गयी। लेकिन शरीर थोड़े ही पहुँच गया। हमारी बुद्धि ब्रह्मलोकमें पहुँच गयी, परन्तु शरीर थोड़े ही पहुँच गया। तो बोले कि बुद्धिको भी थोड़ी लगामकी जरूरत है। तो उपराम होनेका अर्थ यह है कि तुम उपविषय हो रहे हो, विषयके पास पहुँच गये हो, तो उपविषय मत बनो। उपदेह हो गये हो, तो उपदेह मत बनो। उपेन्द्रिय हो गये हो, तो उपेन्द्रिय मत बनो तब क्या बनो? कि उपराम बनो।

एक है राम और एक है उपराम। जैसे सभापति, उपसभापति! यह तो आप जानते हैं, दो नम्बरके सभापतिको उपसभापति बोलेंगे। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष। एक तो है आत्माराम और दूसरा कौन है? कि उपराम। उपरामका अर्थ है कि तीन नम्बरकी चीज नहीं, सिर्फ दो नम्बरकी चीज़। शान्तिको धारण करो। शेष बन जाओ। उपराम माने लक्ष्मण। उपराम माने बलराम। शेष बन जाओ। शान्ति शान्ति शान्ति, समाधि। तुम्हें स्वाद कहाँ आता है? हाथ हिलानेमें कि हाथ चलानेमें? तुम्हें स्वाद कहाँ आता है, मन चलानेमें कि गन स्थिर करनेमें? तो **उपरमेद्**का अर्थ है मनको चलाये बिना आत्म-सान्निध्यसे जो मनको सुख होता है, वह सुख है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

उपरमेद्—का उपाय बताते हैं। आपका पाँव कहीं चलकर जाता है। आप सोचना कहाँ जाता है? पाँव तो बेचारा नौकर है ना, यह तो आप जानते

हैं, पाँव अन्धा है। कर्मेन्द्रिय जितनी होती हैं वे सब अन्धी होती हैं, अविद्याकी प्रधानता होती है और ज्ञानेन्द्रिय जितनी होती हैं वे ज्ञानशक्तिवाली होती हैं, परन्तु पंगु होती हैं, लँगड़ी होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ लँगड़ी हैं और कर्मेन्द्रियाँ अन्धी हैं इन दोनोंके योगसे यह जीवन चल रहा है। तो आपकी इन्द्रिय कहाँ जाती हैं ? कि मन जहाँ प्यार करता है ! अच्छा तो आप प्यार किसको करते हैं ? कि जहाँ आपको सुख मिलता है कि दूसरेसे सुख मिलता है। इसको आत्मासे सुख मिलता है कि अनात्मासे सुख मिलता है। इसको भगवान्‌से सुख मिलता है कि संसारसे सुख मिलता है। कोई अपनेको छिपाकर थोड़े ही रख सकता है। लो भाई, तो देखो तुम्हारा सुख, तुम्हारा आराम कहाँ है, इन्द्रियाराम शब्दका प्रयोग भी तो आता है। तुम विषयाराम हो कि इन्द्रियाराम हो, कि प्रमदाराम हो, कि शब्दाराम हो ! कौन हो ? कहाँ तुमको स्वाद आता है ? जहाँ तुम्हारी सुखबुद्धि है वहाँ तुमको आराम मिलता है। अब तुम्हारी सुखबुद्धि कहाँ है बेटा ! तो बोले कि यह बुद्धि जहाँ बता देती है कि यहाँ सुख मिलेगा, मन वहाँ बार-बार जाता है और जहाँ मन बार-बार जाता है वहाँ इन्द्रियाँ बार-बार जाती हैं और जहाँ इन्द्रियाँ बार-बार जाती हैं, वहाँ जाकर हम फँस जाते हैं, बँध जाते हैं। तो असलमें इन्द्रियोंके फँसनेका कारण है मनमें स्वाद आना और स्वाद कहाँ आता है कि जहाँ सुखबुद्धि होती है।

देखो, भोगमें सुख मिलता है और ब्रह्मचर्यका महत्त्व ज्ञात है। झूठ बोलनेसे पैसा आता है और सत्यका महत्त्व ज्ञात है। तो जरा बुद्धिसे मेल-जोल करो। बोले—बुद्धि तो महाराज कभी इधर, कभी उधर। तो बुद्धिको पकड़ो। बुद्धि भी तो तीन तरहकी होती है न, वह तो आपको मालूम है, आप गीतामें ही पढ़ लेना—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ १८.३०

आपकी बुद्धि छह बातोंको ठीक-ठीक समझती है कि नहीं ? कहाँ प्रवृत्ति होनी चाहिए माने क्या काम करना चाहिए। कौन-सा काम नहीं करना चाहिए। प्रवृत्त होना क्या है, निवृत्त होना क्या है, बोलना क्या है और चुप रहना क्या है और क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। और कहाँ भय है

और कहाँ अभय है— यह बात समझती है ? संसारमें प्रवृत्त होना दुःखका मार्ग है, संसारसे निवृत्त होना सुखका मार्ग है। निवृत्ति कर्त्तव्य है, प्रवृत्ति कर्तव्य नहीं है। प्रवृत्तिमें भय है और निवृत्ति निर्भय है। छह बात आपको समझना है। प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य-अकार्य और भय-अभय। दो बात और हैं, जो फलात्मक हैं-बन्ध क्या है और मोक्ष क्या है ? आपको बन्ध मोक्षका पता है ? बँधते जा रहे हो कि फँसते जा रहे हो ! कि लड़की लड़केके साथ बँध गयी। कैसे बँधी महाराज ? कि लड़केके लिए उसने माँको छोड़ दिया, बापको छोड़ दिया, कुल-परिवारको छोड़ दिया, बँध गयी न ! यदि घसीटती न जाती तो अपना मायका कैसे छोड़ती ? इसीका नाम बन्ध है।

मोक्षं च या वेत्ति—और मुक्तिका उपाय क्या है ? अगर बाहर फँसोगे नहीं, अपने आपमें रहोगे तो मुक्त रहोगे। इसको समझनेवाली बुद्धिका नाम है सात्त्विक बुद्धि।

प्रवृत्ति भी तीन तरहकी होती है, राजस-तामसका वर्णन नहीं करते हैं, क्यों ? बोले—वह साधनमें उपयोगी नहीं है। जिससे ठीक-ठीक ज्ञान न हो वह राजसी बुद्धि और जिससे उल्टा ज्ञान हो वह तामसी बुद्धि।

एकने कहा कि महाराज, हमको मुक्ति कहाँ मिलेगी ? पत्थरपर सिर पटक दो तो मुक्ति मिलेगी, तो विपरीत ज्ञान हो गया न ! एकने महाराज पूछा कि हमको तो राम-राम करते दस बरस हो गये और रामजी नहीं मिले, तो अब क्या करना चाहिए ? तो वह था उसका दुश्मन। उसने कहा कि हाथ जोड़नेसे, प्रार्थना करनेसे यह रामजी नहीं मिलते हैं। तब कैसे मिलते हैं ? कि अरे भाई राम राम करनेवाले तो बहुत होते हैं तो किसको-किसको मिलें, रामजीको खूब गाली दो तब तुमको मिलेंगे। क्योंकि गाली देनेवाले कम मिलते हैं न, तो रामजी जल्दी खुश हो जाते हैं।

अब महाराज उल्टी बुद्धि आ गयी कि नहीं ? अच्छा धृति भी तीन तरहकी होती है—सात्त्विक, राजस, तामस। सात्त्विक धृति क्या है ?

> **धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।**
> **योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्वकी॥** १८.३३

सात्त्विक धृति, धृत्या माने पकड़, एक न एक जगह सबको रुकना

पड़ता है, पापीको भी रुकना पड़ता है। एक पापीको बड़ा क्रोध आया, और वह अपने दुश्मनपर कुल्हाड़ेपर कुल्हाड़ा मारने लगा और वह मर गया। इतनेमें ख्याल आया कि जब मर ही गया तो कुल्हाड़ा चलाकर क्या करेंगे, निवृत्त हो गया। कुल्हाड़ा चलानेको रोक दिया उसने क्यों रोक दिया? वेग आया था तो चलाते जाओ बेटा! रोकते क्यों हो?

तो पापीको पाप करते-करते भी अपनेको रोकना पड़ता है और पुण्यात्माको पुण्य करते-करते भी अपनेको रोकना पड़ता है। बिना धृतिके, बिना अपने मनोवेगको रोके किसीका जीवन चल नहीं सकता। इसीलिए इसका नाम सात्त्विक है। सत्त्वमें, अन्तःकरणमें बल है।

क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे।

क्रियाकी सिद्धि शुद्ध अन्तःकरणमें रहती है, धृतिमें रहती है, सामग्रीमें नहीं रहती है। सामग्रीमें क्रिया-सिद्धि नहीं है, सत्त्व शुद्ध धैर्यशाली अन्तःकरणमें है।

अब देखो, बात क्या बताई कि **शनैः शनैः उपरमेद्**—मनको उपराम होने दो, माने वह विषयका सुख न ले, आत्मसुखकी ओर उन्मुख होय, उद्यत होय। तो कैसे होगा? कि पहले बुद्धिसे समझो। पर बुद्धिको भी बेतहाशा, बेधड़क, बेरोकटोक मत छोड़ो, उसपर भी धृति चाहिए। साधनकी जो पद्धति है, देखो—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ १८.५१-५३

श्री उड़ियाबाबाजी महाराज, ज्ञाननिष्ठाका वर्णन करते थे **निष्ठा ज्ञानस्य या परा** इसका नाम ज्ञाननिष्ठा है। वे कहते थे अकेला ज्ञान नहीं, बौद्धिक ज्ञान नहीं, सुना सुनाया ज्ञान नहीं, ज्ञाननिष्ठा होनी चाहिए। माने कोई महाराज, एक ही बारमें चोट लगी, तत्त्व एक है उपाधिको छोड़ो, दोनोंमें जो शुद्ध चैतन्य है वह तो एक ही है, ज्ञान तो हो गया, उस समय तो मालूम पड़ता है बस! एक भूदेवशर्मा

हैं अलीगढ़के पहले धर्मसमाज कालेजके प्राचार्य थे। बादमें तो कई संस्थाओंके संस्थापक हो गये, अभी जीवित हैं। तो वे बताते हैं कि हम अच्युत मुनिजीके पास जब पञ्चदशी पढ़ते थे, तो एक प्रकरण पूरा होता और हम कहते बस महाराज, हम कृतकृत्य हो गये, अब हमको ज्ञान हो गया, अब हमको कुछ पढ़नेकी जरूरत नहीं है। बस करो महाराज! तो अच्युत मुनिजी हँसते। बोले—अरे भाई, हो गया तो क्या हुआ, कुछ-न-कुछ तो करना है तो अगला भी पढ़ ले, क्या बात है! एक प्रकरण पढ़ लिया, ज्ञान हो गया, तो दूसरा प्रकरण पढ़नेमें हर्ज क्या है, अब अज्ञान थोड़ें ही होगा! दूसरा पढ़ते तो बोलते—हाँ महाराज, पहलीबार तो कुछ कसर थी, यह दूसरा पढ़नेसे दूर हो गयी, अब कोई जरूरत नहीं है पढ़नेकी। अरे भाई तो क्या हुआ, तीसरा तो पढ़ लो! ऐसे।

इसका अर्थ यह हुआ कि जल्दी नहीं करनी चाहिए। एक मार्गमें बढ़ना चाहिए इसको बोलते हैं निष्ठा। बारम्बार करनेसे ज्ञाननिष्ठा हो जाती है। ज्ञान-निष्ठा क्या है? कि

निष्ठा ज्ञानस्य या परा, बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।

धृतिगृहीतया बुद्ध्या, धृतिगृहीता बुद्धिके द्वारा हमें उपराम होना है। जो मनमें आया सो ही खा लिया, जो मनमें आया सो ही कर लिया—ऐसे साधन नहीं होता है भाई, साधनके लिए मार्गसे चलना पड़ता है।

शनैः शनैरुपरमेद्—संसारसे उपराम होना है, तो धीरे-धीरे उपराम होना है। जल्दी नहीं करनी। जैसे व्यवहारमें कोई धन कमाना चाहता है और वह चाहे कि हमारा नोट दुगुना हो जाये, सोना दुगुना हो जाये। जल्दी-से-जल्दी हम बड़े धनी हो जायें, तो वह दुगुना होना तो दूर रहा, घरका भी जायेगा। ऐसे लोग ठगे जाते हैं, ऐसे लोग धोखा खाते हैं। आप समझ लो कि अगर दुगुना करनेवालेके पास कोई दुगुना, चौगुना करनेकी विद्या रहती, तो वह अपने घरमें ही कर लेता, तुम्हारे घरमें करनेके लिए क्यों आता?

एक बार एक आदमी मेरे पास कोई काम करनेके लिए आया था। वह पहले जिनके यहाँ काम करता था वे मेरे मित्र थे। उनसे मैंने पूछा—यह कैसा आदमी है, तुम्हारे पास तो बीस बरस रहा। तो बोले कि स्वामीजी आदमी तो बहुत बढ़िया है, पर यह चाहता है इस समय कि मैं एक दिनमें ही करोड़पतिहो

हो जाऊँ। तो यह जैसे धन कमानेमें तृष्णा करनेवाले चोरी, बेईमानी, जुआ, झूठका मार्ग अपना लेते हैं और अन्तमें धोखा खाते हैं, ऐसे ही परमार्थके मार्गमें भी आपको त्वरा नहीं करनी चाहिए, जल्दी नहीं करनी चाहिए। धीरे-धीरे अपने मनको पकाते हुए चलना चाहिए।

अब दूसरी बात यह ध्यानमें रहे कि देखो, यदि आपके मनमें धनकी लालसा है या भोगकी लालसा, तृष्णा हो तो ढोंग करनेकी जरूरत नहीं है। धन कमाना कोई पाप नहीं है और भोग करना कोई पाप नहीं है। धन भी मनुष्यके लिए आवश्यक है और भोग भी आवश्यक है। आप बस इतना ही करो कि ईमानदारीसे धन कमाओ और धर्मके अनुसार भोग भोगो। यदि इतना आप अपने जीवनमें ले लेते हैं, तो आप महायोगी हो जायेंगे, योगीराज हो जायेंगे। सिर्फ इतना ही जीवनमें ले लो कि आपके घरमें जो धन आवे, वह ईमानदारीका हो। देखो, रोटी तो खाना है, कपड़ा तो पहनना है, पलंगपर तो सोना है। यह जो बहुत सारा इकट्ठा हो जाता है वही तो तकलीफ देता है न! लोग चाहने लगते हैं कि यह इनकी जेबमें-से निकलकर हमारी जेबमें आ जाये और इसके लिए बड़ा-बड़ा अन्याय कर बैठते हैं।

एक आदमी बिहारीजीका बड़ा भक्त था, उसका कोई कारखाना चलता था। अब उसका यो मित्र था न साझेदार, वह चाहता था कि यह मर जाये, तो सारा कारखाना हमको मिल जायेगा। ऐसा उसके मनमें आया तो बड़ा प्रेम करे। एक दिन महाराज, लाल ज़हर जो सोना चाँदी साफ करनेके काम आता है, उसको जरूरत पड़ी, तो वह मित्र ले आया, तो साथ- साथ पानी भी ले आया। उसने कहा लो पान खा लो, तो उसने बिना हाथ धोये पान हाथमें लेना चाहा। तो उसने डाँट दिया, कहा, बिना हाथ धोये पान खाते हो? फिर वह शीशीमें जो पालिश लगा था वह छुड़ाने लगा तो बोला—अरे, इसमें जहर है, माने बड़ा प्रेम! तब क्या करें? कि मुँह खोलो, हम तुम्हारे मुँहमें पान डाल देते हैं। तो मुँहमें पान डाल दिया। तो ऐसी बिहारीजीकी कृपा हुई कि जब पान मुँहमें लेकर शीशी खोलने लगा, तो वह कार्क उछलकर उसके मुँहमें चला गया। तो झट उसने उगल दिया तो वह पान भी निकल आया। तो पानमें पारेकी गोली थी। तो मालूम पड़ा उसने तीन-चार गोली पहलेसे खिलाई है। रोज

पूछता था—तुम्हारा कान कैसा है, तुम्हारी आँख कैसी है, तुम्हें दवा करनी चाहिए, कमजोर होते जा रहे हो। बड़ा प्यार और महाराज, खिलाये पारा! तो उसको मालूम हुआ कि बिहारीजीने उसकी रक्षा कर दी, तो बिहारीजीकी जो भक्ति करता था, बिहारीजीसे जो प्रेम था, वह बिहारीजीने दुश्मनकी पहचान भी करवा दी और उस जहरसे बचा भी दिया। उसमें लिखा है, अभी कल पढ़ा मैंने, उस बनारसके आदमीने अपनी जीवनी लिखी है।

तो नारायण, आप यदि इतना ही करते हैं कि कमाई तो आपकी ईमानदारीकी हो और आपके जीवनका निर्वाह ठीक हो रहा है, तो आप बेईमानीसे धन इकट्ठा करनेकी कोशिश मत कीजिये और भोग इतना ही भोगिये जितना न्यायोचित हो, धर्मके अनुसार हो। धर्मके विपरीत भोग मत करो।

अच्छा, किसी चीज़के खानेसे, पीनेसे, करनेसे आपकी बुद्धि आपके काबूसे बाहर न हो; ऐसी वस्तुका सेवन कीजिये। जैसे शरीरको नष्ट करनेवाला जहर है वैसे बुद्धिको नष्ट करनेवाली नशीली चीजें हैं। तो क्या आप शरीर और शरीरके भोगका आदर करते हैं और अपनी बुद्धिका आदर नहीं करते हैं? वह जिससे नष्ट हो जाती हो, काबूमें न रहती हो, ऐसी वस्तुका सेवन बिलकुल मत कीजिये। आप अपना जीवन निर्वाह करते जाइये। बोले कि बाल बच्चोंके लिए क्या होगा? तो बाल बच्चे भी अपना प्रारब्ध लेकर आयेंगे, अपना पौरुष करेंगे, उनकी भी बुद्धि होगी, अच्छा काम करेंगे, आप उनकी चिन्ता करके अपना जीवन नष्ट मत कीजिये। यह तो आपको सीधी-सादी बात सुनाते हैं। तो आपके जीवनमें धन हो, आपके जीवनमें भोग हो, परन्तु धर्मके द्वारा नियंत्रित हो। सबको मोक्ष ही चाहिए, यह कोई जरूरी नहीं है। सबको भगवान्‌का दर्शन हो, यह भी जरूरी नही है और सबको समाधि लगे, यह भी जरूरी नहीं है। आपके मनमें जो सच्ची अभीप्सा है, लालसा है, उसके अनुसार काम करते चलिए।

अब यह हुआ कि नहीं भाई, हमारे मनमें तो ईश्वरपर विश्वास है और ईश्वरको पाना चाहते हैं, बढ़िया, आपके मुँहमें घी-शक्कर। तो ईश्वरपर विश्वास होना बहुत बड़ी बात है। जिसको कभी देखा नहीं, कभी मिले नहीं, जिसका कभी साक्षात्कार नहीं हुआ, उसपर विश्वास करके अपने जीवनको चलाना, यह कोई मामूली आदमीका काम नहीं है। अन देखी वस्तुपर विश्वास करना,

यह बड़ा आत्मबल हो जीवनमें, बड़ा धैर्य हो, तब हो सकता है। इसको *'निर्बलके बल राम'* मत गाओ। अब अनदेखी वस्तुके भरोसे दोनों हाथ उठाकर जंगलमें खड़े हो जाना, यह आत्मबल है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

ईश्वरपर विश्वास करना, यह जिसके अन्दर आत्मबल है, वही कर सकता है, निर्बल आदमी नहीं कर सकता है। आस्तिकता आत्मबलकी जननी है। ईश्वरपर विश्वास करके हम कहीं भी निर्भय रह सकते हैं। परन्तु केवल आस्तिकताका नाम भगवान्‌की भक्ति नहीं है। आस्तिकता दूसरी जीज है और भगवान्‌की भक्ति दूसरी चीज है। यह जो हम लोगोंके घरोमें बड़े-बूढे होते हैं न, हमारे दादा-दादी, ये भक्त नहीं थे। हम बिलकुल सीधी बात कह सकते हैं, वे आस्तिक थे। वे मन्दिर कहीं पड़ता तो उसको हाथ जोड़ते थे, सबेरे उठकर भगवान्‌का नाम लेते थे। कहीं चलना होता था तो,

सुमुखश्चैकदन्तश्च कपिलो गजकर्णकः।
लम्बोदरश्च विकटो विघ्ननाशो विनायकः॥

गणेशजीका नाम लेकर घरसे निकलते थे। बड़े आस्तिक थे। उनकी आस्तिकतामें हमको कोई सन्देह नहीं है। किसीको दुःख नहीं पहुँचाते थे, किसीकी निन्दा भी नहीं करते थे, किसीकी धरोहर रखी हो, तो बड़ी ईमानदारीसे रखते थे, झूठी गवाही नहीं देते थे। कहते थे—देखो, ईश्वरके सामने सब काम हो रहा है, अगर हम बेईमानी करेंगे, धोखा देंगे, तो हमारे बाल-बच्चे हैं, उनपर न जाने क्या कहर पड़ेगी, बड़े विश्वासी, पर वे भगवान्‌के भक्त नहीं थे। भगवान्‌की भक्ति कब आती है? कि जब ऐसा गुणी भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु, भक्तवत्सल, जो एक-एक भक्तका अपना होकर बैठ जाता है। आज राधासुधानिधिका श्लोक मैंने पढ़ा— ***दूरे सृष्ट्यादि-वार्ता न कलयति मनाङ् नारदादीन् स्वभक्तान्***—सृष्टि-स्थिति-प्रलयकी चर्चा तो दूर रही, नारद आकर सामने खड़े हों, तब भी देखता तक नहीं है। श्रीदामादि सखा जो हैं उनके साथ मिलता नहीं है। यशोदा माता और नन्द बाबाके स्नेहको बढ़ाता नहीं है। आज कहाँ है वह महाराज? कि आज तो वह वृन्दावन बिहारी सबकी ओरसे आँख बन्द करके किसी दूसरेको जानता ही

नहीं! राधारानी आकर जिस कुञ्जमें मिलती हैं उस कुञ्जकी गलीकी उपासना कर रहा है, उसके प्रेममें मग्न हो रहा है।

तो ऐसा कुञ्जबिहारी, राधाबिहारी, बाँकेबिहारी, त्रिभङ्गललित, ऐसा भगवान् जो बिलकुल अपना होकर रह जाये, अपना प्राइवेट भगवान् हो जाये। वह निराकार नहीं, सर्वज्ञ नहीं, सर्वशक्तिमान् नहीं, सर्वोपादान नहीं; हमारा अपना भगवान् हमारे साथ हँसे, खेले, नाचे, गाये, तब भक्ति आती है। उसके वियोगमें, उसके भूल जानेपर रोना आये, उसकी याद आनेपर आनन्द आये। जब रसका उदय हो जाये, वियोगमें दुःख और संयोगकी भावनामें सुख तब भक्तिका उदय होता है। यह भक्ति क्या करती है ? कि भगवान्के स्वरूपको अपने हृदयमें प्रकट करती है और दुनियासे वैराग्य करवाती है। तब भगवान्की, परमार्थ नामकी, परमात्मा नामकी कोई वस्तु है, इसमें दृढ़ निष्ठा हो जाती है जब दृढ़ निष्ठा हो जाती है तब उसके साक्षात्कारकी रुचि होती है।

अब देखो, परमात्माका साक्षात्कार, अगर यहाँ नहीं होगा, तो वहाँ कैसे होगा ? परमात्माके साक्षात्कारके लिए यहाँ आना पड़ता है, तो इसके लिए धीरे-धीरे उपराम होना पड़ता है। उपराम माने अपने आपमें बैठना। तो अपने आपमें बैठना कैसे होता है ?

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥

पहले क्या करो आप कि जैसे गाय-बैल हैं, ध्यान दो कि कितना बोलते हैं। हमने भैंसको बोलते सुना है, लेकिन जब उसका पाँड़ा दूर छूट जाता है, तब बोलती है। गायका बछड़ा समयसे न मिले तो गाय कभी बोल देती है। परन्तु कभी बोलती है। एक बार हमलोग उड़िया बाबाजी महाराजके साथ कहीं जा रहे थे। हाथरससे चले, सायंकालका समय था, तो बाबाने पूछ लिया कि अभी अमुक गाँव कितनी दूर है! अब महाराज, एकने कहा—साढ़े तीन, दूसरेने कहा—नहीं-नहीं महाराज, ये झूठ बोलते हैं, इनको क्या मालूम, चार मील। तीसरेने कहा—नहीं साढ़े नहीं, सवाचार तो होगा। अब महाराज! भगत लोग आपसमें लड़ने लगे। सब चाहते थे कि हम बिलकुल नाप-तौलकर बोलें। अरे भाई, नाप-तौलके थोड़े ही बोला जाता है, सचके जो निकट होता है उसको

भी सच ही माना जाता है। साढ़े तीन हो, चार हो, सवा चार हो, साढ़े चार हो, बस यही, तो इसमें मतभेद करनेकी क्या जरूरत है। *अरे एकने कही, दूसरेने मानी, नानक कहे दोनों ब्रह्मज्ञानी।* छोटी-छोटी बातपर मतभेद नहीं करना चाहिए। पत्नीने कहा—आज हरी साड़ी पहनेंगे। पतिने कहा कि नहीं, पीली पहननी पड़ेगी, दोनोमें मतभेद हो गया, दोनों साड़ीका मजा चला गया। और एकने कहा—एक आज पहन लो, दूसरेने कहा, उस दिन वह पहन लो, दोनों दिन मजा आयेगा! नहीं, तो संघर्ष पैदा कर लो, तो दोनोंका मजा नहीं आयेगा। आदमी अपनी बेवकूफीसे ज्यादा दुःखी होता है।

अब आप देखो, आपको सुनाते हैं कि यह हमारी गाय, हमारी भैंस कितनी बोलती है, तो आप भी उतना ही बोलो जितना बोलना प्रयोजनीय हो। मतलबकी बात बोलो। *'बोलिये तो तब जब बोलिबेकी रीति जाने।'* तब बोलिये जब आपको बोलना आता हो। अपने हृदयका सुख बिखेरनेके लिए बोलिये। दूसरेके हृदयमें सुख जगानेके लिए बोलिये। अपनी हानि, दूसरेकी हानि न हो तब बोलिये। पहली भूमिका योगकी यह है कि जैसे गाय और भैंस जरूरतकी बात करती हैं, अपनी वाणीको, जबांनको बिखेरती नहीं हैं, ऐसे आप जबानको नहीं बिखेरें। ***गोपश्वादिवत् वाङ्निरोधः।***

यह केवल बोलीके बारेमें नहीं है, हाथके बारेमें भी है, पाँवके बारेमें भी है। प्रयोजनके अनुसार अपने शरीरका व्यवहार किया, अपने मन, बुद्धिको, अपनी इन्द्रियोंको विकीर्ण मत होने दो, बेमतलब बात मत करो। यदि आप जीभको बेमतलब बात करनेसे नहीं रोक सकते तो आप अपने मनको बेमतलब सोचनेसे रोक सकेंगे?

जो लोग कहते हैं कि छुट्टी छोड़ दो, उनका योगमें कोई अधिकार नहीं है, योगमें कोई दिलचस्पी नहीं है, योगमें उनको कोई सिद्धि भी नहीं मिल सकती।

अच्छा, अब दूसरी भूमिका लो। दूसरी भूमिका है बालककी। जैसे बालक अन्यमनस्क दशामें रहता है वैसे रहो। उसको यदि भूख लगी, प्यास लगी, मच्छर काट गया, खटमल काट गया, तो रो दिया, नहीं तो निर्मनस्क दशामें रहेगा।

तीसरी भूमिका क्या है कि जैसे तन्द्रामें अहंकारकी भी स्फूर्ति नहीं होती है वैसे रहो।

चौथी भूमिका क्या है कि सुषुप्ति तो आने न पावे अं चेतनाका नाश न होने पावे। सुषुप्ति आयेगी तो तमोगुण हो जायेगा। तो,

यच्छेत् वाङ् मनसि प्राज्ञ तद् यच्छेत् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानं आत्मनि महति तद्यच्छेत् तथान्तरात्मनि।
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

अब आपको एक इसका विज्ञान बताते हैं। असलमें इसका विज्ञान यह है कि जैसे घड़ा बनता है। तो घड़ेके पेट में जो पोल होती है—आत्मा; वह घड़ेमें घुसेड़ी नहीं जाती। घड़ा बनता है और उसके पेटमें आकाश होता है। ऐसे ही यदि यह चित्त उत्पन्न होता है तो चित्तकी उत्पत्तिके पास ही उसमें आत्मचैतन्य होता है। घड़ेमें आकाश तो होता है, लेकिन पानी रखना हो, उसमें गेंहूँ रखना हो, उसमें शक्कर रखना हो, तो बाहरसे डालना पड़ता है, ऐसे यह आपका जो चित्त है, इसमें आकाशके समान आत्मचैतन्य भरपूर है। हम जो बात आपको सुना रहे हैं, अगर इसपर ध्यान दोगे, तो अभी आपका ध्यान लग जायेगा, अभी आपको उपरामता प्राप्त हो जायेगी—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥

तो आपके चित्तमें दो चीज है, एक तो स्वयंप्रकाश और चित्त प्रकाशक आकाशवत्, अधिष्ठानस्वरूप आत्मा। आत्मपूर्वक ही चित्त है, बिना आत्माका कोई चित्त नहीं होता। जैसे आकाशपूर्वक ही घड़ा हो, बिना आकाशका कोई घड़ा नहीं होता, इसी प्रकार बिना आत्माका कोई चित्त नहीं है।

अब आपको करना क्या है? यह जो बाहरके आपने गेहूँ चावल या शक्कर या कंकड़-पत्थर घटाकाशमें भर दिया है, इसी तरहसे जो स्त्री, पुत्र, धन, बाहरकी चीजें जो आपने ठूँस दी हैं, ठसाठस अपने चित्तके घड़ेमें, उसको बाहर निकाल दीजिये। बाहर हाथसे निकालना है? कि नहीं, हाथसे नहीं निकालना है। कोई कहे कि शीशेमें-से आप हाथी निकाल दीजिये। तो शीशेमें तो हाथी घुसा ही नहीं है, वह तो बाहरका हाथी शीशेमें दिख रहा है। आप यह

समझ लीजिये कि शीशेमें हाथी नहीं है तो आप यह समझ लीजिये कि चित्तमें जैसे शीशेमें सत्ता तो है, शीशेमें प्रकाश तो है पर शीशेमें हाथी नहीं है। इसी प्रकार आपके चित्ताकाश प्रकाशमें, चित्ताधिष्ठान ज्ञानमें आत्म चैतन्य तो है आकाशवत्, परन्तु दुनियाकी दूसरी कोई वस्तु नहीं है, आप अपने स्वरूपमें बैठ जाइये।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

न कहीं आना है न कहीं जाना है, न कुछ निकालना है न छूटना है, न कुछ हटाना है न कुछ सटाना है, ज्यों-का-त्यों।

हमने ठाकुर प्रसिद्ध नारायणसे पूछा कि ठाकुर साहब, आप यह वेदान्त सुनकर क्या समझते हैं? तो बोले कि बस यह समझते हैं कि ठसाठस ठोस चैतन्य है। अरे यह दुनियाका व्यवहार तो सब हो रहा है कि यह सब शिकवा-शिकन्त ही है, आत्माके बाहर कुछ नहीं है। आत्मा ही है।

देखो, आपको '**शनैः शनैरुपरमेद्**' बताया। एक बार आप यह ख्याल करो कि शीशा तो है और प्रकाश भी है, रोशनी भी है, लेकिन उसमें हाथी नहीं है, मोटर नहीं है, घोड़ा नहीं है। इसी प्रकार आपके चित्तमें स्वयंप्रकाश सर्वावभासक अधिष्ठान स्वरूप चैतन्य तो है, परन्तु दूसरी कोई चीज नहीं है।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।

बुद्ध्या धृतिगृहीतया क्या अर्थ हुआ? यदि आपको लगे कि आकर मच्छर काट गया, तो आप बिलकुल विचलित मत होइये। मच्छर नहीं काटता है, मन काटता है। हमने बहुत देखा है। हम पहले भजन करने बैठते थे तो मालूम पड़ता कि हमारी नाकपर आकर मक्खी बैठ गयी। अब हम हटानेकी कोशिश करते तो कुछ नहीं, मक्खी-वक्खी कुछ नहीं, मन ही मक्खीकी तरह मालूम पड़ता था। एक आदमी फोटो खिंचानेके लिए बैठा, फोटो खींचनेवालेने कहा--एक, दो, तीन बोलनेवाला था कि उनको मालूम हुआ कि नाकपर मक्खी बैठ गयी है, जो मुँह टेढ़ा किया तो वही फोटो आ गया। हे भगवान्! तो यह टेढ़े मुँहका फोटो मत खिंचवाओ। एक टेढ़ी मति करो, न मच्छर काटता है, न मक्खी काटती है, न आपका दुश्मन आपको तक़लीफ देता है, न दोस्त आपको सुख देता है। यह आपके चित्ताकाशमें जो परछाइयाँ हैं, यह परछाईंका खेल है, सच्चा खेल

नहीं है। तो स्वयं प्रकाश अधिष्ठान आत्मा प्रत्यक्‌चैतन्य, बीचमें दूसरी कोई चीज नहीं है। यह एक रीति।

अब दूसरी रीति बताते हैं। तो भाई हम वृन्दावन-बिहारी, पीताम्बरधारी, मुरलीमनोहर, श्यामसुन्दरका चरित्र तो आपको सुनाते ही हैं। अधिष्ठान ब्रह्मकी चर्चा, आपको वेदान्तोक्त ब्रह्मकी चर्चा तो आपको सुनाते ही हैं। जरा यह दुःख वियोगरूप जो योग है, उसकी तो चर्चा सुनो, कुछ दूसरी चीज ही नहीं है। लो और एक भूमिका सुनाते हैं। हम एक फकीरके पास गये, श्रीउड़िया बाबाजी महाराज, हरिबाबाजी, आनन्दमयी माँ, सब गये थे। खन्नामें रहते थे, नंगे रहते थे, ऐसे सीधे-साधे महाराज, बालककी तरह रहते थे, कम्बल ओढ़ते थे। लोगोंके सामने कम्बल ओढ़ते थे। हमने देखा, रातको घूम रहे थे चारों ओर। मैंने पूछा—यह क्या महाराज! तो बोले कि सब लोग तो रासलीला देख रहे हैं, और इधर तो सूना पड़ा है, तो हम ही घूम रहे हैं, पहरा दे रहे थे। बड़े ही आनन्ददायक थे। श्री उड़ियाबाबाजी महाराज और वे एक ही तख्तेपर बैठे। तो मैंने इलायचीकी पुड़िया उठायी, मैंने पूछा, महाराज यह क्या है? तो हँसने लगे, बोले कि ब्रह्म है। भक्तोंकी दृष्टि है न, जहाँ लोगोंकी दृष्टि नहीं पहुँचती है, वहाँ पहुँचती है। एक बार श्री उड़ियाबाबजी महाराजने दोनों हाथसे बालू उठाया और बोले—शान्तनु देख, जबतक यह बालू तुझे ब्रह्म न दिखे, तबतक समझना कि अभी वेदान्तका ककहरा नहीं आया। यह नेति-नेति परमार्थ नहीं है, ब्रह्मातिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जो भी है सब ब्रह्म ही है। अद्वैतके माने कोई हँसी-खेल थोड़े ही होता है। अच्छाजी, तो उन महात्माकी बात कर रहा हूँ। सबेरे नींद टूट गयी तो जाकर उनके पास बैट ाया। बैठ गया, तो महाराज ऐसा लगे कि जैसे हमारे कलेजेके भीतर जैसे कोई पानीका फौव्वारा है, ऐसे फौव्वारा और जैसे उसमें-से आनन्दकी बौछार ऊपरको उठती हो, ऐसे बड़े जोरसे आनन्दकी हवा जैसे बह रही हो, जैसे आनन्दकी वर्षा हो रही हो, जैसे आनन्दका रस उछल रहा हो, जैसे आनन्दकी सुगन्ध बह रही हो, जैसे आनन्दका संगीत आ रहा हो, आनन्द-ही-आनन्द! दाहिने-बाँये, सामने-पीछे, ऊपर-नीचे, कोई आधा घण्टे आनन्द-ही-आनन्द। आनन्दके सिवाय और कुछ नहीं। उनका नाम त्रिवेणीपुरी था, बड़े ही वृद्ध थे महाराज, उनका शरीर पूरा हो गया।

अच्छा उनकी बात तो अभी बतायी नहीं, जो बात कहनेके लिए उनका परिचय दिया वह बात नहीं कही।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्। ६.२५

उन्होंने बात क्या बतायी कि तुम अपने ख्यालमें-से मिट्टी और मिट्टीकी बनी चीज निकाल दो। आप जरा ध्यान करो, **'शनैः शनैरुपरमेद्'** आप पञ्चभूतात्मक सृष्टिसे उपराम पीछे होना, केवल मिट्टीसे उपराम हो जाओ। क्या होगा? आपके ध्यानमें शायद बात न आयी हो अभी, मिट्टी नहीं होगी तो मकान नहीं होंगे वहाँ। बिना मिट्टीके मकान नहीं होता, अच्छा पहाड़ भी नहीं होंगे। पेड़-पौधे भी नहीं होंगे। धरती भी नहीं होगी, किसी प्राणीका शरीर भी नहीं होगा आप ऐसा सोचो कि सृष्टिकी उस दशामें जब सृष्टि बननेवाली थी और मिट्टी पैदा नहीं हुई थी, सृष्टिकी केवल द्रवावस्था थी, केवल जल-ही-जल, जो ठोस होकर धरती बना, वातावरणकी वह द्रवावस्था केवल थी, मिट्टी पैदा हुई नहीं थी, उस समय यह सृष्टि कैसी रही होगी, आप जरा सोचो तो सही! मान लो ग्रह-नक्षत्र-तारे हों भी, तो उस जलके समुद्रमें झिलमिल-झिलमिल सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र तारे सब चमक रहे हों और उस तरंगायमान अपार जलराशिमें न मेरा यह शरीर है, न आपका। न मिट्टी है, न शहर है, न गाँव है, न पहाड़ है, न वृक्ष है, न पशु है, न पक्षी है, केवल जल-ही-जल है।

राग-द्वेष कब होता है? जब कार्यपर दृष्टि जाती है। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कहते थे बरफ मत देखो और मोती भी मत देखो। क्या देखो? कि पानी, मोती भी पानी है, अरे गहना पहनना हो तो मोतीको मोती समझो और पानी ठण्डा करके पीना हो, तो उसको बर्फ करके देखो, लेकिन तत्त्वतः मैटरके रूपमें दोनों पानी है। तो जरा देखो, तो यह सृष्टिमें केवल पानी है। आप देखो, आपका दोस्त नहीं, आपका दुश्मन नहीं, यह आपका राग-द्वेष कितने तुच्छ आधारपर हैं। कितने तुच्छ आधारपर यह अहंकार, हड्डी-मांस-चामके शरीरमें अहं। और हड्डी-मांस-चाम प्यारा और हड्डी-मांस-चामके साथ व्यवहार करके आप बनना चाहते हैं योगीराज, अपना मुँह जरा शीशेमें देखिये—

मुखड़ा क्या देखे दर्पणमें?
तेरे दया धर्म न मन में!

यह देखो, अभी तो प्रारम्भिक भूमिका आपको सुनाते हैं—**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा।**

अब इसके सामने समझो पानी है तो तरंग-वरंग उठती है, केवल प्रकाश ही है जो द्रवित होकर पानी बनता है। आप केवल इस प्रकाशको, सूर्य-चन्द्रमाके प्रकाशको मत देखो, केवल वह गति है, जिसके संघर्षसे गरमी पैदा होती है, प्रकाश पैदा होता है। ऊर्जा जिसको बोलते हैं, शक्ति, विद्युत्। वह विद्युत् जहाँसे उठती है, वह गति। गति माने वायु, वायुका मूलाधार। देखो, पृथिवीका मूलाधार द्रव, द्रवका मूलाधार उष्ण—गर्मी और गर्मीका मूलाधार गति और गतिका मूलाधार शान्ति। हम मोकलपुरके बाबाके पास गये तो उन्होंने कहा कि बाबाजी देखो, बैठे हो तो शान्ति है, आकाश। और चलो दौड़ो तो वायु। उससे जो शरीरमें गर्मी होगी वह उष्णता—गर्मी और उससे जो पसीना आयेगा सो पानी। और वह पानी जब जमकर शरीरपर मैल हो जायेगा सो मिट्टी। मैल कहाँसे आयी ? कि पसीनेमें-से। पसीना कहाँसे आया ? कि गर्मीमें-से। गर्मी कहाँसे आयी ? कि गतिमें-से। गति कहाँसे आयी ? कि स्थितिमें से। मिट्टी पानीमें, पानी आगमें, आग हवामें, हवा आकाशमें और आकाशको मनमें और मनको ज्ञानमें और ज्ञानको शान्तिमें लीन कर दो। मैं देह हूँ, मैं परिच्छिन्न हूँ, मैं टुकड़ा हूँ, मैं कतरा हूँ—इस बातको सोचना बिलकुल बन्द कर दो! न तुम कतरा हो न दरिया। **आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।** यह दो नम्बरकी प्रक्रिया है। पहले जो बतायी थी, आपके ध्यानमें है ? जब घड़ा पैदा होता है तब आकाशके साथ पैदा होता है। उसमें और सारी चीजें ठूँसी जाती हैं, परन्तु आकाश नहीं ठूँसा जाता। इसी प्रकार आत्मचैतन्यके बिना दुनियाकी कोई भी वस्तु नहीं होती। दूसरी वस्तु ठूँसी हुई हैं और आत्मचैतन्य स्वतःसिद्ध है। और ठसाठस आत्मचैतन्यमें, माने स्वरूपभूत चैतन्यमें दूसरी कोई वस्तु नहीं है। एक नम्बरकी प्रक्रिया है यह। यह बाध-प्रधान प्रक्रिया इसको बोलते हैं। और मिट्टी पानीमें, पानी आगमें, आग हवामें, हवा आकाशमें और आकाश मनमें, आकाशसे मन बड़ा है। आकाशका बाप है मन। स्वप्नमें नया आकाश बनाता है और मन ज्ञानमें और ज्ञान अपना स्वरूप, यह लय प्रक्रिया बोलते हैं, यह दो नम्बरकी प्रक्रिया है।

जैसे एक नम्बरकी बही और दो नम्बरकी बही। एक नम्बरकी साधना यह है कि आत्मातिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। **आत्मसंस्थं मनः कृत्वा।** मनको आत्मामें संस्था; संस्था माने मौत, मर जाने दो, दफना दो। यह संस्कृत भाषामें संस्था शब्दका अर्थ मृत्यु भी होता है और स्थिति भी होता है। '*ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति*'-अपने मनको मर जाने दो ब्रह्ममें, ब्रह्म ही रहे मन न रहे।

अरे, तो क्या मारना पड़ेगा? कि यही तो बात है। ये जो जड़वादी लोग होते हैं, वे समझते हैं कि कोई चीज़ होती है और उसको मारना पड़ता है। कोई चीज़ कहीं जाती-आती है, उसको रोकना पड़ता है। हे भलेमानुस, बिना दर्शन-तत्त्वको समझे जो साधनाको समझनेकी कोशिश करेगा; वह खुदाने जो दुनिया बनायी थी, उसमें हमलोग नहीं रहते हैं भला! सर्जनहारने जो सृष्टि बनायी थी, उसमें हमलोग नहीं रहते हैं, वह सर्जनहारकी सृष्टि दूसरी है और खुदाके कुन्से जो सृष्टि बनी थी, वह दूसरी है। उसमें ईसाई-मुसलमान लोग रहते हैं। हमलोग दर्शनकी जिस दुनियामें रहते हैं, उसमें हमारा परमेश्वर जैसे घड़ेमें माटी रहती है, जैसे घटाकाश-मठाकाशमें महाकाश रहता है, जैसे जेवरमें सोना रहता है, माने ईश्वर और जगत्का जैसा मौलिक मतभेद आर्यसमाजमें माना जाता है, वैसा नहीं। जैसा कुरानमें माना जाता है वैसा नहीं, जैसा बाइबिलमें माना जाता है वैसा नहीं। मौलिक मत यह है एक अखण्ड प्रत्यगात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। तो न तो मनको रोकना है और न तो मनको मारना है। असलियतको समझना है और असलियत क्या है कि,

न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः।
यदर्थं प्रतिभानं तन्न मन इत्यभिधीयते॥

यह मन नामकी जो चीज़ है वह न शरीरके भीतर है न बाहर, क्योंकि भीतर और बाहर-यह भेद मनने ही बनाया है। मन नामकी वस्तु न पहले बनी, न आगे रहेगी। कि यह क्या है? यह पहले और पीछे दोनों मनने ही बनाया है। उसमें न मैं है, न तुम, क्योंकि मैं और तुमका भेद मनने ही बनाया है। उसमें न यह है न मैं। क्योंकि यह और मैंका भेद मनने ही बनाया है। तो मन कहाँ है?

अब कि तब ? यहाँ कि वहाँ ? मैं कि तुम, यह कि वह–मन क्या है ? कि है नहीं। अब–तब, यहाँ–वहाँ, मैं–तू, यह–वह मालूम पड़ना है, इसीका नाम मन है। तो मालूम पड़ते हुए भी अखण्ड आत्मवस्तुमें यह नहीं है।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।

आत्मसंस्थका अर्थ यह है।

'आत्मातिरिक्तं किंचित् नास्ति'—आत्माके सिवाय कुछ दूसरा है नहीं, *अतः न चिन्तयेत्।*

हम बच्चे थे, उस समय कोई बात मालूम पड़ती, तो नयी–नयी मालूम पड़ती थी। हम समझते कि बस आज हमको ही मालूम पड़ी है यह बात, वैसे जब हम बतायेंगे तो दुनियाको भी आज ही मालूम पड़ेगी, क्योंकि हमसे पहले किसीको मालूम ही नहीं होगी। बचपनमें ऐसा ख्याल होता कि आज यह बात हमको नयी मालूम पड़ी है, यह दुनियामें किसी दूसरेको मालूम नहीं होगी, हम जब बतायेंगे तब मालूम पड़ेगी। तो हमने यह सूत्र लिखा, उसका नाम रखा–'तत्त्वरसायनम्', लिखे कोई ढाई सौ–तीन सौ सूत्र थे, हमको साधन करते समय जो–जो नयी बात मालूम पड़ी कि अपने जानमें, हम ऐसा समझते थे कि हमको किसीने बताया नहीं है, हमको ही मालूम पड़ी है, ऐसा मालूम पड़ता था। तो उसमें एक सूत्र मैंने लिखा था, बीस बरसकी उम्र होगी—**अचिन्तनम् चिन्तनम्।** आत्मचिन्तन क्या है कि चिन्तन न करना ही आत्मचिन्तन है। तो बड़े शौकसे ले जाकर मैंने मोकलपुरके बाबाको सुनाया। सुना उन्होंने बड़े प्रेमसे। बोले—गुरु! कागज़ सफेद और स्याही काली, सफेद कागजको क्यों काला करते हो ? अरे छोड़ो लिखने–पढ़नेमें क्या रखा है। मैंने कहा—हाँ महाराज छोड़ दिया, अब यह फाड़कर गंगाजीमें फेंक देते हैं। तब हँसने लगे, बोले कि नहीं, नहीं फाड़कर फेंको मत! अभी तो बहुत लिखना पड़ेगा। तो हमको क्या मालूम था। उसको तो मैंने फाड़कर फेंक दिया गंगाजीमें। शायद उसकी कोई कापी हो तो हो। क्योंकि हमको जब घरसे जाना था, तो हमने अपनी सभी पुस्तकें एक पुस्तकालयको दे दीं, क्योंकि घरमें तो कोई सँभालनेवाला नहीं था।

तो आपको यह बात सुनाते हैं, उसके बाद कम–से–कम दस हजार पन्ने

तो गीता प्रेससे भी प्रकाशित हुए होंगे। वह तो बाबा मना करते थे कि फाड़ो मत, लेकिन मैंने तो फाड़ ही दिया जोशमें आकर। आदमी सोचता है कि अब हमने बिलकुल त्याग कर दिया, लेकिन यह मालूम नहीं रहता है कि त्यागके भीतर कितना ग्रहण छिपा हुआ है। हम जिसका तिरस्कार करते हैं अपनी त्यागवृत्तिसे, एक दिन त्यागवृत्तिसे हम उसका तिरस्कार करते हैं और एक दिन संग्रहवृत्तिसे उसको ही ग्रहण करना पड़ता है। हमारे गाँवके पास एक सज्जन थे, उन्होंने हमको सिखाया था—

सराहो मत सराहो मत निन्दना पड़ेगा।
निन्दो मत निन्दो मत सराहना पड़ेगा॥

किसीकी तारीफ मत करो, एक दिन उसकी निन्दा करनी पड़ सकती है और किसीकी निन्दा मत करो, एक दिन उसकी तारीफ करनी पड़ सकती है। जीवन लम्बा है, इसमें तरह-तरहके अनुभव आते हैं।

अचिन्तनम् चिन्तनम्।

जो मैंने फाड़कर फेंक दिया था, वही बोल रहा हूँ। अचिन्तन दशामें जो साक्षी है, वह देशका, कालका, वस्तुका, वृत्तिका, वृत्तिके अभावका, सबका साक्षी कूटस्थ स्वयंप्रकाश प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म है। **न किंचिदपि चिन्तयेत्।**

तेन योक्तव्यः अनिर्विण्णचेतसा।

पहली बात तो यह है कि अपने मनमें निश्चय होना चाहिए। यदि तुम चाहोगे बाहरकी वस्तुको कि धन मिले, स्त्री मिले, मकान मिले और मनको करना चाहोगे एकाग्र, तो इष्ट है बाहर और मनको खींच रहे हो भीतर, तो अपने इष्टके विपरीत मनको खींचनेके कारण संघर्ष होगा और बस यही पागलपनकी सृष्टि होगी और यदि आपका इष्ट भीतर ही है तो आप अपने मनको बाहरसे भीतर खींचोगे, तो अपने इष्टके पास पहुँचाओगे तो द्वन्द्वकी सृष्टि नहीं होगी, जहाँ मनके मूलमें बुद्धि, निश्चय, विवेक काम कर रहा है वहाँ तो मन अन्तर्मुख हो जायेगा, कोई द्वन्द्व, कोई संघर्ष नहीं होगा और जहाँ इष्ट है दूसरी दिशामें और मनको ले जाना चाहते हैं दूसरी दिशामें, वहाँ संघर्षकी सृष्टि होती है। एक बड़े भारी दार्शनिक थे, तो एक दिन उनका नौकर दूसरी जगह

चला गया, तो गायके बछड़ेको गराँव लगाकर उसके गलेमें खींचने लगे कि घरमें ले जाकर बाँध दें। अब महाराज अड़ गया, उनसे खिंचे नहीं। दार्शनिकजी और बछड़ेजी—दोनोंमें द्वन्द्व युद्ध हो गया। बड़ी देर लग गयी। इतनेमें नौकर आ गया, उसने कहा—मालिक आप छोड़ दो, बछड़ेके मुँहमें उसने हाथ डाल दिया, बछड़ा चाटने लगा, नमकका स्वाद आने लगा। अब वह आगे-आगे बढ़ा तो बछड़ा भी उसके पीछे-पीछे चला गया, क्योंकि उसका इष्ट जो है, स्वाद जो चाहिए था उसको वह उसको नौकरके साथ मिल गया और मालिकके साथ तो घसीटना मिलता था। तो तुम्हारा इष्ट यदि बाहर होगा तो मनको रोकनेमें तकलीफ होगी, वह तो वहाँ भेजना है जब घर-घर व्यापन भेजना है तुमको, तो तान दुपट्टा सोओगे कैसे? तो **स निश्चयेन योक्तव्यः** आपको अपने स्वरूपका साक्षात्कार करना है, देशान्तरमें, कालान्तरमें या विषयान्तरके रूपमें जो कोई अन्य वस्तु है उसका साक्षात्कार नहीं करना है। तो जिसके जीवनमें लक्ष्य नहीं है और साधन है, वह कांदिशीक हो जायेगा, दिग्भ्रान्त हो जायेगा, उसको दिग्भ्रम हो जायेगा, उसके मनमें द्वन्द्व आ जायेगा।

दूसरी बात यह है कि मनकी आदत तो बिगड़ गयी है, तो वह बार-बार बुरी जगह बैठनेकी आदत जो पड़ जाती है, तो मन वहीं जाता है। तो हार नहीं मान जाना चाहिए, अच्छा काम करते रहोगे तो जैसे बुरी चीजकी आदत पड़ गयी है, वैसे अच्छी चीजकी भी आदत पड़ गयी है।

एक हमारे बाबूजी हैं, पचास बरस उन्होंने सिगरेट पीया, बीस-बीस, तीस तीस। तो छोड़ दिया, तो छोड़ दिया। अगर यह बात मान ली जाये कि बुरी आदत जो अपने जीवनमें पड़ी है वह छूट ही नहीं सकती, तो आप बिलकुल जहाँ-के-तहाँ रह जायेंगे।

एक और भी बात आपको सुनाते हैं। यह जो जड़ वस्तुएँ हैं उनमें विकासकी दृष्टि नहीं है और जो अन्तर वस्तुएँ हैं उनमें विकारकी दृष्टि नहीं है। माने हमारे जो सांख्य योगके निर्माता हैं, वे बोलते हैं कि अन्तरमें ईश्वर है और मन जब उससे विमुख होता है तो विकृत होता है। और जो जड़वादी लोग हैं वे ऐसा मानते हैं कि हमारा इष्ट जो अर्थ है, हमारा इष्ट जो भोग है, वह बाहर है।

तो हमारा मन जब भीतरसे निकलकर जाता है तब विकसित होता है। जो लोग अर्थकी प्राप्तिसे, भोगकी प्राप्तिसे अपनी मनोवृत्तिका विकास मानते हैं, उनका पक्ष न्यारा है और,

हरि आशिकका मग न्यारा है।

भगवान्‌के प्रेमीका रास्ता बिलकुल जुदा है। तो आपको सुनाया कि यदि धर्म करना हो तो बुराईकी आदत मनमें डालना, विहित कर्म करना, निषिद्ध कर्म छोड़ देना। यदि आपको उपासना करनी हो, तो अपने इष्टका चिन्तन करना, अनिष्टका परित्याग करना। जो साधन कर्तृत्वपूर्वक होगा, संकल्पपूर्वक, विधानपूर्वक वह भावकी उत्पत्ति करके अन्तःकरणका निर्माण करेगा। अब जब योगाभ्यासके मार्गमें चले तो,

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ ६.२४
शनैः शनैः उपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया। ६.२५

बुद्धिमें भी पकड़ चाहिए। वह काहेकी? कि धृतिकी। बुद्धिके लिए भी एक लगाम है। वह लगाम काहेकी है? कि धृतिकी। और त्वरा—उतावली नहीं करनी चाहिए—तुरन्त। कि आज ईश्वर मिल जाये तो कल दुकान बढ़ानेमें पूरा मन लगायेंगे या नौकरी करनेमें पूरा मन लगायेंगे। ऐसा नहीं करना।

अब आपको जो बात सुनायी थी—'**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्**'-वहाँ चलो! यदि हम जानबूझकर चिन्तनको मना करेंगे तो उसमें भी कर्तृत्व ही रहेगा। कर्तृत्वसे तो अपूर्व बुद्धि अथवा अदृष्टकी उत्पत्ति होती है, उसका फल मिलता है। यहाँ बात क्या कही गयी, वह ध्यानमें देने लायक हैं। आपको पहले दो प्रक्रिया इसकी सुनयी थी। जब चित्तका उदय होता है तो चित्तके उदयके साथ-ही-साथ आत्मा पहलेसे स्वयंप्रकाश रूपमें विद्यमान रहता है। चित्तके उदयके पूर्व, चित्तके विद्यमान कालमें, चित्तके शान्तिकालमें। जैसे मिट्टीसे घड़ा बना, तो आकाश उसके भीतर घुसा नहीं, आकाश पहलेसे विद्यमान है, यह घड़ेकी दीवार खड़ी होकरके आत्माको बाहर और भीतर ऐसा बना रही है। तो यह चित्त जो है हमारा, वृत्ति जो है वह घड़ेकी तरह है। यह जब खड़ी होती है, तो आत्मा

इसमें जैसे घड़ा बननेपर उसमें धूल-माटी-पानी डालकर, भरकर रखते हैं, हीरा, मोती, वैसे इसमें आत्मा डाला नहीं जाता है। जैसे घड़ेमें आकाश पहलेसे मौजूद है, वैसे वृत्तिमें, चित्तमें आत्मा पहलेसे मौजूद है। और वह आत्मा है इसलिए चेतन है और है, इसलिए अविनाशी है और सबका है, इसलिए आनन्दस्वरूप है। माने अपना इष्ट, अपना लक्ष्य आत्मा है। सबका प्रकाशक आत्मा है, सबकी सत्तासे पूर्व आत्माकी सत्ता है। तो जब चित्तवृत्तिका उदय होता है, तो वृत्तिमें जो सत्ता या प्रकाश या आनन्द प्रतीत होता है वह आत्मदेवका ही है और वह पहलेसे ही विद्यमान है। यह वृत्तिमें जो उसने घेरा बनाया, यह बिलकुल झूठा है। तो **आत्मसंस्थं मनः कृत्वा** का अर्थ ऐसा है कि जैसे घटाकाश महाकाशमें स्थित हो। वह तो घटकी दीवार आकाश को आकाश से अलग करती हुई-सी मालूम पड़ती है, परमात्मासे आत्माको अलग करती हुई-सी मालूम पड़ती है, उस दीवारके बारेमें ही कुछ सोचो! असलमें दीवार नहीं है, आकाशवत् आत्मा-परमात्मा एक है। पहलेसे ही ऐसा है इसको बनाना नहीं है।

दूसरी प्रक्रिया आपको यह सुनायी, इसको बाध प्रक्रिया बोलते हैं। आत्माकी अखण्डतामें न चित्त है न चित्तकी वृत्ति है, न चित्तके विषय हैं। और इसमें न वृत्तिका उदय है, न वृत्तिका विलय है, न वृत्तिकी शक्ति है, न वृत्तिका शाबल्य है, न वृत्तिकी शान्ति है। ये वृत्तिकी पाँचों अवस्थाएँ इस आत्म चैतन्यमें नहीं है। जिस अखण्डात्मामें आप स्थित हुए हैं।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।

यह जो आत्मा है इसमें न वृत्तिका जन्म है, न वृत्तिकी स्थिति है, न दो वृत्तियोंकी सन्धि है, न दो वृत्तियोंका संघर्ष है, न दो वृत्तियोंका मिश्रण है और न वृत्तियोंका नाश है और न वृत्तियोंकी शान्ति है, आत्माकी अखण्डतामें वृत्तिका अस्तित्व नहीं है। इस अपने परिच्छिन्न आत्माकी अखण्डतासे एकता जानकर, बस **आत्मसंस्थं मनः कृत्वा।**

दूसरी बतायी थी लय प्रक्रिया। अब जरा आपको थोड़ी तमाशेकी बात सुनाते हैं। आप यह नहीं समझना कि यह मन एकाग्र करनेमें तमाशा नहीं होता। बृहदारण्यक उपनिषद्में वर्णन आया है, ये जो हमारी वृत्तियाँ हैं, ये कैसी हैं? तो

ऐसा वर्णन आया है कि एक सफेद भेड़ जैसी होती है, और सफेद-सफेद उसके बाल होते हैं, एक वृत्ति वैसी है। और एक वृत्ति ऐसी है कि जैसे वानरका चूतड़ लाल-लाल होता है, वैसी एक वृत्ति है। ऐसे रंग बताया है। एक वृत्ति नीली है, एक वृत्ति पीली है। ऐसे वहाँ *आदिकम्* शब्दका प्रयोग है। तो अब यह देखो आप, वृत्तिमें पीलापन, वृत्तिमें सफेदपन, वृत्तिमें लालपन, वृत्तिमें धूमिलपन, वृत्तिमें नीलापन, कभी आपको भीतर रंगका चमत्कार भी दिखायी पड़ेगा, परन्तु ये सारे-के-सारे रंग प्रातीतिक हैं, मानसिक हैं। जो आप स्वयंप्रकाश स्वरूप हैं, उसके साथ इन रंगोंका कोई सम्बन्ध नहीं है।

अच्छा, एक दूसरी बात देखो, वृत्तियोंका तमाशा; शास्त्रका वर्णन आपको सुनाते हैं, जो लोग कहते हैं हमारे प्रचीन ऋषियों-महर्षियोंको मनोविज्ञान नहीं मालूम था, उन्होंने कभी शास्त्रका दर्शन भी आँखसे किया है कि नहीं, इसमें सन्देह है। अब आपको एक बात सुनाते हैं, जब आपका मन एकाग्र होने लगे—मूल बात यह है कि यह जो व्यक्तित्त्व है, इसके बन्धनमें आपका मन बँधा हुआ है। यह शरीर मैं हूँ, यह मेरा हाथ है। यह मेरा पाँव है, यह मेरी जीभ है और इस व्यक्तित्वके बन्धनसे बँधकर आप भी अपनेको परिच्छिन्न मान रहे हैं। तो हमारी साधनाका अर्थ होता है कि यदि आप स्वर्गसे, नरकसे, पुनर्जन्मसे, सुखीपने, दुःखीपनेसे, पापीपनेसे, पुण्यात्मापनेसे, जन्मसे, मरणसे छूटना चाहते हैं, तो जो परिच्छिन्नमें मैंपना है, इससे छूट जाइये! यह आपकी बुद्धिमें एक जो गाँठ पड़ी है परिच्छिन्नताकी, यह छूट जाये। इसके लिए हैं सारे शास्त्र। तो अब आपको सुनाते हैं जब मनको एकाग्र करने लगते हैं, बड़े-बड़े मजेदार तमाशे होते हैं। कभी ऐसा होगा कि जब आप शरीरसे अपने मनको ऊपर उठाना चाहेंगे, तो प्राणसे तो मन अलग होगा नहीं माने उसमें शक्ति और वृत्ति दोनोंका हो जायगा मिश्रण। तो उस समय आपका प्राण, मनो मिश्रित प्राण, जिसमें मन मिल गया है, ऐसा प्राण शरीरकी मिट्टीसे एक हो जायगा और आपका शरीर बिलकुल खम्भेकी तरह हो जायगा। न उठाये उठेगा, न हिलाये हिलेगा, न दाहिने न बायें।

एकबार मैं भजनकर रहा था, तो ऐसा प्रसंग आया कि प्रणाम करें। तो अब हाथ जुड़े नहीं और सिर झुके नहीं और मुँहसे बोली निकले नहीं और उठा

जाय नहीं। शरीर बिलकुल जकड़ गया। यह क्या हो गया ? तो यह हो गया कि शरीर खम्भेकी तरह हो गया। इसमें प्राण द्वारा मनका तादात्म्य हो गया और शरीर स्तब्ध हो गया। और यदि मन प्राणके द्वारा जलीय धातुमें एक होगा तो क्या होगा ? कि आँखसे आँसू गिर सकते हैं, शरीरसे पसीना निकल सकता है, शरीर ठण्डा हो सकता है। ऐसा भी हमको कभी-कभी हुआ। बिना भावनासे ही आँखसे पानी निकलने लगा, शरीरमें पसीना होने लगा। ऐसा क्यों हुआ ? कभी ऐसा मालूम पड़े कि शरीर बर्फकी तरह ठण्डा हो गया है। दूसरेको दिखा सकते हैं, इशारा कर सकते हैं कि भाई, जब ऐसा लगे तो तुम जरा हमारा सिर छूकर देखना, मालूम पड़ेगा कि आदमी नहीं बैठा है, बर्फ रखा है। पानी हो जायगा। और जब शरीरके तेजस् तत्त्वसे मन प्राणके द्वारा एक होता है तब शरीरमें गर्मी मालूम पड़ती है, शरीर विवर्ण हो जाता है। रौनक शरीरकी चली जाती है। कभी शरीर चमकने लगता है। कभी चमचम चमकने लगेगा और कभी शरीर कोयलेकी तरह बिलकुल काला पड़ जायेगा।

अच्छा, कभी प्राण वायुके साथ एक हो गया शरीरमें, तो शरीर हिलने लगेगा। कभी प्राण आकाशके साथ एक हो गया, तो तरह-तरहके शब्द सुनायी पड़ सकते हैं भीतर, मुँहसे आवाज निकलने लग सकती है और ऐसा मालूम पड़ेगा कि जैसे हम ऊपर उठ रहे हैं, ऐसा मालूम पड़ेगा कि जैसे हम फैल गये हैं। और यदि चित्त चित्तमें ही रहे तो तमस्‌की प्रधानतासे मूर्च्छा होती है। रजस्‌की प्रधानतासे हर्षका विकास होता है और सत्त्वकी प्रधानतासे शान्तिका अनुभव होता है। यह कहाँ होता है ? कि यह अपने अन्तःकरणमें ही होता है।

तो अब यह कहो कि हमारे महात्माओंने यह तो जो मिट्टीसे, पानीसे, तेजस्‌से, वायुसे, आकाशसे, सत्त्वसे, रजसे, तमसे जो प्राण द्वारा मनकी एकताका विचार है, यह तो बिलकुल भौतिक विज्ञानसे सम्बन्ध रखता हुआ है। यह तो मानस विज्ञान और भौतिक विज्ञान दोनोंका एकमें वर्णन करके, यह जो शरीरका काँपना है, आँसूका गिरना है, पसीनेका होना है, शरीरका स्तब्ध होना है, यह तो इस स्थूल शरीरमें जो साधन सम्बन्धी क्रिया-प्रक्रिया होती है, उससे ऐसा निकलता है। इसमें डरना नहीं चाहिए। तो करना हमको क्या है कि

मनकी जो भूमिकाएँ हैं, कभी शरीरसे मिलकर मन मूढ़ हो जाता है, तो लोग समझते हैं हमारी समाधि लग गयी। एक महात्मा थे महाराज, तो वे बैठते थे और बैठनेके बाद उनका शरीर ऐसे झुक जाता था, और नाक घर्र-घर्र बोलने लगती थी और मुँहसे लार गिरने लगता था। तो बोलते यह क्या करते हो? तो बोलते—नहीं-नहीं, जरा समाधि लग गयी थी। अब वह मुँहसे तो गिर रहा है लार, साँस चल रही है धौंकनीकी तरह, घर्र-घर्र हो रहा है, सिर गिर गया है और समाधि लग रही है, इसका नाम समाधि नहीं होता है। ये गाँवके लोग बेचारे अनजान नहीं जानते हैं, उनको कैसे भी बहकाया जा सकता है, यह ध्यान है, यह ज्ञान है, यह भगवान् है, यह चमत्कार है, यह साधना है। लेकिन इन सब बातोंसे ऊपर उठना पड़ता है, तो शरीरका मनमें डूब जाना, यह मूढ़ता है। और मन पहुँच गया स्वर्गमें, नरकमें, बोले आज तो हमको बड़े-बड़े यमराजके दूत दिखायी पड़ रहे थे। बड़ा भारी अनुभव हुआ। हाँ भाई, अनुभव तो हुआ; लेकिन यह तुम्हारे मनकी विक्षिप्त दशा है। कि आज तो महाराज हमारे सामने देवके दूत आगये, अरे यह तुम्हारे मनकी क्षिप्त दशा है। न स्वर्ग आया तुम्हारे मनमें, न नरक आया। जो तुम्हारे मनमें शान्ति होनी थी, वह नहीं हुई। अच्छा महाराज फिर क्या हुआ? कि आज तो ऐसा लगा कि जैसे लक्ष्मीजी ठनाठन रुपये बरसा रही हैं हमारे सामने। अरे रुपयेकी वासना है भाई तेरे मनमें, विक्षिप्त हो गया है तेरा मन। यह विक्षेप है। नहीं, आज तो ऐसी धारणा बही बनमें एकाग्र, बस वही-वही-वही, तो वृत्तियोंमें धारा तो बनी हुई है। जहाँ धारा है वृत्तिमें, वहाँ भी समाधि नहीं है। कि अच्छा महाराज, आज तो मन बिलकुल निरुद्ध। अरे बाबा निरुद्ध हुआ तो क्या हो गया! व्यक्तित्वके उत्कर्षका नाम समाधि नहीं है। जहाँ व्यक्तित्व अव्यक्तसे एक होता है वहाँ समाधिका प्रारम्भ होता है। तो देखो मन, एक स्थान तो ऐसा है जहाँ विषयाकार होकर शान्त हो जाता है और मनका एक स्थान ऐसा है जहाँ आत्माकार होकर शान्त हो जाता है और मनका एक स्थान ऐसा है जहाँ न विषयाकारता है और न आत्माकारता है। मन अपने स्वमें स्थित है। लेकिन जबतक द्रष्टा पुरुषकी विवेक ख्याति नहीं होगी। माने यह अन्तःकरण न मैं और न मेरा—यह ख्याति नहीं होगी जबतक, तबतक द्रष्टाकी सच्ची समाधि

नहीं लगेगी, माने द्रष्टाकी स्वरूप स्थिति ही सच्ची समाधि है। तब क्या ख्याति बनी रहेगी ? नहीं, जैसे वेदान्ती लोग कहते हैं कि अविद्याको नष्ट करके विद्या भी नष्ट हो जाती है, तो जल्दी हमारे उपासक भाइयोंकी समझमें यह बात नहीं आती है। परन्तु जिन लोगोंको योगदर्शनका अभ्यास है, जो जानते हैं कि योगदर्शनका क्या सिद्धान्त है, व्यासजी क्या बोलते हैं, पतञ्जलिजी क्या बोलते हैं, अनुभूति क्या कहती है, तो वे जानते हैं कि तत्त्व और आत्माकी अन्यथा ख्याति होनेके बाद अन्तःकरण न मैं, न मेरा, इसके बाद वह ख्याति ही नष्ट हो जाती है। ख्याति भी एक विकल्पमात्र ही है, ख्याति वास्तविक नहीं है।

अब लो आपको और बात सुनाते हैं, तो, **आत्मसंस्थं मनः कृत्वा,** यह तो खेलमेल महाराज, *'नानीके आगे ननिअउरे कै बखान'* बोले आज तो महाराज हमारे सामने साक्षाद् भगवान् आये थे। अब उसमें कितना भगवान्का अंश था, कितना मनका अंश था, यह तो तुमको मालूम ही नहीं है। अरे भगवान्को जरा अपनी ऐन्द्रियक वासनाओंसे, अपने मानसिक वासनाओंसे भगवान्को निकालकर तो देखो, अलग करके तो देखो। जब मनके रंगमें रँगकर भगवान्को देखते हैं और जब इन्द्रियोंके विषयोंके रंगमें रँगकर भगवान्को देखते हैं, तो भगवान्की असलियत छिप जाती है और तुम्हारे मन और इन्द्रियोंका जो रंग है वह दिखायी पड़ने लगता है। तो उस रंगका निराकरण होना जरूरी होता है। तो देखो, किसी वस्तुके रूपमें आपको भगवान् दिखते हैं ? यह तो वितर्क है। अच्छा, किसी भावके रूपमें आपको भगवान् दिखते हैं ? यह तो विचार है। परमानन्दके रूपमें आपको भगवान् दिखते हैं ? यह तो आपका रस है। अच्छा, मैं के रूपमें आपको भगवान् दिखते हैं ! यह तो आपकी एक अस्मिता है। जहाँ देहमें भगवान् दिखते हैं वहाँ भी और जहाँ ध्यातामें भगवान् दिखें वहाँ भी, इदंमें दिखे कि अहंमें दिखे. तो नारायण, अभी सच्ची समाधि नहीं लगी।

अभी और आगे चलो ! देखो,

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।

किसी वस्तुको देखनेके लिए आपको प्रमाण–वृत्तिकी जरूरत पड़ती है क्या ? आप कहीं इदं दीखनेवाली चीजको अहं समझ बैठते हैं क्या ? आप

किसी अन्य वस्तुको सच्ची मान बैठते हैं, देश-काल वस्तुको अपने अन्दर आरोपित कर बैठते हैं क्या ? देश एक विकल्प है। योगमतमें यह जो लम्बाई-चौड़ाई है, यह जैसे चीजें मालूम पड़ती हैं, इसलिए लम्बाई-चौड़ाई भी मालूम पड़ती है, विकल्प है। यह जो उम्र मा़लूम पड़ती है सौ, पचास बरसकी, जैसे चीजें मालूम पड़ती हैं, ऐसे विकल्प है। और वस्तुओंमें जो आत्मभाव है, चैतन्यभाव है, वह भी विकल्प है। और जो वस्तु-की-वस्तु—ऐसा जो सम्बन्ध मालूम पड़ता है। वह भी विकल्प है।

तो देखो, आपको किसी सत्यको देखनेके लिए किसी औजारकी जरूरत पड़ती है ? क्या आपका मैं कहीं यहके साथ जुड़ता है ? कभी एकके साथ जो दूसरी अपेक्षित वस्तुएँ दिखती हैं उन्हें आप सच्ची मान बैठते हैं ? और गृहीत ग्राहक पहलेकी देखी हुई चीजका आकार ग्रहण कर रही है वृत्ति, उसको आप पकड़ते हैं ? और कहीं सारी वृत्तियाँ जो निद्रालु हो ज़ाती हैं—निद्रामें चली जाती हैं। उसको आप सच्ची समझते हैं ? यह देखो आप, सारा ही यह मनोविज्ञानका विषय है।

अच्छा आप देखो, आपके मनमें भय आता है मृत्युका ? आपके मनमें किसीसे द्वेष होता है ? आप किसीके रागमें फँसे हुए हैं ? क्या आपका परिच्छिन्नमें अहंकार है ? और परिच्छिन्नमें जो अहंकार होता है वह जिस भूलसे होता है, वह भूल बनी हुई है ? तो भूल, परिच्छिन्नमें अहंकार, मुहब्बत, दुश्मनी और भय—इनमें आपकी वृत्ति गयी तो किंचित्का चिन्तन हो गया। प्रमाणवृत्ति, विपर्ययवृत्ति, विकल्पवृत्ति, स्मृतिवृत्ति, निद्रावृत्ति आयी तो किञ्चित्का चिन्तन हो गया। क्लिष्ट आये चाहे अक्लिष्ट आये, चाहे धर्मानुकूल हो, चाहे धर्मसे विपरीत हो, वृत्ति तो वृत्ति है। तो,

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।

मनका विज्ञान होता है। यह सब जितनी रसकी प्रक्रिया है, हमारे काव्योंमें, ये सब मनके विभिन्न रूपों, विभिन्न नामोंका वर्णन है। अब आओ आप, '**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा**'का अर्थ है कि मन जो विषयोंको ग्रहण करता है, जिसमें विषयोंके सस्कार रहते हैं, जिसमें विषय कभी भासते हैं, कभी नहीं भासते हैं, जो विषयाकार होता है। आओजी, आप देखो अपने मनका तमाशा।

असलमें आकाशकी दृष्टिसे घड़ेमें न लम्बाई है न चौड़ाई है, न घड़ेकी उम्र है, न घड़ेमें वजन है। वह तो एक घड़ेकी दृष्टिसे दूसरे घड़े हैं। एक घड़ा शरीरका घड़ा, तो दूसरा भी घड़ा। आकाशमें घड़ेका वजन कितना है? आकाशमें घड़ेकी लम्बाई-चौड़ाई कितनी है? आकाशमें घड़ेकी उम्र क़ितनी है? तो चिदाकाशमें यह जो तुम्हारा अहं है,इसकी लम्बाई-चौड़ाई कितनी, वज़न कितना और उम्र कितनी? बस यही एक प्रश्न है। यह जो स्वयं प्रकाश, ज्ञानस्वरूप अनन्त चैतन्य है, इसमें तुम्हारे अहंका वज़न कितना, लम्बाई-चौड़ाई कितनी और उम्र कितनी? ये सब विकल्प हैं, विकल्प वृत्ति है। तो केवल निरोध यदि करोगे, तब यह फिर उदय होनेपर ज्यों-की- त्यों रहेगी और यदि विवेक ख्याति करके तुम इससे अलग हो जाओगे और अपने स्वरूपमें देखोगे, तब यह बाधित हो जायेगी, इसलिए **न किंचिदपि चिन्तयेत्**—कुछ भी चिन्तन नहीं करना। अब यह न करना, **न चिन्तयेत्** यह भी एक विधिनिषेध ही तो मालूम पड़ता है न! किंचिद्के चिन्तनका निषेध है।

हम लोग कभी-कभी श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे पूछते थे कि महाराज आप ब्रह्माकार वृत्तिका बहुत वर्णन करते हैं, तो आप बताइये कि यह ब्रह्मज्ञानी पुरुष अपनेको अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी,अपरिच्छिन्न ब्रह्म जान गया। उसके लिए ब्रह्माकार वृत्ति करनेका विधान कैसे हो सकता है? तो महाराज कोई-कोई तो लड़ जाते थे। इस श्लोकमें लिखा है, इस श्लोकमें लिखा है, इस किताबमें लिखा है। वह तो एक बादकी वस्तु है। उसका उत्तर उड़िया बाबाजी महाराज ऐसे नहीं देते थे कि अमुक जगह लिखा है कि ब्रह्माकार वृत्ति करनी चाहिए। उनका उत्तर आपको सुनायें? उनके उत्तरकी विशेषता यही होती थी कि हमलोग पहलेसे जो सोच लेते थे कि ऐसा उत्तर देंगे, वैसा उत्तर वे कभी नहीं देते थे। हमलोग सोच लेते थे कि इस प्रश्नका ऐसा उत्तर आयेगा। तो बोले-ज्ञानी पुरुष ब्रह्म नहीं है, न कर्त्ता है। कर्त्ता नहीं है तो ब्रह्माकार वृत्ति करेगा कैसे? और भोक्ता नहीं है तो ब्रह्माकार वृत्तिका सुख लेगा कैसे? और संसारी नहीं है तो बदलती हुई वृत्तिसे तादात्म्य उसका कैसे होगा? और परिच्छिन्न नहीं है तो वह वृत्तिका आश्रय कैसे है? कैसे ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्माकार वृत्ति कर सकता है? विधान हो ही नहीं सकता, तो बोलते कि

ठीक है। अब तुम बताओ, विधि तो नहीं है, परन्तु ब्रह्माकार वृत्तिका निषेध कहाँ है? तुम निषेधका प्रमाण ले आओ। तो जिसके लिए विधि नहीं होती उसके लिए निषेध भी नहीं होता। तब उसमें स्वातन्त्र्य आ जाता है कि वह करे कि न करे। तो करने न करनेमें जो स्वातन्त्र्य है, यह स्वातन्त्र्य ही असलमें ब्रह्माकार वृत्ति है। ब्रह्माकार वृत्ति करना, ब्रह्माकार वृत्ति नहीं है और ब्रह्माकार वृत्ति न करना भी ब्रह्माकार वृत्ति नहीं है। क्योंकि—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ ४.१८

अकर्मणि च कर्म यः। अगर ब्रह्माकार वृत्ति नहीं करते हो, तो नहीं करनेका आग्रह है, अगर करते हो तो करनेका आग्रह है। तो करनेकी विधि नहीं है और मत करो—ऐसा निषेध नहीं है। तो यह विधि और निषेध दोनोंसे जो स्वातन्त्र्य है, इसीका नाम तो ब्रह्माकार वृत्ति है। स्वातन्त्र्यका ही नाम ब्रह्माकार वृत्ति है।

अच्छा, एक बार किसीने पूछा मेरे सामने कि महाराज, ब्रह्म तो बिलकुल अविषय है, तो उसको वृत्तिका विषय कैसे बनायें? तो आप एकाध दो टिप्पणी जड़ दो कि ऐसे बनाओ कि सत् है, चित् है, आनन्द है, अपरिच्छिन्न है, है—नहीं है, कुछ गड़बड़ जोड़ो उसके साथ। अरे नहीं भाई, कुछ नहीं, यह सब कुछ नहीं। बोले कि कहाँ सुनकर आया है कि वृत्तिका अविषय है? ऐसे ही बोल देते थे। अरे वृत्तिका अविषय है—ऐसा जानना ही वृत्तिका विषय होना है। वृत्तिका विषय नहीं है—यह तुमने खोज पूरी करके जाना है कि वृत्तिका विषय नहीं है? कि कोई तुमको बता गया है? यदि तुमको कोई बता गया है कि ब्रह्म वृत्तिका विषय नहीं है और तूने मान लिया है, तो तू बेवकूफ है और यदि तूने खोज करके जान लिया कि सचमुच ब्रह्म वृत्तिका विषय नहीं है, तो तू बावरा है, बेकूफ है। अगर तुझे कोई बताकर गया है कि ब्रह्म वृत्तिका विषय नहीं है, अविषय है, तो ब्रह्मकी अविषयता वृत्तिका विषय हुई और वृत्ति गयी, वृत्ति स्वाहा। तो, **न किंचिदपि चिन्तयेत्।** बोले—महाराज आओ, कुछ करना न धरना, भोग तो भोगते रहो, विकारोंको मनमें पलने दो। ब्रह्म भी दो तरहके होते हैं, क्योंकि व्यवहार दो तरहका है—एक सदाचारीका व्यवहार,

एक दुराचारीका व्यवहार। तो व्यवहारमें ब्रह्म भी दो तरहका है—एक सदाचारी ब्रह्म और एक दुराचारी ब्रह्म। दोनोंको आपसमें लड़ाओ, मारकाट कर लें। तब वह फिर वहाँ आ गया। वहाँ भी हिन्दू-मुसलमान आ गया वहाँ भी पूँजीपति और कम्युनिस्ट आ गया। तो वहाँ भी होने दो कटाकट। नहीं, ब्रह्म वह है जहाँ सदाचारी, दुराचारी; सदाचार-दुराचार, जहाँ विषय-अविषय, वृत्ति-अवृत्ति एक ही है। तो इसके लिए खोजको पूरा करना पड़ता है। जहाँ तक तुम्हारी खोज पूरी नहीं हुई, आपने देखा होगा, अबकी 'चिन्तामणि'[1]में, एकने कहा कि महाराज मैं तो बिलकुल ईश्वरको नहीं मानता हूँ। अच्छा, नहीं मानते हो, बहुत अच्छे! तुम्हारी खोज पूरी हो गयी? बोले कि नहीं, हमारी खोज तो पूरी नहीं हुई, पर हमको एक बड़े भारी विद्वान्ने कहा है कि ईश्वर नहीं है और हमने उसकी बात मान ली। बोले कि तुमने खोज नहीं की और दूसरे की मान ली तो तू अन्ध श्रद्धालु हुआ न! तो आस्तिककी श्रद्धा तो स्थूलकी दिशामें है और नास्तिककी श्रद्धा उलटी दिशामें है। अरे जब दूसरेकी ही बात माननी है तो खोज कि 'है' माननेमें तेरा लाभ है कि 'न है' माननेमें तेरा लाभ है? कहीं निकल आया? तो ईश्वर मानना सुल्टी समता है। किसीकी खोज पूरी हो जाये, वह दावा करे कि हाँ, मैंने सृष्टिका कण-कण देख लिया, कालका क्षण-क्षण देख लिया, मैंने इञ्च-इञ्च ढूँढ लिया, मैंने मैं और तुम, यह और वह सबको ढूँढ़कर देख लिया, तब वह 'है' कहे तो भी ठीक, न कहे तो भी ठीक। और महाराज खोज तो की नहीं, विवेक तो किया नहीं, विचार तो किया नहीं, अनुसन्धान तो किया नहीं और कुछ-न-कुछ मानकर बैठे, तो उनकी कोई गिनती नहीं होती है। इसलिए इसके लिए अनुसन्धान करना होगा।

---

१. 'चिन्तामणि' त्रैमासिक पत्रिका जो सत्साहित्य प्रकाशन-ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित होती थी।

: २६ :

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

अब एक बात आपको सुनाते हैं। जहाँ आपका अनुसन्धान है वहीं ईश्वर है कि नहीं, आप देखो! अनुसन्धानदेशमें, अनुसन्धानकालमें, अनुसन्धानाकारमें ईश्वर है कि नहीं, यह देखो! यदि वहाँ नहीं है तो और कहीं नहीं है। असलमें जहाँ अनुसन्धानदेश है, जहाँ हो रहा है अनुसन्धान, हृदयके भीतरके बीचके माँय, अनुसन्धान देशमें, अनुसन्धानकालमें, अनुसन्धानकी विशेष आकृतिमें स्वयं प्रकाश चैतन्य आत्मतत्त्व है कि नहीं है? बस महाराज! अगर यहाँ नहीं है तो वहाँ नहीं है, अब नहीं है तो तब नहीं है, आत्मा नहीं है तो अनात्मा नहीं है। लेकिन खोजकर तुम भला, अपने इतने पासकी चीज़, अपनी चीज़, अपना आपा, उसको भी तुम खोजकर नहीं पा सकते और कहते हो, सोचते हो वह वैकुण्ठमें मिलेगा यहाँ नहीं। हे भगवान्!

तो आओ, यह मनीराम भागनेकी कोशिश करते हैं।

आपको गौड़पाद दादाकी बात याद होगी, यहाँ तो वेदान्त लोग सुनते हैं यह बात जरूर है महाराज, निष्ठा ज्यादा-से-ज्यादा, तो मनमें *निश्चरत* एक

दशा होती है और निश्चलत दूसरी दशा होती है, ये दो चीजें हैं। यद्यपि व्याकरणकी दृष्टिसे धातुको देखें तो 'चरत' और 'चलत' में क्या फर्क मिलेगा? यह तो चरतराम एक है और चलतराम एक है। दोनों राम ही है—पर

निश्चरन् निश्चचरत् चित्तं एकी कुर्यात् प्रयत्नतः।
लये सम्बोधयेत् चित्तं विक्षिप्तं समं पुनः॥
सकषायं विजानीयात् सम्प्राप्तं न चालयेत्।
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गमनाभासं . सम्पन्नं ब्रह्म तद् तदा।

हमको याद है खानेवालोंने महाराजजीसे पूछा, चोखेलाल प्यारेलालने, बड़े कट्टर वेदान्ती लोग थे, बोले—महाराज यहाँ चार बात कही गयी, **यदा न लीयते चित्तं**—चित्तका लय नहीं होना चाहिए, चित्तका लय तो निद्रा है, लय मानें सो जाना, कुछ न मालूम पड़ना, इसीका नाम समाधि तो नहीं है, कि हमको कुछ मालूम ही नहीं पड़ा। तो वह दवा खालो, कुछ नहीं मालूम पड़ेगा, एक इंजेक्शन लगवा लो, तो, कुछ नहीं मालूम पड़ेगा, हो गयी समाधि? कि कुछ मालूम ही नहीं पड़ा। कि महाराज, हमको स्वर्ग दीखनें लगा, आँख बन्द किया। हमारे बनारसमें कई पार्टी थी हमारे समयमें। तो क्या करते पट्ठे कि बच्चोंको, लड़कोंको, लड़कियोंको बैठाते और उनके बीचमें खूब हारमोनियम बजती, खूब तबला बजता, खूब कीर्तन होता, जब थक जाते गाते-बजाते, तब कहते कि आँख बन्द करके बैठो! पहले थका लेते, थकानेकी तरकीब होती है, पहले थका लेते फिर कहते आँख बन्द करके बैठो। अब बोले—देखो, तुम्हारे मनमें क्या आता है? अब एक कहता—महाराज, हम गोलोकमें चले गये, हमको तो मालूम नहीं वह क्या है, वहाँ गाय-ही-गाय, छोटे-छोटे चरवाहे गाय चरा रहे थे। वहाँ एक मोर मुकुटवाला आया, पीताम्बरधारी आया, बाँसुरी बजाता आया। एकने कहा—हमने तो राजदरबार देखा, उसमें धनुष-बाणधारी आये। एकने कहा—हमने बर्फका पहाड़ देखा, महाराज शिव उसपर बैठे हुए थे। अब महाराज! ऐसा चमत्कार हुआ! यह जो हमारे गोपालजी हैं वृन्दावनवाले, ये भी उस बनारसवाली पार्टीमें थे। अब ऐसे-ऐसे तमाशे महाराज! तो बोले कि यह

समाधि लग गयी, ईश्वर मिल गया? तो बोले कि नहीं, यह विक्षेप हो गया, इसका नाम चित्तका विक्षेप है

यदा न लीयते चित्तं।

नींदकी तरह अज्ञानान्धकार न हो और स्वर्गादि लोकरूप चित्तमें विक्षेप न हो, अचित्तपना भी न हो और अन्धेरा भी न हो।

अनिङ्गमनाभासं—मन हिले नहीं और *अनाभासं*—भास न हो। तो खानेवालोंने पूछा कि महाराज, यह अनाभासं क्या है? देखो, अनाभासंका अर्थ यह होता है, भासना माने जैसे शीशेमें परछाईं पड़ती है, जैसे पानीमें अपनी परछाईं दिखती है। ऐसे यह जो हमारा अन्तःकरण है, इसमें आत्म-चैतन्यका जो आभास है, परछाईं हैं झिलमिल-झिलमिल, अहं-अहं उसीको आभास बोलते हैं। तो क्या बोलते हैं कि चित्तमें अँधेरा न हो और स्वर्गादिरूप विक्षेप न हो और चित्त हिले नहीं—अनिङ्गम् और अनाभासं—आभास न हो। तो जब महाराजजीसे पूछा तो महाराजजीने क्या हिसाब लगाया उसका, उँगलीपर गिन लिया। पहली बात लय है, दूसरी बात विक्षेप है, तीसरी बात इङ्गन कषाय है। हिलता है मन और आभास जो है यह रसास्वाद है।

अब लो महाराज, टीकामें तो ऐसे है ही नहीं। लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद, ये चारों ध्यानके दोष हैं। चित्तमें बाहरका कुछ न दीखना भी ध्यानका दोष है, भीतर कुछ दिखने लगना भी ध्यानका दोष है, चित्तका हिलना भी ध्यानका दोष है और चित्तमें स्वाद लेना भी दोष है। निरर्थक मनोराज्य चित्तका हिलना है और स्वादु मनोराज्य रसास्वाद है। मनोराज्यके दो भेद—निरर्थक मनोराज्य और सुखदायी मनोराज्य।

अच्छाजी, अब आपको सुनाते हैं—*यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः*। तो वहाँ बताया *निश्चरत् निश्चलत् चित्तं।*

अच्छा, आप कभी बैठो भारतीय विद्या भवनमें, कल आना तो आपको इसका थोड़ा मजा बतायेंगे। क्या कि हम आपको पाँच मिनट यहाँ बैठा देंगे और आप यह ध्यान रखना कि भारतीय विद्या भवनके इस हालके बाहर आपका मन जाता है कि नहीं जाता है। इतना बड़ा घेरा देते हैं मनके लिए।

अच्छा! निश्चरत्, निश्चलत्। अच्छा, आपके शरीरके भीतर ही आपका मन हिलता चलता है कि नहीं? एक देखो, जैसे केंचुआ होता है, साँप होता है, आज नागपंचमी है न तो साँपकी भी चर्चा कर देते हैं। ये तो शेष ही भगवान् हैं। यह योगाचार्य शेष हैं असलमें। तो यह जो शक्ति है वह अपने आपमें ही ऊपरको चढ़ती है। तो शक्तिका एक तो विजातीय प्रवाह होता है और शक्तिका एक सजातीय प्रवाह होता है तथा शक्तिका एक स्वगत प्रवाह होता है। स्वगत प्रवाहका अर्थ यह है कि चित्तकी ऐसी धारा कि वही, वही, वही; विषय और विषयीका भेद न फुरे, परन्तु धारा बनी रहे। तो यह चित्त निश्चरत् चित्त नहीं है, निकलके बाहर नहीं गया। परन्तु चलत् चित्त है यह, चरत् नहीं है। चलता हुआं है, परन्तु अपने आपमें चलता हुआ है, बाहर निकलकर नहीं गया। जैसे समझो कि साँप है, वह दूसरेको छूता तो नहीं है, पर अपने आपमें हिलता है। तो आपका मन अपने आपमें हिलता है कि दूसरेको छूता है? तो जब दूसरेको छूता है तब तो वह निश्चरत है और दूसरेको छूता नहीं है और अपने आपमें ही हिलता है तब निश्चलत है। तो अनिङ्गनम्से दोनोंका निषेध किया गौड़पादने। **निश्चरन् निश्चलत् चित्तं एकी कुर्यात् प्रयत्नतः।**

अब 'एकी कुर्यात्'का क्या अर्थ है? पञ्चभूतमें एक कर देना, मायामें एक कर देना, अविद्यामें एक कर देना, ईश्वरमें एक कर देना, अपने स्वरूपमें एक कर देना। बोधपूर्वक कि बिना बोधके? तो जो बिना बोधके होता है वह अपरमार्थदर्शिता है और जो बोधपूर्वक होता है वह परमार्थदर्शिता है। बोधका आदर कि बोधका तिरस्कार?

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

यतो-यतो निश्चरति, यह यतः यतः जो है इसमें एक संस्कृत व्याकरणकी बारीकी है। इसका दो अर्थ है, जिस-जिस कारणसे मन निकलता है और मन निकलकर जहाँ-जहाँ जाता है। माने मनका कारण और मनका विषय, मनकी चञ्चलताका कारण और मनकी चञ्चलताका विषय। एक

गाँवमें हमने विषय-विषय करके कथा कही तो, अन्तमें एकने आकर पूछा कि यह विषय क्या होता है?

तो जैसे देखो, इस समय आँखसे, हम आप लोगोंको देख रहे हैं। तो देखनेका औजार तो है हमारे पास आँख और आँखका मददगार है चश्मा और आँखके विषय हैं आप लोग। ये काले हैं, ये गोरे हैं, ये स्त्री हैं, ये पुरुष हैं। तो इन्द्रियोंसे जिस चीजका अनुभव होता है न, उसको विषय कहते हैं। ऐसे मनसे जिस चीजका अनुभव होता है उसको विषय कहते हैं। हाथसे घड़ी उठा ली, तो हाथका विषय क्या हुआ? कि घड़ी। कर्म बोलेंगे इसको। क्योंकि हाथ कर्मेन्द्रिय है, इसलिए हाथका कर्म घड़ी है और जब घड़ी दीखती है, रूप है, तो आँखका विषय घड़ी है। और यह घड़ी ठण्डी है कि गर्म है, तब त्वचाका विषय घड़ी है। ऐसे, घड़ी शब्दको, घड़ीको आप कहो विषय है, तो यह आँखका विषय है, यह त्वचाका विषय है। तो यह उठाया गया, घड़ी उठायी गयी तो यह क्या हुआ, यह हाथका विषय है, इसको बोलते हैं विषय। तो अब आपका मन किसको विषय करता है? माने आपको ही मन क्या दिखता है? कहाँ जाता है आपका मन? तो नारायण, सुनते-सुनते ऐसी आदत पड़ गयी है, यह मन जाता है, यह बोला जाता है, कैसे आपको बतायें! भाषामें इसका उदाहरण। यह सड़क कहाँ जाती है? एक आदमीने किसीसे पूछा कि यह सड़क कहाँ जाती है? तो बोला कहीं नहीं जाती है। सड़क तो यहीं रहती है। इसपर मोटरें जाती हैं, आदमी जाते हैं, घोड़े जाते हैं, सड़क तो यहीं रहती है।

अच्छाजी, तो आपके मनके बारेमें भी मैं यह बात बता रहा हूँ साफ-साफ। आपका मन इस साढ़े तीन हाथके शरीरसे बाहर कहीं नहीं जाता है। यह बिलकुल झूठ बोला जाता है कि मन जाता है। जैसे सड़कके बारेमें हम लोगोंका मुहावरा बन गया है कि यह सड़क मेरिन ड्राइव जाती है, यह सड़क शिवाजी पार्क जाती है, यह सड़क ग्वालियर टैंक जाती है, सड़क नहीं जाती है, यह अपनी ज़गहपर रहती है, उसपर लोग सरकते हैं। सरकते हैं लोग और सड़कका नाम रख दिया सड़क। अब सड़क पट्टी क्या सरकेगी? तो यह जो बोलते हैं कि मन जाता है। यह मन न कलकत्ता जाता है और न विलायत। न

दोस्तके घर न दुश्मनके घर। अब एक भ्रान्ति तो आप यही काट दो कि मन कहीं जाता है। तो चंचलताको रोकनेमें आपका पचास प्रतिशत काम तो यहाँ बन जाता है। यह जो आप चाहते हैं अपने मनकी चंचलताको रोकना, तो पचास प्रतिशत आपका काम तो सिर्फ इसीसे बन गया कि आपका मन असलमें कहीं जाता ही नहीं है।

अब देखो, फिफ्टी पर्सेंट और बढ़ाते हैं। अच्छा, तो कोई चीज हमारे मनमें आती है, कि आप बेफिकर रहो, न कलकत्ता आपके मनमें आकर घुसा, न विलायत आकर आपके मनमें घुसा, न हाथी आया, न घोड़ा, न मोटर आया, न दोस्त-न दुश्मन, अरे आपका नन्हा-सा तो शरीर इसमें अगर कलकत्ता, बम्बई घुस जाय और इसमें दोस्त-दुश्मन सब घुस जाय, तो आपका कलेजा नहीं फट जायेगा? बिलकुल फालतू मानते हैं कि हमारे मनमें कोई आ गया। अगर यह बात आप समझ लो, तो फिफ्टी पर्सेंट जो काम बाकी था। वह भी बन जायेगा। न आपका मन कहीं गया, न आया; लेकिन दोनोंमें-से आधा-आधा काम ही बना। अब कहो तो पूरा बनानेवाली बात बतायें। अच्छा, तो मन ही दोस्त बनता है, मन ही दुश्मन बनता है, मन ही कलकत्ता बनता है, मन ही विलायत बनता है। ये मनके रूप हैं।

अब सौ प्रतिशतवाला काम आपको बताता हूँ। सेण्ट-पर्सेण्ट सेंट लो भला! पर पहले बात समझ लोगे तब होगा, नहीं तो नासमझीसे नाक दबाकर चाहे साँस रोको, चाहे खड़े होकर पत्थरकी तरह बैठो, चाहे कान बन्द करो! नासमझीसे मन काबूमें नहीं होता है, क्योंकि मनकी चंचलताका कारण ही नासमझी है। कुलका कुल मिलाकर मनकी चञ्चलताका उपादान नासमझी है। हे भगवान्, तो अब कई लोग नाराज हो जायेंगे। देखो, आपको एक बहुत मोटी बात बताते हैं। आपको घरमें कोई आता हुआ दिखा, तो मालूम हुआ कि वह आया है। गौरसे आपने देखा तो वहाँ नहीं आपको दिखा। दूसरा दिख गया। जो था वह दिख गया। इसलिए आपको जो अपने मनमें हाथी, घोड़ा, मोटर, मर्द, औरत—ये सब जो आपके मनमें दिखते हैं, तो पहली बात आपको यह बतायी कि मन तो कहीं गया नहीं और वे आपके कलेजेमें घुसे नहीं, अब तीसरी बात यह है कि आपका मन ही जैसे सिनेमाके

पर्देपर रोशनी फिल्म दिखाती है, वैसे आपका मन आपके मनके पर्देपर यह सब फिल्म दिखा रहा है। जैसे कोई बालक गया सिनेमा देखने और उसने देखा कि आग लगी है, अब वह महाराज बड़े जोरसे चिल्लाया। तो उसकी माँने बताया—बेटा, यह आग नहीं लगी है, यह आग लगी हुई दीखती है। तो वह जल्दी समझ जायगा। लेकिन आपको अपने स्वरूपके पर्देपर, अपने ज्ञानके पर्देपर और अपनी ही रोशनीमें और वासनाओंके रंग-बिरंगे रूप दिख रहे हैं, यह वासनाओंकी फिल्म है जो आपके ज्ञानरूप रोशनीसे, आप ही पर्दा और आप ही रोशनी और यह वासनाकी फिल्म आपको भीतर दिखायी पड़ती है। वह क्या सच्ची है? नहीं, वहाँ मालूम पड़ता है कि एक मील दूर जगह है, ऊँचा पहाड़ खड़ा है, यहाँ औरत-मर्द प्रेम कर रहे हैं, यहाँ दुश्मन-दुश्मन लड़ रहे हैं, फिल्ममें यह बात पर्देपर मालूम पड़ती है कि नहीं? लेकिन क्या वहाँ कुछ होती है? वहाँ कुछ नहीं होती है, वह तो कहींका लिया हुआ फोटो, *कहींकी ईंट, कहींका रोड़ा, भानुमतीने कुनबा जोड़ा,* कहीं आग लगी, कहीं आदमी ऊपर खिड़कीमें-से कूदा, कहीं दोने बनावटी प्रेम किया। उनकी फोटो लेलेकर फिल्ममें भरी हुई है, वह दिखायी पड़ती है, न वहाँ दोस्त है, न दुश्मन है, न हाथी है, न औरत है, न मर्द है, वह तो अपने फोटो ही लिये हुए हैं। न वे रोशनीमें हैं, न वे पर्देपर हैं। अब तीसरी बात मैं यह ध्यानमें दिलाना चाहता हूँ कि ये जो आपको अपने मनके भीतर मालूम पड़ता है वह उस समय वहाँ कुछ नहीं है, पहलेका लिया हुआ जो फोटो है, वह दिख रहा है आपके मनमें।

अच्छा, अब आपको यदि यह ज्ञान हो जाये कि यह पर्दा-ही-पर्दा है और यह रोशनी-ही-रोशनी है, तो क्या फिल्ममें कोई मरेगा तो आप रोयेंगे? फिल्मका कोई ब्याह होगा, तो क्या आप सुखी हो जायेंगे? नहीं, वह तो रोना, हँसना भी फिल्मका ही होगा!

अब देखो, आपको हम योगशास्त्रका सार बताते हैं—*निपुणं निभाल्यमाणोः रज्जूरगः स्वयमुपशाम्यति*—जहाँ चीज नहीं है और किसी भी कारणसे दीख रही है, तो यदि आप गौरसे उसको देखेंगे और सिर्फ देखेंगे, तो आपको सिर्फ पर्दा दिखेगा, सिर्फ रोशनी दिखेगी। चीज तो वहाँ कोई है ही

नहीं। अरे, आपने तो बच्चों को मात कर दिया है, जो सिनेमाकी चीज देख करके रोते हैं। सिनेमामें वे थाल-के-थाल अंगूर दिखे और तुम्हारी गोदमें बैठा बच्चा रोने लगा कि हम तो यही खायेंगे। बोले—बाजारमें ले देंगे, कि नहीं, नहीं, हम तो यही खायेंगे। तो देखो, वह तो बच्चा हुआ न! तो आपका मन जो फिल्म दिखाता है, आप ही पर्दा, आप ही रोशनी और आप जब उसको पानेके लिए, पकड़नेके लिए रोने लगते हैं तब बच्चेको मात दे देते हैं!

'निश्चरति'का क्या अर्थ है?

वासनामनुसृत्य तत्तदाचरणेन भाति।

निश्चरतिका अर्थ है, वह सड़ककी तरह मालूम पड़ता है। अरे भाई देखो, वेद-वेदान्त क्या बोलते हैं—*न तत्र रथाः। न रथयोगाः। न पन्थानः। अथ रथान् रथयोगान् पन्थानं सृजते।* हमारे उपनिषद्। किसीने गौरसे देखा होगा कि नहीं? आओ अपने दिलको देखें। न वहाँ रथ है, न वहाँ पथ है। न अथ, है न इति है, न वहाँ घोड़ा है, न सवार है, न सड़क है। आपने कभी कपड़ेपर सड़क देखी है कि नहीं। इतनी लम्बी, पच्चीस तीस फुट चौड़ी सड़क और मीलों लम्बी सड़क आपको कभी कपड़ेमें दिखी है? तो पच्चीस-तीस फुट लम्बा-चौड़ा तो आपका शरीर ही नहीं है। मीलों लम्बा तो आपका शरीर ही नहीं है, वहाँ वह सड़क कहाँसे दिखी? मोटर दौड़ती कहाँसे दिखी? जैसे सपनेमें दिखता है वैसे ही जाग्रत्में भी यह मनके भीतर जो कुछ दिखता है, वह वैसा ही है।

साधो आवे जाये सो माया।

यह जादूका खेल है।

नहिं प्रतिपाल, काल नहि जाके न कछु गया न आया।
साधो आवे जाय सो माया।

तो निश्चरतिका क्या अर्थ है? मालूम पड़ता है हमारा मन निकलकर चला गया जाग्रत्में। अगर मन तुम्हारा निकलकर चला जाता तो बैठे कहाँसे रहते? मन निकलकर चला गया और तुम बैठे हुए हो? अच्छा, मनमें कोई घुस आया? तो नहीं, न कोई गया, न आया, क्या है? कि वासना है। वासना है माने फिल्ममें जैसे वासनाकी फिल्ममें-से जब रोशनी निकलती है, वही-वही फोटो

दिखाती है। यह तो इस समय कुछ नहीं है, दिख रहा है। आप मनकी बात समझिये और गौरसे देखिये कि मनमें क्या है? मनमें दो चीजें हैं। अब आप लो, एक तो है प्रकाश। प्रकाश माने ज्ञान होता है आध्यात्मिक भाषामें। प्रकाश माने सूर्यकी रोशनी नहीं, चाँदकी रोशनी नहीं; यह नहीं कि कोई आँख बन्द करके कहे महाराज हमने आँख बन्द की तो हमको रोशनी-रोशनी दिखी, कि हमको अँधेरा-अँधेरा दिखा। अरे मारो बमगोला, आँख तो आपकी है बन्द। इसकी पुतलीपर तो यह पलकका पर्दा पड़ गया है। आपकी आँख न तो अँधेरा देखती है और न तो उजेला देखती है। आँखपर पर्दा पड़ गया, तो आँख बन्द करनेपर जो उजेला या अँधेरा दिखता है, वह न असली अँधेरा है न असली उजेला है, वह आपका मन ही है। अँधेरे और उजेलेकी वासना ही अँधेरा और उजेला बनकर मनमें दिखती है, उस समय।

हमारे एक मित्र थे। वे करते थे चतुर्बन्ध। हाथकी उँगलियोंसे आँख, नाक, कान, मुँह बन्द करके बैठते थे। तो मैंने पूछा क्या दिखता है तुमको? तो बोले—रोटी बनानेके बाद जला हुआ तवा, वैसे हमको दिखता है। तो वह बाहर दिखती है, वह कलेजेमें थोड़े ही घुसी हुई है।

आप देखो, असलमें जो भी आपको दिखायी पड़ता है वह उस समय वहाँ नहीं है, जहाँ दिखता है। अँधेरा और उजेला भी नहीं है। वहाँ राम और कृष्ण भी नहीं हैं। वह तो आप बाहरसे डालकर रखेंगे तो राम दिखेंगे। बाहरसे डालकर रखेंगे तब कृष्ण भीतर दिखेंगे। जरा गौरसे देखिये वहाँ क्या है? वहाँ सत्तात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सत्ताके सिवाय और कुछ नहीं है। केवल ज्ञान-ही-ज्ञान है। आप ज्ञानमात्रको देखिये। ज्ञानमें देखा जाना नहीं है। जो मालूम पड़ता है कि मैं ज्ञानको देख रहा हूँ, वह भी गलत मालूम पड़ता है। ज्ञान ज्ञानका विषय नहीं होता, ज्ञान ज्ञानसे देखा नहीं जाता। जैसे दीयाको हम देख रहे हैं। कैसे देख रहे हैं? कि दूसरे दीयासे देख रहे हैं। यह बात गलत है न! ऐसे एक ज्ञानसे दूसरे ज्ञानको हम देख रहे हैं, यह भी गलत है। अच्छा, तो हम ज्ञानको देख रहें यह भी गलत है। तो ज्ञानस्वरूप जो तुम हो, उसमें न प्रकाश दिखता है, न अँधेरा। उसमें पति-पुत्र कुछ नहीं दिखता, वह सब बाहरके वासनात्मक हैं। आप उसमें जो कुछ भी दिखे, भगवान् भला करें, लो

शतप्रतिशत बात बता रहा हूँ आपको। जो कुछ दिखे, उस चीजको ही गौरसे देखो, तब आपको मालूम पड़ेगा कि ज्ञान प्रकाशके सिवाय, आत्म-अभिन्न ज्ञान-प्रकाशके सिवाय, आत्मचैतन्यके सिवाय कुछ नहीं है। केवल आपका आत्मा ही भिन्न-भिन्न रूपमें दिखाई पड़ता है। अरे यह तो आप ही हैं। तो भिन्नता कहाँसे आयी है? वह तो जो आगे-पीछेकी वासना भरी हुई है सो आयी है। ***न सा प्रमाता भवति, न पिता भवति*** वहाँ माता-पिता नहीं रहते हैं।

न तत्र देवा भवन्ति न वेदा भवन्ति—वहाँ न देवता होते, न वेद होते। ज्ञान-ही-ज्ञान है। तो जब गौरसे आप देखोगे कि यह ज्ञान क्या है, तो आप अपने आपको तो काट नहीं सकोगे और भानके सिवाय दूसरी वस्तु टिकेगी नहीं और आप और ज्ञान अलग-अलग हो नहीं सकोगे। तो केवल ज्ञानस्वरूप आप ही हो। यह मनका भागना और मनका आना, मनका जाना और मनमें किसीका आना, विकल्प इसको बोलते हैं। जैसे भाषामें बोला जाता है कि सड़क जाती है, जैसे बोलते हैं पर्देपर आग लगी है सिनेमामें, जैसे मालूम पड़ता है कि आज हमने सपनेमें बड़ा भारी पहाड़ देखा, आज तो हम सपनेमें ऊटी चले गये थे। जब मनको गौरके साथ देखोगे तो ज्ञानके सिवाय कुछ नहीं होगा। यह ज्ञान ही असलमें मनका स्वरूप है। यह भूत और भविष्यकी जो कल्पना है वह रंगीन होकर दूसरेके रूपमें दिखायी पड़ती है, लेकिन वह दूसरी नहीं है, यदि गौरसे उसको देखोगे तो केवल आप ही हो, वहाँ न वासना है, न भूत है न भविष्य है, न दूर है न निकट है, न अपना है न पराया है, न दोस्त है न दुश्मन है, न वेद है न देव है। यह ज्ञानस्वरूप, यह श्रुति मैंने बोल दी। सब मनकी कल्पना, जबतक जागती रहती हैं तबतक रहते हैं, जब कल्पना शान्त हो जाती है तब कोई नहीं रहते हैं।

अब आप देखो मनको पक्का करो तो **ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।** क्योंकि वासनानुविद्ध ज्ञानमें चंचलता भासती है, इसलिए ज्ञान अस्थिर भासता है, तो इसमें आने-जानेकी कल्पना छोड़ दो, क्या? कि **आत्मन्येव वशं नयेत्।** रहने दो अपने आपको। तो वह अपना आपा कैसा है, इसको आपको सुनाते हैं।

यह देखो भाई, कल किसीने हमसे कहा कि आपकी बात थोड़ी मुश्किल लगती है, समझमें नहीं आती। भाई यह मुश्किल-आसान जिसको तुम लोग बोलते हो न, यह भी कुछ नहीं है, यह भी मैं बताता हूँ। पहले मोटे-तगड़े आदमी साइकिलपर बैठे और गिर पड़े। हमने कहा साइकिलपर चढ़ना कितना मुश्किल है! महाराज हमने देखा हमसे भी ज्यादा मोटा आदमी साइकिलपर बैठकर और दोनों हाथ उठाकर फराफर सड़कपर चलाये जा रहा है। तो मैंने कहा यह जो साइकिल चलानेको हमने मुश्किल समझा, अनभ्यासको ही कठिन समझते हैं। जिसको कुएँमें-से लोटा-डोरीसे पानी खींचनेका अभ्यास नहीं है, उसके लिए कितना मुश्किल है। हमारे विपिन बाबू इतने पढ़े हैं मिनटोंमें सैकड़ों मुकदमोंके फैसले उन्होंने करके दे दिये, लेकिन कुएँसे पानी खींचना नहीं आता है, क्यों? अभ्यास नहीं है। तो यह जो तुमको मालूम पड़ता है कि मनको वशमें करना मुश्किल है, यह मुश्किल नहीं है, तुम्हारी रुचि नहीं है, तुम्हारी आदत नहीं है। बोले—देखो, एक आदमी रस्सीको साँप समझ रहा था, हे भगवान् कैसे मरेगा, कैसे इसको यहाँसे भगायें, हे परमेश्वर मदद करो, हे गाँवके लोगों दौड़ो! एक आदमी आया, उसने देखा और कहा कि अरे भाई तुम क्यों चिल्लाते हो? यह तो बड़ा आसान है। कि बड़ा आसान कैसे है? इतना बड़ा साँप, आसान कैसे है? जाकर उसने पकड़ लिया और बोला कि देखो, यह साँप नहीं है गुरु, रस्सी है, इसको भगाना क्या मुश्किल है! यह जो तुम अपने आपको समझते हो कि दुनिया चिपक गयी है, अरे चिपकी-उपकी कहीं नहीं है, कहीं तुम गये नहीं हो, न किसीकी आसक्ति है, न किसीका बन्धन है, न कहींका राग है, न कहींका द्वेष है, लोग कहते हैं हम तो ऐसे फँस गये यार कि अब छूट नहीं सकते! ऐसा बन्धन है, ऐसी आसक्ति है, ऐसी दुश्मनी। अरे, तुम्हारा छोड़नेका मन नहीं है उसीका मजा ले रहे हो। नहीं तो ये मनीराम जो हैं ये तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं। वह बिच्छू झाड़नेवाला मन्त्र नहीं है, यह मन झाड़नेवाला मन्त्र है। कहो तो एक मन्त्रमें मनीरामको झाड़कर फेंक दें, क्योंकि हम इनकी असलियत जान गये। '*जल बाँधौं, अग्नि बाँधौं, आकाश बाँधौं, पाताल बाँधौं*' क्या समझते हो भला! यह मन्त्र है। तो बात क्या है? कि असलमें जहाँ दुनिया है ही नहीं और मालूम

पड़ती है, वहाँ उसको—दुनियाको निकालनेके लिए न तो आपको दवा खानी पड़ेगी, न कसरत करनी पड़ेगी, न प्रार्थना करनी पड़ेगी, न भावना करनी पड़ेगी, न ध्यान करना पड़ेगा! जहाँ जो चीज है ही नहीं उसको वहाँसे भगानेके लिए करना क्या पड़ेगा? सिर्फ यह जानना पड़ेगा कि यहाँ यह चीज नहीं है, जहाँ यह मालूम पड़ रही है, जिस अधिष्ठानमें यह वस्तु प्रतीत हो रही है, उस अधिष्ठानमें यह वस्तु नहीं है।

अब आओ आप देखो, तो गौरसे जब आप देखोगे, तो वह जो झूठी चीज असली होकर भास रही है। यदि पीतल सोना होकर भासने लगे, तो लोभ उत्पन्न कर देगा और यदि सोना पीतल भासने लगे, तो द्वेष उत्पन्न कर देगा। अन्यथा भान ही दुःखका हेतु है। यह जो तुम्हें अपना दिल दोस्त मालूम पड़ता है, दुश्मन मालूम पड़ता है, चञ्चल मालूम पड़ता है, आता-जाता मालूम पड़ता है, यह सब जादूका खेल है और महाराज, ऐसा मन्तर, एक मिनटमें सफाचट। देखो, यह जादूका खेल!

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

कितनी बढ़िया बात कही गयी! आप इसमें तीन बातपर ध्यान दो— **अकल्मषम्, शान्तरजसं, प्रशान्तमनसं।** अच्छा, यह बताओ, आपके ध्यानमें कभी यह बात आती है कि जानोगे ब्रह्मको और तुम हो जाओगे मुक्त। ब्रह्मको मुक्त जानोगे तो ब्रह्म मुक्त होगा, तुम थोड़े ही मुक्त होओगे। बोले— अगर ब्रह्म और आत्मा एक न होते, तो आत्माको जाननेसे आत्मा अनन्त नहीं हो जाता और ब्रह्मको जाननेसे आत्मा मुक्त नहीं हो जाता। यह तो एक चीजके ही दो नाम हैं।

आओ, आपको सुखकी बात हम सुनाते हैं जो **ब्रह्मभूतं,** आप योग करोगे आत्माका, यही न बात, प्रारम्भसे यही बात कही जा रही है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं। योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत् संस्थामधिगच्छति।
योगी युञ्जीत सततं। आत्मानं रहसि स्थितः।

अपने आपसे मिलो। मेरे प्यारे, तुम दूसरेसे मिल रहे हो। ***'मुझको क्या तू ढूँढ़े बन्दे मैं तो तेरे पासमें।'*** तुम स्वर्गमें किसीसे मिलना चाहते हो, तुम फ्रांसमें किसीसे मिलना चाहते हो। अरे जहाँ हो, वहीं क्यों नहीं मिल लेते? किससे मिलें? अरे सबसे ज्यादा निकट जो है अपना आपा, उसको छोड़कर तुम, ***'घर आये नाग न पूजीं, बाँबी पूजन जाये'*** अपने भीतर जो हीरा रखा है उसको जानते नहीं हो, इधर-उधर भटकते हो। किसको ढूँढ़ रहे हो?

आप देखो, क्या बढ़िया बात कही। आप योग करो अपने आपसे, माने मिलो अपने आपसे और सुख कौन-सा मिलेगा? कि **ब्रह्मभूतम्।** हम अपनेसे मिलेंगे और सुख मिलेगा ब्रह्म। यह क्या? अरे भाई! जिससे मिलेंगे, हम अंगूर खायेंगे, तो अंगूरका सुख मिलेगा, आम खायेंगे तो आमका सुख मिलेगा, स्त्रीके साथ होंगे, तो स्त्रीका सुख मिलेगा, पुरुषके साथ होंगे, तो पुरुषका सुख

मिलेगा। यहाँ मिलेंगे अपनेसे और सुख मिलेगा ब्रह्म। सुखमें है कि नहीं ये सब?

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

ब्रह्मभूतं उत्तमम् सुखम् उपैति। आत्मानं युञ्जन् ब्रह्मभूतं सुखं उपैति। तुम अपने आपसे मिलो तो तुमको ब्रह्मसुख मिलेगा। कोई कहे कि तुम मोहनसे मिलो, तो तुमको सोहनका सुख मिलेगा। तो यदि मोहनका ही नाम सोहन हो और सोहनका ही नाम मोहन हो, तब तो मोहनसे मिलनेपर सोहनका सुख मिलेगा और सोहनसे मिलनेपर मोहनका सुख मिलेगा।

एकबार महाराज, ऐसा हुआ। एक बच्चा कोई काममें रुचि नहीं ले रहा था। तो उसके बापने कहा कि बेटे, तू यह काम कर दे, शाबाश बेटे, तुमको मिठाई खिलायेंगे। अरे भगवान्! बच्चेने काम कर दिया। कर दिया तो बाप पेड़ा लेकर आये। बोला—यह क्या करते हो? बेइमानी करते हो? हमको खिलानेको कहा था मिठाई और लाये हो पेड़ा, हम पेड़ा नहीं लेंगे, मिठाई लेंगे। अब बर्फी लाये महाराज। बोले—यह तो बर्फी है, मिठाई है ही नहीं। मिश्री नहीं, शक्कर नहीं, गुलाब जामुन नहीं। हमको तो मिठाई चाहिए। अब सोचो मिठाई कहाँसे मिलेगी? बच्चेको मिठाई मिल सकती है? तो यह जो आत्मयोग है न, यह ब्रह्मयोग है। क्योंकि आत्मा और ब्रह्म दो चीज नहीं है। यह जो देश-काल-वस्तुका साक्षी है, यह जो देश-काल-वस्तुसे अतीत है, यह जो देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान है, यह जो देश-काल-वस्तुका साक्षी ही नहीं, प्रकाशक है। प्रकाशक ही नहीं स्वयं प्रकाश है। इनमें फर्क होता है। साक्षीमें और प्रकाशकमें फर्क होता है और प्रकाशकमें और स्वयं प्रकाशमें फर्क होता है। शब्दोंकी लीला बड़ी विचित्र है। शब्दोंकी मायामें फँस जाओ तो अर्थ ही छूट जाय। मिलोगे आत्मासे और पाओगे ब्रह्मसुख—इसका कहनेवालेका अभिप्राय यह है कि जो आत्मा है सो ब्रह्म है, जो ब्रह्म है सो आत्मा है। यह तुम्हारी आत्मा अपरिच्छिन्न अखण्ड है।

अच्छा, इस उत्तम सुखकी पहचान बताओ, यह ब्रह्मभूत सुखकी पहचान बताओ! बोले—पहली बात तो यह है कि इससे बड़ा और कोई सुख

नहीं है। अच्छा, और पहचान बतायें। यह तो एक तारीफकी बात हुई कि इससे बड़ा और कोई नहीं है, इसकी पहचान बताओ। तो तीन बात उसमें नहीं है— कल्मष नहीं है, रज़स् नहीं है और अशान्ति नहीं है। लो गिन लो—

प्रशान्तमनसं—इसमें मनस् प्रशान्त है।

शान्तरजसं—इसमें रजस् शान्त है। और,

अकल्मषं—इसमें कल्मष है ही नहीं।

इसका मतलब क्या हुआ? कल्मष नहीं है माने तमोगुण नहीं है और रजस शान्त है माने रजोगुण नहीं है और प्रशान्तमनसं माने सत्त्व गुण नहीं है। इसमें ज्ञान नहीं है, क्रिया नहीं है, द्रव्य नहीं है। अकल्मषं माने कर्म नहीं है। इसलिए द्रव्य नहीं है और शान्तरजसं—क्रिया नहीं है और प्रशान्त-मनसं अर्थात् वृत्तियोंका चांचल्य नहीं है। न वृत्ति चञ्चल है, न क्रिया है, न वस्तु है। और आत्मा है। वस्तु, क्रिया और वृत्तिसे रहित सुखस्वरूप आत्मा अद्वितीय अनन्त ब्रह्म है। यह है योग। गीताका योग महाराज ऐसा!

अब नारायण, पहले एक बात आपको कही थी, आपको जो छोटी-छोटी चीज़ें दिखती हैं, उनका ख्याल छोड़ दो। बस केवल इतनी बात है, परिच्छिन्न पदार्थका ख्याल छोड़ दो। क्योंकि बिना अपरिच्छिन्नके, जैसे आप यह घड़ी देख रहे हो, घड़ी परिच्छिन्न पदार्थ है, लेकिन यदि इस भारतीय विद्या भवनके हालका अवकाश न होता, तो क्या आप घड़ी देख सकते थे! एक बड़ेसे अवकाशमें एक छोटी-सी घड़ी आप देख रहे हो। इसी तरहसे एक बड़े चेतन प्रकाशमें आपको यह ब्रह्माण्डकी घड़ी दिख रही है, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डकी घड़ी दिख रही है, तो जो छोटी-छोटी चीजें दिखती हैं उनका ख्याल छोड़कर, आप देहका ख्याल छोड़कर भारतीय विद्या भवनका हाल देखो और भारतीय विद्या भवनका हाल छोड़कर वह आकाश देखो जिसमें ऐसी-ऐसी हजार धरतियाँ घूमती हैं। श्री उड़िया बाबाजी महाराज एक बहुत बढ़िया बात कहते थे, महात्माका शरीर यह नहीं है जो तुम देखते हो, यह तो तुम्हारा माना हुआ , तुम्हारा चन्दन लगवानेके लिए, तुम्हारी माला पहननेके लिए, तुम्हारी लायी हुई रोटी खानेके लिए महात्माका यह शरीर है। तब महात्माका शरीर क्या है? स्वामी विवेकानन्दजीने कहा कि जो तुम मुझको

देखते हो, सो मैं नहीं हूँ, तुम जो मुझको मानते हो, सो मैं नहीं हूँ, मैं अपनेको जो बताता हूँ वह मैं हूँ। मैं अपनेको जानता हूँ। तुम यदि अपनेको नहीं जानते हो, तो मुझको जानते हो। अपनेको नहीं जानते तो मुझको नहीं जानते। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज एक श्लोक बोलते थे—

आकाशकोशतनवो तनवो महान्तः
तस्मिन् पदे विगतचित्तलवा हसन्ति।

महात्मा मानता है कि यह सम्पूर्ण आकाश जिसमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं, कोटि-कोटि सूर्य, चन्द्रमा, ब्रह्माण्ड, ग्रह, नक्षत्र, तारे, मिट्टी-पानी-आग-हवा, जिस चिदाकाशमें दिखायी पड़ रहे हैं, वह मेरा शरीर है। मेरा शरीर आकाश है, मेरा शरीर यह पञ्चभूतका बना हुआ पुतला नहीं है। मैं अपनेको जो जानता हूँ, सो मैं हूँ और मुझे जो तुम समझते हो, वह तुम्हारे मनकी फिल्म है। तुम अपने मनकी फिल्म देख रहे हो।

अच्छाजी, अब कल आपको सुनायेंगे। एक मिनटमें मन शान्त होता है और कल तुलसी जयन्ती है।

हमको उत्तम सुख चाहिए, उत्तम सुख मिले। श्लोक जो चल रहा है न, उसमें उत्तम सुखकी चर्चा है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

अब देखो, सुख तो सबको चाहिए। परन्तु किसी-किसीकी रुचि परिष्कृत होती है। कपड़ा तो सबको स्वच्छ चाहिए। कपड़ा तो सब पहनना चाहते हैं, पर कोई मैला-कुचैला पहनते हैं, छींटे-वींटे पड़े हों, स्याही-वाही पड़ी है। अब जाड़ा तो उनका भी मिट जाता है भाई, पर वह उत्तम वस्त्र तो नहीं है। एकके घर भोजन करने गये, बहुत पुरानी बात है। तो उन्होंने भोजन करानेके लिए जो बर्तन निकाले, जो रोज काममें लाते थे वे नहीं, जो सन्दूकमें रखे हुए थे वे निकाले, तो उनमें मैल लगी हुई थी, उन्हें धोया, साफ किया, परसनेके बाद जब उसमें नींबू निचोड़ दिया तो सारी-की-सारी मैल छूटकर भोजनमें मिल गयी। भोजन तो सभी करते हैं, लेकिन किसी-किसीकी रुचि होती है कि हम स्वच्छ भोजन करें। कपड़ा सब पहनते हैं, किसी-किसीकी

रुचि होती है कि हम स्वच्छ कपड़ा पहनें। सुख तो सब चाहते हैं, परन्तु हमको स्वच्छ सुख मिले, यह तो कोई महाराज, जिसकी क्वालिटी अच्छी होगी, वही चाहेगा न! स्वयं उत्तम होगा तब उत्तम सुख चाहेगा। यहीं अधिकारीकी पहिचान होती है। यह कपड़े वपड़ेकी बात मैं नहीं कर रहा, आप सुख कौन-सा चाहते हैं ? किस जातिका सुख चाहते हैं ? जो तिजोरीमें ज्यादा पैसा रखनेसे मिलता है वह सुख चाहते हैं ? तो आपका जड़ कोटिका सुख हुआ न, और जो स्त्री-पुरुषके मिलनेसे जो सुख होता है, वह सुख चाहते हैं ? तो आधा-ही-आधा हुआ न, आधा जड़, आधा चेतन। देवताका सुख चाहते हैं तो दूर है। समाधिका सुख चाहते हैं तो देर है उसमें। स्वर्गके सुखमें दूरी हैं और समाधिके सुखमें देरी है, पैसेके सुखमें अनजान दूसरा है और सम्भोग—स्त्री पुरुषादिके मिलनमें जानकार दूसरा है। एकमें दूसरा है, एकमें देर है, एकमें दूरी है। अब आपको उत्तम सुख चाहिए, तो उसमें देर न हो, न दूरी हो, न दूसरा हो, तब देखो, आपको मजेदार सुख मिलेगा।

अच्छा आप देखो, खाने-पीनेमें भी देखो, यदि आपको कोई चीज़ कड़ी मिल जाये और हो तो भले मीठी, पर दाँतसे टूटे नहीं, कभी-कभी महाराज, ऐसे कठोर ठोरसे काम पड़ता है, अरे ऐसा कठोर होता है, यह शायद कठोरमें-से ही ठोर लेकर उसका नाम रखा हुआ है 'ठोर'। 'क' का लोप हो गया 'ठोर' रह गया। हथोड़ीसे तोड़के मुँहमें डालो तब भी जो उसके छोटे-छोटे टुकड़े हैं वे दाँतसे जल्दी नहीं टूटते।

देखो, जिस भोजनमें भी बहुत श्रम पड़े, उसको लोग पसन्द नहीं करते हैं। लोग शर्बत पीना पसन्द करते हैं, गन्ना चूसना पसन्द नहीं करते। तो सुख ऐसा चाहिए जो भोगके समय, मिलते समय जो हमारे श्रमकी अपेक्षा न करता हो। आप देखो, दूर न हो, मिलनेमें देर न हो क्योंकि परोक्षको तो सुख ही माना जाता है, तो देरी और दूरी तो उसमें होगी ही नहीं और दूसरेमें होगा तो पराधीनता होगी। और देरी और दूरी जिसमें होगी वह सुख तो कल्पित होगा केवल मनोराज्यका है। और सुख भोगते समय भी यदि श्रम पड़ेगा; अनायास चाहिए। आप देखो ध्यानमें उत्तम सुख ले आओ। तो ये संसारी लोगको सुखकी पहचान ही नहीं है। ज्ञानसे अलग होगा यदि सुख, तो मनकी आँख

खोलकर रखना पड़ेगा। तो जिसमें मनकी आँख भी खोलनी न पड़े, ऐसा सुख चाहिए। आप दर्शन शास्त्रकी बात जानते होंगे, सुखकी अज्ञात सत्ता दर्शनमें नहीं मानी जाती, माने हमको सुख हो रहा है, कैसा हो रहा है? कि हम नहीं जानते। अरे नहीं जानते हो तो सुख क्या है? खाक है! सुख तो ऐसा होना चाहिए, जो मालूम पड़े कि सुख है, सुखकी परोक्ष सत्ता नहीं और सुखकी अज्ञात सत्ता नहीं और सुख दूर नहीं, सुखमें देर नहीं, सुख दूसरा नहीं। सुखमें परिश्रम नहीं, ऐसा सुख चाहिए।

आओ नारायण, अब उस सुखकी बात करें। पहली बात क्या है? यह आपको वैदिक सिद्धान्त बतायें, बड़ा पवित्र है। इसमें वेदका सिद्धान्त यह है कि यदि आप स्वच्छ, निर्मल, शान्त सुख-ही-सुख, जहाँ सुखकी धरती हो, जहाँ सुखका समुद्र उमड़े, जहाँ सुखकी रोशनी छिटके, जहाँ सुखकी हवा बहे, जहाँ सुखका संगीत हो, जहाँ सुख-सुखकी ही दुनिया हो, जहाँ सुखके सिवाय दूसरी कोई चीज न हो और जहाँ अपना आपा और सुख न्यारा न हो, ऐसा सुख।

आप कौन-सा सुख चाहते हैं? तो इसके लिए हमारा वैदिक सिद्धान्त, वैदिक धर्म, भारतीय संस्कृति इसके लिए एक प्रणाली बताती है संशोधनकी, जो सुखमें तुमने गड़बड़- सड़बड़ मिला दी है, वह गड़बड़-सड़बड़ अलग करो उससे। क्या गड़बड़-सड़बड़ मिल गयी है, पहली बात देखो इसमें—**अकल्मषम्**। पहले उसमें तुमने कल्मष मिला दिया है, कषाय। यह कर्मका ही कल्मष हो गया है, *रलयोरभेदः*। रेफ और लकार भिन्न-भिन्न नहीं होते हैं, एक ही होता है। तो कर्मको ही कल्म बोलते हैं। *कर्माणि कल्साणि दूयति इति कल्मषः*। जो हमारे कर्मको गन्दा कर देता है, उसका नाम है कल्मष। हाथसे किसीको मार दिया, तो कर्म गन्दा हो गया, हाथ गन्दा हो गया, मन गन्दा हो गया, जबानसे किसीको गाली दे दी, जबान गन्दी हो गयी। तो आप ऐसा सुख चाहो जिसमें आपका हाथ गन्दा न हो, आप जब बुरा काम करनेके लिए चलते हैं पाँवसे, तो आपके पाँव गन्दे हो जाते हैं। चोरी करनेके लिए चलेंगे तो पाँव गन्दा, कर्म गन्दा, यह वैदिक सिद्धान्त है। भारतीय संस्कृति यह कहती है कि आपको ऐसा सुख चाहिए जिसमें आपको कोई बुरा काम न करना पड़े, यह पहली बात है।

दूसरी बात क्या है? वैदिक सुख देखो आपको बताते हैं। शान्तरजसं' अच्छा भाई, हम बुरा काम तो नहीं करते, लेकिन मनमें वासनाएँ बहुत भरी पड़ी हैं। सचमुच ईश्वरकी वाणी है यह—*'मोहि कपट छल छिद्र न भावा'*—ऐसा ईश्वर। ईश्वर समदर्शी नहीं है, वह सम है। वह सम ईश्वर कहता है कि जब कोई मुझसे कपट करता है, छल करता है, छिद्र करता है, तो वह मुझे पसन्द नहीं है। माने उसके अन्तःकरणमें मैं सुखके रूपमें प्रकट होना पसन्द नहीं करता। शान्तरजसं, जहाँ रजोगुण रहेगा वहाँ काम-क्रोध जरूर आयेगा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

तो रजस् माने टूक-टूककी वासना। वासना ही रजस् है मनमें। बोले—वासना भी पूरी करते चलो और भोगते भी चलो और उत्तम जातिका सुख मिलेगा! कि उत्तम जातिका सुख कहाँसे मिलेगा?

अच्छा, अब क्या हुआ, एकमतने कहा कि कर्म ठीक हो जाये, तदाकारते रहो, फिर मनमें वासना आती है तो आने दो। और एकने कहा कि वासना शुद्ध हो जाये तो फिर कर्म जैसे हों होने दो। यह क्या हुआ कि कोई चीज़ अति हो जाती है, यह मनकी अति जिसके जीवनमें हो जाती है, वह कहता है कि हमारी वासना ठीक हो गयी, अब कर्म चाहे जैसा होने दो और कर्मकी अति जिसके जीवनमें होती है वह कहता है कर्म हमारा ठीक हो गया, तो अब वासना चाहे जैसी होने दो। परन्तु यह समन्वयकी दृष्टि नहीं है।

देखो, उपासनावाले कहते हैं कि *'मन चंगा तो कठौतीमें गंगा।'* यह ठीक-ठीक वैदिक नहीं है, कुछ थोड़ा दो नम्बरका है, वैदिकतासे नीचे उतर गया और जो कार्मिक लोग हैं कर्मी हैं-धार्मिक हैं, वे कहते हैं—हमारा कर्म ठीक हो गया, तो वासना चाहे जैसी हो! असलमें वे भी वेदसे नीचे उतर गये। वेदका सिद्धान्त यह है कि कर्म भी ठीक हो और वासना भी ठीक हो। आपको वेद तो परमात्मासे एक करना चाहता है। आपका जो असली परमात्मस्वरूप इस कर्म और वासनाके झगड़ेमें छिप गया है, उसको जाहिर करना चाहता है।

अब आया तीसरा, वह बोला कि नहीं, मनको ही शान्त करो। यदि

हमारा मन शान्त हो गया, यदि घण्टे-आध घण्टेकी समाधि लग जाती है, तो फिर सारे जीवनमें; हम तो महाराज बैठे थे, कहाँ? कि शान्तिमें बैठे थे, अब एक घण्टे हम ठीक बैठ चुके, अब उसके बाद चाहे जो वासना आये, जो कर्म आये उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तो बोले—यह वैदिक हो गया? कि नहीं, यह वैदिक सिद्धान्त नहीं है। ये सब एकांगी हैं। शान्तिको पकड़ करके वासना और कर्मकी उपेक्षा कर देना वासनाको पकड़कर शान्ति और कर्मकी उपेक्षा कर देना और कर्मको पकड़कर शान्ति और वासनाकी उपेक्षा कर देना, जरठ मीमांसक हमारे बोलते हैं कि कर्म ठीक है तो कर्म सब कुछ कर लेगा, वासना समाधिकी जरूरत नहीं है और महाराज—जो अशास्त्रीय भक्त होते हैं।

वेद-शास्त्र-पुराणादि पाञ्चरात्रं विधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्यातायैव केवलम्॥

श्रीरूप गोस्वामीजी महाराज जैसा अनन्य भक्त, कट्टर वैष्णव यह श्लोक उद्धृत करता है, वेदशास्त्र-पुराण-पञ्चरात्रके विपरीत जब भक्ति हो जाती है, कि अरे हमने तो भगवान्‌की माला फेर ली, भगवान्‌का नाम ले लिया, भगवान्‌की याद कर ली, भगवान्‌के लिए आँसू बह गये, भगवान्‌के लिए शरीरमें रोमाञ्च हो गया, अब हमारी जो मौज हो सो करें!

एक महाराज थे, हमारे गाँवके पासके ही थे और शिष्यवर्गमें ही थे। और वैसे ही बहुत श्रद्धालु वहाँ होते हैं उनका तो पता भी नहीं चलता है कि हमारे पितामहके शिष्य हैं, कि पिताके शिष्य हैं, कि हमारे शिष्य हैं। वे तो ऐसे श्रद्धा-प्रेमसे साष्टांग दण्डवत् करें और आँखसे टपाटप पानी गिरे, शरीरमें रोमाञ्च हो और बारहों ग्रन्थ गोस्वामी तुलसीदासजीके उनको कण्ठस्थ थे। आपको अब एक रहस्य बताता हूँ, वह हमारे ससुरालका गाँव था और वहाँ हमारे शिष्य बहुत, हम जाते थे कभी-कभी, ज्यादा करके जाते थे; क्योंकि शिष्य भी थे, ससुराल भी थी, तो महाराज मेरे साथ-साथ, वे भी जाते सब घरोंमें। जब वे जाते तो सब स्त्रियाँ भाग जातीं घरमें। जब किसी दिन वे नहीं थे तो मैंने पूछा कि क्या बात है, यह इतना बड़ा तो भक्त, इतने तो आँसू गिरें, इतना रोमाञ्च इनको हो और इनको देखते ही तुम लोग छँट जाती हो! तो स्त्रियाँ बताती थीं कि महाराज, अगर कहीं अकेलेमें पानी भरने जायें, तालाब पर जायें,

कुँए पर जायें या गलीमें-से आ रही हों और ये मिल जाते हैं, तो साष्टांग दण्डवत करके बोलते हैं कि तुम्हीं हमारी प्राणेश्वरी, हृदयेश्वरी, सर्वेश्वरी, सब तुम्हीं हो। ऐसे साष्टांग लोट जाते हैं हाथ फैलाकर। इनको देखकर हमलोगोंको डर लगता है।

मैंने उनसे पूछा, तो बोले कि मैं तो अनन्य हूँ भगवान्का, हमारे जीवनमें तो गलती-गलती है, गलती ठीक होनेसे भगवान् खुश होंगे? अब तो वही सुधारेंगे, जो कुछ करना होगा, अब हमारे सुधारे तो नहीं सुधरता है।

अब, यह जो अति है, यह जहाँ जीवनमें अपने चरित्रको, अपने मनको ठीक करनेकी भावना नहीं है वहाँ न वेद है, न पुराण है, न शास्त्र है, न पाञ्चरात्र विधि है, आप आखिर करना क्या चाहते हैं! जहाँ हैं वहीं रहना चाहते हैं कि ऊपर उठना चाहते हैं?

एक योगीकी बात सुनाते हैं। कोई कहते हैं कि वासना सुधारो, कर्म सुधरे चाहे नहीं, समाधि लगे चाहे नहीं। कोई कहते हैं कि कर्म सुधार लो, वासना सुधरे कि नहीं, समाधि लगे कि नहीं लगे! यह असलमें मनःस्थिति है, यह मनोविज्ञान है। एक महात्माके पास हम गये, तो बोले कि मन दो तरहका होता है—एक तो सैलानी होता है और एक मुस्तकिल होता है। तो मन अपना दो विभाग कर लेता है और एक मनसे अपनेमें द्रष्टापनेका भाव कर लेता है और एक विभाग बनकर दृश्य बन जाता है। यह जो द्रष्टा और दृश्यका विभाग है, दृश्यमें चाहे जो कुछ हो, मैं द्रष्टा हूँ। यह असलमें मनीराम जो हैं इन्होंने अपनेको दो बना दिया। ये मनके ही दो विभाग हैं; क्योंकि जितनी देर कल्पना रहती है उतनी देर तो दृश्यपना और द्रष्टापना भासता है और जब द्रष्टापनाकी कल्पना चली जाती है तो द्रष्टा और दृश्यका विभाग भी लुप्त हो जाता है। इसलिए यह सैलानी मनका और मुस्तकिल मनका जो दो विभाग है, उसमें यह नहीं समझ लेना कि मुस्तकिल मन आत्मा है और सैलानी मन मन है। क्योंकि जबतक जानकारी नहीं है तबतक आप कहीं भी बैठ जाओगे।

तो आप देखो, अब आपको यह बात सुनाते हैं कि आप अपनेको मुस्तकिल मनसे एक करके यदि सैलानी मनको छोड़ दोगे कि चाहे जहाँ जाओ, तो भी काम बिगड़ेगा और यदि कहोगे कि भाई, हमारा कर्म ठीक है

वासना चाहे जहाँ जाये, तो भी गड़बड़ है और कहोगे कि हमारी वासना ठीक है कर्म चाहे जहाँ जाये, तो भी गड़बड़ है। आपको बिलकुल वैदिक सिद्धान्त सुनाता हूँ। वैदिक, औपनिषद, शास्त्रीय हमारा कर्म भी शुद्ध होना चाहिए, हमारी स्थिति भी शुद्ध होनी चाहिए। ऐसे महाराज, लोग चाहे जो भी मौज हो, सो खायें, जो मौज हो सो करें, जो मौज हो सो पीयें, अपने आप ही लोग उच्छृंखल होकरके जड़ वस्तुओंके प्रति आसक्त हैं। और जो जड़के प्रति आसक्त है वह जाकर जड़ पर गिरेगा। आपका यह मुस्तकिल मन भी। मुस्तकिल मनकी पहचान यही है कि आप अपने व्यक्तिगत जीवनमें उससे उत्कर्षका आधान करते हैं कि नहीं! वह तो करण है, वह तो औजार है, उसके कारण अपनेमें विशेषता मानते हैं कि नहीं ? तो यह बात क्या कह रहे हैं देखो! तीन बात तो यह हो गयी—

अकल्मषम्—पापकर्म छोड़ो

शान्तरजसम्—राग-द्वेष-वासना छोड़ो

प्रशान्तमनसं—मनकी चञ्चलता छोड़ो।

बोले—हो गया ? कि नहीं।

ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।

उत्तम सुख। एक सुख, एक उत्तम सुख। तो कल्मष छोड़ देनेपर आपको जो सुख मिलेगा, पाप छोड़ देनेपर, वह दुश्मनको नीचा दिखानेपर जो सुख मिलता है, गन्दा सुख, किसीका अपमान करनेसे, किसीको गाली देनेसे, किसीको बुरा बोलनेसे जो अपनेको मजा आता है कि बच्चूको अच्छा मजा चखाया। ऐसे बोलते हैं कि आज बच्चूसे खूब बदला लिया, हमने भी वह सुनायी है कि वे भी जिन्दगी भर याद रखेंगे। अब देखो, एक तो सुनायी, दूसरे अभिमान करते हैं अपनी बुराईका, तो कल्मष छोड़ो—एक।

दूसरी बात है कि रजस्। काम-क्रोधका उदय जिससे होता है, उस रजस्को छोड़ो। जो रंग चढ़ गया है तुम्हारे ऊपर दूसरोंका, उस रंगको धोओ। फिर मनोराज्य छोड़ो, चञ्चलता छोड़ो। तो सुख हुआ पाप छोड़नेका और उत्तर सुख हुआ वासना छोड़नेसे और उत्तम सुख हुआ चञ्चलता छोड़नेसे। अब तो भाई, हम बिलकुल आत्मामें स्थित हैं। अरे राम, अभी एक बात बाकी है,

उसको कहे बिना कैसे काम चलेगा! चाहे तुम चेतन अपनेको समझो, चाहे स्वयं प्रकाश समझो, चाहे साक्षी समझो, चाहे द्रष्टा समझो, चाहे देवता समझो, चाहे ईश्वर समझो, लेकिन जबतक इस परिच्छिन्न देहके साथ ही तादात्म्य बना हुआ है, तबतक वह सुख तुम्हारा, उत्तम सुख होनेपर भी क्षणिक है। वह मुस्तकिल मनका जो सुख है, अपनेमें चेतनपनेके अभिमानका जो सुख है वह भी क्षणिक है। इसलिए भगवान्‌ने क्या बताया—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २९॥

ब्रह्मभूतंपर ध्यान दो। यह जो उत्तमसुख है वह समाधि कालमें होये, द्रष्टाकी स्वरूपस्थितिमें होये, ख्याति कालमें होये और फिर चला जाये, तो वह उत्तम सुख नहीं है। सुख तो वह है महाराज, जब सुखके सिवाय, जिसको दुनियादार लोग सुख कहते हैं वह भी जब सुख हो जाये। जन्म और मरण सुख हो जाये, आना और जाना सुख हो जाये। सुख और दुःखका भेद न रहे, अपने-परायेका भेद न रहे। वह जो द्रष्टा-दृश्यका विभाग है ना, बोलते हए, चलते हए, खाते हए, पीते हए, सोते हए विभाग जो है द्रष्टा-दृश्यका, वह विभाग देहाभिमानमें-से नहीं, जिस अज्ञानके कारण विभागकी उत्पत्ति हुई है वह विभाग मिट जाये। एक बार श्रीउड़िया बाबाजी महाराजने पूछा कि यह द्रष्टा और दृश्यके बीचमें क्या है? तो मैंने कहा कि दृष्टि। एक द्रष्टा, एक दृश्य और दोनोंके बीचमें दृष्टि। जैसे ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, वैसे द्रष्टा, दृश्य, दृष्टि। बोले कि नहीं। तब सच क्या है? कि यह द्रष्टाकी अद्वितीयताका अज्ञान। यही द्रष्टा और दृश्यका विभाग बनाता है। यह दृश्य है और मैं इसका द्रष्टा हूँ, यह विभाग कौन बनाता है? यह विभाग बनाता है द्रष्टाके वास्तविक स्वरूप, अद्वितीयताका अज्ञान। तो तबतक वास्तविक सुख, अविनाशी सुख, अद्वितीय सुख; यह **ब्रह्मभूत** कहनेका अर्थ यह है।

तब बोले कि महाराज कैसे? यही भोग होता होगा, यही विषय होता होगा? जरा देखो, *उपैति— सुखं उपैति। योगी सुखं न उपैति। किन्तु सुखमेव योगिनं उपैति। प्रशान्तमनसं शान्तरजस अकल्मषम् एनं योगिनं ब्रह्मभूतं उत्तमं सुखं उपैति। योगिन कर्मभूतं ब्रह्मभूतं कर्तरि स्वय प्रकाशरूपं सुखं उपैति। योगी*

सुखके पास नहीं जाता। तो सुख ही योगीके पास आता है ? यह क्या मजा है ? माने सुख अपना स्वरूप जो है, वह कहाँ जाये ? कहाँ आये ?

तो आओ गोविन्द पापकर्मसे, हमारे गुरु लोग पहले उपदेश करते थे—*'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि'* तै. १.११.२- देखो भाई, यह मनुष्यका शरीर है, कभी कोई गलती हो जाती हो, तो हे हमारे दिल! तुम भी वैसी गलती करके यह मत कहो कि गुरुजी, क्योंकि आप भी ऐसी गलती करते हैं, इसलिए मैं भी करता हूँ। पहले कल्मष छोड़ो, फिर रजस् छोड़ो, फिर मनोराज्य छोड़ो, उसके बाद शान्त द्रष्टामें जो परिच्छिन्नताका अज्ञान है,उसको ज्ञानसे काटो और फिर? बोले-**ब्रह्मभूतं अकल्मषम्।** ब्रह्मभूत जो उत्तम सुख है, उत्तम सुखका अर्थ है—*यस्मात् परं नास्ति।*

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।

(श्वे. ३.९)

श्वेताश्वतर महाराज बोलते हैं कि इससे कोई ऊपर नहीं है, इससे कोई नीचे नहीं है। इससे कोई बड़ा नहीं, इससे कोई छोटा नहीं। यह लो, यह कहते कि इससे कोई बड़ा नहीं है, तो हम हाथ जोड़कर मान लेते। यह तो कहते हैं इससे कोई छोटा भी नहीं है। अब अद्वैत हुआ कि नहीं ? यदि बड़ा नहीं रहेगा, छोटा रहेगा तब भी अद्वैत नहीं होगा। बोले—भोगका सुख छोटा है, अर्थका सुख छोटा है, वासनाका सुख छोटा है, स्थितिका सुख छोटा है और यह आत्माका सुख बड़ा है। अरे नहीं भाई, इससे कोई बड़ा नहीं है, सो तो है ही, इससे कोई छोटा भी नहीं है।

'नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचिद्'—इससे कोई ज्यायस् सुख नहीं है और इससे कोई अणीयस् सुख नहीं है। इससे श्रेष्ठ नहीं है और इससे छोटा नहीं है। ऐसा महाराज, यह *अद्वैतसुखं उपैति*। यह भगवान्‌की वाणी है। यह आपको ललचानेके लिए नहीं है, यह मत समझना कि आपको ललचानेके लिए है। एक सच्ची स्थिति है। एक वास्तविकता है। यह स्वयं अनुभव है, अपनी स्वयंता है।

: २८ :

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी—*एनं योगिनं,* यह जो आत्मयोगी है। **युञ्जन्नेवं सदात्मानं**—योगीकी परिभाषा हो गयी न! योग माने मिलना। किससे मिलना? अपने आपसे मिलना। दुनियामें सब मिलते हैं—बेटा, बेटी, बहू, धन, दौलत, इज्ज़त, कुर्सी सब मिलती है, ऐश्वर्य, अधिकार सब मिलता है, परन्तु हम अपने आपको दूसरेसे मिलाकर ही देखते हैं। खालिस अपना आपा नहीं मिलता। देखो, हम कौन हैं? कि धनवाले हैं, हम मकानवाले हैं, हम बेटी वाले हैं, बेटा वाले हैं, हम गोरेवाले हैं, कालेवाले हैं, सब अपने आपको जब देखते हैं, तब दूसरेके साथ मिलाकर ही देखते हैं, खालिस अपने आपको नहीं देखते हैं। तो पहली बात यह कही गयी कि, **युञ्जन्नेवं सदात्मानं**—अपने आपसे मिलो। यह योगीका लक्षण है। बोले—अच्छा भाई, हम दूसरेसे मिल-मिलकर तो देखते हैं, लेकिन अपना कहीं खोया हुआ तो नहीं है, बोले—ठीक है, पर जरा दूसरेसे मिलना छोड़कर अपनेसे मिल लो! कि दूसरेसे मिलकर देखनेमें क्या दोष है? अरे तुम्हारी ऐसी आदत बिगड़ी हुई है कि तुमने अपनेको पराधीन कर दिया है।

एक दिन सब लोग चले गये बाहर, घरमें अकेले रहना पड़ा। अब महाराज अपना घर ही जैसे काटनेको दौड़े। क्यों? कि अपनेको अकेले रहनेकी आदत नहीं है, छत वही है, दीवार वही है, पलंग वही है, बिजली वही है, पंखा वही है

और अपना घर अपनेको अच्छा नहीं लगता। दूसरेसे मिल-जुलकर रहनेकी जो आदत पड़ गयी है, अपने आपको अकेलेमें कभी नहीं रखते, तो वह एकान्त भी काटने दौड़ता है। गौड़पादाचार्यने क्या टिप्पणी की है—

योगिनो बिभ्यति यस्माद् अभयभयदर्शिनः।

क्योंकि इस योगमें किसीसे मिलना-जुलना नहीं होता है, तो जो लोग मिल-जुलकर रहनेके आदी हो गये हैं वे इससे बहुत डरते हैं, भयभीत होते हैं। हाय-हाय हम अकेले जंगलमें कैसे रहेंगे, अकेले मकानमें कैसे रहेंगे। ऐसे दुनियादार लोग डरते हैं, वैसे द्वैतहीन स्थितिमें हम कैसे रहेंगे, यह डरते हैं। बोले कि अच्छा, आओ अपने आपको जरा अलग करें। तो पहली बात यह कही कि **अकल्मषम्**—कर्मसे अपनेको न्यारा करो। यह कल्मष शब्दका प्रयोग है लेकिन है वह कर्मके लिए। कर्मश है वह, र का ल हो गया है। यह कर्मकी राख ही है जो हमारे साथ चिपक गयी है तो यह देह भी कर्मकी राख ही है। कर्मानुरूप ही देहकी प्राप्ति होती है। कर्मके अनुसार तो देखो, कर्म, कर्मफल, करण और कर्त्ता—इन चारोंसे जब छूटोगे तब कर्मसे छूटोगे। तो कर्मफल तो है यह देह। यह पूर्वकर्मके फलसे मिला है और कर्मफल है जीवनमें आनेवाला सुख-दुःख और कर्मका एक फल विश्राम भी है। करते-करते जब थक जाते हैं तो विश्राममें पहुँच जाते हैं। तो जड़ द्रव्यसे एकता और कर्मका विक्षेप—सुखाकार, दुःखाकार वृत्ति और वृत्तिकी शान्ति। तो वृत्तिकी शान्ति, वृत्तिका शाबल्य, वृत्तिकी संधि, वृत्ति—ये सब कल्मष ही हैं।

अच्छाजी आओ, पहले तो कल्मषको छोड़ो, कर्म होता है द्रव्यसे, करणसे; इससे ऊपर उठो तुम। बोले—अब कहाँ है? कि अब राग है। तो—**शान्तरजसं**—राग-द्वेष-भय—ये सब निकालो, छोड़ो। तो आगे! बोले—**प्रशान्तमनसं**—मन शान्त है। राग-द्वेष छूट जानेके बाद भी मनोराज्य नहीं छूटता, उससे भी ऊपर उठो।

अच्छा अब? अविद्याकी निवृत्ति होनेके **पहले** भी हमारे चित्तकी ऐसी स्थिति हो जाती है कि उसमें क्लेश प्रकट न हो। जैसे डर तो हो, परन्तु विक्षेपका डर हो। डर होना तो अभिनिवेश है, लेकिन वह क्लिष्ट नहीं है। विक्षेपका भय अक्लिष्ट भय है। अविद्या तो लगी है।

अच्छा जी, अब देखो द्वेष है। द्वेष किससे है? कि राग-द्वेष हमारे मनमें न आंये, द्वेषसे ही द्वेष है। यह अक्लिष्ट है। यह क्लेश नहीं है। अच्छा, लो विपर्यय तो है, क्या विपर्यय है? मैं द्रष्टा हूँ—इत्याकारक वृत्ति है, बिलकुल विपर्यय है। क्योंकि अपनी अद्वैतताका बोध नहीं है। अखण्डताका बोध नहीं है। तो बोध न होनेके कारण मैं सबसे न्यारा हूँ। यह गीताकी बात मैं आपको सुना रहा हूँ—**ब्रह्मभूतमकल्मषम्**। देखो, भेद तो है—मैं दृश्यसे न्यारा हूँ। तो दृश्य अलग है, मैं उसका द्रष्टा न्यारा हूँ—दोनोंमें भेद है। यह भेद क्या है? बिलकुल विकल्प है। परन्तु यह विकल्प अक्लिष्ट है, दुःखद विकल्प नहीं है। भेदकी वृत्ति ही विकल्प है; क्योंकि न देशमूलक भेद है, न कालमूलक भेद है, न वस्तुमूलक भेद है, भेद न होनेपर भी शब्द ज्ञानानुपाती वस्तुशून्य भेद भास रहा है। यह बिलकुल विकल्प है। अच्छा और! वृत्ति साथ लगी है, तो विपर्यय बिलकुल लगा हुआ है। द्रष्टाके साथ तो 'मैं द्रष्टा हूँ' यह वृत्ति भी नहीं लगती है। यद्यपि यह प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति ये सब वृत्ति हैं, परन्तु इनका एक रूप होता है क्लेशदायी और एक क्लेशदायी नहीं। अच्छा, तो शान्त हो गये। मैं हूँ कूटस्थ तटस्थ चेतन। बस हो गया? तो बोले कि नहीं, वह क्या कि यह वेदान्तकी खास बात है यदि तुम किसीसे अलग होकर पूर्णता प्राप्त करोगे, तो वह पूर्णता काल्पनिक होगी। जबतक समाधि और विक्षेप, द्वैत और अद्वैत दोनों समरस, जो द्वैत-विरोधी अद्वैत है, सो यथार्थ नहीं है। वह भी विकल्प ही है। तो स्थिति यह प्राप्त करनी है कि आत्माकी अद्वयतामें समाधि और विक्षेपका भेद मिट जाये। नहीं तो भोक्तापना, भोग्यपना, कर्त्तापना, कर्मपना, द्रष्टापना, दृश्यपना—यह बना रहेगा। तो जबतक आँख बन्द करके बैठे हो तबतक चेतन और आँख खुलते ही, गये! मर गये! वेदान्त हमको बोध यह देता है कि जिस सुखकी तुम्हें उपलब्धि करनी है, उसको पहले देखो अन्वय-व्यतिरेकसे, आत्माके बिना न समाधि है न विक्षेप है और समाधि विक्षेप दोनोंके बिना आत्मा है। इसलिए आत्मामें समाधि और विक्षेप दोनों अध्यस्त हैं, कल्पित हैं और आत्मा स्वयंप्रकाश है और अद्वितीय है। आत्मा ब्रह्म है, उसमें द्वैत कल्पित है, द्वैताद्वैतके भेदसे भी विनिर्मुक्त है। इसीसे यहाँ यह बात बतायी गयी कि—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

न वहाँ कल्मष है, न द्रव्य और द्रव्याश्रित कर्म और द्रव्याश्रित करण और द्रव्यमूलक कर्तृत्व और द्रव्यमूलक भेद नहीं है, इससे ऊपर उठ गये। वहाँ रजोगुण, राग-द्वेष-भय माने तन्मूलक वासनायुक्त वृत्ति नहीं है और वहाँ **प्रशान्तमनसः**, वहाँ मनोराज्य नहीं है। यह होने पर तो बिलकुल अपने स्वरूपमें स्थिति हो जानी चाहिए। बोले कि नहीं, यह द्वैतरहित सुख होनेपर भी यदि वह **ब्रह्मभूतं** नहीं है तो,

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि॥ ६.३०

यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। यह अनुभव जो वेदान्तका है, वह नहीं हुआ। वेदान्तका अनुभव यह है जिसका विज्ञान होनेपर सबका विज्ञान हो जाता है। ***यस्मिन् दृष्टे श्रुते मते सर्वं विज्ञातं भवति।***

तो वह जो अद्वैत आत्मबोध है वह नहीं हुआ। इसलिए इस योगके द्वारा जो प्राप्त हुआ वह क्या है? बोले-**ब्रह्मभूतं**। अच्छा, तो हमने जाकर उसको प्राप्त किया। यह भी बड़ी विचित्र बात है। आप देखो, जितने उपासक लोग हैं वह ब्रह्मसे सायुज्य मानते हैं, लेकिन वहाँ जीवात्मा जाकरके जैसे घड़ा फूटनेपर मिट्टीमें लीन होता है, जैसे पानी बहता-बहता समुद्रमें जा मिलता है, वैसे जीव उपासना करते-करते, भक्ति करते-करते ईश्वरमें जा मिलता है, उसको वेदान्ती लोग नहीं बोलते हैं, वे कहते हैं यह ब्रह्म सरक आया वृत्तिमें, ब्रह्ममें सरकना कहाँ हैं? तो वृत्तिका पेट फट गया। बड़ी चीज़ छोटी थैलीमें आयी और थैली फट गयी।

अब यह कहो कि यह जो घड़ी है इसमें जगह-जगह अवकाश है कि नहीं, थोड़ी-थोड़ी जगह खाली है कि नहीं, सब मशीनसे भरी हुई तो नहीं है न, थोड़ी-थोड़ी खाली है।

अच्छा, यह भारतीय विद्याभवनका हाल है, इसमें भी जगह है। तो घड़ीमें जो जगह है वह अलग और भारतीय विद्याभवनमें जो जगह है वह अलग, यह जगह दो है कि एक है? जगह बिलकुल एक है, घड़ीके दीवारके कारण वह अलग मालूम पड़ती है। इसी प्रकार जो अद्वैत सत् है, जो अद्वैत ज्ञान

है, जो अद्वैत वस्तु है, वह अखण्ड है, यह देहकी उपाधि घड़ीकी तरह, देहकी दीवारके कारण वह चेतनता अलग भासती है। तो न किसीसे कोई मिलता है, न किसीसे कोई अलग होता है। तब क्या होता है कि यह अज्ञानके कारण जो अलगाव मालूम पड़ता है, वह अज्ञानकी निवृत्तिसे निवृत्त हो जाता है।

तो अब इसका अभ्यास क्या है, वह बताते हैं। एक तीर,

'मेरे सद्‌गुरु मार्‌या तीर निकसि गयो पार।' एक तीर उसके लिए काफी है। लेकिन जब एक तीरमें काम न चले तो बारम्बार तीर छोड़ना पड़ता है। जबतक लक्ष्यवेध न हो, **अविश्रान्तम्** बिना विश्रामके—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

सर्वथा वर्तमानोऽपि यह है देखो, अन्तिम बात, फिर चाहे हाय-हाय करता हो, चाहे चिल्लाता हो, चाहे विक्षेपमें हो, वह कोई कालमें होनेवाली एक अवस्था नहीं है, अन्तर्देशमें होनेवाली एक स्थिति है नहीं। दृश्यका कोई आकार नहीं है। वहाँ यह वेदान्त, जो प्रस्थानत्रयीमें-से एक है, यह योगशास्त्र नहीं है, न सांख्यशास्त्र ही है। यह तो उपनिषद् गीता और दोनोंके तात्पर्यका निर्णायक ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र, इसको वेदान्तमें बोलते हैं प्रस्थानत्रयी। यह है तत्त्वज्ञानकी संहिता। माने *कोई ऐरा गैरा नत्थू खैरा,* जो बोले उसीको कह दे कि तत्त्वज्ञान है, तो महाराज, अनजान लोग भटकेंगे। तो उसके लिए जो संहिता है, जबतक उसका बोलना इस तत्त्वज्ञान-संहितासे अनुसृत न हो तबतक कोई आकर कह दे कि जो मैं बोलता हूँ, सो ही तत्त्वज्ञान। नहीं, संहिताके अनुसार, संविधानके अनुसार तत्त्वज्ञानका भी संविधान है, उसीको कहते हैं वेदान्त।

उसी वेदान्तने ही वेदके दो विभाग कर दिये—अपरा विद्या और परा विद्या। जो कर्त्तव्यशास्त्र है उसको अपरा विद्या बोलते हैं और जो बोध शास्त्र है उसको परा विद्या, वेदान्त विद्या बोलते हैं।

हमारे एक मित्र थे, तब हम कभी जब लिखते थे ब्रह्म ऐसा है, ऐसा है, बढ़िया सा-ब्रह्मका निरूपण देते, तो उसके नीचे वे क्या जोड़ देते कि ऐसे ब्रह्मका ध्यान करना चाहिए। सारा मतलब ही गायब हो गया कि नहीं? यह वेदान्त कर्त्तव्य शास्त्र नहीं है, बोध शास्त्र है। यह तत्त्वशास्त्र है। हमारा आत्मा कैसा है, यह बतानेके लिए है। जैसे हम बतायें कि मिट्टी ऐसी है, ऐसी है, ऐसी है और उसके नीचे कोई लिख दे कि ऐसी मिट्टीका घड़ा बनाना चाहिए। तो मिट्‌टी तत्त्वका जो बोध है वही मटियामेट हो गया। उसमें बोधकी महिमा नहीं रही, वह तो व्यक्तिके उपयोगमें आनेवाला स्वार्थ-साधक जो पदार्थ है, वह उसमें मिल गया, वस्तुका जो याथात्म्य बोध है, सो नहीं हुआ। तो वह कब होता है?

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

कर्त्तव्य तीन प्रकारके होते हैं—शारीरिक कर्त्तव्य क्रियाके द्वारा पूरे किये जाते हैं, मानसिक कर्त्तव्य भावनाके द्वारा पूरे किये जाते हैं और यौगिक कर्त्तव्य निवृत्ति, शान्ति और समाधिके द्वारा पूरे किये जाते हैं। तीनोमें कर्तृत्व रहता है तब कर्तव्य होता है। बिना कर्त्तव्यके कोई कर्तृत्व नहीं होता है और जब ब्रह्मात्मैक्य बोध हो जाता है, तब कर्तृत्व, कर्म और करण और जिस आश्रयमें कर्म होता है सो द्रव्य और उस कर्मका फल जो होता है सो और उसका भोक्तृत्व—ये सब अखण्ड ब्रह्ममें बाधित हो जाता है। तो इस बातको सब समझ लें, यह जरूरी भी नहीं है, क्योंकि यह तो सचमुच जो तत्त्वके सच्चे जिज्ञासु हैं, अनात्मासे अपनेको विवेक करके, उससे वैराग्यवान होकर, समाधि-सम्पत्तिको धारण करके, चित्तसे ही मुमुक्षा धारण करके जो आत्माके सच्चे स्वरूपको जानना चाहते हैं और वह जानना तबतक पूरा नहीं होगा, जबतक आत्माको ब्रह्म न जानेंगे। यह जो वेदान्तकी रीति है, यह कर्म,

उपासना और योग—तीनों; कर्म है शारीरिक स्तरपर, उपासना है मानसिक स्तरपर और योग है विश्रामके स्तरपर। ये तीनों, कर्तृत्वपूर्वक कर्म, कर्तृत्वपूर्वक भावना और कर्तृत्वपूर्वक विश्राम, अभ्यास करके विश्रामका अभ्यास डालना, ऐसे बैठो, ऐसे सोओ, ऐसे छोड़ो, विश्रम्म भी कर्तृत्वपूर्वक होता है, नैसर्गिक नहीं है। नैसर्गिक विश्राम मोक्षका हेतु नहीं होता, कर्तृत्वपूर्वक विश्राम मोक्षका हेतु होता है। इसलिए **अकर्मणि च कर्म यः**। इसलिए बुद्धिमान पुरुष अकर्म दशाको भी कर्म ही समझता है। हम चुपचाप हाथ-पाँव बाँधकर बैठे हैं, तो दूसरा समझेगा कि निकम्मा बैठा है, पर जब हम हाथ-पाँव समेटकरके बैठे हैं, तो उसमें तो कर्त्तापना है। इसी तरह मनोवृत्तिको समेटकर बैठे हैं, तो इसमें भी कर्त्तापना है। तो वेदान्तका दृष्टिकोण तो बड़ा सूक्ष्म है महाराज, तो क्या करना चाहिए? कि—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।

लो कर्म, कर्माणि दूषयतिति—जो कर्मको गन्दा करदे, उसका नाम कल्मष है। कर्मका संस्कार कल्मष है। तो यह कैसे होता है? कि यह करनेसे यह होगा, हम यह करेंगे तब यइ पायेंगे। अब लो, जिसके मनमें यह है कि यह करेंगे, तो यह पायेंगे, यह कर्तृत्वसे मुक्त कैसे हो सकता है? यह पानेके लिए यह करना चाहिए, यह करनेसे यह मिलता है। जहाँ कर्म है वहाँ भोग है, जहाँ भोग है वहाँ कर्म है। कर्म और भोगसे मुक्ति तों महाराज कर्मसे नहीं मिलेगी, इसके लिए तो निवृत्तिका दरवाजा खटखटाना पड़ता है। वह शान्ति है, वह निवृत्ति है। उपनिषदोंपर धूल नहीं डाली जा सकती—***नास्त्याकृताकृतेन। कृतेन कर्मणा अकृतः मोक्षो न दिव्यति।*** वह एक पुरुषार्थ है।

अब यह कहो कि हमें तो पुरुषार्थकी जरूरत ही नहीं है। ठीक है तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर। दुनियामें कितने कल-कारखाने चलानेवाले हैं, कितने राजभोग करनेवाले हैं, अब हम अमेरिकामें जा जाकर, प्रान्तमें जा जाकर वहाँके भोगियोंको, वहाँके कारखानेदारोंको यह थोड़े ही बताते हैं कि तुम छोड़ छाड़कर आओ, संन्यासी बनो, हम तुमको चेला बनायेंगे। वह तो जो लोग महाराज चेला बनाने जाते हैं उनको तो उनके अनुरूप बोलना पड़ता है और जो

लोग आये हुएको चेला बनाते हैं, वे उसको अपने सिद्धान्तके अनुरूप बनाते हैं। जब कोई आयेगा तो कहेगा महाराज, जैसे कहो वैसे करें और हम जब किसीके पास जायेंगे कि तुम यह करो, तो कहेगा महाराज, जरा हमारे साथ मिलाकरके बोलो, हमारा कारखाना भी रहे, हमारा भोग-राग भी रहे, हमारी मँगेतर भी रहे, हमारी रखेल भी रहे, हमारा ब्लैक मार्केट भी रहे, हमारी शराब भी रहे और आप जो कहते हो, सो हम लेनेको तैयार हैं, लेकिन यह सब हमारा बना रहे। चोरीका माल भी रहे, बेईमानीका माल भी रहे और जो आप देते हैं वह भी हम लेनेको तैयार हैं। ऐसी हालतमें उनसे मिलकरके देना पड़ेगा, क्योंकि हम देनेके लिए गये और जब वे लेनेके लिए आते हैं तब हम कहते हैं उनसे कि चार एकादशी करो, छह महीने मूँगककी दाल खाओ, जौकी रोटी खाओ! जब उनके मनमें इच्छा होगी तब निवृत्तिकी साधना बनेगी, निवृत्तिकी साधना दूसरेके उपदेशसे नहीं बनती है, अपनी इच्छा होनेपर बनती है। यह वेदान्तका मार्ग, बड़ा विलक्षण है, इसमें देहसे ऊपर उठना, देहसे होनेवाले कर्मसे ऊपर उठना, उसके करण, इन्द्रियोंसे ऊपर उठना, उनकी जो इच्छाएँ हैं, वासनाएँ हैं, उनसे ऊपर उठना और उनके पूरा होनेपर जो भोग होता है, उनसे ऊपर उठना और जिस लिंग शरीरमें ये सब-के-सब इकट्ठे रहते हैं, उनसे ऊपर उठना और जिस अविद्याके कारण उसको मैं मान लिया है, उस अविद्याको चकनाचूर करना, यह सारा कर्त्तव्य।

तो आओ देखो, **युञ्जन्नेवं सदात्मानं विगतकल्मषः। सदात्मानं युञ्जन्। सदा आत्मानं युञ्जन्** एक बात है और **सदात्मानं युञ्जन्** दूसरी बात है। सत्से जुड़ो। तो बोले—देखो, यह भूल मत जाना, यह जो तुम्हारा सत् है, यह स्वयंप्रकाश चिदात्मासे न्यारा है कि एक है! तुम्हारा सत्‌चित् एक है कि दो है? यदि चिद्‌रहित सत् है तो वह जड़ है और यदि सद्‌रहित चित् है तो वह क्षणिक है। इसलिए ऐसा सत् मत पकड़ लेना जो चित् न हो और ऐसा चित् मत पकड़ लेना जो सत् न हो। असलमें सत्-चित् अगर जुदा-जुदा होंगे तो सत् तो बेहोश रहेगा और सत्से अलग यदि चित् होगा तो वह मरता रहेगा, चेतनसे अलग सत्ता मुर्दा है और सत्से अलग चेतन तड़फड़ा रहा है, क्षणिक, मरता, जिन्दा। इसी श्रुतिने कहा **अस्तीत्येवा उपलब्धयः।** उपलब्धि और

सत्ता—इन दोनोंको कभी अलग मत करना। ज्ञान और सत्—यदि इनको अलग कर दोगे, यह ज्ञान स्वरूप सत् है, सत्स्वरूप ज्ञान है, यदि इनको अलग-अलग कर दोगे तो तुम्हारी सत्ता जड़ता है, चार्वाक मत है और यदि सत्तासे अलग तुम्हारी चित्ता है, बौद्धमत है। वेदान्त सत् चिद्के अद्वय पदमें स्थिर करता है। उसका अनुभव करवाता है। उसके विषयमें जो अविद्या है उसको दूर करता है, वेदान्तकी महिमा निराली है। अपने मनोराज्यको वेदान्त मत मान लेना। आत्मासे चित् और सत्से निर्विशेष; ऐसे कहो कि ईश्वरका वर्णन हो तो सत्से कहेंगे जगत्की उपादानता। जगत्की विवर्तिनी उपादानता सत्में है और जगत्की विवर्तिनी निमित्त कारणता आत्मामें है और दोनोंके सत्-चित्के एक होने पर विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म है एवं उपादानता और निमित्तता लौकिक दृष्टिसे कल्पित हैं, परमार्थ दृष्टिमें न उपादानता है, न निमित्तता है। तो पहले उपादानताको ले जाना पड़ता है सत्-पर्यन्त, जिसमें निद्रा होती है। और चित्ताको ले जाना है प्रकाशकतापर्यन्त, जिसको निद्रा कभी स्पर्श नहीं करती है और जब दोनों एक हैं, तो स्वयं प्रकाश सत्में निद्रा नहीं है और सत् स्वयंप्रकाशमें विनाश नहीं है। माने देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित यह अनन्त ब्रह्म है।

आपको क्या सुनाऊँ, यह जो हमारा वेदान्त है यह ब्रह्म होनेको नहीं कहता। और तो क्या यह जो साधन बताता है, अरे साधनमें भी करनेवाले नहीं हैं, आप देखोगे। अच्छा, जैसे किसीने कहा कि आप परमानन्दको चाहो। उसने तो आज्ञा की कि हे साधक, परमानन्दकी इच्छा करो। लेकिन असलमें परमानन्दको अब हम नये सिरेसे चाहें, सो बात नहीं है। हम चाहते ही हैं परमानन्दको। वह अनुवाद होता है, विधान नहीं होता है।

तो आओ अब आपको यह बतायें कि इससे यह होगा कि कल्मष होगा और सदा अनात्मयोगका परित्याग होगा, तो क्या होगा? बोले—**सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते** आओ महाराज, गुदगुदायें आपको! यह कौन गुदगुदी है? बोले—यह ब्रह्म गुदगुदी है। कल मैं संस्कृतकी एक पुस्तक पढ़ रहा था, दक्षिण भारतका वर्णन था उसमें। वहीं बस तेलगू, तमिल, मलयालम, कन्नड़भाषी जो क्षेत्र हैं, उन्हीं चारोंमें वह पुस्तक घूमती है। सो महाराज, वर्णन

करते-करते खान-पान-रहन-सहनमें 'काफी' का वर्णन आया। तो काफीके लिए उसमें 'ब्रह्मकषाय' शब्द लिखा हुआ था। हम तो उसको 'कापेयं' बोलते हैं। अब उसमें तो लिखा हुआ था—ब्रह्मकषाय। ब्रह्म कसैली। सुपारी तो वहाँ पैदा होती है और वह कसैली तो होती है। वह तो मामूली है और यह सुपारी कैसी है? कि बोले भाई, यह तो ब्रह्म-सुपारी है। बीज होते हैं काफी के बढ़िया, बढ़िया। तो यह ब्रह्मपेयं है। क्या नाम है।

अब देखो, भगवान्ने गीतामें क्या नाम रखा—**ब्रह्मसंसपर्श**। गौड़-पादाचार्य कहते हैं—**अस्पर्शयोगों नाम**। दोनों तरहसे बोलते हैं। अनिर्वचनीयताकी महिमा यही है, स्पर्श कहो तो अस्पर्श है, स्पर्श कहो तो स्पर्श है। स्पर्श न हो तो प्रवृत्ति ही न हो और स्पर्श हो तो विषय है। स्पर्श हो तो विषय है और स्पर्श न हो तो कोई उसको चाहेगा क्यों? तो बोले—यह स्पर्शास्पर्श क्या मामला है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुख दुःखदाः। २.१४

विषयके जो स्पर्श हैं और इन्द्रियोंके जो स्पर्श हैं, जब रूप आकर आँखको गुदगुदाता है स्वाद आकर जीभको गुदगुदाता है, जब आवाज रुनझुन-रुनझुन आकर कानको गुदगुदाती है और गुलाबकी, इत्रकी गन्ध आकर नाकको गुदगुदाती है, वह संस्पर्श होता है तो गीताने कहा—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः। ५.२७

फेंक दो इन बाहरी स्पर्शोंको बाहर, जाने दो ये जायें वहाँ। बोले—देखो इसीको संस्पर्श, माने सम्यक् स्पर्श क्या है? बाह्य स्पर्श त्यागपूर्वक जो आत्माकी ब्रह्मताका स्पर्श है, आत्माकी ब्रह्मताकी विषयता है, वह क्या लेकर आता है? कि, **अत्यन्तम् सुखमश्नुते**—*अत्यन्तं माने अन्तान् त्रिविध- परिच्छेदान्, अतिक्रान्तम् अत्यन्तम्*। देश-काल-वस्तुका अतिक्रमण करके जो ब्रह्म संस्पर्श होता है वह त्रिविध परिच्छेद-रहित है कि ब्रह्म संस्पर्श है? बोले—बाबा, यह विभाग मत करो। होगा क्या? कि इसमें बात एक बड़ी भारी कही गयी है। पहले ऐसा होता था कि थोड़ा व्याकरण, थोड़ा न्याय, थोड़ी पूर्व-मीमांसासे मनुष्य परिचित हो और फिर वेदान्त पढ़े, पुराने वेदान्तकी भाषा दूसरी है। और वह ऊँची दर्शनशास्त्रकी भाषा भी तो दर्शनशात्रकी ही होती है न!

इसमें एक अश्नुते पद पड़ा हुआ है, आप अगर इसपर ध्यान दो तो यह कहता है कि यह जो ब्रह्म-संस्पर्श है, यह कल्पित है। और इसका जो प्रकाशक स्वयं प्रकाश आत्मा है वह जब इस कल्पित ब्रह्म स्पर्शसे तादात्म्यापन्न होता है, तब इसकी पृथक्ता जल जाती है और आत्मा ही होता है। 'अश्नुते' क्रियामें यह बात पड़ी हुई है जो संस्कृत भाषाके विद्वान् हैं वे इस बातको जानते हैं।

आत्मा ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखं अश्नुते।

अश्नुतेका अर्थ *अश्नाति* है—खाता है—भोक्ता है, नहीं है, यह ***व्याप्नोति*** है। तब *ब्रह्मसंस्पर्शमपि आत्मतः करोति*—वह जो अनन्त सुख ब्रह्मसुख है उसको भी यह आत्मासे पृथक् रूपमें अनुभव कर लेता है। तब अनुभवका रूप क्या होता है?

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ६.२९

सबमें मैं, मुझमें सब;

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। ६.३०

यह अनुभवका स्वरूप होता है और,

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। ६.३१

एकताका बोध, इस अनुभवका पर्यवसान है। बोले—महाराज, ये सब जितने हैं वचन, वचनजाल, ये काहेके लिए हैं? कि ये मार्गका इंगित करनेके लिए हैं। जरा इस मार्गमें चलो। पहले लक्ष्यका ठीक निर्णय कर लो कि कहाँ पहुँचना है, नहीं तो पड़ावको ही मान लोगे कि यही है। पहले संविधानके द्वारा, शास्त्रके द्वारा, वेदान्तके द्वारा निश्चय कर लो कि लक्ष्य क्या है, नहीं तो रास्तेकी सरायको मान लोगे कि पहुँच गये।

लक्ष्य ज्ञानहीन; वह निर्णय करनेके लिए आवश्यकता है, लेकिन जब चलोगे इस रास्तेपर, तो आपको क्या सुनायें, मनोमय कोशमें तो सब ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वणवेद आदि रह जाते हैं। यह बात आपको तैत्तिरीयोपनिषद्में मिलेगी। विज्ञानमय कोशमें नहीं, आनन्दमय कोशमें नहीं, साक्षी स्वरूपमें नहीं, यह मनोमय कोशमें निश्चयको पक्का कर देते हैं कि कहाँ पहुँचना है।

अच्छा, एक बात आपको गीतासे ही सुना देते हैं। पहले आप लक्ष्य निश्चय कर लो! जबतक वहाँ पहुँचना नहीं, तबतक बीचमें कहीं रुकना नहीं, बोले—फिर? कि सुना दें गीताकी बात—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ६.४४

योगका पारगामी नहीं, योगी नहीं, योगका जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्मका अतिक्रमण कर जाता है। पहले बिलकुल निश्चय तो कर लो और निश्चय नहीं होगा महाराज, तो रास्तेमें कहीं कोई आकर बोल देगा कि बस, बस, अब इसके आगे अभी कुछ नहीं और ऐसे बोलनेवाले बहुत हैं। तो उन बोलनेवालोंसे मनोमय कोशमें ही सावधान हो जाओ कि तुमको कोई रास्तेमें रोक न ले!

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।

एकबात तो यह कही कि ब्रह्मसंस्पर्श ही अत्यन्त सुख है। अत्यन्त सुख माने इसके बाद, इसके परे, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई सुख नहीं है। **अत्यन्तं**का अर्थ यदि यह कहें कि यावत्काल यह सुख है तावत्काल है। ब्रह्मसंस्पर्श कालके अनन्तर कोई दूसरा सुख होगा—तो बोले—नहीं, अत्यन्त, इसका अन्त ही नहीं है। इसके बाद दूसरा होगा, यह ख्याल छोड़ दो। अच्छा भाई, यह अन्तर देशमें होता है, तो कोई देशातीत होगा? तो बोले—**अत्यन्तम्,** यह देशमें नहीं है। स्वरूपभूत है। बोले—अच्छा, यह किस सुखकी रूपरेखा है? इस सुखके अतिरिक्त कोई ब्रह्मसुखकी और रूपरेखा होगी? तो **अत्यन्तम्**का अर्थ यह हुआ कि यह ब्रह्मसंस्पर्शरूप सुख किसी कालमें सीमित नहीं है। अत्यन्त माने अतिक्रान्त, कालातिक्रान्त, काल भले खत्म हो जाये पर यह खत्म नहीं होगा और **अत्यन्तम्**का अर्थ है देशातिक्रान्त, अन्तर्देश, बहिर्देशका भेद भले समाप्त हो जाये, पर यह समाप्त होनेवाला नहीं है। और आत्मा-अनात्माका भेद भले समाप्त हो जाय, यह समाप्त होनेवाला नहीं है। **अत्यन्तम् सुखम्।**

दूसरी बात यह बतायी कि यह सुख अल्पस्पर्शरूप नहीं है, ब्रह्म संस्पर्श है। तो अल्प संस्पर्श क्या है?

यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति।

यह जो हमारे वेद वेदान्तका उद्घोष है याद आ जाती है। बारम्बार, यह बात पहले-पहल जिसने बतायी होगी, उसको अल्पसे परिच्छिन्नसे कितना बड़ा वैराग्य होगा, जरा इसपर तो ध्यान दो। अनुभूतिको छोड़ दो। स्वरूपानुभूतिको छोड़ दो। उसका कहना है कि कालके घेरेमें, देशके घेरेमें या किसी वस्तुके रूपमें जो सुख है, वह तो सुख ही नहीं है, माल्पेसुखमस्ति— अल्प देश, अल्प काल, अल्प वस्तु सुखका अधिकरण नहीं है। सुखस्वरूप आत्मामें ही अल्पता और विशालता भास रही है—**यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति**। यह कोई साधारण बात नहीं है। लोग पहले पढ़-लिख लेते हैं, सोच समझ लेते हैं और बोलते हैं बस यह हमारी बात है। कि ठीक है, वेद भी तुम्हारा, शास्त्र भी तुम्हारा, वेदान्त भी तुम्हारा। सब तुम्हारी बात है। सब अपनी ही तो बात है। परन्तु जिसको उसकी अनुभूति नहीं हुई है उसके भ्रमको मिटानेके लिए जिसके मुँहसे यह पहले-पहल वचन निकला होगा, उसके अनुभवके सामने सिर झुक जाता है—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। छा. ७.२३.१

तो **अत्यन्तम् सुखं** कहनेका अभिप्राय हुआ कि जिससे अलग कोई सुख नहीं और **ब्रह्म संस्पर्शं** कहनेका अर्थ हुआ यह अल्प संस्पर्शजन्यसुख नहीं है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। ५.२२

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्च..... । ५.२७

अब तीसरी बात देखो कि जब यह अल्प स्पर्शसे, अल्पभोगसे उत्पन्न होनेवाला सुख नहीं है और उससे बड़ा कोई सुख नहीं है, तो जब फल इतना बड़ा है, तो इसका साधन बड़ा कठिन होगा, बड़ा क्लिष्ट होगा? तो बोले— **सुखेन**—यह बमगोला है, मार दो तलवार, क्योंकि ये भगत लोग जो हैं न हमारे, ये बहुत डरवाते हैं वेदान्तियोंको, क्या?

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ १२.५

इसीसे आचार्योंने वहाँ 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषां'को नहीं पकड़ा है, इसको

महत्त्व नहीं दिया है, '**देहवद्भिः**' पर ज्यादा जोर दिया है। जो अपनेको देह मानकर बैठे हुए हैं, उनके लिए। मानते तो हैं अपनेको देह और चाहते हैं अव्यक्त सुख, तो उनके लिए क्लेश है। महात्माओंने हमारे यह नहीं कहा कि अव्यक्त सुख क्लेश है, यह कहा कि देहाभिमानियोंके लिए, जो देहमें बैठे हुए हैं कि यह देह मैं हूँ, देह मेरा है, उनके लिए मुश्किल है, कठिन है और जिन्होंने विवेक करके देहसे अपनेको पृथक् कर लिया, उनके लिए कठिन नहीं है। इसीसे आप एक दूसरा वचन देखो गीताका; यह इसलिए आपको ध्यान दिलाता हूँ कि यदि कभी कोई योगी या कभी कोई भगत आपको कहे कि ब्रह्मसुख तो बड़ा मुश्किल है, तो उसके लिए जवाब आपके पास तैयार रहे, हाजिर जवाब! एक तो आपके ध्यानमें आगया—**सुखेन-अनायासः**; बिना किसी आयास-प्रयासके, और जो प्राप्त करोगे, जो देशान्तरमें है, समझो कि लन्दनमें एक सुख है, तो किराया इकट्ठा करोगे, हवाई जहाजपर बैठोगे, रास्तेमें अगर कोई ऐक्सीडेण्ट नहीं हुआ, वहाँ पहुँचोगे, तो वहाँ भी वह सुख तो खरीदना ही पड़ेगा न भाई; वहाँ भी खरीदकर मिलेगा। होटलमें ठहरोगे, पैसा नहीं रहेगा तो ठहरायेंगे ही नहीं, निकाल देंगे वहाँसे। वहाँका कोई स्त्री, कोई शराब, कोई मांस, कोई खान-पान, कोई क्लब काम नहीं आयेगा, यदि यहाँसे अपनी गाढ़ी कमाईका पैसा वहाँ लेके नहीं जाओगे। तो गाढ़ी कमाईका पैसा जिसमें खर्च करना पड़ेगा, वह '**सुखेन**' थोड़े ही है! तो यह अनायास है। तो इसका अर्थ यह है। देखो हमारा लन्दनसे इसका मतलब नहीं है, हमारा मतलब तो है ये स्वर्गादि ऊर्ध्वलोक हैं वहाँके लिए भी जब यहाँ पुण्य करके पूँजी इकट्ठी करोगे, धर्म करके पूँजी इकट्ठी करोगे तब, वहाँ सुख मिलेगा।

अच्छा भाई आओ, कोई कहेगा कि ठीक है परलोकका सुख हमको नहीं चाहिए। आओ हम अपने आत्मामें ही सुखका अनुभव कराते हैं, इसमें तो कोई आयास नहीं है। अजी कहनेको तो आयास नहीं है; आपको सुनाता हूँ। एकदिन हमारे एक सज्जन आये बाँधपर, उड़ियाबाबाजी महाराजके पास आये, महाराज, मैं आपका शिष्य बननेके लिए आया हूँ। बहुत बढ़िया। तो उन्होंने कहा—कि देखो, यह पल्टू जो हैं हमारे पास, ये सबसे बड़े महात्मा हैं, तुम उनके शिष्य बन जाओ, यही सलाह मैं देता हूँ। पल्टू बाबाने कहा—अच्छी बात है! आओ! गया

पल्टूके पास, हाथ, वाथ जोड़ा। तो उन्होंने कहा—देखो—यह है पेड़, नीमका पेड़, गंगाजी सामने हैं, तुम इसके नीचे बैठ जाओ, लघुशंका लगे, कर आना, शौच लगे, हो आना, स्नान कर लेना गंगाजीमें और पानी मैं लाके रखूँगा तुम्हारे लिए, भोजन मैं दूँगा, बैठो यहाँ, उठना मत! भजनमें बैठ जाओ! अब महाराज, वह जो बैठा तो एक घण्टा, दो घण्टा, तीन घण्टा जब उठकर चला तो बोले—ऐ कहाँ जाता है ? बैठ! महाराज, आता हूँ। कि नहीं, नहीं, कहीं-नहीं जाओ! अब तो महाराज बड़ी जोरसे भगा, बोले—पकड़ इसको, अब वह भाग गया। यह जो लोग समझते हैं कि चुपचाप होकर बैठना निकम्मापन है, वह निकम्मापन नहीं है, जिसको हाथ-पाँव हिलानेकी आदत है और जिसको टपाटप बटुआ-सा मुँह और टका-सी जुबान निकलती रहती है उनसे कहो घण्टाभर चुप होकर बैठो तो उनसे बैठा जायेगा ? यह तो बड़ा मुश्किल है। कि देखो, पीठकी रीढ़ न हिले, हाथ न हिले, आँख न हिले, बैठो तो! अच्छा देखो, आज कोई काम नहीं करना आज किसीसे बोलना मत, आज इतना ही करदो।

यह न करना, करनेसे ज्यादा मुश्किल है। जो लोग करनेमें कभी बैठते नहीं हैं, वे समझते हैं कि बाबाजी लोग आराम ही करते रहते हैं, निकम्मे हैं, जरा आकर एकदिन बैठो तो चुपचाप, तब मालूम पड़े, यह निकम्मापन नहीं है, बड़ा भारी कर्म है—**अकर्मणि च कर्म यः।**

जहाँ आसन स्थिर हो, *'तन थिर, मन थिर, नैन थिर सुरत निरत थिर होय। कहे कबीर वा पलक को, कलप न पावे कोय।'* तो यह बहुत मुश्किल है।

अच्छा, तो उस समयका जीवनमें आना बड़ा कठिन है, जिसमें निर्वृत्तिक होकरके चित्त निरुद्ध दशामें बैठता है।

अति हि कठिन है गगनपथ चलिबो।

निगमके मार्गमें चलना, वेदके मार्गमें चलना बड़ा ही कठिन है।

अच्छाजी आओ, अब आपको सुनाते हैं—**'सुखेन।'** एकाध और आपको ध्यान दिला दें गीतामें, अच्छा रहेगा, मैं समझता हूँ। नवें अध्यायके प्रारम्भमें देखो—

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्। ९.२

यह मरनेके बाद जो मिलता है, वह चीज दिलानेके लिए हम यह बात नहीं कर रहे हैं, इसी जीवनमें मिलती हैं। जैसे— *भज कलदारं-भज कलदारं* करनेमें मजा आता है न, वैसे इसी जीवनमें मिलनेकी यह चीज है। '*खुली आँख परमारथ देखु।*' हाथ-पाँव बाँधनेकी जरूरत नहीं, रीढ़ सीधी करनेकी जरूरत नहीं, आँख बन्द करनेकी जरूरत नहीं

सहजौं चलों सोई परिकरमा, जो जो करौं सो पूजा।

आप लोग शंकरजीका स्तोत्र कभी पढ़ते होंगे—

यद् यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भोत वाराधनम्।

श्री अभिनव गुप्तने लिखा है, काश्मीरके बड़े भारी आचार्य हुए हैं प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदायके आचार्य। वे कहते हैं—

यस्त्वात्मानं सर्वगतं न पश्यति तस्मात् परमात्मा पलायितः।

'पलायितः' शब्दका प्रयोग किया है। जिसको घड़ेमें मिट्टी नहीं दिखती, उसके लिए मिट्टी भाग गयी। घड़ेमें-से तो भाग ही गयी न! जिसको सृष्टिमें सर्वत्र परमात्माका दर्शन नहीं होता, उसको परमात्माका क्या दर्शन होता है। तो **'सुखेन'** का अर्थ यही है। अरे भाई, जहाँ हो वहीं। जब हो तब। जो हो सो। सुखेनका अर्थ यही है।

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

अच्छाजी **सुखेन**, एक बात तो हुई **सुसुखं कर्तुं सुसुखं, सुखेन ब्रह्म संस्पर्शं**। अनायास हो गया न। अच्छा, एक बात प्रसंगवश और कह देता हूँ। किसी-किसीको बड़ा डर होता है कि हाय राम, हम बड़े पापी, हमको परमात्मा कैसे मिलेगा?

हे भगवान्! आप बिलकुल मत डरो। इमानदारीकी बात अगर मैं कह दूँ, तो परमात्मा जो मिलता है, प्रकट होता है, अगर पापियोंसे मिलना न होता, पापियोंके प्रति प्रकट न होना होता, तो परमात्माके प्रकट होनेका कोई अर्थ ही नहीं था। वे धर्मात्मा लोग तो जा-जाकर स्वयं उससे मिल लेते। वे तो उसके महलमें घुसते और हाथ मिलाते। वह तो बाहर निकलता है। वह स्वयं प्रकाश, अपनी रोशनी डाल-डालकर चीजोंको देखता है, अपनेको जाहिर करनेके लिए। अच्छा तो आप बिलकुल नहीं डरना।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ ४.३६

दुनियाके सबसे बड़े तीन पापी छाँट लो और उन तीन पापियोंमें-से अगर सबसे बड़े पापी तुम्हीं हो, तब भी आओ ज्ञानकी नाव तुम्हारे लिए तैयार है।

यह महाराज, हमारे एक तरहके महात्मा होते हैं, वे जिन्दगी भर अन्तःकरण धुलवाते रहते हैं। बोले—महाराज, कुछ खानेको दो; कि अभी तुम्हारा कटोरा साफ नहीं है, धोकर ले आओ। अब वह धोकर लाया, तो नहीं अभी यह साफ नहीं, अब महाराज सारी जिन्दगी कटोरा धोनेमें बीत जाती है। भोजन करनेको मिलता ही नहीं। वे कहते हैं एक जन्म, दो जन्म, तीन जन्म और इधर देखो, हमारी गीता माता, अपने बच्चेसे यह कहती है कि मुँह नहीं धोओगे तो रोटी नहीं मिलेगी? नहीं भाई, बच्चा चाहे कैसा हो, गन्दा हो, रूखा हो, भला हो, उसको रोटी देना माँका काम है। दुनियाके सब पापियोंसे बढ़कर तुम पापी नहीं, पापकृत्तर नहीं, पापकृत्तम हो, तब भी तुम्हारे लिए ज्ञानकी नावपर जगह है। बोले—पापसे कैसे पार पायेंगे? अरे, इस नावपर बैठो तो सही। **सर्वं वृजिनं संतरिष्यसि।** सारे पाप-तापको तुम स्वयं पार कर जाओगे। देखलो यह। इसीसे कहते हैं, ***भगवद् गीते अम्ब त्वामनुसंदधामि***—अरी ओ री मेरी मैया, मैं तो तुझे ढूँढ़ रहा हूँ। क्योंकि मेरी गन्दगी देखे बिना तू अपनी गोदमें ले लेती है। मेरे कपड़े—लत्ते, मेरी पोशाकको देखे बिना, तू मुझे अपना बेटा बताती है।

एक मैय्या थी महाराज, आधुनिक ढंगकी, अपने सिरमें तो बाँध लिया एक स्टीलका लोटा, और आँखमें मार लिया डण्डा, और होठ रंग रँगाकर वह धमाधम तैयार क्लब जानेको, कोई उसका Friend आ गया लेनेको, इतनेमें उसका बच्चा जो घरमें था, बच्चेको छोड़कर जा रही थी, वह गन्दा, कुरता भी उसका अच्छा नहीं, उसको तो सँवारा ही नहीं था उसने, वह दौड़कर आ गया, माँ-माँ करने लग गया। अरे, मुँह लग गया है और अपने फ्रेण्डसे बोली कि यह नौकरका बच्चा है। तो यह तो महाराज जो आधुनिका हैं उनकी बात है भला! यह हमारी मैया जो है, गीता मैया, यह **अम्ब त्वामनुसंदधामि**। पापी-से-पापीको अपनी गोदमें लेनेको तैयार है और महाराज, परिश्रमसे नहीं **सुखेन**

ब्रह्मसंस्पर्शं। सुखेन—कर्मोपासनयोगादिनिरपेक्षम्। सुखेनका अर्थ यह है—न कर्मकी जरूरत है, न उपासनाकी जरूरत, न योगकी जरूरत, आओ-आओ, चुटकी बजाया, *घोड़ेके रकाबमें पाँव और ब्रह्मज्ञान।*

तो फिर अब तीन बात आपको सुना दी—एक तो यह सुख अत्यन्त है। दूसरे ब्रह्म संस्पर्श है, अल्पस्पर्श नहीं है। तीसरी बात अनायास लभ्य है। एक चौथी बात और आप अपने ध्यानमें ले लो। वह क्या है ? कि, **अश्नुते**।

यह सुख तुम्हारा भोग्य बनकर तुम्हारे सामने आकर खेलेगा नहीं। यह जो सुख है इससे तुम एक हो जाओगे। अश्नुतेका अर्थ है *'अशु व्याप्तौ।'* व्याप्त हो जाओगे। जैसे लिपिमें कागजपर जब 'क' लिखते हैं, तब उसमें मुँहसे बोला जानेवाला 'क' अक्षर व्याप्त है। जैसे सपनेमें कोई चीज दिखाई पड़ती है, उसमें तुम व्याप्त हो कि नहीं ? आपने कभी इसपर विचार किया है ! सपनेमें जो चीज दिखायी पड़ती है—हाथी, घोड़ा, औरत, मर्द, उसमें तुम्हारी आत्मा ही हिल- डोल रही है, हँस-खेल रही है, बोल रही है, देख रही है, दीख रही है। आपने इस बातपर कभी विचार किया है ? अगर यह रहस्य तुम्हारे सामने खुल गया तो सारे जाग्रत्‌का रहस्य तुम्हारे सामने खुल गया।

हमारा यह कहना है—यहाँ तककी स्थिति मनुष्य बिना वेदान्तके ही प्राप्त कर सकता है। लो, और सुना दूँ। परन्तु अभी तो इससे आगे है। यह सोपाधिक, निरुपाधिक दो प्रकारका योग होता है। सर्वात्मभाव जो है सो तो सोपाधिक योग है और निर्नाम रूप जो निरुपाख्य योग है वह निरुपाधिक योग है। व्यतिरेकी योग निरुपाधिक है। उड़िया बांबाजीकी भाषामें मैं यह बात बोल रहा हूँ। अन्वयमें सर्वात्मभाव है और व्यतिरेकमें सर्वातिरिक्त भाव है। हमारे ज्यादा करके जो वेदान्ती होते हैं, वे व्यतिरेक भावको पकड़ते हैं, अन्वय भावको नहीं पकड़ते हैं। क्योंकि वैराग्यमें किञ्चित् न्यूनता होनेपर सोपाधिक योग ही पकड़ा जा सकता है, निरुपाधिक नहीं। और वैराग्य पूर्ण होनेपर निरुपाधिक योग पकड़ा जा सकता है। बात तो दो टूक कहनी पड़ेगी, यह सब आलतू-फालतू नहीं।

अच्छा, यह बताओ ब्रह्म सोपाधिक है कि निरुपाधिक ? ये तो दोनों योग हैं। योग माने उपाय— ***योग संहननोपायः।*** कई चीजें एकमें मिला दो, तो

उसका नाम योग हो जायेगा और किसी फलकी प्राप्तिके लिए जब साधन करोगे, तो उसका नाम उपाय होगा और उपाय वह होता है जो फलको प्राप्त करके छोड़ दिया जाता है। यदि फलकी प्राप्तिके पहले कोई उपाय छुड़ा दे, जैसे आप नावपर चढ़ें कि हम उसपार जायेंगे। अभी उसपार तो पहुँचे नहीं और किसी भले मानुषने चिल्लाकर कहा कि नावसे कूद पड़ो। कूद पड़ेंगे तो डूब जायेंगे। अरे, पहले नाव पार लग जाय, तब ना नावको छोड़ना होगा। उपाय शब्दका व्याकरण रीतिसे यही अर्थ है। भर्तृहरिने वाक्यपदीयमें उपाय शब्दका यह अर्थ दिया है। महावैयाकरण क्या बोलता है—

उपादायापि हीयन्ते उपायास्ते प्रकीर्तिताः।

उपाय किसको कहते हैं? कि इनको पहले साधनके रूपमें स्वीकार करो और साध्यके मिल जानेके बाद छोड़ दो। कैसे? कि जैसे आपको दस मील दूर अपने मित्रके घर जाना है, तो उपाय क्या है? बोले—मोटर। तो मोटरपर चढ़ गये। अब पहुँच गये कहाँ, कि उसके दरवाजेके सामने। तो बोले कि भाई हम मोटरपर जो दस मील आये हैं, तो हम उसके घरमें ड्राइंगरूममें ले जायेंगे मोटर और मोटरमें बैठे-बैठे बात करेंगे। महाराज जिस मोटरने दस मील पहुँचाया, उसको हम छोड़के कृतघ्न बनें! सो बात नहीं है। *उपादायापि हीयन्ते।* परन्तु यदि उपेयकी प्राप्तिके पूर्व,

एक बार हमको दो सौ मीलकी यात्रा करनी थी और व्याख्यान देना था। जब दस मील रह गयी वह जगह तब मोटर खराब हो गयी। तो हमने कहा—अच्छा, मोटर छोड़ देते हैं, अब पैदल चलेंगे। लेकिन महाराज, दस मील चलनेमें तो कम-से-कम तीन घण्टे लगते न! तो तीन घण्टेमें पैदल जबतक हम वहाँ पहुँचते, तबतक तो व्याख्यानका टाइम ही बीत जाता। ड्राइवरने कहा—महाराज, पन्द्रह मिनटमें ठीक करते हैं, पहिया बदलते हैं, बस आप पन्द्रह मिनट लेट हो जायेंगे! बस इतना ही न! तो दस मील पहले मोटर छोड़ देनेसे हम अपने स्थानपर पहुँचनेसे वंचित रह जायेंगे। जहाँ तक मोटर पहुँचाती है, वहाँ तक मोटरसे जाना चाहिए। यही उपायका स्वारस्य है।

तो आपको यह बात हम सुनाना चाहते हैं, यह जो आत्मा ब्रह्म है,

बड़ा मजेदार है। इसमें एक बात तो यह है कि यह ध्यान कभी मत देना कि ये वोट ज्यादा इसको मिलते हैं कि नहीं? दुनियामें ज्यादा वोट वेदान्तको कभी नहीं मिलेंगे। इसके लिए तो जो जिज्ञासु होते हैं उनके लिए है यह। दस बीस हजार आदमियोंको खुश करके, उनकी वाहवाही लूटनेके लिए नहीं है, चाहे ये (Young) यंग लोग हैं, ये जब मार खायेंगे दुनियामें, जब इनको विवेक होगा, वैराग्य होगा, तब ये स्वयं आयेंगे। और जबरदस्ती इनके दिमागमें घुसायेंगे, जबतक इनके मनमें स्वयं जिज्ञासा नहीं होगी, तबतक कोई जाकर इनका मनोरंजन करके इनको खुश भले कर दे, जैसे सिनेमा देखकरके आते हैं, वैसे चले आयेंगे। हमने कई पत्रिकाओंमें देखा, आजकल विलायतमें खूब ढोलक बजती है, खूब कीर्तन करते हैं, खूब पूजा करते हैं, तो हमसे एक दिन किसीने चर्चा की कि बड़ा भारी काम हो रहा है। कि जरूर हो रहा है, हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृतिका प्रचार हो रहा है, हमको तो बड़ी खुशी है, लेकिन तब और खुशी होती यदि इसकी कोई ठोस दार्शनिक पृष्ठभूमि होती। यदि इसमें कोई ज्ञान होता, कोई ध्यान होता। कोई गंभीर विचार होता, तब टिकाऊ होता। नहीं तो महाराज थोड़े दिनों तक ये सब करेंगे और कर-कराकर देखेंगे कि यह भी एक नशेका ही आनन्द है, करनेसे मजा आ जाता है, करेंगे फिर छोड़ देंगे! यदि उसमें समझ नहीं होगी, कोई भी आप साधन करो, वह साधन दूधका धुला हो चाहे अमृतका, चाहे उसका नाम ध्यान रखो, चाहे समाधि, यदि उसका धरातल समझदारीसे पुष्ट नहीं होगा, उसके भीतर विवेक नहीं होगा, बुद्धि नहीं होगी तो वह मनोरंजन बनकर थोड़े दिनों तक जबतक नया-नया है, पहले दिन महाराज, दही-बड़ा खाओ या खीर खाओ तो बहुत अच्छी लगेगी, रोज-रोज खीर ही खाकर देख लो, फिर बोर हो जाओगे, खीर छोड़कर दूसरी चीज खानेका मन हो आयेगा। उसमें दार्शनिक पृष्ठभूमि होनी चाहिए, विचार होना चाहिए, तब मनुष्यका मंगल, मनुष्यका कल्याण होता है।

अच्छा, तो आपको सुनाते हैं, चाहे सबसे अपनेको अलग करके, यह जानकरके कि दृश्यसे व्यतिरिक्त मैं चेतन, साक्षी, द्रष्टा, विषय-विषयी भावसे शून्य निर्मम हूँ। ऐसी भावनामें बैठ जाओ। यह भावना ही है। कर्त्ताके द्वारा की

हुई, समय-विशेषमें होनेवाली, समय-विशेषमें मिट जानेवाली भावना है, यह काम साधना है, यह भजन है यह। यह क्या सबसे विविक्त अपनेको जानकर और सबसे एकमें मिलाकर तो अन्वय है, सबसे अपनेको मिला देना कि मेरे बिना कुछ है नहीं और मैं सबसे न्यारा हूँ—चाहे व्यतिरेक कर लो, क्या यही ब्रह्मका यथार्थ स्वरूप है? जो किसीसे व्यतिरिक्त है वह ब्रह्म नहीं है, वह तो भाग गया दृश्यको छोड़ करके और जो किसीमें अन्वित है वह भी ब्रह्म नहीं है। हमारे वेदान्तका कितना सुन्दर सिद्धान्त है—

अपूर्वं अनन्तरं अबाह्यम्—क्या बढ़िया दृष्टिकोण है। श्री सुरेश्वराचार्यज़ी महाराज कहते हैं कि जिसमें अन्वय-व्यतिरेककी पहुँच नहीं हो, उसका नाम ब्रह्म है। आश्चर्य तो यह है कि साक्षात् अपरोक्ष, पर अन्वय-व्यतिरेक दोनों नहीं तो साधना है, अन्वय एक साधना है तो व्यतिरेक एक साधना है।

बोले कि भाई ब्रह्म जो है उपाधिसहित नहीं है। ऐसा वेदान्ती लोग बोलते हैं। अरे बाबा, उपाधिसहित जो है सो तो ब्रह्म नहीं है, पर जो उपाधिरहित है सो भी ब्रह्म नहीं है।

यदनीदृगतादृक् च। साहित्य-साहित्य क्या उपाधि नहीं है? पञ्चदशीमें यह प्रसंग आया।

तो आओ एक बात आपको सुनाते हैं। यदि आप निष्क्रिय, निर्वृत्तिक सन्मात्रमें बैठते हो, आपकी समाधि हो जायेगी। लेकिन वह सन्मात्र जो है वह स्वयंप्रकाश चेतन है कि नहीं? यह देखो! अच्छा, यदि आप अपनेको स्वयंप्रकाश सर्वावभासक चेतनके रूपसे अनुभव करते हो, तो यह सारी सृष्टि आपके प्रकाशसे प्रकाशित स्वप्नवत् है। देखो, योगकी समाधि तब लगेगी जब आप अपनेको सन्मात्र जानकर स्वरूपमें अवस्थित होंगे। है मात्र। होना नहीं, भूत नहीं, भू। भू नहीं, सत्। भवनमें और सत्‌में अन्तर होता है, भवति और अस्तिमें। अस्ति जो है वह अपरिणामी है और भवति जो है वह परिणाम है। होनेमें परिणाम है और है में परिणाम नहीं है आप यह देखो, है बदलता हुआ नहीं है और भवति बदलता हुआ है। तो आप यदि सन्मात्रमें बैठ गये, तो निरोध समाधि हो जायेगी और तत्काल चिन्मात्र जो है वह सन्मात्रसे पृथक् हो

जायेगा। और, जो चिन्मात्र सन्मात्र है वह सच्चा है और जिस सन्मात्रसे चिन्मात्र अलग हुआ है वह मिथ्या है। वह 'है' मिथ्या है, जिससे है का प्रकाशक जुदा है और वह है, अपना आत्मा है, जो अपने आत्मासे जुदा नहीं है। यही द्रष्टाकी स्वरूप-स्थिति है।

अच्छाजी अब देखो, ये हुए योगी! अब हमारे कश्मीरी शैव क्या बोलते हैं, कि लो आत्मा तो है स्वयं प्रकाश, सर्वावभासक, चिन्मात्र। तो यह अनात्मा कैसा है? बोले यह स्वयंप्रकाश आत्मदेवका ही विलास है। समग्र देश, समग्र काल, समग्र वस्तु *'अहं महेश्वरः।'* मैं ही प्रकट हो रहा हूँ। बोले—महाराज, इन्हीं तीनोंको जरा अलग करो तो बड़ा मजा आयेगा। सन्मात्रको अपनेसे अलग करो तो जड़ हो जायेगा और चेतनको अपनेसे अलग करनेकी कोशिश करो, तो वह सर्वज्ञ ईश्वर होकर भासेगा। वैसे वह भाव ही होगा, पर सर्वज्ञ ईश्वर हो जायेगा। और आनन्दको यदि अपनेसे अलग करोगे तो वह भजनीय हो जायेगा। यदि अपनेसे अलग कोई सत्य है, तो उससे असंग होना पड़ेगा और यदि अपनेसे अलग कोई सर्वज्ञ है तो उसकी शरणागति लेनी पड़ेगी और यदि अपनेसे अलग कोई आनन्द है तो उससे प्रेम करना पड़ेगा। और जब अपना आपा ही सत्य है तो अपने आपसे असंग नहीं होना पड़ेगा और अपना आपा ही चिन्मात्र है, तो अपनेसे भिन्न किसीकी शरणागति नहीं लेनी पड़ेगी। और अपना आपा ही आनन्द है, तो किसी दूसरेसे प्रेम नहीं करना पड़ेगा।

अब लो, आपको, दूसरेसे प्रेम तब करना पड़ता है जब आन्नद दूसरा है दूसरेकी शरणमें तब जाना पड़ता है जब सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान दूसरा है और दूसरेसे विवेक करके अपनेको असंग तब करना पड़ता है जब हम जड़ सत्तासे विलक्षण हैं। यह जो आत्मदेव हैं, ये अनन्वय अव्यतिरिक्त हैं।

: २६ :

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

कल हमको कोई डाँट रहा था कि क्या कथा करते हो, समझमें नहीं आती है। भाई कभी-कभी ऐसी भी सुनना चाहिए। यह देखो, असलमें क्या हमारी श्रुति बोल रही है, हमारी श्रुति भगवती, पराविद्या, जगज्जननी, पराम्बा बोल रही है, क्या?

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः क शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ ईशा. ७

यह श्रुति भगवती बोल रही है, जिससे सबकी बोली जाँची जाती है, दुनियामें जो कुछ बोला गया है और बोला जा रहा है, वह ठीक है कि गलत, इसको जाँचनेकी कसौटी परावाक् भगवती बोल रही है और देखो क्या बोल रही है, यदि आप यह जान जायें कि सबमें मैं, मुझमें सब, तो यह 'में' झूठा हो जायेगा। 'में' जो है, सप्तमी विभक्ति—सबमें और मुझमें सब,

तो उलट-पलटके जब दोनों देखेंगे, तो मुझ 'में' सब, सब मुझ 'में' बिलकुल गायब हो जायेगा। अगर यह नहीं होता है, तो आप सबमें मुझ, मैं और मुझमेंका अर्थ नहीं समझते हैं। सब और मुझका भेद गायब हो जायेगा। अधिकृत और अधिकरण भाव जो है, अधिष्ठान और अध्यस्तभाव इनका सत्यानाश करनेके लिए यह श्रुति पैदा हुई है। भला यह श्रुति प्रकट क्यों हुई है? अध्यस्त और अधिष्ठानके भेदको मिटानेके लिए। कहते हैं कि सर्वभूत अध्यस्त हैं और आत्मा अधिष्ठान है, तो यह तो बोलता है—*सर्वभूतेषु चात्मानं*—सर्वभूत अधिष्ठान है और आत्मा अध्यस्त है। लो! तो बोले—नहीं, यह अध्यस्त अधिष्ठान भाव ही नहीं है, अन्वय और व्यतिरेकका नामोनिशान नहीं है।

एक बात आपको सुनाते हैं, यह श्रुति भगवती कह रही है कि तुम्हारी अस्मिता जो 'मैं मैं' बोलते हो और सोचते हो, यह झूठा है, यह अविद्यामूलक है। अधिष्ठान और अध्यस्त, अधिकरण और अधिकृत भावसे रहित अद्वैतात्माको नहीं जानते हो, इसलिए अपनी-अपनी बोलते हो। यह तुम्हारा 'अस्मि-अस्मि' झूठा है, अविद्यामूलक है। यह जो तुम अपने दोस्तको बड़ा भारी दुःख समझ करके, जिद्द करके, कहते हो यह प्यारा, यह सुख—यह अविद्यामूलक है। इस तत्त्वको जान लेनेके बाद अस्मिता माने अहं भाव नहीं है, तब परिच्छिन्नमें प्यार नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ। और फिर, अन्यमें प्यार नहीं है, अन्यमें द्वेष भी नहीं है। फिर अन्यसे भय नहीं है। क्योंकि अविद्यामूलक जो अन्यताकी कल्पना थी, वही मटियामेट हो गयी।

यस्तु सर्वाणि भूतानि, यह श्रुति। अब एक मनुस्मृति भी ले लो—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥

यह मनुस्मृतिके बारहवें अध्यायमें यह श्लोक है। हमको एक बार स्वाराज्यके लिए आन्दोलन हो रहा था, तो सहेपुरसे आ रहे थे स्वामी योगानन्दजी महाराजके यहाँसे और एक बड़े उग्रवादी प्रतिक्रियावादी, जिनको आजकल बोलते हैं, जमींदार; सड़कपर पुलपर बैठे हुए थे, उन्होंने कहा कि यह स्वराज्य शब्द ही कहीं शास्त्रमें नहीं है। मैं पण्डित हूँ, मैंने कहा—भाई,

हमलोग तो जब यज्ञ-वज्ञ होता है तो उसमें *'भोयं स्वाराज्यं'* कहते हैं। तो स्वाराज्य शब्द तो वेदमें है। बोले कि नहीं-नहीं, हमको तो विश्वास नहीं होता। मैंने कहा—मनुस्मृतिमें है—

सम्पश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति।

आत्मयाजीका अर्थ है अपनी परिच्छिन्नताका बलिदान कर दो। यह है तुम्हारे साथ महिषासुर राक्षस; इसका बलिदान करो। सम्पश्यन्। तो कैसे बलिदान होगा? शुक्ल यजुर्वेदमें 'आत्मवेद' नामके एक यज्ञका वर्णन आता है। यह जो आपलोग 'पुरुषसूक्त' पढ़ते हैं, यह क्या है? यह असलमें एक मूलभूत पुरुषसे एक दूसरा पुरुष पैदा होता है।

तस्माद् विराडजायत विराजोऽधिपूरुषः।

तो *'तस्मात् पुरुषात् अन्यः कश्चन पुरुषः अजायत।* मूलभूत जो आदि पुरुष आत्मा है, उससे एक अन्य पुरुष पैदा हुआ। तो कहते हैं कि अब इसी अन्य पुरुषको काटकर आदि पुरुष को बलिदान चढ़ाओ। यह ऋग्वेदमें जहाँ है, यह नरमेध है। यह पुरुषमेधका प्रसंग है, यह पुरष सूक्तको कोई ऐरा गैरा मत समझना। यह पुरुष सूक्त जो है यह पुरुषमेधका प्रसंग है। जो अद्वितीय ब्रह्ममें, ब्रह्मपुरुषमें, ब्रह्मात्मामें एक यह परिच्छिन्न आत्मा पैदा हो गया है, इस परिच्छिन्नात्माको काटकर यज्ञ करके वह जो *ब्राह्मणोमुखमासीत्* बोलते हैं, उसका अर्थ है इस ब्राह्मणको, इस क्षत्रियको, वैश्यको यह जो आत्मा बना हुआ है, गायको, इस घोड़ेको, इस बैलको, यह जो बना हुआ है, इस परिच्छिन्नात्मारूप उत्पन्न पुरुषको काटकर आदि पुरुषको बलि चढ़ा दो, यह वर्णन है पुरुषसूक्तमें।

आपने कभी पुरुषसूक्तका स्वाध्याय किया है? इसके लिए है वह। पुरुषमेध याग है। एक सर्वमेध याग है। एक विश्वमेध याग है। कार्यका कारणमें प्रविलापन जो है, वह जो कार्यपुरुष है इसका बलिदान चढ़ाना, इसका नाम पुरुषमेध याग है, इसीके लिए पुरुषसूक्त है।

तो ब्रह्मविद्याका अर्थ क्या होता है, यह आस्ममेध है, अविद्याकी निवृत्ति होते ही 'मैं' का बलिदान चढ़ेगा। तुम्हारे राग और रागास्पदका बलिदान चढ़ेगा। तुम्हारे द्वेष और द्वेषास्पदका बलिदान चढ़ेगा। तुम्हारे

भयका और जिस अन्यसे तुम भयभीत हो—*द्वितीयाद्वै भयं भवति,* उसका बलिदान चढ़ेगा।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥

आत्मयाजी, मनुजीने आत्मयजनका, अपना बलिदान चढ़ा दो, किसमें, किसके प्रति? कि जो सबमें है और सब जिसमें है। जिसमें सब है माने अधिकरण आत्मा है और अधिकृत जगत् है। और, अधिकरण जगत् है और अधिकृत परमात्मा है। माने अधिकरण अधिकृत भाव बिलकुल मिथ्या हैं और इसमें तुम्हारा अहं जो है, वह बिलकुल मरणके योग्य है। इसका बलिदान करा दो। तब क्या होगा? कि—

स्वाराज्यमधिगच्छति—तब तुमको स्वाराज्यका अधिगम होगा।

तो देखो, आपको श्रुति सुनायी, आपको मनुस्मृति सुनायी, अब गीता क्या बोलती है? बिलकुल वही बात है। यह जो विकास विकास बोलते हैं, अध्यात्मवादमें; जड़तामें विकास होता है जो भोगवादी हैं उनके लिए विकास होता है और जो आत्मानुभवी पुरुष हैं उनके लिए तो यह वैज्ञानिक उन्नति भी विकार है। क्योंकि भोगार्थ है, कामार्थ है। तो उस चिन्तनको देखो, स्वरूपकी दृष्टिसे देखो क्या है, क्या आनन्ददायक है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

यह **'सर्वथा वर्तमानोऽपि'**—दो बार गीतामें है। एक बार तेरहवें अध्यायमें और एक बार छठें अध्यायमें। तो त्तेरहवें अध्यायमें है—

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते। १३.२३

यह ज्ञान हो जानेके बाद कुछ करे, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। और यहाँ है कि यह ज्ञान हो जानेके बाद चाहे वह जैसे रहे, मुझमें ही है।

देखो, मरनेके बादका डर मिटाता है तेरहवाँ अध्याय और जीवनमें भोग सम्बन्धी परतंत्रताका भाव मिटाता है छठाँ अध्याय। जीवनमें अभी, अभी भला! तो जिसका सत् अन्य होगा उसको जाकर उसमें सोना पड़ेगा। और जिसका चित् अन्य होगा, उसको शरणागति लेनी पड़ेगी और जिसका चित् दूर

होगा उसको कल्पना करनी पड़ेगी और जिसका आनन्द अलग होगा उसको पराधीन होना पड़ेगा। जिसका चेतन अन्य होगा वह बिलकुल पराधीन, पर प्रकाश्य हो जाना पड़ेगा उसको।

तो आओ, अब आपको महावाक्य बतायें—

सर्वभूतस्थमात्मानं—यह अहं पदार्थ है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति—यह ब्रह्म पदार्थ है और **सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः**—यह अस्मि पदार्थ है। **अहं ब्रह्मास्मि।**

'सर्वभूतस्थमात्मानं' यह त्वं पदार्थ है।

'यो मां पश्यति सर्वत्र' यह तत् पदार्थ है। और

'सर्वाभूतस्थितं यो मां' यह असि पदार्थ है तत्त्वमसि।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

अच्छा भाई, आओ। जैसा प्रसंग वैसा अनुसन्धान करना चाहिए। हमारे सांख्य और योग राग-द्वेषको तो मिटाना चाहते हैं और उनकी परिभाषामें धर्मका अर्थ ही यह है कि जिस विवेकसे राग-द्वेष मिट जाये वह विवेक धर्म है। ऐसी ख्याति होती है कि राग-द्वेष मिट जाये। उन्होंने क्या युक्ति की कि दुनियाके जितने स्त्री-पुरुष हैं और जितने पदार्थ हैं वे सब प्रकृतिमें ही लीन होते हैं और प्रकृतिमें-से ही निकलते हैं। इसलिए कार्यका लय कर दो कारणमें और कारणमें-से कार्यको प्रकट कर लो। और फिर देखो, कि घोड़ा है कि गधा, हाथी है कि गाय। सब खाँड़में कूदके मिल गये थे और खाड़में-से निकल आये तो सब खाँड़ ही खाँड़ है। राग-द्वेष किससे करना? गधा भी वही, घोड़ा भी वही। यह उनकी प्रक्रिया है। इसी प्रक्रियामें उन्होंने तमस्, रजस् और सत्त्व माने हमारा यह देह, हमारी क्रिया और हमारा ज्ञान—इन तीनोंका लय प्रकृतिमें होता है और प्रकृतिमेंसे ये तीनों निकलते हैं। न तो वृत्तिका भेद भेद है, न तो क्रियाका भेद भेद है, न तो द्रव्यका भेद भेद है, तीनों प्रकृतिमें लीन हुए, प्रकृतिमें-से निकल आये। यह कार्य-कारण भावकी दृष्टिसे जो विचार करेगा, सृष्टिमें उसका राग-द्वेष नहीं होगा।

तो बात तो है बहुत बढ़िया और आत्मयाजी जो हैं, वे तो निर्विकार, द्रष्टा, उपरत, असलमें यह लय और उदयका बल नहीं हुआ। बल हुआ एकताके ज्ञानका, आप देख लो! नहीं तो कारणावस्थामें जब एक होंगे तब तो सुख मिलेगा और कार्यावस्थामें जब अनेक होंगे तब विक्षेप होगा। परन्तु कार्य कारण दोनोंमें एक है। इस ज्ञानका ही बल है। जिस बलसे राग-द्वेषकी निवृत्ति होती है। न कार्यका बल है, न कारणका बल है, न लयका बल है, न उदयका बल है। इसमें जो धातुकी एकता है उसीका बल है। तो धातुकी एकताका बल नहीं है, धातुकी एकताके ज्ञानका बल है।

हे भगवान्, मारे गये। भक्तोंने कहा कि नहीं, बल और ज्ञान दोनोंको मिलाओ, उनको अखण्ड कर दो। उसका नाम क्या हुआ? ईश्वर। एकताके ज्ञानका बल ही तो राग-द्वेषको निवृत्त करता है। तो ज्ञानका एकत्व और ज्ञानका बल, माने बलवत् ज्ञान माने ईश्वर। वही अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, बलांशेन उपादान है और निमित्तांशेन निमित्त है।

अब यह बात तो जो लोग सांख्य योग पढ़ते हैं न, और उसका अनुसन्धान करते हैं उनके कामकी चीज है। आपको जो मौज हो सो कर लो।

अच्छा, अब हम यह बताते हैं कि यह उपादानता और यह निमित्तता और दोनोंकी एकताका जो बल है वह बल भी कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे सर्वथा मुक्त नहीं है। यह एक संयोग ऐसा प्राप्त होना चाहिए। दर्शनशून्य, ज्ञानशून्य साधना, ज्ञानशून्य समाधि और भजनीय ज्ञानशून्य या भक्ति शून्य और संकल्प और फलके ज्ञानसे रहित धर्म आपको क्या देगा? अरे, थोड़ी देर चाहे स्वाहा-स्वाहा करलो, चाहे कमर हिलाकर नाचनेका मजा ले लो, कमर हिलानेका मजा आता है, हाथ हिलानेका मजा आता है, वह अपने गलेका स्वाद आता है और शान्त योगाभ्यास करलो, उसका अभिमान पैदा कर लो, वह अभिमानका आनन्द आयेगा। अभ्यासका आनन्द, अभिमानका आनन्द, मनोराज्यका आनन्द, ये सब परमार्थ आनन्द नहीं हैं, सच्चा आनन्द नहीं है। सच्चा आनन्द है कहीं, तो ज्ञान ही है। ज्ञानमें आनन्द नहीं है या आनन्दमें ज्ञान नहीं है। यदि ज्ञानातिरिक्त कुछ है तो वह जड़ता है, वह मूर्खता है, वह मोह है, वह माया है।

अच्छा लो अब आपको योगका जरा मजा लेनेके लिए—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

पहले सर्वभूतस्थको पकड़ो। सर्व माने होता है सब और भूत माने होता है भवन्ति। *भवन्तीति भूतानि।* जो होता है, हो रहा है। जो कुछ हो रहा है। आपको इसका मजा बतायें। जैसे *भूतं भूतं भूतं भूतानि।* भूत-भूत-भूत इसका बहुवचन हुआ *भूतानि। भूतानि अनेकानि विविधानि भवन्ति।* परन्तु सर्वत्र ही एकमेव। *भूरिति एकमेव।* भू-भू-भू, परन्तु भू एक है इसीका नाम सत्ता है। स्त्री, स्त्री, स्त्री और पुरुष-पुरुष-पुरुष और सबमें है है है। अच्छा देखो, **भूतानि**, यह कहनेका अभिप्राय क्या हुआ? जो लोग संस्कृत जानते हैं उनको इसका मजा ज्यादा आयेगा। '*भूतानि भवन्ति। पूर्वाणि भूतानि नश्यन्ति। वर्तमानानि भूतानि तिष्ठन्ति। भविष्यानि भूतानि नश्यन्ति। भवन्ति च नश्यन्ति च इति भूतानि। यानि भवन्ति तानैव नश्यन्ति यानैव नश्यन्ति तानैव भवन्ति। यद् जन्यं तद् अनित्यम्।*' जो पैदा होता है वह मरता है, जो मरता है वह पैदा होता है। भूत माने मरता है और पैदा होता है।

और, सर्वभूतस्थ कौन है? '*तत्र तिष्ठति इति स्थ, सर्वभूतस्थ। भूतानि भवन्ति। भूतानि तिष्ठन्ति। भूतानि नश्यन्ति। यानि भवन्ति तानि अवश्यं नश्यन्ति।*' जो पैदा होते हैं वे जरूर मरते हैं। परन्तु वह कौन-सी चीज है कि कोई चीज पैदा होती है, रहती है, मर जाती है और एक महाराज अचल उसमें 'ष्ठ' मौजूद है—*तिष्ठति*। निवृत्तगतिका *तिष्ठति*। जिसमें गति नहीं है। ष्ठ धातुका अर्थ होता है *ठ गति निवृत्तौ-निर्गति।* उसमें वह कौन-सी चीज है जो मरी नहीं, बनी नहीं, पैदा हुई नहीं। वही ष्ठ है। वह 'ठ' कौन है? *कि आत्मानं। मरणदशायामपि, वर्तमानदशायामपि, भवन - दशायामपि, तिष्ठति इति सर्वभूतस्थ।* कौन? कि आत्मा। यह हमारा आत्मा है। आपके घरमें मेहमान आया, खाया-पीया, चला गया, आप ज्यों-के-त्यों। तो यह दुनियाका जितना भी इदं है, जितना भी दृश्य है, जाग्रत्‌में, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें, आता है, रहता है, जाता है, सर्वभूतस्थं। '**अशरीरं शरीरेषु—अनवस्थेष्ववस्थितं महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।**' शरीर अलग-अलग हैं, लेकिन वह शरीर रहित आत्मा एक है।

देखो, सबसे बड़ी गलती जो साधनाके क्षेत्रमें है वह यह है कि जैसे बोलते हैं, चामके भीतर हड्डी, तो बोलते हैं कि मेरी हड्डी, तो आप कौन? बोले—हम तो चामसे ढँके हुए पूरे शरीर हैं और हमारे उस शरीरका एक अवयव हड्डी है। मेरी हड्डी। तो ऐसे बोलते हैं कि मैं तो चर्मावृत शरीररूप और मेरी आत्मा। जिसने महाराज, देहके भीतर अपने आत्माको सीमित करके, चाहे तदाकार वृत्ति करके, चाहे धर्म करके, चाहे समाधि लगाकर अपने आत्माको जाना; परन्तु एक शरीरमें जाना। उसने क्या जाना? बोले, कुछ नहीं जाना। इसकी पहचान क्या है? बोले कि हम तो साधन करके मुक्त हो गये और बाकी जो साधन नहीं करते वे बद्ध हैं। यह किसकी पहचान है? कि यह अज्ञानी, यह बद्धकी पहिचान है। जो अपने देहकी विशेषतासे अपनेको मुक्त मानता है, शरीरकी, मनकी, बुद्धिकी विशेषतासे या समाधि शान्तिकी विशेषतासे या दृष्टिकी विशेषतासे यदि अपनेको विशेष और और शरीरोंमें जो आत्मा है, सो महाराज अलग-अलग हैं और मैं मुक्त हूँ। वह अभेद ज्ञानी है कि भेद ज्ञानी? बोले कि भाई वेदान्तकी गन्ध भी उसकी नाकमें प्रविष्ट नहीं हुई है।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्वनवस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

बदल रही है दुनिया, पर वह नहीं बदल रहा है।

अब आपको इसकी भी लीला, चमत्कार दिखाता हूँ। देखो हमको पहले किसीने शिष्टाचार बताया था। किसीको कोई बात कहनी हो तो यह नहीं कहना कि मैं आपको बताता हूँ। तब क्या कहना? तो बोले—आप तो जानते ही हैं आपको मैं केवल याद दिला रहा हूँ, स्मरणपत्र है। मैं भला आपको क्या बताऊँगा। आप तो स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं।

अच्छा जी, तो आओ, एक बात आपको सुनाता हूँ। यह '**भूतेषु**' जो है न, *उत्पद्यमानेषु धीयमानेषु नश्यत्सु*। अब देखो आपको दिखाते हैं, देखो मुट्ठी बँधी हुई है, एक उँगली उठी दिख गयी ना, दूसरी उठी, दिखी। आपने दो उँगली देखी। तो आपने एक उँगली देखी फिर दूसरी देखी। पर एक उँगलीकी जगह भी देखी और दूसरी उँगलीकी जगह भी देखी और दोनोंके बीच जो जगह है सो भी देखी, उँगलीके साथ-साथ उँगलीके उठने और गिरनेकी जगह

कि नहीं देखी ? और पहले एक उँगली उठी और बादमें दूसरी उठी। तो यह पहले एक उँगलीका उठना और बादमें दूसरी उँगलीका उठना आपने देखा कि नहीं देखा ?

तो दो उँगली देखी, दोनों उँगलीकी जगह देखी और दोनोंका पहले, पीछे उठना देखा। तो जब आप बोलते हैं *सर्वभूता भवन्ति नश्यन्ति, भवन्ति भूतानि, नश्यन्ति भूतानि। भवच्च भवच्च भवच्च भवन्ति। नश्यतश्च, नश्यतश्च, नश्यतश्च नश्यन्ति।* यह जो आप होते हुए और नष्ट होते हुए पदार्थोंको देख रहे हैं। इनके देशकालको भी देख रहे हैं और जब आप देशकाल सहित सब भूतोंको देख रहे हैं, तो आप अपनी स्थिरताको तो देखिये। देशमें आप आते-जाते नहीं, आप कभी नरक-स्वर्गमें नहीं जाते। आपका कभी एक जन्मके बाद दूसरा जन्म नहीं होता और पशुके बाद पक्षी, पक्षीके बाद पशु, पशु-पक्षीके बाद मनुष्य। आप न पशु होते हैं न मनुष्य, न पक्षी होते हैं, आप वह हैं जो पशु-पक्षी मनुष्य योनियोंमें परिवर्तित नहीं होता। आप वह हैं जो नरक-स्वर्गमें जाता-आता नहीं। आप वह हैं जो जन्मते-मरते नहीं। आप वह हैं जिसमें सृष्टि-प्रलय नहीं। आप कौन हैं ? कि आत्मा हैं।

सातत्येन जानाति। आत्मा शब्दका अर्थ होता है— *सातत्येनाधिगच्छति, अनुभवति। सर्वेषु भवत्सु। सर्वेषु नश्यत्सु। सततं अवगच्छति। अधिगच्छति।*

बीत रहा है। चल रहे हैं। शरीर चल रहा है। पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण जा रहे हैं, आ रहे हैं। जवानी, बुढ़ापा बीत रहा है। समय बीत रहा है। दिन-रात बीत रहे हैं और वस्तु जवानसे बुड्ढी होगयी, परन्तु आप न जवान हुए न बुड्ढे, न आये न गये। एक दिन एकने कहा—हमको आत्मा दिखा दो! मैंने पूछा—तुम कौन हो ? बोले—मैं तो जीव हूँ। मुझे आत्मा दिखाओ। मैंने कहा बहुत बढ़िया बात, तुम हमको जीव दिखा दो,हम तुमको आत्मा दिखा देते हैं। अरे, किसीके कहनेसे, बिना सोचे-विचारे सुन-सुनाकर अपनेको तुमने कहींसे, 'मैं जीव हूँ'—यह एक भूत पाल रखा है। अब हम कहते हैं कि यदि झूठ-मूठ भी कोई अपनेको जीव, जीव माने परिच्छिन्न देहाभिमानी, स्थूल देहाभिमानी, सूक्ष्म देहाभिमानी, कारण देहाभिमानी, कर्ता-भोक्ता-संसारी परिच्छिन्न जो आपने अपनेको मान रखा है, कभी जीव हुए नहीं, न पूर्व जन्ममें हुए तुम, न

अगले जन्ममें होगे, न इस जन्ममें हैं, लेकिन बाबा, यह गुरुजनोंने कृपा करके देहसे ऊपर उठानेके लिए तुम्हारे अन्दर जीवत्वका आरोप किया है। आप इसको समझो कि यह आरोपित जीवत्व जो है वह आरोपित ब्रह्मत्वसे निवृत्त हो जायेगा।

आपकी निष्ठा कहाँ है ? आप अपनेको देह मत मानिये, आप अपनेको पापी-पुण्यात्मा कर्मवान् मत मानिये। अपनेको जन्म मरणवाला मत मानिये। आप अपनेको नरक-स्वर्गमें जानेवाला मत मानिये। आप अपनेको समाधि विक्षेपवाला मत मानिये। शान्ति-अशान्तिके चक्करमें मत पड़िये। आप जो हैं वह अपने आपको जानिये।

कहना है यह कि कुछ पाना नहीं है, केवल न जानना ही आड़े आ गया है। बोले—जब यह नाच न जानना हुआ, अब समझो हमको पहले पहल भारतीय विद्या भवन आना हुआ, हमने देखा नहीं था। चौपाटीपर आगये, भारतीय विद्या भवन नहीं मिला। हे भगवान् टैक्सी कर ली, अब महाराज, वह टैक्सीवाला चौपाटीपरसे चला तो आपेरा हाऊस होकर फिर घुमाके ले आया। तो यह गुरुजी लोग होते हैं न ये बारह बरस चेला बनाये बिना सच्ची बात बताते नहीं हैं। ये टैक्सीवाले हैं। उसमें ज्यादाकरके हाथ तो जोड़ेगा, कोई भेंट-पूजा तो देगा, चेला तो बनेगा, नहीं तो कुछ नहीं देगा, तो इज्जत तो बढ़ेगी न, कि गुरुजीके पाँच-दस-पचास हजार चेला हैं। क्योंकि हम भारतीय विद्या भवनका स्थान पहले पहल नहीं जानते थे, इसलिए टैक्सीवालेने आपेरा हाऊस घुमा दिया इसी तरहसे महाराज, ये गुरुजी लोग अनजान आदमीको जब पकड़ लेते हैं! अब देखो, हमारे गुरुजन बोल रहे हैं। हमको जिसने बताया है वह बोल रहा है। ये महाराज, टैक्सीवाले जब पकड़ लेते हैं तो कहते हैं चलो हम तुमको नरकसे बचाकर उधर चलोगे तो गन्दा है। आज यह रास्ता ठीक नहीं है। कोई मार डालेगा, उधर जाओगे तो। इस रास्ते नहीं ले चलेंगे। देखो, इस रास्ते ले चलेंगे, बड़ा बढ़िया बगीचा भी पड़ेगा और वहाँ खानेको बढ़िया मिठाई भी मिलेगी। बोले—अरे ऐसी जगह हम ले चलें जहाँ जिन्दगीभर तुमको सुख-ही-सुख मिले। बड़े आरामदेह होटलमें ले चलते हैं। यह महाराज, पुण्यका बल हो तो मिले, यह होटल ही तो है न, और क्या है ? यहाँ ले जायेंगे, वहाँ ले

जायेंगे, वह दिखायेंगे, ऐसे सुलायेंगे, यह आराम देंगे, यह खिलायेंगे, वह पिलायेंगे, यह सब क्या है ? चूँकि महाराज, आप यह नहीं जानते हो कि जहाँ मैं खड़ा हूँ, वहीं पहुँचना है। यह आपको नहीं मालूम है। भारतीय विद्या भवनके दरवाजेसे टैक्सीपर बैठे और पाँच-दस मील घूमकर फिर आकर वहीं उतरे। अरे बाबा, यह क्या किया ? कि भाई तुम्हारे अज्ञानका दण्ड भी तो कुछ मिलना चाहिए न! यह तुम्हारे अज्ञानका दण्ड है। जानकारी होनी चाहिए। सिवाय अज्ञानके दूसरी कोई चीज बीचमें नहीं है कि यह हम नहीं जानते कि जिसको हम पाना चाहते हैं, वह हम ही हैं। तो,

सर्वभूतस्थमात्मानं—वैकुण्ठमें जो मिलेगा तुम्हें, वह तुम ही हो। गोलोकमें जो तुमको मिलेगा, वह तुम्हीं हो। स्वर्गमें जो तुमको मिलेगा वह तुम्हीं हो। समाधिमें जो तुमको मिलेगा, वह तुम्हीं हो। तटस्थ-कूटस्थ-असंग आत्मा अपनेको कहो, नशेका तो कुछ ज्यादा पता नहीं है।

नश्यति अनया—जिससे मनुष्यका नाश हो जाये उसका नाम नशा। ***न शं यया***—जिससे शान्ति न मिले उसका नाम नशा। आपको यह बात हम सुनाते हैं। जैसे द्रव्यसे नशा होता है, भाँग पीनेसे या शराब पीनेसे या गाँजा पीनेसे, जैसे नशा होता है वैसे कोई काम करते-करते भी नशा होता है। कोई आसन आप करो उसका नशा आता है। हमने करके देखा है भला! हमको एक दिन एक आदमीने कहा कि तुम प्राणायामको धौंकनी चलाना क्यों बोलते हो? काहेको प्राणायामका तिरस्कार करते हो? यह धौंकनी चलाकर भाई हमारे एक भस्त्रिका करते थे। हम तो भुक्तभोगी हैं, हम भी भस्त्रिका करते थे। तो महाराज, सोने न दे दूसरोंको, ऐसी आवाज हो घर्र-घर्र!

हे भगवान्! तो यह सब कहनेका अभिप्राय, यह सब साधन है, परन्तु उससे एक प्रकारका नशा उत्पन्न होता है और उस नशेकी एक तो आदत पड़ जाती है। दूसरे उसका नशा हो जाता है। तो एक आदमीको हुआ नशा। काहेका नशा होता है ? वस्तु खानेका नशा होता है, काम करनेका नशा होता है, ताशका नशा होता है और यह मनसे जो प्यारे-प्यारेका चिन्तन करते हैं, प्यारा-प्यारा, उसका भी नशा होता है भला! और मनको चुप रखनेका नशा होता है। जो एक कालमें, एक देशमें, एक रूपमें जो चीज होती है, उसका

नशा चढ़ता है। अब महाराज, वह भाँग पीकर बैठा रहता था। उसको क्या भ्रम हो गया कि हम तो अपने गाँवमें नदीके उसपार जो हमारे मित्रका घर है, वहाँ हैं। अब वह बोला कि हमको अपने घर पहुँचा दो। था तो अपने घरमें। अब क्या किया जाय उसको? एक तो यह होता कि टैक्सी ले आते और उसमें बैठा देते और घण्टे आध घण्टे उसको घुमाते और दस-पन्द्रह रुपयेका बिल उससे वसूल करते और फिर वहीं-का-. वहीं पहुँचाकर कहते कि तुम अपने घरमें पहुँच गये। और एक क्रिया यह होती कि वह अपने घरमें बैठा हुआ है, किसी तरहसे उसका नशा उतारकरके यह समझा दिया जाये कि बाबा, तुम अपने घरमें हो। पड़ोसीके घरमें नहीं हो। तो वेदान्त विद्या जो है वह कहीं पहुँचाती-वहुँचाती नहीं है। भला कौन ऐसा माईका लाल है जो परमात्मासे अलग हो जाये? अरे, अलग मालूम पड़ता है भाई, भ्रम है कि अलग हो गये हैं। कौन-सा काल है जहाँ परमात्मा नहीं है, कौन-सा स्थान है जहाँ परमात्मा नहीं है? कौन-सी वस्तु है जो परमात्मा नहीं है? कौन-सी स्थिति है जो परमात्मा नहीं है? तो अपने आपको जरा देखो, यह वेदान्त विद्या नशा उतारनेके लिए है। *अव्यसद् प्राप्यते*। झूठमूठ मान लो। जैसे तुमने यह कल्पना कर रखी है कि मैं जीव हूँ। यह तुमने दूरबीन लगाकर कहीं देखा है जीव? खुर्दबीन लगाकर देखा है जीव? तुम्हारे किसी विवेकसे तुम्हारा जीवत्व सिद्ध हुआ है? अरे, सुन-सुनाकर माना है अपनेको जीव।

अच्छा, तो लो हम भी सुनाते हैं कि तुम जीव नहीं हो, ब्रह्म हो। बोले—नहीं महाराज, हमने जो पहले सुना है, अपने गाँवमें कि तुम जीव हो, तो वह तो सच्चा है और तुम बाबाजी जो बताते हो कि हम ब्रह्म हैं यह झूठा। गाँववाली बात सच्ची और बाबाजीवाली बात झूठी। बोले—भाई, ऐसा क्यों? देखो, अगर तुम अपनेको जीव मानते रहोगे, तो तुमको पापी होनेका दुःख होगा, पुण्यात्मा होनेका अभिमान होगा, कभी सुखी बनोगे, कभी दुःखी बनोगे, कभी तुमको समाधि लगानेके लिए कोशिश करनी पड़ेगी, कभी भक्ति करनेके लिए कोशिश करनी पड़ेगी, और हम तो तुमको सारे बन्धनसे चुटकी बजाते हैं, **क्षिप्रं भवति धर्मात्मा**। हम तो तत्काल तुमको महाराज—

ध्यायन् निमिषमच्युतं भूयस्तपस्वी भवति।

यह झूठ-मूठ भी यदि कोई अपने स्वरूपको जान ले, यह बड़ा क्रान्तिकारी कदम है, आप इसको समझते नहीं हैं भला! क्या जड़वाद इसका सामना कर सकेगा कभी? सन्मात्र वस्तु जड़वादी कहते हैं, चिन्मात्र वस्तु ज्ञानवादी कहते हैं, आनन्दमात्र वस्तु प्रेमवादी कहते हैं और सच्चिदानन्दमात्र एक् अद्वय वस्तु वेदान्त बोलता है।

अच्छा भाई ठीक है, सबमें तो तुम हो, यह मजेदार बात है और क्रान्तिकारी है। यदि विज्ञानकी कभी उन्नति हुई, यदि दुनियामें कभी कोई बुद्धिमान हुआ तो उसको मजबूर होकर इसको स्वीकार करना पड़ेगा हम भविष्यकी बुद्धिका भी ठेका लेते हैं भला! हम यह नहीं कहते हैं कि हाँ भाई, शायद आगे किसीकी बुद्धि विकसित हो जाय तो कोई और निकाल ले। भविष्यमें बुद्धिका क्या विकास हो सकता है, उसका कम्प्यूटर हमारे पास है। बुद्धि कितने रूप ग्रहण कर सकती है, उसकी गणना हम जानते हैं।

सर्वभूतेषु चात्मानं अब एक बात देखो कि वे जो भूत दीखते हैं, ये किस पर्देपर दिखते हैं। देखनेवाला कौन, इस तमाशेको देखनेवाला कौन? बोले—आत्मा। आपको मालूम है आपके बिना कोई चीज दिख जाय। हम चुनौती देते हैं। लोग कहते हैं अभी विज्ञान विकसित होगा। जब हम नहीं रहेंगे तब भी हमको दिखेगा। सोचो, बेवकूफीकी बात है कि नहीं? अभी तो विज्ञानकी बड़ी भारी उन्नति होनेवाली है। आत्मा नहीं रहेगा और दीखेगा। अरे भाई, जिसको दिखेगा उसीका नाम आत्मा है। जिसको मालूम पड़ेगा उसीका नाम आत्मा है। विज्ञान बाह्य दिशामें विकसित हो सकता है। नई-नई चीजोंका पता लगा सकता है। वेदके क्षेत्रमें यह जो स्वयंप्रकाश है महाराज, देख तो रहा है यह, देश-काल-वस्तु सब देख रहा है। परन्तु जिस पर्देपर देख रहा है वह पर्दा कौन-सा है? अरे **सर्वभूतानि चात्मनि**। पर्दा भी यह स्वयंप्रकाश सर्वावभासक आत्मदेव ही है। ***'यानि भूतानि नश्यन्ति तानि आत्मन्येव नश्यन्ति'। भवन्ति भूतानि आत्मन्येव। स्थितानि भूतानि तिष्ठन्ति भूतानि आत्मन्येव***। जो नष्ट होते हुए भूत हैं सो इसी आत्माके पर्देपर, अपने आपमें और जो पैदा होते हुए हैं भूत वे भी अपने पर्देपर और जो आते-जाते भूत हैं सो भी अपने पर्देपर। यह क्या है? इसमें बात बड़ी विलक्षण कही गयी है। आत्मा

शब्द प्रयोग करनेका अर्थ जो है उसको ध्यान दो। आत्मा चित् स्वरूप है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। ज्ञानके बिना कोई दूसरी वस्तु दिखती नहीं है और ज्ञान ही सर्वाधार है। सर्वाधिष्ठान है, ज्ञानका अधिष्ठान दूसरा नहीं है। अर्थात् ज्ञानस्वरूप अधिष्ठानमें यह सर्वभूतोंकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय जो है वह अध्यस्त है। जबतक आत्मारूप अधिष्ठानका ज्ञान नहीं है तबतक यह सच है और अधिष्ठानका ज्ञान हो गया तो? लो वेदान्त!

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

अब देखो, **ईक्षते**। *कः ईक्षते*? इसको देखते हैं। कौन देखते हैं? यह दो शब्द जो कहा गया, यह भी बड़ा विलक्षण है—**योगयुक्तात्मा** और **समदर्शनः**। योगयुक्तात्माका अर्थ यदि समाधि हो तो तुरन्त महाराज, प्रश्न लगा देंगे कि बिना समाधि लगाये तत्त्वज्ञान नहीं होता। यद्यपि आजकल जो लोग समाधि शब्दका प्रयोग करते हैं, वह केवल उनका अर्थ आत्मदर्शनके योग्य अन्तःकरणकी वृत्ति ही होता है। वह तो महाराज, लोगोंको अपनी ओर खींचनेके लिए उसका नाम वह समाधि रख दें, चाहे समाधिका महाबाप रख दें। न वे सम्प्रज्ञात समाधिकी बात करते हैं, न असम्प्रज्ञात समाधिकी। न सबीजकी, न निर्बीजकी, न निर्विकल्पकी न सकल्पकी। माने योगदर्शनकी दृष्टिसे जो समाधि है उसका तो लेते हैं नाम और असलमें वह होती है एक आत्मदर्शनके योग्य एकाग्र वृत्ति। तो जब समाधि कहते हैं, तो हम लोगोंको चिढ़ क्यों लगती है? चिढ़ इसलिए लगती है कि हम लोगोंको समाधि शब्दका पुराने अर्थमें प्रयोग करनेका जो अभ्यास पड़ गया है, उसके कारण हम कहते हैं क्या समाधि-समाधि लगा रखा है, आत्मज्ञानमें कहीं समाधिकी शर्त होती है? भूल तब मिटेगी, जब हम सोयेंगे?

एक महात्मा थे, वे किसीकी निन्दा कर रहे थे। तो हमने पूछा कि महाराज, आप द्वेषके कारण निन्दा करते हैं। आपका है उनसे द्वेष और द्वेषके कारण करते हो निन्दा। तो बोले कि सुनो पण्डितजी, हम लेटकर बोलते हैं कि खड़ा होकर बोलते हैं, इसमें हमारा तात्पर्य नहीं है। हम जो कहते हैं सो सच है कि नहीं? हमारे द्वेषके कारण उस सत्यको तुम क्यों मुकरते हो? हम द्वेषसे

बोलते हैं, ठीक है, हम मानते हैं। हमारे अन्त:करणमें उनसे द्वेष है और द्वेषके कारण हम उनकी निन्दा तुमको सुना रहे हैं, परन्तु जो निन्दा कर रहे हैं उसमें झूठ क्या है ? सो तो बताओ।

हे महाराज ऐसे हमको डाँट दिया। बोले—हम बोलते हैं सच। तो भाई कौन-सी समाधि ? सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात, सबीज-निर्बीज ? कौन-सी समाधि ब्रह्मात्मैक्य बोधके द्वारा अविद्याको निवृत्त करती है ? असलमें चाहे जाग्रत् हो चाहे स्वप्न ! स्वप्नमें भी तत्त्वज्ञान हो सकता है भला! अब आप देखो, आपको हम सुनाते हैं आप केवल भूतके उदय और नाशको पकड़ो तो आप सन्मात्रमें स्थित हो जाओगे, समाधि लग जायेगी। और केवल भूतकी प्रतीति और अप्रतीतिको पकड़ो तो चिन्मात्रमें स्थिति हो जायगी। द्रष्टा हो जाओगे आप। यदि वस्तुकी उत्पत्ति और प्रलयको देखो, तो आप सन्मात्र हो। माने उत्पत्ति और प्रलयको ही देखो, अपनी दृष्टिपर ध्यान मत दो और केवल उनकी प्रतीति-अप्रतीतिपर ध्यान दो, तो तुम चिन्मात्र हो जाओगे। पर यह जो हो जाओगे यह बिगड़ जायगा। कहना तो यह है जो होयेगा सो बिगड़ेगा। *जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।*

अच्छा जी, आओ अब आगेकी बात सुनाते हैं। मन एकाग्र हो तब भी देखो और **सर्वत्र समदर्शनः** सब दीखता हो तब भी देखो। सर्वत्र समदर्शनः—यह व्यवहारदशा है और योगयुक्तात्मा—यह साधनदशा है। दोनों दशामें तुम देखो कि अपने आपमें यह जो कुछ देश-काल वस्तु प्रतीत हो रही है, उसमें केवल मैं ही परमार्थ हूँ। यह देखो, चित्त एकाग्र हो तो एकाग्र चित्तसे देखो और यह सारी सृष्टि दिखायी पड़ रही हो, तो उसमें भी समदर्शन होकर देखो। सब भूतमें भूमात्र, सब प्रतीतिमें ज्ञानमात्र, सब स्वादोंमें आनन्दमात्र और सब इदंमें आत्ममात्र।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

अब भगवान् बताना चाहते हैं जो तुम सो मैं और जो मैं सो तुम। यह बात कब बनेगी ? कि जब दोनोंका लक्षण एक होगा, तब! लक्षण एक हुए बिना लक्ष्यकी एकता होती नहीं, यदि दोनोंके गलेमें ललरी न हो, तो दोनों गाय

कैसे होंगी ? तो जो लक्षण आत्माका, वही लक्षण यदि परमात्माका हो, तब तो दोनोंकी एकता बनेगी। जैसे यह सर्वभूतस्थ आत्मा है और जैसे सर्वभूत आत्मामें हैं, इसी प्रकार यदि परमात्मा हो तब तो दोनों एक होंगे और यदि लक्षण अलग-अलग होगा तो आत्मा और परमात्मा एक नहीं होगा।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

तुमको पूरी तरहसे देखना हो, तो उसका सब ओरसे देखना पड़ता है। एक कोणसे लिया हुआ फोटो वस्तुके समग्र रूपको प्रकट नहीं करता है। इधरसे भी देखो, उधरसे भी देखो, दाहिनेसे भी देखो, बायेंसे भी देखो। जो लोग कहते हैं कि इस दृष्टिसे विचार करनेकी क्या जरूरत है, तो असलमें विचारके, बुद्धिके शत्रु हो गये, परहेज़ करते हैं, दृष्टिकोणसे परहेज़ करते हैं। इसीसे हमारा विचारक जब विचार करना प्रारम्भ करता है, तो पहले चार्वाक मतसे विचार प्रारम्भ करता है। पहला दृष्टिकोण चार्वाकका है, वही लोकायत है और वहींसे शुरू नहीं करेंगे, तो अन्तमें वहाँ गिरना पड़ेगा। अगर समझ-बूझकर उसको नहीं छोड़ेंगे, तो जो है सो अन्तमें देह ही सबकुछ हो जायेगा। हम ऐसे लोगोंको जानते हैं महाराज, जिन्होंने दस-दस, पाँच-पाँच बरस तक उपासना की, योगाभ्यास किया, वेदान्तका विचार किया, परन्तु वह कायदेसे न करनेके कारण, सब दृष्टिकोणोंको न लेनेके कारण, जिससे कतरा जाते हैं, जिसको छोड़ जाते हैं, फिर अन्तमें वहीं गिरते हैं। ऐसा हमको बहुत देखनेमें आया है।

तो देखो, हम थोड़ी उम्रका भी बोझ डालते हैं आपके ऊपर। हमारे पास पच्चीस बरसके, तीस बरसके लड़के आते हैं और वे कोई बात ऐसी करके सुनाने लगते हैं, उनको दो-पाँच बरस या एक बरस पहले मालूम पड़ी, तो वे आकर ऐसे सुनाते हैं कि जैसे वे कहींसे नयी-नयी बात निकालकर ले आये हैं और हम जब देखते हैं कि इनका जन्म नहीं हुआ था, जब हमको यह बात मालूम थी। यह उम्रका बोझ आपको डालते हैं, कोई चालीस बरससे भी अधिक तत्त्वदर्शी ब्रह्मात्मैक्य बोध सम्पन्न महात्माओंके बीचमें चक्कर काटते हुआ। अतः वस्तुको हर दृष्टिकोणसे देखो!

एक लो दृष्टिकोण, क्या? कि हम देखते हैं और दुनिया दीखती है। तो बिना हमारे तो कुछ दीख ही नहीं सकता, यह बात है कि नहीं? हम रहे ज्ञाता और यह रहा ज्ञेय और हम रहे द्रष्टा और यह रहा दृश्य, हम रहे साक्षी स्वयं प्रकाश और यह सब हमारी चमक-दमक! यह भी एक दृष्टिकोण है विचार करनेका। यह दृष्टिकोण ही सम्पूर्ण नहीं होता है, एक यह भी दृष्टिकोण है। यह भी एक प्रक्रिया है। यह दृष्टि सृष्टिवादकी प्रक्रिया है।

अच्छा भाई, हमारी ओरसे तो ठीक है, जैसे हम सपना देखते हैं और सपनेका कण-कण अणु-अणु रोम-रोम, वृत्ति-वृत्ति मुझसे ही अनुस्यूत है, मेरे सिवाय जैसे स्वप्नमें और कुछ नहीं है, वैसे जाग्रत्में भी मेरे सिवाय और कुछ नहीं है, दृष्टिमात्र ही है। लेकिन हे भगवान्, इस तरहसे भी तो सोचो कि आखिर यह भेद क्यों मालूम पड़ता है? आत्मा तो भिन्न-भिन्न है नहीं और विषय भिन्न-भिन्न हैं। द्रष्टाकी दृष्टिके भेदसे विषयमें भेद आया। आखिर विषय भिन्न-भिन्न भासते क्यों हैं? कि इससे हमको क्या मतलब, चाहे जैसे भी भासें। हम तो इससे अलग। तो इसका मतलब यह हुआ, कि थोड़ा अपने किसी कोनेमें अज्ञान या अविचार पड़ा भी रहे, तो क्या हर्ज है! रहने दो अज्ञानको। यही अज्ञान बादमें काटता है। ऐसे भी आप विचार करो कि जैसे प्रत्येक देह और अन्तःकरणकी उपाधिसे हित होकरके ज्ञाता ज्ञेयको जानता है, वैसे प्रत्येक ज्ञेयकी उपाधिसे स्थित होकरके चेतन ज्ञेयको प्रकाशित करता है। ऐसे आप विचार क्यों नहीं करते? आप विचारमें डरते काहेको हैं? यही अन्तःकरण, अन्तःकरण, अन्तःकरण सब अन्तःकरणोंमें एक, ज्ञेय-ज्ञेय-ज्ञेय सब ज्ञेयोंमें एक, ज्ञेयगत जो बीज है, उस व्यष्टि बीजकी उपाधिसे एक ही चैतन्य वहाँ पृथक्ताको प्रकाशित कर रहा है। कहो कि अंगूरमें जो स्वाद है और आममें जो स्वाद है और इमलीमें जो स्वाद है वह सब द्रष्टाकी दृष्टि है। अच्छा तो द्रष्टाकी दृष्टिमें यह स्वादका भेद कहाँसे आया? बोले—वासनासे। पहले स्वाद, कि पहले वासना? तो वासना डालनेवाला स्वादु पदार्थ भी होना चाहिए न! यह देखो आभासवादकी प्रक्रिया इसको बोलते हैं। त्रिसत्तावाद भी बोलते हैं इसको। नहीं बाबा, एक परमेश्वर अंगूरके बीचमें बैठा हुआ है, एक परमेश्वर आमके बीजमें बैठा हुआ है, एक

परमेश्वर इमलीके बीजमें बैठा हुआ है। नहीं तो विषयके भेदका प्रकाश न एक द्रष्टामें-से तो भेदका प्रकाशन निकल नहीं सकता, एक द्रष्टा एक दृश्य। भेद काहेको दृश्यमें आया? दृश्यमें भी कुछ भेदका बीज होना चाहिए! न चाहनेपर भी तो भेद दिखायी पड़ता है। तो कहाँसे आया? तो जैसे अन्तःकरणमें वासनाका भेद होता है, वैसे ही विषयमें भी गुणका भेद होता है। तब विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं कि विषय और विषयका गुण कुछ नहीं है, यह अन्तःकरणकी वासना ही है। और हमारे त्रिसत्तावादी जो हैं आभासवादी, वे उनका खंडन करते हैं, नहीं, बाह्यपदार्थके बिना अन्तःकरणमें वासनाभेद हो ही नहीं सकता। बाह्यार्थका अवधूनन करके धी वृत्ति हो ही नहीं सकती। संक्षेप शारीरिककारने कहा कि बाह्यार्थका निषेध करके अन्तःकरणमें वृत्तिका भेद बिलकुल हो ही नहीं सकता। यह भी विचारकी एक प्रक्रिया है। तो आओ न, यह भी देख लो, एक-एक विषयमें ईश्वर। एक-एक घड़ेमें आकाश। एक-एक घड़ेमें चिदाकाश, घट जातिमें चिदाकाश। फिर पटमें आकाश। फिर पटमें चिदाकाश। अब सबको इकट्ठा कर दो, तो उसका नाम हो जायेगा परमेश्वर और दृष्टि-दृष्टिमें जो आत्म चैतन्य है, उसमें विषय भेदको हटा दो तो उसका नाम हो जायेगा अखण्ड आत्मचैतन्य। और विषयकी उपाधिसे चैतन्यको देखो तो अखण्ड ईश्वर चैतन्य। यह विचार करनेकी पद्धति है। तो यहाँ आप देखना दोनों तरहसे विचार किया हुआ है। **सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि**—यह तो अपनी ओरसे है, और **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति**—वह परमेश्वरकी ओरसे है। कृष्ण बोल रहे हैं यह। एक आत्म-पदार्थका वर्णन है, एक मत् पदार्थका वर्णन है अहं पदार्थ। कि दोनों दो हैं? कि नहीं, तत्त्वतः दोनों एक हैं। **सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः** यह एकता है। समझानेकी शैली होती है। और, समझानेकी शैली ऐसी होनी चाहिए जिसमें कुछ छूट न जाये।

अच्छा, तो आपको पहली बात बतायी। यह जो योगयुक्तात्मा और सर्वत्र समदर्शनकी पुरुषकी दृष्टि है, व्यवहार है तो सर्वत्र समदृष्टि है, समाधि है तो योगयुक्तात्मा है अथवा यों कहो जो योगयुक्तात्मा होता है वह सर्वत्र समदर्शन होता है। तो उसका जो ईक्षण है वह क्या यथार्थ ईक्षण है? प्रश्न यह है। जैसे वेदमें आया—***तदपश्यत् तदभवत् तदासीत***। यह शुक्ल

यजुर्वेद संहिताके चौंतीसवें अध्यायमें मन्त्र है। उसको देखा, वही हो गया, क्योंकि वही था। अब देखो, यहाँ अभवत और आसीत क्रियाके अर्थमें भेद है। और तदपश्यत, परमात्माको देखा, परमात्मा ही हो गया, क्योंकि परमात्मा ही था—

योमां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। ६.३०

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। ६.३२

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन। ६.३३

आत्मौपम्येन साम्येन सर्वत्र समदर्शनः—यह जो योगका वर्णन है, यह क्या कोई बैठ करके—हमारे एक ब्रह्मचारीजी थे, हमारे गाँवके पास। बड़े ही सिद्ध ब्रह्मचारी थे, उनका नाम ही था सिद्धजी, तो वे भजन करने बैठते तो ऐसे तनकर बैठते थे। एक हमारे जाने हुए साधु थे, वे बैठते थे तो ऐसे चार अंगुलवाला, *समं कायशिरोग्रीवं।* अब महाराज अगर इकट्ठे हो जायें तो आपसमें लड़ें कि ऐसे बैठना चाहिए। बोले यह जो सुषुम्ना है, यह सीधी होती ही नहीं, अगर सीधे न बैठे। इसीका नाम है अयथार्थ दृष्टि। ऐसेमें भगवान् है और ऐसेमें नहीं है, अरे बाबा, भगवान् ऐसा है जो सबमें है। उसको पहचान लो, तो सबमें है और नहीं पहचानोगे तो कहीं नहीं है, कल्पना करते-करते मर जाओ, जहाँ तुम्हें कल्पना करके रखना पड़ता है कि हम ऐसे बैठें, ऐसे रहें, वह परमात्माकी प्राप्तिमें साधन सहायक हो सकता है, लेकिन वही परमार्थ स्थिति नहीं है।

तो आओ यह जो समदर्शन है योगीका, यह केवल कल्पनामात्र है, कि भावनामात्र है कि दृष्टिमात्र है, कि कोई यथार्थ सत्य है, यह विचार है—

ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।

योग युक्तात्माका अर्थ है वियोग युक्तात्मा। यह पारिभाषिक है। **तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।** यहाँ योग नाम किसका? योग संज्ञा किसकी? बोले—*दुःखसंयोगवियोगं*—दुःख माने दुःखके निमित्त अधिकरण, दुःखके अधिकरण अन्तःकरण, और दुःखाकार वृत्ति, भिन्न-भिन्न प्रकारके दुःख, और अहं दुःखी इत्याकारक अभिमानी भोक्ता, जिस आत्माका स्पर्श नहीं करते हैं, जब तुम उससे एक हुए, तो हुआ क्या? बोले—सत् कम

हो गया, समदर्शन हो गया, सम दृष्टि हो गये। समदर्शन माने दोनों आँखसे देखना, जो सम दर्शन नहीं है वह एक ही आँखसे देखता है। वह तो विषमदर्शी है न! कहते हैं कौआके पास एक ही आँख है, कभी इधरसे देखता है, कभी उधरसे देखता है। वह तिरछी नजरसे देखता है, कभी सीधी नजरसे देखता ही नहीं। इसीलिए दुनियामें जब कोई किसीको तिरछी नजरसे देखता है, तब वह कौएकी नजर हो जाती है—काकदृष्टि अतः कभी किसीको तिरछी नजरसे न देखे। स्त्रियोंकी तिरछी नजर तो बहुत महत्त्वपूर्ण है, परन्तु पुरुषोंके लिए वर्जित है। तो समदर्शनका अर्थ है आँख बराबर हो, बराबर देखो, तिरछी नज़रसे देखनेपर कोई चीज़ अच्छी नहीं दिखती है। तो यह जो योगयुक्तात्मा समदर्शीकी दृष्टि है कि **'सर्वभूतस्थमात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि'**—ये जो ऊपर-ऊपर भूत बह रहे हैं, *भवन्ति नश्यन्ति च इति भूतानि; यानि खलु भवन्ति तानि नश्यन्ति। यानि नश्यन्ति तानि भवन्ति। भवन्ति नश्यन्ति यानि भूतानि, भवत् भवत् भवत् भवन्ति, नश्यत् नश्यत् नश्यत् नश्यन्ति,* सत्रन्त प्रयोग है। *यानि भवन्ति भूतानि तानि च नश्यन्ति भूतानि। तेषु सर्वेषु स्थितं आत्मानं। इदं अभूत्। इदं अनश्यत्।* कि यह पैदा हुआ, यह नष्ट हुआ। कौन देख रहा है ? कि दोनोंका दर्शन अपने आपको हो रहा है। ***नश्यत्सु भूतेषु, भवतश्च भूतेषु। स्थितं आत्मानं अधिष्ठानतया स्वप्रकाशतया च।*** स्वप्रकाश अधिष्ठानके रूपमें आपने आपको। बोले—यहाँ केवल प्रकाशतया है, अधिष्ठानतया नहीं है। कि नहीं, *सर्वभूतानि चात्मनि अधिष्ठानतया।* यहाँ सप्तम्यन्त जो प्रयोग है, वह अधिष्ठानत्वका सूचक है और **सर्वभूतस्थमात्मानं** जो है, वह स्वयं प्रकाशकत्वका सूचक है। तब ? कि आत्माके सिवाय और कुछ नहीं है। लो यह यथार्थ दृष्टि अब वह दूसरी ओर से देखनेवाली दृष्टि है, उसपर भी जरा ध्यान दो!

: ३० :

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥

भगवान्‌ने कहा जो मैं सो तू। पहले अलगसे देखकर पहचान ले मुझे कि मैं क्या हूँ। पहले मुझे तो देख ले

एक महात्मा थे महाराज, कनखलमें रहते थे। बड़े ही मजेदार। तो वे महाराज इतने कट्टर थे कि ब्रह्मसूत्रके शाङ्करभाष्यको छोड़कर वेदान्तके दूसरे ग्रन्थको भी नहीं मानते थे। वे कहते थे कि वे ही शंकराचार्य हैं, ब्रह्मसूत्र भाष्यकार जो शंकराचार्य हैं। उसके मतमें ऐसा, उसके मतमें ऐसा। जो बोलनेवाले हैं वे अन्य भाष्योंके कर्ता दूसरे होंगे। तो बोले कि महाराज, ये सब शंकर सम्प्रदायानुयायी उपासना बताते हैं। योग बताते हैं। यज्ञ-यागादि करवाते हैं। बोले—सब चेला बनानेके लिए ऐसे बोलते हैं। वे स्वयं बड़े फक्कड़ थे। बोले—ये बारह बरस उपले पथवानेके लिए ऐसा करते हैं। जानते हैं न आप, एक जिज्ञासु किसी महात्माके पास गया पहले ही दिन महात्माने बड़ी

उदारताके साथ बताया कि तू ब्रह्म है! बोला—यह ता कुछ नहीं हुआ, पचास बार मैंने पढ़ा है! सच्ची बात बता दी। तो बोले—ठीक है तुम दूसरे महात्माके पास जाओ। उनके पास गये। तो उस महात्माने कहा—'भाई, ऐसे थोड़े बताते हैं रहस्यकी बात!' समझ गये कि जो मैं जानता हूँ सो वह जानता है, जो वह जानता है सो मैं जानता हूँ। आखिर उसने मेरे पास भेजा क्यों? तो इसकी श्रद्धा नहीं होगी, यह मानता नहीं होगा, इसलिए भेजा है। तो बोले—भाई, रहस्यकी बात ऐसे नहीं बतायी जाती। कैसे बतायी जाती है? कि देखो, हमारे गौयें हैं, गोशालामें जाओ और बारह बरस गोबर पाथो। तब तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा, तब बतायेंगे। अब वह महाराज, बड़ा श्रद्धालु, बारह बरसतक गोबर पाथकर पवित्रात्मा होकर आया, महाराज बताओ! बोले—भाई, क्या बतायें? जो ब्रह्म है सो तू है, जो तू है सो ब्रह्म है, बोला कि हे भगवान्, यह तो गोबर पाथनेसे पहले ही हमको गुरुजीने बता दिया था। बोले कि वह जो गुरुजीकी बात तुमने नहीं मानी, उसका प्रायश्चित भी तो तुमको करना पड़ेगा न! यह उसीका प्रायश्चित है कि तूने गुरुजीकी बात नहीं मानी।

कभी-कभी श्री उड़िया बाबाजी महाराजके यहाँ यह बात होती थी कि भाई ज्ञान हो जानेके बाद भी ब्रह्माकार वृत्ति करो। तो आपको सुनाया ही होगा कभी, रामदास बाबाने पूछा कि महाराज, हमको ज्ञान हो गया अब करनेकी जरूरत नहीं है। तो बोले कि जाओ बेटा, अब ब्याह कर लो। ब्रह्माकार वृत्ति नहीं करोगे, तो और क्या करोगे? ब्याह करो। तो मैंने महाराजसे एकान्तमें पूछा कि महाराज, यह ब्रह्माकार वृत्ति क्या है? तो बोले कोई वृत्ति न करना ही ब्रह्माकार वृत्ति है। महाराज ब्रह्म किस वृत्तिका विषय है? ब्रह्म वृत्तिका विषय नहीं है, जानना ही ब्रह्माकार वृत्ति है। आपने ध्यान दिया? हमने पूछा—ब्रह्म किस वृत्तिका विषय है? वृत्ति ब्रह्ममें घुसेगी कि ब्रह्म वृत्तिमें आयेगा, ब्रह्ममें आकार क्या होगा? बीस कुतर्क किये। तो बोले कि ब्रह्म वृत्तिका विषय नहीं है, यह जान लेना ही ब्रह्मको वृत्तिका विषय करना है। महाराज, जब कभी तकलीफ हो तब क्या करना? दुःख मालूम पड़े तो क्या करना? आपको भी तो देखो, दुःख मालूम पड़ता होगा न! तो क्या बोलते हैं कि जब भूख लगती है तब यह नहीं देखा जाता कि हलवा-पूरी खाकर भूख मिटायेंगे। हम तो यह

चीज खाकर ही भूख मिटायेंगे। इसका मतलब यह होता है कि अभी भूख नहीं लगी है। अरे जब भूख लगे, तो रोटी मिले रोटी खा लो, चावल खा लो, चना मिले तो चना खा लो। यह पञ्चदशीका है—

येन केन प्रकारेण क्षुधामपनीशंति।

जैसे-तैसे भूख दूर कर लेते हैं। तो ऐसे महाराज, यदि दुनियामें तुमको कोई दुःख हो तो एक गिलास पानी पी लो, उसीसे मिट जाये बहुत बढ़िया, कहीं चार बार भगवान्‌का नाम ले लो, पूजा घरमें जाकर बैठ जाओ, प्राणायाम थोड़ा कर लो, समाधि लगा लो। बोले—महाराज हम तो एक ही के द्वारा मिटावेंगे। बोले कि अभी तुमको दुःख नहीं है। जब दुःख होगा तो जैसे कैसे तात्कालिक उपाय दुःखकी निवृत्तिकी कर लिया। जब जान लिया कि दुःख है ही नहीं, केवल भास ही रहा है, तो महाराज, जैसे तात्कालिक दुःख है वैसे ही उसकी निवृत्तिका तात्कालिक उपाय है। उसमें निष्ठाकी भी क्या जरूरत है? हे भगवान्, पञ्चदशीमें आया है—चाहे जैसे-तैसे भूखको दूर करना चाहता है। इसी प्रकार जब किसी प्रकारका विक्षेप आया, जैसा विक्षेप हो महाराज, उसके अनुरूप ही दवा करके तत्काल उसको मिटा दिया। न विक्षेपको पकड़कर रखना और न निवारणके साधनको ही पकड़कर रखना। महाराज कोई भी वृत्ति, चाहे वृत्तिको शान्त बनाओ, चाहे विक्षिप्त, चाहे तदाकार बनाओ, चाहे निराकार। जब बनाओगे तो वह कर्त्तव्यके बिना नहीं बनेगी, तो तात्कालिक कर्तृत्वका अध्यारोप करके दुःख निवारणके अनुरूप वृत्ति बनायी और दुःख मिट गया, तो अध्यारोपित कर्तृत्वसहित, वृत्तिसहित, दुःखसहित, एक ही कक्षामें सबको निक्षिप्त कर दिया, सब-का-सब बाधित। लो इसका नाम है वेदान्त—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी, *काश्यां श्वपचगृहे वा*—काशी होय चाहे चाण्डालका घर, चाहे ॐ ॐ करता हुए मरे चाहे हाय-हाय चिल्लाता हुआ मरे, चाहे समाधिमें मरे, चाहे छटपटाता हुआ मरे—*ज्ञान*

समकालमुत्तहा। कैवल्यं यत् हतशोकाः। ऐसी निर्द्वन्द्वता, ऐसी उन्मुक्तता, सिवाय वेदान्त ज्ञानके और किसी तरह भी प्राप्त नहीं हो सकती।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ६.३०

वेदान्त विद्याका चमत्कार यही है कि—*'खुली आँख परमारथ देखौं'*-आँख खुली हो और परमार्थका दर्शन हो रहा हो। बन्द आँखसे परमार्थ दिखे तो वह कल्पनात्मक है, वह भावनात्मक है। और जबतक करोगे तबतक वह रहेगी दृष्टि और नहीं करोगे तो नहीं रहेगी। यहाँ तो—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा .... गिरो।
यत् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाऽऽराधनम्।

अरे भगवान् यह दृष्टि। जो हो रहा है सब परमात्मामें हो रहा है। बोले—भाई, परमात्माका दर्शन होनेपर होता क्या है? परमात्माका दर्शन होनेपर यह होता है—'**स्तोत्राणि सर्वांगिरो**' सब, जो बोलते हैं, सो स्तोत्र है

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहाः पुण्या समस्ता क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि॥

—परब्रह्म परमात्माका दर्शन होनेका अर्थ यह होता है कि सारा जगत् नन्दनवन है, सुखका बगीचा। सब वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, सारा जल गंगाजल है और सारी धरती काशी है। जैसे बोलें वैसे श्रुति वाक्य है।

जहँ जहँ चलौं सोई परिकरमा, जो जो करौं सो पूजा।

यह बड़ी विचित्र लीला है। आप यह नहीं समझना कि हिमालयमें वेदान्तका निवास है, कि नहीं, वह ब्रह्मलोकमें वेदान्त रहता है, नहीं, गेरुआ कपड़ेमें वेदान्त रहता है, सो नहीं। तबतक असली वेदान्त हुआ ही नहीं, जबतक सब वेदान्त नहीं हो गया। असल वेदान्त कौन-सा है? जो न सरके, जो हर हालतमें हो।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तो देखो, धर्म कहता है सबमें जीवको देखो और सबका भला करो। यह धर्मका सार है। सबमें जीव है, किसीको दुःख मत पहुँचाओ! अहिंसा, हित, करुणा, सबके प्रति हित, यह धर्मका सार है। *आक्रुष्टः कुशलं वदेत्।* जब कोई गाली दे, निन्दा करे, तो उससे कुशल बोलना चाहिए. अच्छी बात बोलना चाहिए। **क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुद्ध्येत**। श्री उड़िया बाबाजी महाराज यह श्लोक बोलते थे।

क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येत। आक्रुष्टः कुशलं वदेत्।

—कोई क्रोध कर रहा हो, तो बदलेमें तुम क्रोध मत करो। कोई गन्दा पानी लेकर अपने ऊपर डालने लगे, तो तुम कहो कि यह अपने ऊपर डाल रहा है, तो हम जरूर डालेंगे, ऐसे नहीं करना। एक आदमी गन्दगी उछालता है तो तुम काहेको गन्दगी उछालते हो? एक गाली देता है तो तुम क्यों गाली देते हो? वह धर्मका सार है।

अच्छा, अब आपको उपासनाका सार बताते हैं। धर्मके बाद उपासनाका नम्बर आता है। कल हमको कोई कह रहा था कि महाराज, आप तो भक्तिकी बात ही नहीं करते हो, तो सवेरे कर लेते हैं भाई, तो शाम को.........। सबेरे माधोबागमें भक्तिकी बात कर लेते हैं न!

अब देखो, भक्त वह है जिसको सबके भीतर भगवान्‌का दर्शन हो। *'जित देखौं तित स्याममयी हो।'*—यह भक्तिकी पराकाष्ठा है। एक दिनकी बात है, मैं ध्यान करने बैठा, ध्यानमें क्या आया? कि भागवत तो मैं बहुत पढ़ता था, बचपनमें जब गृहस्थ था, ध्यानमें यह आया कि भगवान् तो सब जगह है। सब स्त्रियोंमें है, सब पुरुषोंमें है, खम्भेमें हैं, स्तम्भमें है। भगवान्, भगवान् भगवान्, आँख बन्द हो गयी। यह वह बात दूसरी है, हमारे गाँव के एक भैया थे, तो वे कहते थे, जरा वे भाँग-वाँग पीते थे, समझो बनारसी पण्डित, ब्राह्मण, हम दिखा देते भागवतमें यह लिखा है कि भगवान् है, यह भगवान् है, गोपियाँ ये कहती हैं कि भगवान् हैं। तो वे बोलते—यह तुम नहीं जानते भाई जान, यह तो किसी छोकरीसे जब किसीका प्रेम हो जाता है, तो वह उसीको हृदयेश्वरी, प्राणेश्वरी उसीको बोलता है। वह तो कहता है और कोई ईश्वर नहीं है, बस

हमारे ईश्वर तो तुम हो, अगर तुम हमारे ईश्वर नहीं हो तो दुनियामें और कोई ईश्वर ही नहीं है और इसीमें पट्ठा मारा जाता है भला! मौतका हेतु ही यह है। मोह है देहासक्तिमूलक नरकका रास्ता। उसमें भगवद्भाव होता ही नहीं है, भोग्यबुद्धि रहती है। भोग्यासक्तिके कारण इस तरहकी बात वह अपने भोग्यको खुश करनेके लिए बोलता है। तो गोपियाँ—

जित देखों तित स्याममयी है।

तो मैं ध्यान करने बैठा, तो सोचने लगा कि सबमें अलग-अलग भगवान् हैं। तो हे भगवान्, वही कृष्ण। भगवान् माने हमारे जानते ही हैं आप, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर, नन्दनन्दन मन्द-मन्द मुस्कराते हुए, प्रेमभरी दृष्टिसे देखते हुए, रुनझुन,-रुनझुन नूपुर बजाते हुए सब भगवान्। एक दिन मैंने उड़िया बाबाजी महाराजको देखा, मोटा तो शरीर था और देखा तो कटि-काछनी पहनकर जैसे ये रासलीलामें बालक नाचते हैं, कटि-काछनी पहनकर, मुकुट बाँधकर और हाथमें बाँसुरी लेकर ता ता थेई, ता ता थेई नाच रहे हैं। क्या हँसी आये देखकर कि यह कृष्ण भगवान् आज इतने मोटे कैसे हो गये! वह दृश्य हमको कभी भूलता ही नहीं, जब मैंने उनको मोटे शरीरसे कटि-काछनी पहनकर, पाँवमें नूपुर, गलेमें माला, हाथमें बाँसुरी, सिरपर मुकुट और महाराज, वह ता ता थेई, करते देखा। वह आँखके सामने चाहे जब आ जाता है।

तो हमने सोचा जब भगवान् सबमें हैं, मुरली मनोहर पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर, तो एक एक चीजमें होनेका क्या अर्थ है? आपको वह दृश्य मैंने नहीं बताया, मैंने देखा कि प्रलय हो रहा है। सामने सब समुद्र-ही-समुद्र है, जैसे मार्कण्डेय ऋषि डूब-उतरा रहे थे, वैसे मैं कमरभर पानीमें खड़ा हूँ और सामने एक बड़का पेड़ है और उसपर एक बालक है। वही *बालमुकुन्दं मनसा स्मरामि*, बाल मुकुन्द। तो फिर मनमें आया कि एक ही क्यों, उसको तो सब जगह होना चाहिए। तो सब पत्तेपर दिखायी पड़ने लगा। फिर मैंने कहा— केवल पेड़पर ही क्यों? सब जगह होना चाहिए। तो जैसे अणु आपसमें गतिशील हो रहे हों और प्रत्येक अणुमें वह नन्हा-सा शिशु मन्द-मन्द मुस्कुराता हुआ, अपने पाँवका अँगूठा पीता हुआ लाख-करोड़ शिशु प्रत्येक

अणुमें घूम रहे हैं। न बड़का पेड़ है, न समुद्र है, न मैं हूँ, केवल बालक। मैंने कहा—यह क्या ? यह कोई ईश्वरका दर्शन है ? देखो, मनमें तर्क-वितर्क हुआ। यह क्या कोई ईश्वरका दर्शन हुआ ? ईश्वर तो एक होता है और यह अनेक है, यह ईश्वर काहेसे ! तो महाराज, फिर वह अलग-अलग दिखना बन्द हो गया, एक चिज्ज्योति प्रकाश, प्रकाश, ज्ञानप्रकाश, ज्ञानात्मक प्रकाश। फिर ख्याल हुआ कि तब यह और मैं देखनेवाला और यह दीखनेवाला चैतन्य क्या कोई दो हैं ? नहीं, दो नहीं है, बिलकुल एक ही है और उसके बाद विचारकी गति चार-रहित हो गयी। चार, विगत चार हो गया। माने विचारका चलना बन्द हो गया कि एक क्यों ! हजार क्यों ! अनेक क्यों ! अलग क्यों ! सारा यह विचार-विमर्श बन्द हो गया। कुछ समयतक कुछ प्रतीत नहीं हुआ। अच्छा, फिर देखा एक चिज्ज्योति प्रकाशमान है। उसके बाद देखा प्रत्येक अणुमें कृष्ण बाँसुरी बजाते हुए, उसके बाद देखा बड़के प्रत्येक पत्तेपर, उसके बाद देखा एक पत्तेपर, उसके बाद देखा समुद्रमें मैं खड़ा हूँ और उसके बाद देखा कि मैं तो ध्यान करने बैठा हूँ। तो हम आपको—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

यह कोई सूखी बात नहीं है, गीली बात है, बिलकुल रसमयी, मधुमयी, लास्यमयी बात है कि आपको जो दिखता है, वहीं से आप परमेश्वरको देखना शुरू कीजिये और आप जो हैं वहींसे आत्माको देखना शुरू कीजिये। आपको अपना मैं जो मालूम पड़ता है, वहींसे आत्मको देखना शुरू कीजिये और आपको जो प्रतीत होता है वहींसे परमात्माको देखना शुरू कीजिये। तो यह आपके मैंकी जो उपाधि है देहादि, वह एक ओर धरी रह जायेगी। और परमात्माकी पृथक्ताके लिए जो उपाधियाँ हेतु बन रही हैं वे सब चली जायेंगी और फिर आत्मा और परमात्माका भेद मिट जायेगा। नारायण **यो मां पश्यति सर्वत्र**—यह **पश्यति** जो है, यह परमार्थ नहीं है, यह देखना परमार्थ नहीं है। व्याकरण शास्त्रकी दृष्टिसे यह बात है—*धातु* तो दृक् है और *पश्य* जो है वह तो *आदिष्ट* है। यह कहाँ शब्दका परिणाम होकर, *दृश् धातु* क्या परिणामको प्राप्त होकर *पश्य* बन सकती है ? कौन-सी यह परिणामकी प्रक्रिया है ? यह तो महाराज, असाध्यको नशा भाव आदिष्ट है। *पश्य* दृष्टके लिए आदिष्ट है *पश्*

माने दृ जो है, जो दर्शनमात्र है, वह *पश्यति* क्रियाका कर्त्ता कैसे है? और *पश्यति* तो महाराज सकर्मक है। *पश्यति*का कर्म होता है,। *चेतति धातु प्रकाशते* तो अकर्मक भी है, परन्तु *पश्यति* तो सकर्मक है। तो यह *पश्यति* तो बिलकुल ही गलत है—**आत्मानं पश्यति**। यहाँ धातुका अर्थ विवक्षित नहीं है, ज्ञानमात्र विवक्षित है। ऐसे अनेक दृष्टान्त हम दे सकते हैं *धारयं धत्ते। कार्यं कुरुते।* धात्वर्थ कहाँ विवक्षित है? तो लो आपको हम यह बात सुनाते हैं कि—

यो मां पश्यति सर्वत्र—यह भी एक साधना है। सबमें अपने आपको देखना—**ईक्षते**, यह भी एक साधन है और सबमें परमात्माको देखना, यह भी एक साधन है। **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति**। ठीक वैसा ही **सर्वभूतस्थमात्मानं** जैसे है वैसे ही। **सर्वत्र**—***अध्यस्तेषु पदार्थेषु क्रियमाणेषु तदार्थेषु मां स्वप्रकाशाधिष्ठानतया सर्वात्मानं***। स्वप्रकाश अधिष्ठान-स्वरूप जो परमात्मा है उसको देखो! अरे तुम साँपको मत देखो, रस्सीको देखो, तुम जेवरको मत देखो, सोनाको देखो। तुम नीलिमाको मत देखो, विशाल गगनको देखो और तुम दृश्यको मत देखो, देखनाको देखो। देखनाका देखना होता है कहीं? हमारे दोनों महान् दार्शनिक पूर्व मीमांसक और उत्तर मीमांसक देखनाका देखना नहीं मानते हैं। ज्ञानका ज्ञान नहीं मानते हैं। तब यह ज्ञानका ज्ञान क्या है? इसीका नाम विवर्त है। यह विवर्त वेदान्तका सिद्धान्त नहीं है—

प्रकृतधीः परिणाममुदीक्षते क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम्।

संक्षेप शारीरककार कहते हैं—जिसकी सामान्य बुद्धि है वह देखता है कि यह ब्रह्मका परिणाम है और जिसकी बुद्धि शुद्ध है वह देखता है कि ब्रह्म विवर्त है। और जिसको अनुभव हो गया, अविद्या जिसकी नष्ट हो गयी उसके लिए न परिणाम है न विवर्त है। यह संक्षेप शारीरककार हमारे सर्वज्ञात्मक मुनि बोलते हैं। माने इस जगत्के रूपमें परमात्मा बन गया है? बोले—नहीं, तब परमात्मा जगत्के रूपमें दीख रहा है? कि नहीं, तब क्या है? कि यह परमात्मा ही है। ऐसा ही बिलकुल ठोस। इसमें न धर्म करके परमात्माको देखना है, न उपासना करके परमात्माको देखना है, न योग करके परमात्माको देखना है। आपको क्या सुनायें, इस ग्रन्थके आधारपर शंकराचार्य भगवान्ने ब्रह्मसूत्रपर भाष्य किया है, उसका नाम सूतसंहिता है, माने ऐसा सम्प्रदायमें ही माना जाता

है कि रामानुजाचार्यजी महाराजने ब्रह्मसूत्रपर भाष्य किया, तो बोधायन वृत्तिके आलम्बनसे किया और शंकर भगवान्ने जब ब्रह्मसूत्रपर भाष्य किया तो सूत-संहिताके आधार पर किया। सूतसंहिता वैयासिक्य है। वे कहते हैं—

यानि सर्वाणि कर्माणि विहितानि श्रुतौ स्मृतौ।
तानि शम्भोर्महापूजा एतज्ज्ञानं महामखः॥
यानि सर्वाणि कर्माणि निषिद्धानि श्रुतौ स्मृतौ।
तानि शम्भोर्महापूजा एतज्ज्ञानं महामखः॥
यानि सर्वाणि कर्माणि अनिषिद्धानि श्रुतौ स्मृतौ।
तानि शम्भोर्महापूजा एतज्ज्ञानं महामखः॥
यानि सर्वाणि कर्माणि अविहितानि श्रुतौ स्मृतौ।
तानि शम्भोर्महापूजा एतज्ज्ञानं महामखः॥

विहित और निषिद्धके भेदका मन्थन करके जो सार-सार है, वह अर्थ है। अरे, आप साँपको क्यों देखते हैं? रस्सीको देखिये न, आप दुनियाको क्यों देखते हैं, भगवान्को देखिये न! आप स्त्री-पुरुषको क्यों देखते हैं, सबमें जो परमात्मा है उसको देखिये न! असलमें **पश्यति** क्रियाके कर्त्ता आप नहीं हैं, आप द्रष्टा नहीं है, दृश्यकी अपेक्षासे द्रष्टापना है। आप तो निरपेक्ष दृङ्मात्र हैं और वे भी समझानेके लिए ऐसे बोलते हैं। ऐसा समझिये—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

सबमें देखो *माम्*को। *मां तमेवात्मानं*। *मां अहं इत्यर्थः* पूर्व श्लोकमें कहा गया जो, वही है यह। और देखो, सबको मुझमें-परमात्मामें।

देखो, आत्मज्ञान है योगसे और परमात्मज्ञान है भक्तिसे और जहाँ आत्मा-परमात्माका भेद मिटना है, वहाँ तत्त्वज्ञान है। आत्मामें स्थिति है, सो योग है और परमात्मामें स्थिति है तो वह भक्ति है और ज्ञान वह है जहाँ योग और भक्तिको हटाकर आत्मा और परमात्माका भेद ही मिटा दिया जाता है। और जब आत्मा परमात्माका भेद मिट गया, तो चाहे उसका नाम योग रख लो, चाहे भक्ति रख लो, चाहे उसका नाम ज्ञान रख लो, चाहे जैसे मौज हो। अज्ञानीसे तो कहो ऐसे बोलो, ऐसे न बोलो और तत्त्वज्ञसे कहनेकी जरूरत ही नहीं है कि वह क्या नाम रखकर किस वस्तुका कैसे वर्णन करता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

अरे महाराज, ऐसी बात सुनायी! भगवान् कभी-कभी भक्तसे ऐसी बात कह देते हैं कि उसके अधिकारपर विचार करो—

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।

कहते हैं कि मैं मर जाता हूँ- ***'तस्याहं प्रणश्यामि' तस्य यः माम् न सर्वत्र पश्यति***—यह अर्थ निकलेगा कि नहीं निकलेगा, आप देख लो, ***यः मां सर्वत्र न पश्यति तस्य अहं प्रणश्यामि यः मयि सर्वत्र न पश्यति तस्य अहं प्रणश्यामि। यस्तु सर्वत्र मां पश्यति, मयि च सर्वं पश्यति तस्य अहं न प्रणश्यामि।*** बिलकुल साफ है कि नहीं? भगवान्में सबको न देखना और सर्वत्र भगवान्को न देखना यह है भगवान्का मरना। **प्रणश्यामि।** अदर्शन ही भगवान्की मृत्यु है, जिसको भगवान् दीख नहीं रहे हैं, जिसको भगवान् मालूम नहीं पड़ रहे हैं, उसके भगवान् कहाँ जिन्दा हैं? अरे अपनेको काटकर अलग कर दिया, अपनेको उससे अलग कर दिया, यादतक तो आती नहीं है, और दूसरेके प्रेममें मुब्तिला हो गये, भगवान् मुर्दा हैं कि जिन्दा हैं? पहले तो काटकर अपनेको जुदा किया, फिर उसको भूल गये। माने देखो, कोई स्त्री हो, पहले तो अपने पतिको घरसे निकाल दे, फिर उसको भूल जाये और फिर दूसरेसे ब्याह कर ले, तो पहला पति मर गया कि जिन्दा है? अरे, यह कहते हैं कि मेरा अदर्शन ही मेरा प्रणाश है। जिसको सर्वत्र परमात्माका दर्शन नहीं होता, जिसके लिए सब परमात्मामें नहीं है, **'तस्याहं प्रणश्यामि'**। बोले कि अच्छा बाबा, वह तो बेवकूफ है, यह देखो कितनी करारी बात है, भगवान्की परोक्षता, भगवान्का अदर्शन, भगवान्में पृथग्भाव और भगवान्का अदर्शन और भगवान्को छोड़कर दूसरेसे प्रेम—**प्रणश्यामि** क्रियाका प्रयोग है। देखो किसीको बोले—**प्रणश्यति। बुद्धिनाशात् प्रणश्यति। न मे भक्तः प्रणश्यति** बुद्धिका नाश होनेसे आदमीका नाश हो जाता है। भगवान्के भक्तका नाश नहीं होता। यहाँ भगवान् कहते हैं—**तस्याहं न प्रणश्यामि**—अपने लिए बोलते हैं। बोले कि अच्छा बाबा, वह तो बेवकूफ है, उसके लिए आप मर गये ठीक है, परन्तु आपके लिए तो वह जिन्दा है, आप ही उसके

लिए कुछ करो। बोले कि नहीं, मेरे लिए वह भी मर गया। जहाँ *सर्वम् मयि न पश्यति, यश्च सर्वत्र मां न पश्यति, स मे प्रणश्यति।* वह मेरे लिए न होनेके बराबर है। उसका होना, न होना मेरे लिए बराबर है, मर गया! अरे, वह तो एक ही चीज है, अपरोक्ष हो तो दोनों एक ही है और अपरोक्ष न हो, तो होना न होना बराबर है। इतनी कड़ी बात! और बोले—जब एक हो गये तो?

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

लो क्या हो गया? बोले—फिर तो तुम्हारे लिए मुक्ति-ही-मुक्ति है, यह मुक्तिका वर्णन है, जीवनकालमें जो मुक्ति होती है, यह जीवन्मुक्तिका वर्णन है—

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।
विस्मृत्यापि मयि वर्तते अपश्यन्नापि मयि वर्तते।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

भगवान् कहते हैं कि जो मुझे सर्वत्र देखता है और सब मुझमें देखता है, उसके लिए मेरा कभी अदर्शन नहीं होता है। सबमें मैं और सब मुझमें, जहाँ देखता हूँ वहाँ तू-ही-तू है। और आगे बोलते हैं कि यही नहीं कि वही मुझको देखे। एक ओरसे देखनेमें मजा नहीं आता। देखनेका मजा ही तब होता है जब दोनों देखें। यह तो आप जानते ही हैं। चकोरका मजा इसीलिए कम है, पूरा नहीं है, क्योंकि वह तो चन्द्रमाको देखता है, परन्तु चन्द्रमा चकोरको नहीं देखता है। तो हमारे वृन्दावनी भक्तोंने कहा कि चकोर प्रेमका स्वाद क्या जाने, जब उसके प्रियतमने अपना प्रेमी समझकर उसकी ओर कभी देखा ही नहीं। क्या जाने चकोर प्रेमका आनन्द! एकांगी प्रेम भी क्या कोई प्रेम है? वह तो अपने सन्तोषकी एक बात है। प्रेम तो समरस होना चाहिए। यह वृन्दावनी है, यह अयोध्यावाला नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजीका तो चातकका प्रेम है, एकांगी प्रेम है।

अच्छा भाई, मछली तो पानीसे बहुत प्रेम करे, पर पानीको पता ही नहीं

कि मछली कब हमारे अन्दर पैदा हुई, कब हमको प्रेम किया। कब मर गयी, क्या रस मिला? तो—

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।

उसके नेत्रसे ओझल मैं कभी नहीं होता और मेरे नेत्रसे ओझल वह कभी नहीं होता। मैं उसको देखता हूँ, वह मुझको देखता है। उसका दृश्य मैं हूँ, वह द्रष्टा है। तो मेरा दृश्य वह है मैं उसका द्रष्टा हूँ। और दृश्य-दृश्यमें भेद नहीं और द्रष्टा-द्रष्टामें भेद नहीं, यही तो अभेद है। द्रष्टा भी एक, दृश्य भी एक, द्रष्टा-दृश्य भी एक तो बात जरा शुरूसे सुनाऊँगा, तब आपको अच्छा लगेगा। इसकी एक शुरूआत होती है और उसमें सबसे बढ़िया शुरूआत यह है कि आप कम-से-कम मनुष्यको मनुष्य देखें। जिसके साथ बोलें, जिसके साथ हँसें, उसको वैसा ही मनुष्य समझें जैसा अपने आपको समझते हैं। लौकिक व्यवहारका मूल यह है कि हम बड़े बुद्धिमान हैं, हम बहुत बड़े हैं, ये छोटे लोग हैं, हमारे जितने पढ़े-लिखे नहीं हैं, हमारे जैसे बुद्धिमान नहीं हैं, हमारे जैसे त्यागी नहीं हैं, तपस्वी नहीं हैं, विद्वान् नहीं हैं, गृहस्थ हैं। ऐसे नहीं देखना चाहिए। यह लौकिक व्यवहारकी दृष्टि है कि उसमें मानवता होनी चाहिए। मानवतासे भी बड़ी दृष्टि है। यह जिसको हमलोग राष्ट्रियता बोलते हैं, वह आध्यात्मिक दृष्टिसे छोटी चीज है। कि ये भी हमारे राष्ट्रके, ये भी हमारे राष्ट्रके। जिसको हमलोग हिन्दू बोलते हैं, ब्राह्मण बोलते हैं, वह सब छोटी-छोटी चीज है। जातीयताका सर्वोत्तम विकास उस हृदयमें होये, जो सबके हृदयमें मनुष्यताका दर्शन करके सबसे प्रेम करता है। और जीवभावका सबसे उत्तम विकास उसके हृदयमें है जो खटमलमें, मच्छरमें, चिड़ियामें, पशुमें, पक्षीमें, सबमें जीवका दर्शन करके कि बाबा सब जीव हैं, किसीको दुःख मत पहुँचाओ। यह मनुष्यत्व सामान्यसे श्रेष्ठ है, जीवत्व सामान्य।

अच्छा, अब आगे बढ़ते हैं। तो देवताकी पूजा करते हैं। देखो, कर्मकाण्डमें क्या नियम है, जो भी यज्ञ-यागादि करता है वह एक फल कभी नहीं चाह सकता। एक फल वह एक ही हालतमें चाह सकता है, जब उसके मनमें वैराग्य हो और यज्ञ करके अपने अन्तःकरणकी शुद्धि आत्मपक्षमें और भगवान्‌की प्रसन्नता तत्पदार्थके पक्षमें, यदि चाहता होगा, तब तो वह धर्मका

एक फल चाह सकता है और यदि वह चाहता हो कि नन्दन वन मिले, माने अच्छा पार्क मिले घूमनेके लिए, चढ़नेके लिए विमान मिले, पीनेके लिए अमृत मिले और साथ घूमनेके लिए अप्सरा मिले और वह नाचे और गाये कभी नंगी हो, कभी कपड़ा पहने। अप्सराका सुख चाहेंगे विमानका सुख चाहेंगे, अमृत पीनेका सुख चाहेंगे, पार्कमें घूमनेका सुख चाहेंगे, हमेशा जवान रहनेका सुख चाहेंगे, खाने-पीनेकी फिकर न करनी पड़े—ऐसा सुख चाहेंगे और फिर चाहें कि हम एक फल चाहें, तो यह नहीं होगा। तब क्या होगा? पीनेके लिए उन्हें वरुण देवताकी जरूरत पड़ेगी, तब हाथमें आहुति लेंगे—हे वरुण देवता, हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ। हम स्वर्गमें आयें, तब हमको अमृत पीनेके लिए देना। इन्द्रको कहेंगे—महाराज, हमको ऊँचे सिंहासनपर बैठाना, भूमि देवीसे कहेंगे हमको सर्वोत्तम भूमिमें ले चलना—ऐसे!

तो अनेक देवताका ध्यान करना पड़ेगा! अनेक चीज जबतक चाहोगे तबतक एकसे काम नहीं चलेगा, अनेकका ध्यान करना पड़ेगा। इसमें सर्वोत्तम बात क्या होती है? हम आपको बिलकुल धर्मशास्त्रकी रीतिसे यह बात बता रहे हैं। आप हिरण्य गर्भका ध्यान करो। सर्वोत्तम उपासना, तो हिरण्यगर्भ लोकमें सब कुछ मिलता है। परन्तु सब कुछ मिलनेके लिए यदि हिरण्य गर्भका ध्यान करोगे, तो जबतक तुम्हारे ध्यानका बल रहेगा तबतक तो ब्रह्मलोकमें, हिंरण्यगर्भमें रहोगे और तुम्हारे ध्यानका बल जब ढीला पड़ जायेगा। यह महाराज, पृथ्वीका उपग्रह छोड़ते हैं तो इतनी परिक्रमा लगानेके बाद वह उपग्रह गिर पड़ेगा, यह बात आप जानते हैं, ऐसे ही महाराज, कोई ब्रह्मलोकमें जायेगा तो उपासनाकी जितनी शक्ति लेकर जायेगा, उतना ही वह ब्रह्मलोकमें रहेगा और फिर वहाँसे गिर पड़ेगा। और यदि वैराग्य भी हो और उपासनाके बलसे ब्रह्मलोक पहुँचे तब तो ब्रह्मलोकमें जाकर तत्त्वज्ञान होगा और यदि वैराग्य न हो और उपासनाके बलसे ब्रह्म लोकमें पहुँचे, तो वहाँसे गिर जाना पड़ेगा।

अब आपको एक छोटी-सी बात सुनाता हूँ—कहानी। क्योंकि कहानीसे बात बहुत जल्दी समझमें आयेगी। हमारे एक जाने हए आदमी थे। चाहे जाग्रत्में, चाहे स्वप्नमें। देखनेमें बड़े सुन्दर थे। स्वस्थ शरीर था। गौर वर्ण था

और महाराज, इतना पढ़ा-लिखा था जिसकी कोई हद नहीं और बड़े आरामसे रहता था वह। ऐसी उसकी आदत थी, पढ़ा-लिखा बहुत, देखनेमें सुन्दर, बड़ी इज्जत दुनियामें, लेकिन जिसका पैसा ले लेता था उसका वापस नहीं करता था। आप लोग उसका नाम बिलकुल मत ढूँढ़ना, मैं बोलता हूँ कि हमारे जाग्रत्‌में था कि स्वप्नमें था! आपको जाग्रत्‌में नहीं मिलेगा तो हमारे स्वप्नमें मिल जायेगा। हमने उसका सपना देखा था। अच्छा, क्या हुआ कि उससे ऊपर ऊँचे ओहदेपर जो आदमी था, उसको उसने दे दिया ज़हर और वह मर गया। और उसकी कुर्सीपर वह बैठ गया। देखो, सुन्दर था, स्वस्थ था, पढ़ा-लिखा था, ऊँचे ओहदेपर था। लेकिन वह बेइमानी करता था और, और ऊँचे ओहदेके लिए और धन पानेके लिए, उसने अपनेसे बड़ेकी हत्या कर दी। वह था हमारे जाग्रत्‌में; हमने किया ध्यान कि यह इतना बड़ा विद्वान् होकर न्यायका, वैशेषिकका, वेदान्तका, बीस भाषाका विद्वान् था वह। और इतने ऊँचे ओहदेपर होकर उसने ऐसा काम क्यों किया? यह हम बैठ करके ध्यान करने लगे।

आपको यह कहानी देखो कहाँ पहुँचाती है! आपको हम इसका जवाब देते हैं भला! अब समझो कि इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए कि इतना बड़ा न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग-मीमांसा वेदान्तका विद्वान्, द्वादशदर्शिनी भारतवर्षकी जिसको कंठस्थ और विदेशी अनेक भाषाओंका ज्ञाता उसमें यह आदत कहाँसे आयी कि पैसेके प्रति बेईमान और अपने ऊँचे पदवालेकी हत्या करके ऊँचे पदपर बैठा। तो मैंने किया ध्यान।

अच्छा, ध्यानकी बात अब छोड़ दो, ध्यान था कि जाग्रत् था, इसबातको छोड़ दो। उसको भी स्वप्न था कि जाग्रत् घपलेमें डालते हैं। यह घपला हमारे उत्तर-प्रदेशका खास शब्द है, उसको भी घपलेमें डालो। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज हमको मिले। उनसे मैंने पूछा कि महाराज, यह व्यक्तिकी क्या स्थिति है? तो वे ध्यानमें अथवा जाग्रत्‌में उसका उत्तर क्या देते हैं? आप सोचेंगे इसको। वे बोले—बेटा, यह सीधे ब्रह्मलोकसे आया है। अब लो, ब्रह्मलोकसे आया। वे देख रहे हैं उसको, देखलो तुम भी यह ब्रह्मलोकसे आया है। इसने ब्रह्मलोकमें वे-वे सुख भोगे हैं, इसको वहाँ वह विद्या मिली है, वह बुद्धि मिली

और वह ऊँचा पद मिला, सबका सुख इसने भोगा। परन्तु वैराग्य इसके मनमें था नहीं। उपासना तो इसने की थी। वैराग्य इसके मनमें था नहीं। जब थोड़ी-सी उपासनाका बल शेष रह गया—तब इसको ब्रह्मलोकसे मर्त्य लोकमें आना पड़ा।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। ८.१६

अच्छा, महाराज ब्रह्मलोकसे जो आता है उसको तो पुण्यात्मा होना चाहिए। पुण्यका संस्कार होना चाहिए न! बोले—नहीं, पुण्यका संस्कार तो था जब वह मर्त्यलोकमें था और उसने धर्म और उपासना की थी जबका और भोगका संस्कार पड़ा उसको ब्रह्मलोकमें। तो जब वह अपने उपासनाशेषसे पुण्यशेषसे मर्त्यलोकमें आया तब यहाँकी छोटी-मोटी विद्यासे उसकी तृप्ति न हो। शरीर तो ब्रह्मलोककी जो दिव्यता है, उसको लेकर आया, तो बड़ा सुन्दर और बड़ा स्वस्थ और छोटी विद्यामें उसकी तृप्ति न हो, तो पढ़ने लगा, तो बहुत बड़ी विद्या पढ़ गया। परन्तु महाराज, भोग भी तो उसको मर्त्यलोकके छोटे-छोटे लगें। भोगकी वासना उसके मनमें। उसने कहा—हम मर्त्यलोकका बड़े-से-बड़ा भोग प्राप्त करेंगे। अब बड़ा भोग उसको ईमान-दारीसे मिला नहीं, तो बड़े भोगकी वासना उसके चित्तमें जो बैठ गयी, उसके कारण वह बेईमान हो गया। उसके कारण वह हत्यारा हो गया।

आपको यह बात, देखो ध्यान दो। मैं यह सुना रहा हूँ कि यदि मनुष्यके जीवनमें वैराग्य नहीं हो। आप उस कथाको छोड़ दो, उस आदमीको मत ढूँढ़ो। उड़िया बाबाजी महाराजसे मैं मिला हूँ अपने मनमें और मैं मिला हूँ जाग्रत्में। आप उनसे मत मिलो। आप अपनी बुद्धिमें इसबातपर विचार करो कि ऐसा स्वस्थ, ऐसा सुन्दर, ऐसा ब्राह्मण, ऐसा विद्वान् जिसके सामने बड़े-बड़े राजा-महाराजा हाथ जोड़े खड़े, वह व्यक्ति जब वासनाके वशीभूत हुआ तो दुनियाकी कोई चीज उसको सुखी नहीं कर सकती थी। क्योंकि बहुत बड़ा सुख भोगकर वह आया था। छोटा सुख अब उसको पसन्द नहीं आये और ईमानदारीसे बड़ा सुख मिले नहीं, तो वह आया था ब्रह्मलोकसे, हो गया बेईमान और हत्यारा। इसका अर्थ है कि वैराग्य ही एकमात्र, ब्रह्मलोकमें जानेपर भी, आपका इष्टदेव भी वेदान्तका तबतक उपदेश नहीं करेगा, जबतव

समग्र दृश्य पदार्थसे, समग्र परिच्छिन्न पदार्थसे, सम्पूर्ण देशाधीन, कालाधीन पदार्थसे, **नास्त्यकृतः कृतेन।**

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। मु. १.२.१२

आप देखो, आपको सुनाया। मानवतामें, सबमें मनुष्यको देखकर सबके साथ सद् व्यवहार करो। सबके भीतर जीवात्माको देख करके आप अहिंसक हो जाओ और दुःखी प्राणियोंको देखकर आप उनके ऊपर करुणा उड़ेल दो। और धर्ममें इन्द्र, वरुण, कुबेरादिका ध्यान करके आप स्वर्गमें जाओ और तत्-तत् देवताके अनुग्रहसे भिन्न-भिन्न प्रकारका सुख-भोग प्राप्त करो और उपासनाके बलसे आप ब्रह्मलोकमें चले जाओ। तत् पदार्थकी प्रधानतासे ब्रह्मलोक जिसको कहते हैं, त्वंपदार्थकी प्रधानतासे उसीको त्वंपद वाच्यार्थ लोक बोलेंगे। उपासनासे तत्पदार्थमें स्थिति होगी, पर वहाँ वृत्ति बनी रहेगी। शान्तवृत्तिमें तत् पदार्थका अनुभव नहीं हो सकता। भले थोड़ी देरके लिए लीन हो जायें। चाहे थोड़ी देरके लिए जाग्रत् हो, पर लीन होनेपर तो तत् पदार्थका अनुभव नहीं होगा। जाग्रत् होनेपर होगा। और त्वं पदार्थमें वृत्ति शान्त हो जाती है। सांख्य और योगका जो अभिमत है वह सिद्ध हो जाता है। परन्तु महाराज, वेदान्तकी जरूरत बनी हुई है। अभी वेदान्तकी जरूरत पूरी नहीं हुई।

यो मां पश्यति सर्वत्र—देखो, ***यथार्थं पश्यति, अयथार्थं वा। मां पश्यति।*** हमारे वेदान्तियोंने यह प्रश्न उठाया है। यह जैसे हमने पहले कहीं देखा। एक हमारे मित्र थे वे बोलते थे जब मैं उत्तर काशीमें था। संवत् १९८७, ज्येष्ठ शुक्ला दशमी, दस बजे दिनमें मुझे आत्म-साक्षात्कार हुआ। और अब मैं बस उसीकी यादमें मगन रहता हूँ। *सीताराम! जब बोलो तब सीता ही राम!*

यह जो स्मृति है। यह दोनों तरहकी होती है। यथार्थ भी होती है और अयथार्थ भी होती है। यदि तुमने कोई सच्ची चीज देखी है तो उसकी भी याद आयेगी। सिनेमामें तस्वीर देखी है। कभी महाराज, पेड़को देखकर भूतका ख्याल आ गया, तो फिर वह भूतका ख्याल होगा। स्मृति तो होगी। यदि आपको यथार्थका अनुभव हुआ है तो भी स्मृति होगी और अयथार्थका अनुभव हुआ है तो भी स्मृति होगी। वह तो अनुभव संस्कारजन्य है स्मृति। वह यथार्थ और अयथार्थका स्पर्श नहीं करती है। वह तुमको यथार्थका संस्कार हुआ कि

अयथार्थ ? तो अब हम बोलते हैं अयथार्थ हुआ। क्योंकि आत्माका साक्षात्कार हो, तो आत्मा क्या इस समय नहीं है कि तुम उस समयवाले आत्माका साक्षात्कार कर रहे हो ? अरे, आत्मा तो अभी है न, यही है न, तुम्हीं हो न ! तो स्मृति काहेकी ? कांट दिया। तो अनुपस्थितका स्मरण कर रहे हो! *अनुपस्थितस्य स्मरति, उपस्थितस्य वा! अनुपस्थितं स्मरति, उपस्थितं वा! नहीं, अनुपस्थितस्य स्मरति।* स्मृति हो जाती है।

अच्छा, लो आपको यह बात सुनाते हैं कि जैसे एक प्रेमी है। वह अपने प्रियतमसे मिलने वनमें गया। श्रीराधारानी श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए अभिसार करके वृन्दावनके निकुञ्जमें गयीं। अब महाराज वहाँ कृष्ण तो आये नहीं और उनकी स्थिति चढ़ी तो तमाल वृक्षसे जाकर लिपटती हैं कि यह कृष्ण हैं। फिर मालूम पड़ता है कि यह कृष्ण नहीं हैं। तो दूसरेसे जाकर लिपटती हैं कि यह कृष्ण हैं। अब यहाँ यथार्थ है कि अयथार्थ ? तो उनको तो जहाँ देखती हैं वहाँ कृष्ण ही कृष्ण दिखते हैं। तो क्या—**'यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति'** यह वैसा ही स्मरण है ?

तो देखो, आपको मैंने मर्त्यलोककी बात सुनायी, देवलोककी बात सुनायी, ब्रह्मलोककी बात सुनायी, ब्रह्मलोकसे लौटे हुए की बात सुनायी, क्या यह जो **'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति है,'** यह क्या मनोरथ है ? क्या यह कोई मानसिक कल्पना है ? कोई कर्तृत्वमूलक भावना है ? जहाँ महाराज, कुछ करके, कुछ पकड़कर या कुछ छोड़कर हाथमें चित्र लो और स्मरण करो और आँख बन्द कर लो और स्मरण करो और मनको चलाओ और स्मरण करो, और मनको बन्द करो और स्मरण करो। तो, मनको ठप्प करना और मनको चलाना दोनों आपके कर्तृत्वसे ही सम्पन्न होता है। **'अकर्मणि च कर्मयः'** यह गीताका सिद्धान्त आप देख लो ! जहाँ आप कुछ नहीं करते हो। वहाँ अभी कुछ कर रहे हो। यह जो **'यो मां पश्यति सर्वत्र'** परमात्मा हैं और वही दिखायी पड़ते हैं। सचमुच सब परमात्मामें है और वही दिखाई पड़ते हैं कि तुम अपने मनसे कल्पना करते हो कि सबमें परमात्मा और सब परमात्मामें। *पश्यति* और *कल्पयति*में कुछ फर्क है कि नहीं है ? हे भगवान्।'

ऊधो मन न भए दस बीस।

एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधे ईस।

मन श्यामसुन्दरके साथ चला गया। आपको एक दिन सुनाया था। न तो मन कलकत्ते जाता है और न तो कलकत्ता मनमें आता है। मन कल्पित रूपसे कलकत्ता बनकर, स्वयं एक रूपसे देखता है, सैलानी मन कलकत्ताकार दीखता है और मुस्तकिल मन कलकत्तेको देखता है, यह दोनों न साक्षी, न द्रष्टा, न कूटस्थ, न तटस्थ। यह दोनों मनका ही खेल है। मनसे ही तादात्म्यापन्न होकर द्रष्टा मानसिक दृश्यको ही देख रहा है। प्रमातृत्व जो है, ज्ञातृत्व जो है वह असलमें चेतनका अन्तःकरणसे तादात्म्यापन्न होना ही है। अन्तःकरणमें जो कल्पित आकार है उससे एक होकर वह उसे देख रहा है।

अरे कहो, अब वेदान्तकी बात थोड़ी-सी सुना दें। महाराज, घबड़ाना नहीं आपलोग, वेदान्त समझदारोंकी चीज है, नासमझोंकी नहीं है और हम समझते हैं इस बातको पूरी तरहसे जानते हैं कि यदि हम यह कह दें कि नासमझ लोग इससे ऊब जायेंगे, तो आप सब लोग समझदार बननेको तैयार! हाथ उठा दोगे कि हम समझदार, हम समझदार। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जब वृत्ति द्वारा घटावच्छिन्न चैतन्यसे एक होता है तब घटका अनुभव होता है। इसका अर्थ यह है कि जिस देशमें अन्तःकरण है उसी देशमें घट है। यह पुस्तक बाहर और हम इसको देख रहे हैं—ऐसा नहीं। जब यह पुस्तक किसी भी कारणसे, चाहे पहलेकी देखी हुई या इस समय आँखसे देखी हुई। जहाँ हमारा अन्तःकरण है, अन्तः करणावच्छिन्न चैतन्य और पुस्तकावच्छिन्न चैतन्य, जब दोनों एक होगा, तब '*अहं पुस्तकम् अनुभवामि*' होगा। यदि हमारे अन्तःकरणमें पुस्तक न हो, तो '*अहं पुस्तकम् पश्यामि*' यह अनुभव नहीं हो सकता। जैसे आप देखो स्वप्नमें आपने देखा, एक घोड़ा, तो देखनेवाले आप और दिखनेवाला घोड़ा दोनों एक देशमें हैं कि नहीं हैं? मालूम पड़ता है कि अलग-अलग हैं, परन्तु हैं एकमें। तो वहाँ अन्तःकरणावच्छिन्न जो चैतन्य है और घोटकावच्छिन्न जो चैतन्य है, वह दो नहीं हैं। यह तो आपको मालूम पड़ता है। साफ मालूम पड़ता है कि वह घोड़ा अन्तःकरणका ही अवतार है। तो वहाँ आभास बीचमें जरूरी नहीं है और बाह्यपदार्थ देखनेमें आभास जरूरी है।

तो आओ नारायण, अब आप देखो कि यह जो परमात्माको देखना है, यह आभासभास्य है कि साक्षीभास्य? **पश्यतिका** अर्थ तो समझो! आप अपने अन्तःकरणमें जरा आँख बन्द करके एक मोटर देखते हैं। तो एक सड़कपर आप मोटर देखते हो। एक अन्तःकरणमें देखते हो। अब आप जरा अपने आपको या परमात्माको देखो, तो कैसे देखते हो? जैसे सड़कपर मोटर दीखती है वैसा देखते हो कि जैसा आँख बन्द करनेपर अन्तःकरणमें मोटर दीखती है, वैसे देखते हो? यह दोनों तरीका गलत है। खुली आँखसे जैसे सड़कपर मोटर चलती हुई दिखती है ऐसे परमात्माको देखना—यह तरीका भी गलत और आँख बन्द करनेपर दिलमें जो सड़कपर मोटर चल रही है, वैसे परमात्माको देखते हो—यह तरीका भी गलत। न वह आभासभास्य है और न तो साक्षीभास्य है। भीतरवाली मोटर साक्षीभास्य है और बाहरवाली मोटर आभासभास्य है। दरअसल दोनों ही मोटर अन्तःकरणमें हैं, मोटरावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य एक ही है।

अच्छा, अब और स्पष्ट बोलता हूँ। जरा गौर करोगे तब समझोगे भाई, वेदान्तकी बात समझना होता है तो उसमें अकल लगानी पड़ती है। क्योंकि बुद्धिका नाश करके वेदान्तका ज्ञान नहीं होता है। वेदान्तका ज्ञान होनेपर चाहे बुद्धि हो, चाहे न हो! लेकिन वेदान्तज्ञान प्राप्त करनेके लिए, **'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'**। बुद्धि दूसरेके पराधीन मत करना। बुद्धिको शराब पीकर सुलाना मत। बुद्धिको आलेमें रखकर मत आना, बुद्धिको बैकुण्ठमें मत भेजना। वेदान्तको समझना हो तो बुद्धिको नींदमें ले जाकर मत समझो। बुद्धिको जाग्रत् करके समझो। पहले समझ लो, उसके बाद तुम्हारी मौज हो, सोना चाहे जागना। सोने-जागनेमें स्वतन्त्र, लेकिन पहले समझ तो लो।

आओ महाराज लो,—**यो मां पश्यति सर्वत्र।**

देखो, आपको स्पष्टम्-स्पष्टम् दृष्टान्त बताते हैं। आपको बाहर एक साँप दिखायी पड़ता है। दरअसल वहाँ साँप नहीं है, रस्सी है। पर आपको दीखता क्या है? साँप। उसका पेट उसकी पूँछ, उसकी जीभ, वह फन फुफकारता हुआ। अच्छा जाने दो, साले साँपको, क्या नाम लेना! अरे नाग पञ्चमी होती तो

हाथ जोड़ते और फिर उसका पालन करें, तब तो कीमत रहेगी। सो तो होनेवाला नहीं है। तो मेरे प्यारे भाई, मेरी ओरसे तुम प्रतिज्ञा करो **कौन्तेय प्रतिजानीहि।** ***प्रतिजानीहि*** माने ***प्रतिज्ञां कुरु।*** ***प्रतिज्ञायस्व***—ऐसा। *प्रतिजानीहि,* यह *जानिति*से भी होता है और *जानाति* भी होता है न! तो परस्मैपदमें *'जानिहि'* बोलेंगे और आत्मनेपदीमें *प्रतिज्ञायस्व* बोलेंगे। बेटा अर्जुन—ऐसे। वे तो सब बोलते थे। जैसे बनारसमें कहते हैं—*'गुरु, जुतवा लेके आवा'* ऐसे महाराज भगवान् अर्जुनको कभी 'गुरु' भी बोलते हैं और कभी बेटा भी बोलते हैं, कभी भाई भी बोलते हैं और कभी 'सारे' भी कहकर बोल देते हैं। तो अर्जुन कहता है कि तुम सारे कि मैं सारे ? अरे बाबा, वैसे तो सारे-का-सारा मैं ही हूँ सब। लेकिन कभी-कभी हँसी-विनोदमें बहनोईको भी 'सारा' बोला जाता है। तो बोले—देख अर्जुन कर ले प्रतिज्ञा, क्या करें ? कि यह प्रतिज्ञा करो कि **न मे भक्तः प्रणश्यति।** मेरे भक्तका नाश नहीं होता।

अब देखो, यहाँ जरा आओ—

तस्याहं न प्रणश्यामि—माने उसकी बुद्धि कभी भ्रष्ट नहीं होती। बिलकुल इसका अर्थ यही होगा। एकबार जिसने परमात्माका दर्शन कर लिया, क्योंकि—

न वेदान्तात्प्रबलं मानमिश्यते—वेदान्तसे प्रबल कोई प्रमाण नहीं है। एकबार जिसने तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्तिके द्वारा प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्म तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया, उसके लिए परमात्माका नाश नहीं है—

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।

उसकी बुद्धि भ्रष्ट नहीं होती। तो दोनों अविनाशी मेरे लिए, वह अविनाशी और उसके लिए मैं अविनाशी। अविनाशी-अविनाशी एक और विनाशी मिथ्या।

अच्छा, दूसरी तरफसे इसका अर्थ सुनाता हूँ। संस्कृत भाषामें यह *नश्* जो धातु है, असलमें हमारे जो वेदान्ती हैं—वे वस्तुकी अज्ञात सत्ता नहीं मानते हैं। तो पहले आपको जैसे कोई किसीसे पूछे कि भाई, तुमको सुख है कि नहीं है ? तो वह कहे कि हमको पता नहीं चलता कि हमको सुख है कि नहीं है। तो आप क्या मानोगे ? यही मानोगे कि इसको सुख नहीं है। अच्छा,

किसीसे पूछो कि तुमको दुःख है कि नहीं है? तो कहे कि हमको मालूम नहीं पड़ता कि दुःख है कि नहीं है। तो यही मानना पड़ेगा कि इसको दुःख नहीं है। अरे, दुःख होता या सुख होता तो अपनेको मालूम कराकर छोड़ता कि अन-मालूम रहता? तो दुःख और सुखकी अज्ञात सत्ता वेदान्त दर्शनमें और मीमांसा दर्शनमें भी, पूर्वमीमांसा-उत्तर मीमांसा, दोनों दर्शनमें दुःख और सुखकी अज्ञात सत्ता स्वीकार नहीं की जाती। मालूम पड़े तब है और मालूम न पड़े तब नहीं है।

तो बोले—केवल सुख और दुःख ही नहीं बाबू, अज्ञात सत्ता ही हम स्वीकार नहीं करते। जो बिलकुल दकादक झिलमिल-झिलमिल यह अपना आपा है, जिसके बिना दूसरी कोई चीज मालूम नहीं पड़ती, इसीकी एकमात्र सत्ता है और बाकी जो है अज्ञात, अज्ञात, अज्ञात, देशान्तरमें, कालान्तरमें, द्रव्यान्तरमें अरे, वह तो जब कल्पना है तब है और जब कल्पना नहीं है तो नहीं है। जैसे सपनेकी चीज दीखते हुए है और अनदेखी हुई नहीं है। ठीक इसी प्रकार यह विश्वसृष्टि है। अब **प्रणाश्यामि**का क्या अर्थ हुआ। कि उसके लिए परमात्माकी अज्ञात सत्ता नहीं है और परमात्माके लिए आत्माकी अज्ञात सत्ता नहीं है, अर्थात् दोनों अखण्ड ज्ञानस्वरूप हैं। आत्मा और परमात्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप हैं।

लो अब दूसरी बात सुनाता हूँ।

कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय। १८.७२

महाराज, एक सज्जन, छप रही थी गीता, तो ***'प्रणष्टस्ते धनञ्जय'*** कर दिया। प्र में र है न, तो रेफसे पर जब होता है तो 'ण' हो जाता है। यह सामान्य नियम है। **'रषाभ्याम् नो णः समानपदे।** अरे बाबा नहीं, व्याकरणमें यह नियम है कि 'प्रणाश' तो ठीक है। तालव्य सकार जहाँ रहेगा वहाँ तो 'न' का 'ण' हो जायेगा'—प्रणाश, परिणाश, पराणाश सब हो जायेगा। लेकिन जहाँ तालव्य सकार नहीं रहा और बादमें जहाँ मूर्धन्य सकार (ष) हुआ, वहाँ 'ण' फिर 'न' हो जाता है। यह व्याकरणका नियम है। **'नशेः षान्तस्य'** सूत्र ही है।

तो कहनेका अभिप्राय क्या है, जरा 'प्रनष्टः पद पर विचार करेंगे। यदि

परमात्मा अपने आत्माके सिवाय कोई और हो, तो कभी मालूम पड़ेगा, कभी नहीं मालूम पड़ेगा। लेकिन जब अपना आप ही होगा, तब क्या अपना कभी मालूम पड़ेगा, कभी नहीं मालूम पड़ेगा? तो न मालूम पड़नेका अपने आपके अज्ञात हो जानेका जो भय था वह सर्वथा मिट गया, क्योंकि अपना आपा अज्ञात रूपसे कभी नहीं रहता। इसीको बोलते हैं'—

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।

अब कई दिन हो गया इसपर बोलते, पर यह महाराज ऐसी कामधेनु है, क्या? यही जिसका वर्णन मैं पहले कर रहा था—संस्कृतभाषा। इसको बोलते हैं कामधेनु। स्वयं महाभाष्यकारने *'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति'*—शब्द तो है एक, वह भली भाँति समझा गया और भली भाँति उसका प्रयोग हुआ और महाराज, वह शब्द कामधेनु हो जाता है। कहाँ? कि इस लोकमें भी, परलोकमें भी। इधर भी जो चाहो सब एक शब्दसे लो और उधर भी जो चाहो सो सब एक शब्दसे ही लो! इसका अर्थ है कि यह सारी सृष्टि शब्दसे बनी हुई है। आप ध्यान दो। जैसे कामधेनुमें-से जो चाहो दुह लो वैसे एक शब्दमें-से लोक-परलोक जो चाहो सो दुह लो! तो कामधेनु तो एक ही है, स्वर्गमें और हमारे संस्कृत भाषामें शब्द कितने हैं! कि जितने शब्द हैं, उतनी कामधेनु। संस्कृत भाषा क्या है? कि कामधेनुमयी है। हमको बचपनमें एक श्लोक बताया था।

नामन्त्रमक्षरं किंचित् नानोषधि वनस्पतीः।
अयोग्यपुरुषो नास्ति प्रयोक्ता तत्र दुर्लभः॥

ऐसा एक भी अक्षर नहीं है जो मन्त्र न हो। ऐसी कोई वनस्पति नहीं है जो ओषधि न हो। *ओषत्ति दोषान् धत्ते गुणान् इति ओषधिः।* ऐसा कोई आदमी नहीं है जो सर्वथा अयोग्य हो। प्रयोक्ता ही दुर्लभ होता है। आदमी किसी-न-किसी काममें जरूर लग सकता है। मन्त्र जरूर अक्षर हो सकता है और जो भी घास-फूस है, वह कभी-न-कभी, किसी-न-किसीके लिए दवाका काम जरूर दे सकता है।

तो आओ आपको अब यह जो भगवती वाङ्मया परदेवता गीता है, कामधेनु है। चाहे जो चाहो, इसमें-से ले लो।

यो मां पश्यति सर्वत्र—*यः पुरुषः।* इसका अर्थ है कि आपको जब देखना हो परमात्माको, तो सामूहिक रूपसे देखना प्रारम्भ मत करना। आप अपनी साधनाके लिए पहले अकेले देख लेना। यह **यः** में जो एक वचन है, यह तो विचित्र ही है। जैसे देखो, एक बात आपको बोलते हैं— ***पश्यति।*** ***एकः पश्यति।*** देखनेवाला एक है न! *अधुनैव पश्यति।* समय आ गया कि नहीं? *पुरस्तात् पश्यति*—सामने देखता है। *यत्किंचन वस्तु पश्यति।* जो कुछ वस्तु देखता है। तो देखो एक *'पश्यति'* क्रियापद बोला गया, उसका कर्ता एक है, स्थान यही है, काल यही है, अकेला है और कुछ-न-कुछ वह देख रहा है। तीन अक्षरका *'पश्यति'* और कितना अर्थ प्रकट करके बोलता है। देश प्रकट करे, काल प्रकट करे, वस्तु प्रकट करे, संख्या प्रकट करे, कर्म प्रकट करे। यह तो महिमा है। कामधेनु है कि नहीं? जिसमेंसे कर्ता एक है कि अनेक है यह निकल आये, कर्म जिसका उपस्थित हो जाये, काल जिसका बिलकुल प्रकट हो जाये और स्थान जिससे प्रकट हो जाये और क्या क्रिया हो रही है? कि दर्शन क्रिया बिलकुल स्पष्ट हो जाये। इतनी चीजको जो बरस रही है एक *पश्यति* क्रिया, उसको आप अगर कामधेनु नहीं कहते हैं, तो और उसके लिए कौन-सा उपयुक्त शब्द प्रयुक्त किया जा सकता है?

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

अब देखो, भगवान् कहते हैं, भाई, मुझको देखता है। भगवान्‌को यह ख्याल है कि दूसरी चीजपर लोगोंका ध्यान न जाय, मेरी ओर देखो। यह पहचानमें आ जाता है। यशोदा मैया जब भगवान्‌की ओर नहीं देखती हैं। पूतनाकी ओर देखती हैं, तो भगवान् गड़बड़ करते हैं। जब भगवान्‌की ओर नहीं देखती हैं, लोगोंकी ओर देखती हैं, तो छकड़ा ही गिरा देते हैं। जब घरका काम-काज देखने जाती हैं, तो तृणावर्तके साथ उड़ जाते हैं। और उनको ऊखलमें बाँधकर दूसरी तरफ चली जाती हैं, तो पेड़ ही गिरा देते हैं। वे कहते हैं मेरी ओर देखो, दूसरेकी ओर मत देखो। और गोपियाँ जो हैं, वे तो महाराज, अनन्या हैं, भगवान्‌को छोड़कर दूसरेकी ओर देखती ही नहीं हैं। परन्तु वहाँ भी

विघ्न है, क्या? वहाँ विघ्न है अपनी ओर देखना। प्रियतम तो बैठे हैं सामने और श्रीमतीजी को शीशा देखनेसे फुर्सत ही नहीं है। वे अपने प्यारेकी ओर नहीं देखती हैं, किसकी ओर देखती हैं? कि शीशेमें देखती हैं अपने बाल, अपनी नाक देखती हैं, अपने होंठ देखती हैं, अपनी आँख देखती हैं, अपनी साड़ी देखती हैं, अब वह प्रीतम बेचारा सोचता है कि इनकी साड़ीसे गया बीता भी मैं हूँ। मेरी ओर तो देखती नहीं हैं और देखती हैं अपनी साड़ीकी ओर। देखो यह भक्तिका तत्त्व है। गोपियोंने क्या देखा?

सौभगमदं वीक्ष्यमानं च केशवः। जब गोपियोंने—

आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि।

वहाँ विषय दर्शन भगवद्भक्तिमें बाधक है—यह बात नहीं कही गयी। वहाँ यह कहा गया कि आत्मदर्शन ही भगवद्दर्शनमें विघ्न है। ये वैष्णव लोग आत्मदर्शन, परमात्म दर्शन—ऐसे दो विभाग करके बोलते हैं। तुम किसकी ओर देखते हो? मैं-मैं-मैं कि आप-आप-आप; यदि मैं-मैं देखते हो तो ईश्वर नहीं दिखेगा और आप-आप देखते हो तो ईश्वर दिखेगा। यह रास पंचाध्यायीमें देखो इसे—

आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि। श्रीमद्भा १०.२९.४७

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशव। श्रीमद्भा १०.२९.४८

अब यही मान है, अभिमान है, अपनी ओर देखते हैं। तुम उनको सुख पहुँचाना चाहते हो कि अपनेको? अपनेको सुख पहुँचाना चाहते हो, तो बाबा, अभी प्रेमके रास्तेमें मत आओ! अभी जाओ भोग भोगो, धन कमाओ! जब अपनी सब वासना पूरी हो जाये तब प्रेमके मार्गमें आना। यह प्रेम अपनी वासना पूरी करनेके लिए नहीं है—***तस्मिन् तत्सुखे सुखित्वम्।*** यह तो अपने प्यारेको सुख पहुँचानेके लिए है। तुम जो कुछ करते हो अपने लिए? ***कस्मै देवाय हविषा विधेम। कस्मै*** पदका अर्थ ***एकस्मै*** है। वहाँ ***एकस्मै*** का ***'ए'*** हटाकर ***कस्मै*** लिया गया है। पण्डित लोग यहाँ संसकृतके बैठे हैं। देखो,

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिः एक आसीत्।

जब पूर्वार्द्धमें **'एकः'** पदका प्रयोग कर दिया कि वह एक है और हिरण्यगर्भ है, तब ***'कस्मै देवाय'*** यह प्रश्नार्थक कैसे हो सकता है। इसीको

कहते हैं—***वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च।*** यहाँ एकारका लोप होकर *कस्मै* पद बना है। ***'एकस्मै हिरण्यगर्भाय हविषा विधेम। एकस्मै प्रजापते हविषा विधेम।'*** यही उसका अर्थ हो सकता है। दूसरा अर्थ शक्य-सम्पादन नहीं है। यह संसकृत भाषा है। तो—

यो मां पश्यति सर्वत्र—भगवान्‌का कहना यह है कि बाबा, मुझे देखो!

अब एक बात आपकी महिमा, भगवान् अपनी तारीफ कर रहे हैं कि आपकी? बोले—अपनी और आपकी दोनोंकी कर रहे हैं। तो यह कैसे? बोले—**'मां पश्यति'** तो **सर्वत्र मां पश्यति।** भगवान् सब जगह हैं, बताते हैं कि देशको पार करके, कालको पार करके मैं सब जगह हूँ। सर्वत्रका अर्थ है ***सर्वस्मिन् वस्तुनि सर्वस्मिन् देशे, सर्वस्मिन् काले;*** यह जो सर्वनामका सर्वत्र पद है, उसका अर्थ है कि भगवान्‌के मांको देखो, परमात्माको देखो। पर कहाँ देखो, तो कहते हैं सब देशमें देखो, सब कालमें देखो, सब वस्तुमें देखो।

अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणस्थितः।

अब देखो, तो सर्वदेश तो अलग-अलग हैं—पूर्व, पच्छिम, उत्तर, दक्खिन और सर्वकाल भूत, भविष्य, वर्तमान अलग-अलग हैं और सर्ववस्तु घट-पटादि ज़ो हैं वे अश्वादि, स्त्री-पुरुषादि पृथक्-पृथक् हैं और भगवान् कहते हैं मैं एक हूँ। दूनियाकी चीजें अलग-अलग हों और काल-समय रात-दिन आदि अलग-अलग हों और पूर्व-पश्चिम अलग-अलग हों और मैं उन सबमें एक हूँ। क्या तुम मुझे देखते हो? **यः पश्यति स पश्यति।** जो देखता है वह देखता है, जो नहीं देखता है तो अन्धा है। तुम देखते हो कि अन्धे हो?

अच्छा देखो, अब आपको यह संस्कृत भाषाका चमत्कार बतानेके लिए, आप इसको संस्कृत दिवसका भाषण मान लो भला!

यो मां पश्यति सर्वत्र—अच्छाजी आप देखो, देश अलग-अलग, काल अलग-अलग, वस्तु अलग-अलग और भगवान् सर्वत्र। तो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न भगवान्। सर्वदेशव्यापि, सर्वकालव्यापि, सर्व द्रव्यव्यापि अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमेश्वर, हम विवर्ती परिणामीको रख देते हैं आलेमें। विवर्ती बोलें शांकर, परिणामी बोलें उपासक। ठीक है, परिणाममें

अविकृत परिणाम बोलो, व्यावहारिक परिणाम बोलो। औपाधिक परिणाम बोलो, कोई बात नहीं। निम्बार्क लोग स्वाभाविक परिणाम बोलते हैं। भास्करीय लोग औपाधिक परिणाम बोलते हैं। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज अविकृत परिणाम बोलते हैं। कैसे भी बोलो, परन्तु भगवान् हैं सबमें। सर्वदेशमें सब कालमें, कण-कणमें, क्षण-क्षणमें, एक-एक इञ्चमें भगवान् भरपूर हैं।

संस्कृत भाषाका महत्त्व

संस्कृत दिवस मनाते हैं। आप जानते हैं भारतीय परम्परा संस्कार-प्रधान है। इसमें गर्भाधान भी एक संस्कार होता है। उसका अर्थ यह होता है कि जैसे किसी बर्तनमें हमको दूध रखना हो या पानी रखना हो या शर्बत रखना हो, तो पहले उस पात्रको शुद्ध कर लें, पीठ-शुद्धि होनेके बाद, आधार-शुद्धि होनेके बाद उस पात्रमें कोई वस्तु रखी जायेगी तो वह शुद्ध होगी। तो हमारे बैजिक और गार्भिक पिताके और माताके शरीरमें जो दोष हैं, उन दोषोंको दूर करनेके लिए और पुरुषमें विशेष गुणका आधान करनेके लिए, दोषापनयन और गुणाधानके लिए, हीनाङ्गपूर्तिके लिए संस्कार किये जाते हैं। माने हमारा पुरुष भी संस्कृत होता है। हमारा बालक माताके गर्भमें आनेसे पूर्व ही उसके संस्कार प्रारम्भ हो जाते हैं। माने हम व्यक्तित्वके निर्माणमें विश्वास रखते हैं। हम व्यक्तित्वको जैसे शरीरमें बाल उगते हैं या पसीना आता है या मैल आता है, इसी तरह मनुष्यका व्यक्तित्व निसर्गपर नहीं छोड़ देते हैं।

अच्छा देखो, हमारे कर्ममें संस्कार होता है। जब उस कर्मका अधिकारी होता है, उसका संकल्प होता है, विधिपूर्वक वह किया जाता है, तब वह कर्म संस्कृत होकरके संस्कृत फलका दान करता है, नहीं तो श्रममात्र होगा, तो लौकिक फलका दान करेगा और कर्ममें जब संस्कार हो जायेगा तब वह हमारे अन्तःकरणमें धर्मको उत्पन्न करेगा। बाह्य वस्तुकी शुद्धिके लिए, श्रम होता है और अन्तर वस्तुकी शुद्धिके लिए, अधिकारीके शोधनके लिए, अन्तःकरणके शोधनके लिए धर्म होता है। संस्कृत कर्मका ही नाम तो धर्म होता है न! संस्कृत कर्मका नाम धर्म है। इसी प्रकार जब हम किसी वस्तुका उपयोग करते हैं और उसका प्रोक्षण करते हैं, पानीसे उसको धोते हैं, मन्त्र पढ़ते हैं, उसका अन्वेक्षण करते हैं—ये सब संस्कार हैं। तो द्रव्य भी संस्कृत होता है, कर्म भी

संस्कृत होता है, मनुष्यका व्यक्तित्व भी संस्कृत होता है। बिना संस्कारके हम किसी भी वस्तुको छोड़ते नहीं हैं। इसी प्रकार यह हमारे जीवनमें भाषा एक आवश्यक वस्तु है। इसमें भी एक छन्दस् है और एक भाषा है। महाभाष्य कारने छन्दस् और भाषा—इन दोनोंको पृथक्-पृथक् करके वर्णन किया है। और क्या प्रत्ययोंका विभाग जहाँ महाभाष्योंमें आता है वहाँ छन्दस् और भाषा—इन दोनोंको पृथक्-पृथक् कर दिया है। तो एक वेदवचन है और एक हमारी यह संस्कृतावाणी है।

देखो—जब बच्चा पैदा होता है, उसकी उत्पत्तिके साथ भी एक ध्वनि पैदा होती है। ओम् जैसे बोलते हैं, ओम्, उसमें भी संस्कार है, उसमें भी ओं जुड़ जाता है। यही तो उसका संस्कृतत्व है। तो एक तो भाषाका संस्कार हुआ, व्याकरणादिके द्वारा, शिक्षाके द्वारा और दूसरे संस्कृत अधिकारी जो है संस्कार सम्पन्न अधिकारी, उसका वक्ता हुआ। तो यदि भाषा नियमित न हो, नियन्त्रित न हो, केवल संकेतमात्र ही हो भाषा, तो उसमें भी अध्ययन करना पड़ेगा कि लाल झण्डी दिखाते हैं, आँखसे देखते है, प्रतीक लाल झण्डा, आँखसे देखते हैं हरी झण्डी। हरी झण्डीका अर्थ होता है रास्ता साफ है और लाल झण्डीका अर्थ होता है रास्ता बन्द है। तो वह रास्ता बन्द है कि खुला है उसको प्रतीकात्मक ढंगसे समझानेके लिए लाल रंग या हरा रंग दिखाते हैं। यह भी अपने भावकी अभिव्यक्तिके लिए एक प्रतीक है। ऐसा प्रतीक महाराज, गूँगे, बहरे लोग भी कोई-न-कोई प्रक्रियासे अपने भाव अभिव्यक्त कर ही लेते हैं। हमारे एक महात्मा तमिलनाडु गये, तो जब उनको भूख लगती तो पेट अपना ठोंकते हाथसे और मुँह खोलते, हाथसे दिखाते, तो लोग समझ जाते कि ये भोजन चाहते हैं और उनको भोजन करा देते। यह भी एक भावकी अभिव्यक्तिका साधन है। परन्तु यह जो ध्वनि है, ध्वनिके द्वारा भावकी अभिव्यक्ति, यह बहुत गम्भीर स्तरपर निवास करती है। यहाँतक आप समझें कि जैसे हम वाणीके द्वारा, वाक् जिसको बोलते हैं, वाक् शब्द भाषा जैसे बोलते हैं। तो वैखरी वाणी, इसका निरूपण तो सम्पूर्ण विश्वमें जितनी भाषाएँ हैं, उन भाषाओंके आचार्योंने इस सम्बन्धमें भी विचार किया है। परन्तु भारतीय परम्परामें जो पश्यन्ती और उससे भी सूक्ष्म परावाक् है, उसके सम्बन्धमें

विश्वके जो भाषा साहित्यके विद्वान् हैं उन्होंने इनके सम्बन्धमें भाषाकी दृष्टिसे, वाक्‌की दृष्टिसे विचार नहीं किया है। यत्किंचित् विचार मध्यमाके सम्बन्धमें है और सर्वाधिक विचार वैखरी भाषाके सम्बन्धमें हैं। तो **सर्वत्र मां पश्यति** यह तो भगवान्‌की महिमा हुई। अब जरा आप अपनी महिमा सुनिये। आपकी नजर कितनी बड़ी है, जरा यह तो देखिये। जरूर भगवान् सर्वत्र हैं, परन्तु आपकी आँख भी तो सब जगह पहुँचनेवाली है कि नहीं है? इसी श्लोकमें यह बात कही—

यः सर्वत्र मां पश्यति, मां सर्वत्र पश्यति।

तो सब जगहतक अगर आपकी आँख नहीं पहुँचेगी, तो सब जगह आप कैसे देखेंगे? इसका अर्थ है कि आपकी दृष्टि इतनी बड़ी है बाबा, कि उसमें सब समा जाता है। तीन-चार दिन व्याख्या तो की थी पर यह भाव नहीं सुनाया था इसका। अब दूसरा लो, इसमें एक प्रश्न उठा लो कि भाई सब देशमें भगवान् सब कालमें भगवान्, सबमें भगवान् तो जैसे सब माने घड़ा और घड़ेमें पानी, वैसे सबमें भगवान्‌का अर्थ क्या है? कि आधार है सब और आधेय हैं भगवान्, क्योंकि अधिकरण विभक्ति जो है, सर्वत्र, वह तो ऐसा बना देती है कि सब तो अधिकरण है, रहनेकी जगह और उसमें अधिकृत हैं भगवान्। जैसे घड़ेमें पानी रहता है, वैसे सब चीज़में भगवान्। सोनेमें जैसे चमक रहती है तो आधार है सोना और चमक है आधेय। पानीमें स्वाद रहता है तो स्वाद है छोटा, पानी है बड़ा। धरतीमें तो स्वाद है छोटा, पानी है बड़ा। धरतीमें गन्ध है, तो मान लो बराबर है, परन्तु आधार तो पृथ्वी ही है न! तो ऐसे ही सबमें भगवान् रहते हैं, तो या तो यह मानना पड़ेगा कि सब बड़ा और उसके पेटमें भगवान् छोटे या तो यह मान लो कि जितना बड़ा सब, उतना बड़ा भगवान् और जितना बड़ा भगवान् उतना बड़ा सब। कम-से-कम यह तो मानना ही पड़ेगा। तो बोले—सबके बराबर भगवान्‌को मान लेना, यह तो भगवान्‌की कोई इज्जत नहीं हुई, भगवान्‌की तौहीन हुई। तो भगवान्‌ने कहा कि नहीं नहीं, यह बात नहीं है।

सर्वत्र मां पश्यति, सर्वस्मिन् मां पश्यति, सर्वं च मयि पश्यति— उलट गयी बात कि नहीं? अब **'मयि'** अधिकरण हो गया और सर्वं अधिकृत

हो गया। घड़ेकी जगहपर भगवान् आ गये और पानीकी जगहपर सब आ गया। माने प्रश्न यह हुआ कि जब सबमें भगवान् हैं, तो सबके बराबर भगवान् हैं या सब बड़ा है, भगवान् उसके पेटमें हैं? देवकीके पेटमें भगवान्, कौसल्याके पेटमें भगवान्, अधिष्ठान बड़ा और अध्यस्त छोटा। बोले—नहीं भाई, **सर्वं च मयि तिष्ठति**—सबमें मैं हूँ सो तो ठीक, परन्तु सब मुझमें है, माने अधिकरणको सीमित मत करो। *सत्यस्य सत्यम्* बोलते हैं। ***सर्वस्य मम सर्वम् अधिकरणे,*** परन्तु ***सर्वस्य अहं अधिकरणं*** मेरा अधिकरण सब है, परन्तु सबका अधिकरण मैं हूँ। आपने वह सुना? शंकरजीका हो रहा था ब्याह, तो ब्राह्मणने पूछा—महाराज, गोत्रोच्चार करनेके लिए बापका नाम तो बताओ? तो बोले—महाराज, ब्रह्मा। मैं ब्रह्माका पुत्र हूँ। तो बोले—अच्छा, दादाका नाम ब्रह्माके बाप विष्णु। तो बोले—अच्छा, विष्णुके बापका नाम बताओ? बोले—वैसे तो सबका बाप मैं ही हूँ, अब ज्यादा क्या खोजबीन करते हो? बोले—बाबा सबमें रहते हो तुम, तो सब कहाँ रहता है? यह सवाल हुआ न! सबमें रहते हो तुम तो सब कहाँ रहता है? तो बोले—हाँ, मैं सबमें रहता हूँ; परन्तु सब मुझमें रहता है। सबके पेटमें और मेरे पेटमें सब।

इसमें महाराज, शांकर वेदान्तकी बात तो झटसे बोले दें। इसमें अधिकरण और अधिकृत कट गया और एकत्व आ गया। सबमें मैं मुझमें सब अर्थात् किसीमें कोई नहीं है सब परमात्मा है।

ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। विश्वस्मिन् ब्रह्म नहीं, ***स एवेदं सर्वम्। आत्मैवेदं सर्वम्। अहमेवेदं सर्वम्।***

इसका अर्थ है कि मुझसे अलग सब नहीं है।

लो अब यह संस्कृत भाषाकी एक बात सुनायी। **यो मां पश्यति सर्वत्र**—अब आप देखो, आपकी सृष्टि कितनी बड़ी है। सर्वत्र परमात्माको देखते हैं, तो आप सर्वत्रको भी देखते हैं और परमात्माको भी देखते हैं। सर्वत्र और परमात्मा दोनों कहाँ है? कि आपकी दृष्टिमें। **सर्वं च मयि पश्यति**—यह **पश्यति** क्या है? यह महाराज, व्याकरणमें भी बड़ी विचित्र बात होती है। देखो, कहाँ 'अस्मद्' शब्द कहाँ 'अहं' शब्द! मेल तो मिलाओ कोई। *अस्मद्*का क्या आया *अहं* में? सिद्धान्त कौमुदीकी तत्त्व बोधिनी टीकामें जहाँ

सिङ्घाण आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति दी हुई है कि मूल शब्द गायब हो गया, केवल प्रत्यय मात्र रह गया।

यह श्लोक तत्त्वबोधिनीमें दिया हुआ है, उसका अर्थ है मूल शब्द ही गायब हो गया और केलव प्रत्यय मात्र रह गया। आप देखो, यह अहं। हम पूछते हैं दृश् धातु है और *पश्यति* क्रिया है, इसीको वेदान्तमें विवर्त बोलते हैं और यही ***विवर्तत्यर्थेन भावेन।*** वाक्य पदीयमें भतृहरिने जो मंगलाचरण किया है न!

अनादि निधन, वह क्या है? कि *विवर्तत्यर्थेन भावेन,* इसीका नाम विवर्त है, कहाँ दृश् और कहाँ *पश्यति।*

आओ देखो, आपको क्या सुनाते हैं, सबमें भगवान्, भगवानमें सब, अर्थात् भगवान् ही भगवान्। और, पश्यति और माम्, देखो पश्यतिसे व्याप्त माम् और माम्से व्याप्त पश्यति, अर्थात् दर्शन और भगवान् दोनों अलग-अलग बिलकुल नहीं। इसका फल क्या हुआ?

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न न प्रणश्यति।

अब इसमें परोक्षता है ही नहीं, भगवान्के लिए परोक्ष नही ंहै और जीवके लिए परोक्ष भगवान् नहीं है। देशकृत, कालकृत, वस्तुकृत व्यवधानका ह्रास होकर सर्वथा अपरोक्षता हो गयी। इसीसे आगे जो बताया है— **सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।** नहीं तो **एकत्वं** कैसे होगा? यदि पश्यति और मां, पश्यति से अभिन्न मां और मांसे अभिन्न पश्यति, यदि दर्शन, ज्ञान और परमात्मा, ज्ञानात्मक परमात्मा, परमात्मात्मक ज्ञान, माने *सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म* ब्रह्मात्मक ज्ञान, ज्ञानात्मक ब्रह्म यदि नहीं होंगे; इसीसे बोले **तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।**

महाराज, यह ***अहं*** शब्द भी संस्कृत भाषाका विलक्षण है। है तो यह आदिष्ट, युश्मत् शब्द है, तो प्राकृत, नैसर्गिक है और अहं जो है यह तो *युष्मद्*के स्थान पर आदिष्ट है। माने जैसे धर्म विधिसे प्राप्त होता है, वैसे अहं भी विधिसे प्राप्त है। अब जरा अहंके स्वरूपंको देखो। ***न हन्यते इति अहं।*** जो मारा न जाये सो अहं। अविनाशी। ***न हन्ते***—जो किसीको न मारे, वह अहं। *न हन्यते इति अहं। न हन्ते इति अहं।* न मारे न मरे, उसका नाम अहं। *न जहाति न*

हीयते। न जहाति न जहीते। गत्यर्थक भी है, त्यागार्थक भी है। कभी छोड़कर जाता नहीं, कभी छोड़ा जाता नहीं। कभी मारता नहीं किसीको, कभी मरता नहीं। अब एक देखो, आकाशका बीज है— हं, *अहं। यत्र आकाशबीजतापि नास्ति तत् अहं इत्युच्यते।* जिसमें आकाश बीजत्व भी नहीं है उसको अहं बोलते हैं। **तस्याहं न प्रणश्यामि**—देखो, **अहं, न प्रणश्यामि। स च मे न प्रणश्यति**—तो जो विषय चिन्तनमें लगेगा **बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**। और जो भगवान्‌की भक्ति करेगा **न मद्भक्तः प्रणश्यति**। एक तो भक्तका प्रणाश नहीं होगा, विषय-चिन्तन करनेवालेका प्रणाश होगा, परन्तु जो सब जगह भगवान्‌को देखेगा,

विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ ५.१८

श्रीमद्भागवतमें और दूसरे ढंगसे बात कही गयी है।

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥

श्रीमद्भा. ११.२९.१४

वहाँ यह बात कही गयी महाराज, कि चाहे कोई चोर हो, चाहे ब्राह्मण भक्त हो, चिनगारीमें, सूर्यमें, ब्राह्मणमें और चोरमें एक परमात्मा परिपूर्ण है। तुम चोरको, ब्राह्मणको मत देखो, तुम स्त्रीको और पुरुषको मत देखो, तुम परमात्माको देखो। इसका फल देखो, आपकी अस्मिता लुप्त हो जायेगी, आपका राग है और रागास्पद आपका द्वेष है और द्वेषास्पद, आपके मनमें दूसरोंसे जो भय बना हुआ है सो, आप सर्वत्र परमात्माका दर्शन करें, तो डरेंगे किससे? द्वेष किससे करेंगे? पक्षपात किसका करेंगे? अस्मिता किसकी होगी? और अज्ञात कौन रहेगा? जिसके ज्ञानसे सबका ज्ञान होता है, उसको तो आप *पश्यति, दृषि सर्वत्र ज्ञानार्थाः। पश्यति जानाति इत्यर्थः।* आप उसको सर्वत्र जान रहे हैं, देख रहे हैं। ऐसा परमात्मा, महाराज क्या हमारा परमात्मा भी है आप जरा एक बार ध्यान देकर देखो—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि। ढूँढ़ आओ विश्वकी संस्कृतिमें, विश्वके धर्ममें, बहुत-से ग्रन्थ हैं और बहुतसे पन्थ हैं, वे क्या अपने परमात्माको बोलते हैं 'त्वं

स्त्री त्वं पुमानसि'? तुम्हीं स्त्री हो, तुम्हीं पुरुष हो, यह सर्वात्मभाव है कहीं सृष्टिमें? ***त्वं कुमार उत कुमारी,*** तुम कुमार हो तुम कुमारी हो। अरे ***जीर्णो दण्डेन वञ्चसि।*** बुड्ढे बाबा बनकर लठिया टेकते हुए तुम चल रहे हो। है कहीं विश्वकी सृष्टिमें ऐसा ब्रह्म, ऐसा पन्थ जो बताये इस तरहसे परमात्माका स्वरूप?

मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।

एक बार यजमान बन जाओ। **ऋताय**का अर्थ है यजमान। ***ऋतायते यजमानः।*** यह हवाका एक-एक झोंका मधु है, यह परमात्मा।

अयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधुः।

मधु ब्राह्मण है न, इसमें बताया मधु माने ब्रह्म। इसको प्राप्त करके, ध्यान करके मनुष्य मतवाला, मस्त हो जाता है, ब्रह्म ही मधु है। तो हवाके एक-एक झोंकेमें, साँसके आने और जानेमें ब्रह्म आ रहा है, ब्रह्म जा रहा है। नदियोंमें मधु बह रहा है। समुद्र मधुमय है, ब्रह्ममय है। यह पृथिवीके एक-एक कण ब्रह्ममय हैं। कालके एक-एक क्षण मधु हैं। तो,

यो मां पश्यति सर्वत्र—उसके लिए दुनियामें कुछ कड़वा नहीं रहा, कटु नहीं रहा, सब मधु हो गया। स्त्री मधु, पुरुष मधु, पुत्री मधु, पुत्र मधु, पशु मधु, पृथिवी मधु, तेईस नाम लेकर बृहदारण्यक उपनिषद्में पृथक्-पृथक् बताया हुआ है। यह भी मधु। लोग कहते हैं—महाराज, सब धर्म हैं, सब पन्थ हैं, सब सम्प्रदाय हैं। जरा देखो—**यो मां पश्यति सर्वत्र**। तब **तस्याहं न प्रणश्यामि**का क्या अर्थ होता! तो 'जहाँ' देखता हूँ वहाँ तू ही तू है। हम स्त्री नहीं देखते हैं स्त्रीके रूपमें ब्रह्म है। पुरुष नहीं है, ब्रह्म है। पृथिवी नहीं हैं ब्रह्म हैं। जल-अग्नि-वायु तेज नहीं है, ब्रह्म है।

योगवासिष्ठमें आता है—ब्रह्ममें ही ब्रह्म फुर रहा है। ऐसी यह ब्रह्मात्मक सृष्टि है। यह है परमात्माका दर्शन।

: ३१ :

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

यह सर्वभूतस्थित जो परमात्मा है, उसके साथ एकत्वकी आस्था। यह क्या चीज है? अब यह बतायेंगे। वस्तु है दो और पहचान है एक। एक तो वस्तुको एक माना जायेगा कि दो माना जायेगा? पहचान तो है बिलकुल एक। यह हिन्दीमें जिसे पहचान बोलते हैं न, उसीको संस्कृतमें लक्षण बोलते हैं। तो व्यक्तिका लक्षण है, जातिका लक्षण है, तत्त्वका लक्षण है। व्यक्तिका लक्षण भी जहाँ एक हो जाता है वहाँ नाम दो होनेपर भी व्यक्ति एक ही होता है। जातिका लक्षण भी जहाँ एक हो जाता है वहाँ नाम दो होनेपर भी जाति एक ही होती है। आप देखो, एक उदाहरण देते हैं—

एक पंडितजी थे, उनका नाम था शान्तनु, ब्राह्मण थे, बनारसमें उनका जन्म हुआ था। र रयूपारीण ब्राह्मण थे। कल्याणमें काम करते थे, सम्पादनमें

काम करते थे। अब किसीने कहा एक स्वामीजी हैं। भला उनका जन्म कहाँ हुआ है? कि बनारस जिलमें। ये भी सरयूपारीय ब्राह्मण हैं, ये भी 'कल्याण'में काम करते थे। सब पहचान देखो, एक होती जा रही है। नाम तो दो हैं। एकका नाम शान्तनु, एकका अखण्डानन्द; परन्तु जब आप पहचानसे मिलाते चले जाओगे, तो आखिरमें दोनों एक ही व्यक्ति होंगे, क्योंकि पहचान एक है। जन्म वही है, जाति वही है, ग्राम वही है, अवस्था वही है। बोले—नहीं जी, वे सफेद कपड़ा पहनते ते, वे लाल पहनते हैं। बोले—भलेमानुस कपड़ेकी ओर मत देखो, व्यक्तिकी ओ देखो, तो व्यक्ति एक है कि नहीं? इसीको भाग-त्याग लक्षणा बोलते हैं। वहाँका सफेद कपड़ेका ख्याल मत करो और यहाँके लाल कपड़ेका ख्याल मत करो। वहाँकी चोटीका ख्याल मत करो, यहाँकी दो चोटीका ख्याल मत करो। वहाँके जनेऊका ख्याल मत करो, यहाँके दो जनेऊका ख्याल मत करो। वहाँके नामका ख्याल मत करो, यहाँके नामका ख्याल मत करो। चीज बिलकुल एक है कि नहीं? इसीका नाम वेदान्त है। एकका नाम है आत्मा और एकका नाम है परमात्मा। दोनोंकी पहचान क्या है?

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

अपने आपको देखो, सब भूत हैं। यह आत्मा कहाँ है? कि सर्वभूतस्थ है। और सर्व कहाँ है? कि स आत्मामें। आत्मा सबमें है और सब आत्मामें है। माने जो सबमें है और सब जिसमें है उसका नाम आत्मा है। यह बात निकली न! और

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

भगवान्का मां सर्वत्र है, सबमें है और 'सर्वं च मयि पश्यति' सर्व भगवान्में ही है। तो पहचान दोनोंकी एक हुई कि नहीं? आत्माकी जो पहचान बतायी गयी। सबका आत्मामें होना और सबमें आत्माका होना। यह है आत्माकी पहचान। परमात्माकी पहचान क्या है? सबमें परमात्माका होना और परमात्मामें सबका होना, यह है परमात्माकी पहचान। बोले—भाई, पहचान तो एक निकली। बोले कि कहीं यह आत्मा और मां, यहाँ तक कि आत्मामें मां है न, आखिरमें और 'यो मां पश्यति सर्वत्र'में भगवान्ने कहा—

हम अपनेको, 'मां'-से अलग काहेको करें! आत्मामें-से आत् निकाल दो, जो उधर रह गया वही तो इधर भी है। तो भले ही नाम दो हों, पर जब पहचान एक होती है तब वस्तु दो नहीं होती। *'लक्षणऐक्यं लक्ष्य-ऐक्यम्।'* जहाँ लक्षण एक होता है वहाँ लक्ष्य एक हो जाता है। भले सफेद कपड़ा रहा हो, शान्तनु नाम रहा हो, भले कपड़ा लाल हो, नाम अखण्डानन्द हो, लेकिन व्यक्ति तो एक ही है।

अब आओ, आत्मा-परमात्माके बारेमें एकाध बात करें। कैसे पहचानें? देखो, ईश्वरकृपासे किसी-किसीकी बुद्धि तत्त्वकी ओर जाती है। अच्छा, अवधूत गीता सरीखा ग्रन्थ, फक्कड़पनेकी हद है। संस्कृत भाषामें उससे बड़ा फक्कड़पन मिलना मुश्किल है। उसका प्रारम्भ क्या है?

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।

ईश्वरका बड़ा अनुग्रह हो, बड़ी कृपा हो; अनुग्रह माने जिसको पकड़े उसको पता न चले, पीछेसे पकड़ ले। अनु माने पीछेसे और ग्रह माने ग्रहण, साक्षी जब साक्ष्यको पकड़ लेता है, आत्मसात कर लेता है, द्रष्टा जो दृश्यको आत्मसात् कर लेता है, अन्तर्यामी जो नियम्यको आत्मसात् कर लेता है, जो पकड़ा जाये उसको तो पता ही नहीं चले और पीछेसे आकर महाराज बाँहोंमें भर ले। अरे यह कौन है? यह तो कोई अपना ही है। अनुग्रह-पश्चात् स्थित होकर जो ग्रहण कर ले। देखो, आकाश वायुके पीछे होकर वायुको ग्रहण कर रहा है, यह अनुग्रह है। वायु तेजस्के पीछे रहकर तेजस्को ग्रहण कर रहा है, यह अनुग्रह है। तेजस् जलके पीछे रहकर जलको ग्रहण कर रहा है, यह अनुग्रह है। जल पृथ्वीके पीछे रहकर पृथ्वीको ग्रहण कर रहा है। पृथ्वीपर अनुग्रह कौन कर रहा है? कि परमेश्वर। अनजानमें ही पकड़कर अपने साथ मिला ले, इसका नाम अनुग्रह है।

एक आपको बचपनकी बात बताता हूँ, ये संकल्प कैसे काम करते हैं, सृष्टिमें कहाँ-कहाँ घूमते रहते हैं, पता नहीं चलता कि कहाँ घूमते हैं, कहाँ रहते हैं। सन् बयालीसमें एक आदमी मेरे पास आया वृन्दावनमें। थोड़ी देर बैठा; घण्टे आध घण्टे बैठा। ऐसा अच्छा लगा, मनमें आया कि यह तो बहुत सज्जन, बहुत सुशील है, यह तो मैत्री करने लायक आदमी है। बहुत अच्छा

लगा, देखो, कहाँ सन् बयालीस। बात छूट गयी। सन् पचपनमें वह आदमी मेरे पास आया, आठ बरस हो गये, आकर वह बोला—स्वामीजी, मैं आपको गुरु बनाना चाहता हूँ। इसीको बोलते हैं अनुग्रह। जब ईश्वरकी बड़ी भारी कृपा होती है, ईश्वर अपनी ओर बुलाता है, तब आदमी चलता है। और नहीं तो लाख हाथ-पाँव पटको, कहीं छोकरी मिल जायेगी, कहीं छोकरा मिल जायेगा, कहीं-न-कहीं मनीराम दुनियामें ही अटकावेंगे, दुनियासे ऊपर उठने ही नहीं देंगे। यह मनीरामका ऐसा स्वभाव है। ईश्वर जिसको, पकड़ लेता है ***ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।*** हम पकड़ें, तो छूट जायेगा, लेकिन वह पकड़े तो नहीं छूट सकता।

देखो, इतनी भक्तिकी बात आपको सुना दी, लेकिन यह अवधूत दत्तात्रयकी गीतामें, जो फक्कड़ीकी सीमा है उसके प्रारम्भमें यह श्लोक आता है। ***महद्भयपरित्राणात् विप्राणामुपजायते।*** यह अद्वैत वासना महद्भय परित्राण है और विप्राणाम् हज़ारोमेंसे दो तीनको होती है। हमारे दण्डी स्वामी लोग ऐसे नहीं पढ़ते। वैसे तो वह अवधूत-गीता है, ऐसा पढ़ना तो ठीक है। वे बोलते हैं 'महद् भय परित्राणाद् हेतोः, **विप्राणाम्** नहीं, विप्राणा-मुपजायते—ब्राह्मण लोग ईश्वरके अनुग्रहसे। ये असलमें ईश्वरके कमीशन एजेंट हैं, सब ब्राह्मण जितने हैं। ये लोगोंको ऐसा ईश्वरका नाम सिखाते हैं, इतनी पूजा करवाते हैं, ईश्वरकी इतनी तारीफ दुनियामें करते हैं कि ईश्वर भी महाराज, इन लोगोंको कमीशन देता है। आप कहोगे कि ईश्वर भी कमीशन देता है? तो गीतामें ही देख लो, ईश्वर कमीशन देता है। गीतामें कमीशनकी बात लिखी है—

यं इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वात्रिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ १८.६८
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ १८.६९

भगवान् रिश्वत देते हैं, इनाम देते हैं, पुरस्कार देते हैं। बोले—हमारे भक्तोंको तुम गीताका उपदेश करो, तो तुमसे बड़ा मेरा प्यारा और कोई नहीं, सच्चा प्रेम, मैं अपना सारा प्रेम तुमको दे दूँगा। हमारे भक्त बढ़ाओ, तो तुम भले

हमारे भक्त बढ़ाओ, लेकिन हम तो अपना सारा प्रेम तुम्हींको दे देंगे। लेकिन महाराज, तुम चुपके-चुपके अपने भक्त बढ़ाने लगो और हमारे भक्तोंको काटने लगो तो? तब भगवान् कमीशन नहीं देगा।

यह देखो, परमार्थके मार्गमें भी कमीशन मिलता है। ऐसी बात कही हुई है कि आप सुनकर आश्चर्य करोगे-**न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः** जो हमारे भक्तोंको यह हमारी गीता सुनायेगा उससे बढ़कर दूसरा कोई मेरा प्यारा दुनियामें है नहीं। इतने पर तो सन्तोष कर लेना चाहिए था न, बोले—नहीं, **भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि**। उससे बढ़करके दूसरा कोई प्यारा होगा भी नहीं। यह मत समझना कि आज तो हमको प्यार करते हैं, कल दूसरेको करेंगे। नहीं भाई, भक्तोंकी छटनी मत करो, गीता सुना सुनाकरके भक्तोंको बढ़ाओ। तो देखो—

विप्राणामुपजायते—नहीं, *द्विप्राणामुपजायते,* बड़ा दुर्लभ है, इसलिए द्विप्राणामुपजायते। आओ, वह फक्कड़ महात्मा जो है, वह कहता है इस मार्गमें चलनेके लिए चाहिए ईश्वरका अनुग्रह।

यह पता लगता है कि ईश्वर किसको अपनी ओर बुला रहा है और किसको अपनेसे विमुख कर रहा है। जिसके हृदयमें विषयासक्ति जाग्रत् हो रही है उसको ईश्वर अपने पाससे दूर भेज रहा है और जिसके हृदयमें ईश्वरके प्रति उन्मुखता बढ़ रही है, वह ईश्वरके पास जा रहा है। पहचान लो। कौन जा रहा है ईश्वरकी ओर और कौन जा रहा है नरककी ओर? खुली बात है। जो राग-द्वेषको बढ़ावा दे रहा है, वह नरककी ओर बढ़ रहा है और जो राग-द्वेषको निवृत्त करता है, वह ईश्वरकी ओर जा रहा है। सीधी बात है, आप अपनेको पहचानो, पड़ोसीको मत देखो। कई लोगोंका स्वभाव होता है, किसीकी बुराईका वर्णन करें कि बुराई यह है, तो दूसरेकी ओर देखेगा कि हाँ, हमारे पड़ोसमें जो रहते हैं, उनके अन्दर यह बुराई है और अच्छाईका वर्णन करे तो कहेंगे देखो, यह बात है हमारे अन्दर। यही उलटी बुद्धि है। अच्छाईका वर्णन हो तो दूसरेमें देखकर अपने दिलको साफ करो और बुराईका वर्णन हो, तो अपनेमें देखकर उसको निकाल दो तब तुम्हारा दिल साफ होगा। और, कोई गाली दे, तो उसको भूल जाओ और कोई तुम्हारा उपकार करे, तो उसको याद

रखो। जीवनकी एक शैली होती है न, इसीको संस्कृत बोलते हैं। संस्कृत अन्तःकरण, संस्कारी अन्तःकरण। तुम क्या ढो रहे हो अपने दिलमें ? यह देखो। तो आओ भगवान्‌को पहचानो। पहले अपनेको देखो— **सर्वभूतस्थात्मानं**—सर्व, भूत और स्थ; सर्व माने बदलनेवाले, भवनशील, पैदा होनेवाले जितने पदार्थ। सर्व कहनेसे सारे द्रव्य आ गये। भवन कह देनेसे काल आ गया, स्थान आ गया, वस्तु आ गयी। जो चीज़ पैदा होती, रहती और बदलती है, उसमें अपना आत्मा क्या है ? बोले—स्थ है। सर्वकी अनेकतामें अनेक नहीं है। सर्व माने बहुत। युज् युज् युज् जो होता है न, उसके कुलको सर्व बोलते हैं। सर्व माने अनेकता, तो जो अनेकमें एक है और भूत माने परिणामी। जो बदलता है उसको बोलते हैं भूत, भवन्ति इति भूतानि। जो भूतमें अभूत है। माने जो परिणामीमें अपरिणामी है। बदलती हुई चीज़में न बदलनेवाला है और अनेकमें एक है। देखो, सर्वभूतस्थका लक्षण देखो। सर्व माने अनेक और भूत माने बदलनेवाला और 'थ' माने न चलनेवाला। तो 'थ' से नरक-स्वर्गमें तो जाता-आता नहीं और भूत माने कालमें जवान-बुड्ढा नहीं होता और सर्व माने अनेकमें एक है। तो सर्व यह आत्माकी पहचान है। अनेकमें एक है, बदलनेवालेमें न बदलनेवाला है और जाने-आनेवालेमें न जाने आनेवाला है, ऐसा कौन है ? ॐ अपना आपा ?

एक शीशा है। शीशेमें हजार चीज़ दिख रही हैं। तो हजार चीज़में शीशा एक है और उसमें कभी मोटर दौड़ जाती है, कभी बाल दिखते हैं, कभी नाक दिखती है, कभी मुँह दिखता है, कभी छाती दिखती है, शीशा एक है। कभी आया कोई मुँह देख रहा है, कभी कोई देख रहा है, कोई आया कभी, कोई गया। और महाराज दाँत कभी थे, कभी टूट गये, बाल कभी काले थे, कभी सफेद हो गये, पर शीशा एक है। सर्वभूतस्थं है कि नहीं ? पति-पत्नी दोनों वही शीशा देखते हैं। पति अलग, पत्नी अलग, शीशा एक, जवानी अलग, बुढ़ापा अलग, शीशा एक। देखो, आता हुआ जाता हुआ एक।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

आश्चर्य तो यह है कि इसी शीशेमें सब दीख रहा है। यह चिड़ियाका धर्म दूसरा है, पशु-पक्षीके सामने ले जाकर बड़ा-सा शीशा रख दो, तो वे क्या

करेंगे ? जानते हो ? चोंच या सींग ही-से मारेंगे। मार देगी तत्काल। यह हमारे बाथरूममें वृन्दावनमें जो शीशे रखे हुए हैं, उसे चिड़िया अपनी चोंच मारती रहती हैं, जब देखो तब। रोकनेकी कोशिश कीं, नहीं मानी कितनी चीजें गिरा दीं। बहुत कोशिश की गयी, लेकिन वे समय निकालकर, जब खाली होती हैं, अपना काम करती हैं। निकम्मा आदमी दूसरेसे लड़ता है।

एक दिन एक आदमीसे मैंने कहा कि ऐ, निन्दा-विन्दा मत किया करो। तो बोला—स्वामीजी निकम्मा आदमी निन्दा करता है। हम अपने गाँवसे जाते थे स्कूलमें पढ़नेके लिए, तो जाते समय तो जगह खाली मिलती थी, एक पाकरका पेड़ था, गाँवके बीचमें बहेलियोंका मुहल्ला था, जाते समय सबेरे खाली रहता कोई नहीं; लेकिन जब दोपहरको खानेके लिए लौटता था और बहेलिया लोग सब शिकार खेलनेके लिए चले जाते, तो जितनी बहेलियोंकी औरतें थी, वहाँ इकट्ठी हो जातीं और हाथ नचा-नचाकर झगड़ा करतीं वहाँ बैठकर, चार जने उधर, चार जने इधर और वह झगड़ा। तो निकम्मे लोग झगड़ा करते हैं। जब कोई लड़ाई-झगड़ा करे, तो समझ लेना कि बिलकुल निकम्मा है। अगर कोई जरूरी काम होता, तो ऐसे बजेरूरी काममें क्यों लगता?

तो शीशेकी बात देखो, **सर्वभूतेषु चात्मानं** सर्व है, भूत है, भवनशील है कालमें और आगमापायी है-जाने-आनेवाला है। और उसमें अपना आत्मा बिलकुल शीशेकी तरह है, तो एकने कहा—आओ, शीशा फोड़कर इसमें-से निकालें। शीशा फोड़नेपर कुछ निकलेगा उसमें-से? रथ निकलेगा, कि सड़क निकलेगी, कि मोटर, कि औरत, कि तुम्हारी बढ़िया-बढ़िया जो आँखें उसमें दिखती हैं, ये आँखे उसमें-से निकलेंगी, कि छाती उसमें-से निकलेगी, कि दाँत निकलेगा? उस शीशेमें-से कुछ निकलेगा? कुछ नहीं दिखता, सब है उसमें, पर है कुछ नहीं। तो सबमें वहाँ क्या है? वहाँ केवल शीशा है—

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरी तुल्यम्।

यह है दर्पण, शीशा, चमकता। तो अच्छा, आओ इनको निकालकर फेंक दें। आपको एक बात सुनाते हैं, आप लोग देखो, शहरी वेदान्ती हों, नाराज मत होना। हम लोग जंगली वेदान्ती हैं, आरण्यक वेदान्ती हैं। जो लोग समझते हैं

कि शीशेमें किसीका प्रतिबिम्ब ही न पड़े, हमारे शीशेमें कोई दीखे ही नहीं, वे शीशेको कोयला बनाना चाहते हैं। वे उसपर रंग पोत करके उसको अन्धा बनाना चाहते हैं। जो लोग चाहते हैं जब कुछ नहीं दिखायी पड़ेगा, तब हम आत्मा, तब हम ब्रह्म। यह समाधिका अन्धापन अपनी आत्मामें जोड़कर जो लोग चाहते हैं कि जब हम अन्धे हो जायेंगे, तब ब्रह्म बनेंगे। वे चेतन आत्माको अनात्मा बनाकर तब ब्रह्म होना चाहते हैं। यह देखो, हम जंगली वेदान्त आपको सुना रहे हैं। शहरी वेदान्त है कि कुछ नहीं दिखेगा, तब हम आत्मा और कुछ दिखेगा तो हम जीव। और, जंगली वेदान्त है कि चाहे कुछ दिखे चाहे न दिखे, तुम तो बिलकुल दर्पणवत्, आदर्शवत् बिलकुल स्वच्छ। तुम्हारे प्रकाशसे सब प्रकाशित हो रहा है। तुम्हारी चमक ही ऐसी है कि उसमें सब कुछ दिखायी पड़ता है, समाधि भी उसमें दिखायी पड़ती है। विक्षेप भी उसमें जो जड़ताको प्रकाशित न करे, वह चेतन कैसा? जो लोग चेतनताको ही मिटानेके लिए साधन भजन करते हैं, उनकी चेतना कभी मिटेगी नहीं। करोड़ कल्प प्रयत्न करेंगे और प्रतीतिको कभी मिटा नहीं सकते।

अब लो, यह करोड़ रुपयेवाला वेदान्त नहीं है, यह वह वेदान्त है जिसकी कीमत कहीं सृष्टिमें नहीं है। जो लोग प्रतीतिको मिटाकर ब्रह्म होना चाहते हैं; महाराज जंगलमें कोई-कोई शहरी महात्मा हैं न, जो चले जाते हैं, तो जंगलमें जाकर वे चाहते हैं कि हम मिटायेंगे और कोई महाराज जंगली महात्मा शहरमें आ जायें, तो यही कहेंगे कि चाहे मिटे, चाहे नहीं मिटे, हम तो ज्यों-के-त्यों। इसका अर्थ है—**सर्वभूतस्थमात्मानं**। सबमें मैं और मुझमें सब। शीशेसे अगर कोई कहेगा कि हे शीशाजी, ऐसे तुम बनो कि गायका प्रतिविम्ब तो तुम्हारे अन्दर पड़े, लेकिन सूअरका न पड़े, वह बेवकूफ है कि नहीं है। जो शीशेसे ऐसा कहेगा कि तुम्हारे अन्दर गायका आभास तो मालूम पड़े, लेकिन सूअरका न मालूम पड़े। अरे भाई, जब शीशा है, तो गाय भी उसीसे दिखती है और सूअर भी उसीसे दिखता है। अब लो, धर्मात्मा लोग कहेंगे कि नहीं, नहीं, हम गायको प्रणाम करेंगे, वह दिखने दो और सूअरको मत दिखने दो। लेकिन महाराज, भक्त कहेगा कि नहीं, वराहावतार है भगवान्‌का, सूअर भी दिखे तो कोई हर्ज नहीं। एकने कहा अच्छा, गधेको तो

बन्द करो। बोले—अरे शीतला भवानी बैठती हैं भाई, गधेपर, तुम काहेको मना करते हो? उसको भी दिखायी पड़ने दो। अपने स्वरूपमें उसकी भी प्रतीति होने दो। अब लो **सर्वभूतानि चात्मनि,** फोड़कर अलग नहीं किया जा सकता। **ईक्षते योगयुक्तात्मा**—एक दिख रहा है देवताका मन्दिर और एक दिख रहा है पनाला, परन्तु **योगयुक्तात्मा**—जो शीशा है, वह कहता है कि **समदर्शनः**। वह जानता है कि न हमारे भीतर पनाला है और न गंगाजीकी धारा है। यह तो बिना हुए ही दोनों दिख रहे हैं, मैं ही मैं हूँ। न गंगाजी और न पनाला।

अब लो भला, यह तो हुई आत्माकी पहचान। पाँच-छह दिन हो गया, अब काहेको इसके पीछे पड़ना। दूसरे श्लोकको भी बता दिया। अब देखो, दूसरी पहचान, परमात्माकी पहचान,

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। ६.३०
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि॥ ६.२९

'आत्मनि' सप्तम्यन्त वहाँ है और मयि सप्तम्यन्त यहाँ है। और 'सर्वभूतानि' वहाँ है और 'सर्वं' यहाँ है। आत्मामें सब, मुझमें सब। मैं सबमें, आत्मा सबमें। पहचान मिल गयी न! देखो, जब पहचान एक मिल गयी. तो आत्मा-परमात्मा दोनों एक हो गये।

अरे बाबा, काहेको भटकते हो? पहचान लो न! अरे वही है। एक दिन महाराज, एक बच्चा, आठ-नौ बरसका खलिहानमें बैठा था। उसका बड़ा भाई घरसे आया। अब वह रातको खलिहानमें सोनेके लिए काला-कम्बल-राल; अरे महाराज चार छह सौ रुपयेमें उतना काम देनेवाला कम्बल नहीं मिलता है, हम छह रुपयेकी राल ओढ़ चुके हैं। पाँच-पाँच सेर वज़नकी, आजकल क्या होगा कम्बल! वह कम्बल ओढ़कर आ रहा था, तो सोचा कि देखें, यह हमारा छोटा भाई है, जरा कैसी हिम्मत है इसकी! तो उसने कम्बल लपेट लिया शरीरमें और जैसे कोई चौपाया चले ऐसे चलकर आने लगा। अब वह बेचारा बच्चा धक्-धक्-धक् उसका दिल करने लगा कि कहीं कोई भालू तो नहीं आ रहा है। यह तो भालू आकर हमको पकड़ ले जायेगा। फिर उसने देखा तो उसको लाठी दिख गयी, वह बगलमें लाठी दबाये था। तो गौर से देखा, तो भालू तो लाठी दबाकर नहीं चलता है।

उसके मनमें आ गया कि लाठी तो हमारे भैयावाली है, तो फ़िर देखा, तो जैसे खेल, खेलमें, उसके भैया दिनमें चलते थे वैसे ही थे। तो वह फिर ताली पीटकर हँसने लगा कि भैया मैं पहचान गया, तुम्ही हो भला! भाई भी हँसने लगा। तो यह महाराज, जबतक हमलोग पहचानते नहीं हैं कि परमात्मा क्या! हम आपको सही-सही बताते हैं, किसी भूत-भैरव, देवी-देवताके हाथमें आपका भाग्य नहीं है। आज ही मैं वेदका कोई अंश पढ़ रहा था, उसमें एक मन्त्र मिला—*श्रद्धया देवा देवा भवन्ति;* वहाँ हमारे व्याख्याकारका कहना था कि *'अदेवा देवा भवन्ति'*—यदि श्रद्धा करो, तो पत्थर, मनुष्य, पशु, पक्षी सब देवता हो जाते हैं। तो दूसरे भाष्यकारने कहा कि यह अर्थ बिलकुल गलत है, 'देवा देवा भवन्ति'—देवता तो सब पहलेसे ही हैं, श्रद्धा करनेसे उनका देवत्व प्रकट हो जाता है। दोनोंने दो तरहकी व्याख्या की। आपका भविष्य किसी भूत- भैरवके हाथमें नहीं है, किसी सातवें आकाशमें रहनेवाले ग्रह, नक्षत्र, तारेके हाथमें नहीं है। आपकी आत्मा ईश्वरकी आत्मासे बिलकुल एक है। जहाँ आप व्यक्तिगत सुख, व्यक्तिगत कर्म, व्यक्तिगत वस्तु, अहंता और ममताको छोड़ दोगे वहाँ ईश्वरसे एक हो जाओगे और आपका संकल्प ईश्वरका संकल्प हो जायेगा। छोटे-मोटे आदमीका संकल्प पूरा नहीं होता है, जो ईश्वरसे एक हो जाता है उसका संकल्प पूरा होता है। और जब इससे भी ऊपर उठोगे, अपने और ईश्वरका भेद जब बिलकुल मिट जायेगा, भावनात्मक एकता नहीं रहेगी, वास्तविक एकता हो जायेगी, तब संकल्प करनेकी जरूरत ही नहीं रहेगी। क्योंकि यह न हो, यह हो, ऐसा हो, ऐसा न हो, यह संकल्प भेद-बुद्धिसे ही उदय होता है। तो जब हम ईश्वरके पास जाते हैं, कि हे ईश्वर, ऐसा हो, ऐसा न हो, तो हम भेद-बुद्धि लेकर जाते हैं! जब भेद-बुद्धि लेकर जाते हैं तो ईश्वरके साथ हम पूरी तरह एक नहीं होते हैं। एक नहीं होते हैं, तो हमारा संकल्प कभी पूरा हो, कभी न हो। लेकिन महाराज, जब संकल्प छोड़ देते हैं, ऐसा हो, ऐसा न हो, तब हम बिलकुल निस्संकल्प अन्तःकरण-रहित होकर ईश्वरके साथ एक हो जाते हैं। और ईश्वरके साथ एक होनेपर सम्पूर्ण सृष्टिके रूपमें हमारा ही संकल्प प्रकट हो रहा है।

आओ, अब हम—**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति**—भगवान् कहतेहैं कि यदि एक बार मुझसे मिल जाओ मेरे प्यारे! आप विश्वास करो, मत करो। एक सखीने आकर राधारानीसे कहा—किशोरीजी! तुम यहाँ बैठी हो रूठकर और वहाँ प्यारे गोवर्धनकी तलहटीमें रत्नमयी वेदिका पर कल्पवृक्षके नीचे, त्रिभंग ललित भावसे खड़े हुए दोनों हाथ फैलाये तुम्हारा ध्यान कर रहे हैं कि मैं तो आँख बन्द करके खड़ा हूँ और प्रियाजी आयेंगी और मेरे भुजपाशसे लिपट जायेंगी, वह तुम्हारी प्रतीक्षामें त्रिभङ्ग ललित भावसे खड़े हैं तुमसे मिलनेके लिए उनका दिल ललक रहा है और तुम यहाँ अभिमान किये रूठी हुई बैठी हो!

अब देखो, हम आपसे यह बात कहते हैं—'**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।**' ईश्वर दोनों आँख खोलकर आपकी ओर देख रहा है। आप दूसरेकी ओर देख रहे हैं, ईश्वर आपकी ओर देख रहा है। आप भी ईश्वरकी ओर देखिये। दोनोंकी आँख चार होने दीजिये। दोनोंकी नजर एक होने दीजिये। दोनोंका ज्ञान एक होने दीजिये। देखो आपकी आँखसे कभी ओझल नहीं होगा परमात्मा और परमात्माकी आँखसे कभी ओझल नहीं होंगे आप। अर्थात् परोक्षता नामकी वस्तु ही चली जायेगी। तो त्वं पदार्थका वर्णन है, अहं पदार्थका वर्णन है—**सर्वभूतस्थमात्मानं** और **यो मां पश्यति** में तत् पदार्थका, ब्रह्म पदार्थका वर्णन है और तीसरे श्लोकमें असि पदार्थका वर्णन है। क्या?

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

यदि हम इस बातको नहीं कहेंगे, '**सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते**', तो वेदान्तकी एक विशेषताको छिपानेका हमको अपराध प्राप्त होगा। वेदान्तकी एक विशेषता है, योगदर्शनमें वह नहीं है—'सर्वथा वर्तमानोऽपि'। मैं ज़ोर देकर यह बात कह रहा हूँ कि सृष्टिके किसी धर्ममें यह विशेषता नहीं है–'सर्वथा वर्तमानोऽपि।' आप हमको ऐसा नहीं समझना कि संस्कृत और हिन्दी छोड़कर दूसरी भाषाको न जाननेवाला यह बाबाजी, और कहता है कि दुनियाके किसी धर्ममें नहीं है, ऐसे मत बोलना! हम दुनियाके धर्मका ही नहीं

धर्मोंका भी और जो एक धर्म है सृष्टिमें और जो उसकी अनेक शाखाएँ हैं, उनका तत्त्व, उनका रहस्य, जो हमारी आत्मा है उसको मैं जानता हूँ भला! मैं आपको बिलकुल कहता हूँ कि योगमें यह हिम्मत नहीं है कि वह कह दे 'सर्वथा वर्तमानोऽपि', मर जायेगा। उसकी जो धर्म-मेध समाधि है वह मर जायेगी योगीकी, जिस दिन वह 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' इस बातको स्वीकार कर लेगा। सांख्यकी असंगता मर जायेगी यदि वह 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' स्वीकार कर लेगा। यदि 'सर्वम् अभवत्' इसमें नहीं होगा, यदि सब अपना स्वरूप नहीं है, तो 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' आ ही नहीं सकता। हमारे कई लोगोंने 'विचार-सागर' छापा, तो उसमें-से कई हिस्सा निकाल दिया। बोले—अरे, यह सबके सामने जाने लायक नहीं है। अरे बाबा, क्या करोगे? अब तुम, जो उपनिषदोंमें है उसको भी निकालकर फेंकोगे? जो ब्रह्मसूत्रमें है—

तदधिगमे उत्तरपूर्वार्धयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।

वेदान्ती जो शरीरमें रहते-रहते—जीवन कालमें, जो तुमको पूर्ण स्वातन्त्र्य देता है, उसके साथ कृतघ्नताका बर्ताव मत करो, वह जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख है। यदि वह नहीं जानोगे, तो क्या जानोगे? कि हर समय आँख बन्द करनेसे परमात्मा दिखता है? माने परमात्मा अँधेरेमें रहता है। आँख बन्द करनेपर जो अँधेरा होता है, उसमें कोई ईश्वर रहता है? और खुली आँखमें जो उजेला है उसमें ईश्वर नहीं? जब हमारी बोलती बन्द हो जायेगी, तब ईश्वर रहेगा? और जब हम बोलेंगे तो ईश्वर भाग जायेगा हमारी आवाज सुनकर? क्या समझते हो कि जब साँस बन्द हो जायेगी, मुर्दा हो जायेगा शरीर, तब ईश्वर रहेगा? वृन्दावनमें ऐसे बोलते हैं—ईश्वर मिल जायेगा तो बोलोगे कैसे? ईश्वर मिल जायेगा तो खाओगे कैसे? ईश्वर मिल जायेगा तो साँस कैसे लोगे? अरे बाबा, ऐसा ईश्वर जो खानेसे भागता हो, जो बोलनेसे डर जाता हो; जो हमारे मुर्दा हुए बिना जिन्दा ही न होता हो, वह ईश्वर हमारे किस कामका? अरे, जो हमारे जिन्दा रहते जिन्दा रहता है, उस ईश्वरका नाम ईश्वर है और यह लो वेदान्तसे।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

सर्वभूत भी है और उसमें स्थित भी है। सर्व है, भूत है, स्थित है—

अनेकमें एक है, भूतमें अभूत है। अस्थितमें स्थित है। और अ-माम्‌में मां है। और एकत्वमास्थितः। उससे एक हो जाओ जरा। ये दुनियादार लोग डरते हैं, कि हे बाबा, हम उससे कहीं एक हो गये। परमहंस रामकृष्णने विवेकान्दजीके सिरपर जब हाथ रखा! तो उनके सामने दुनिया चक्कर काटने लगी, सारा विराट् प्रक़ट हुआ, बोले—'महाराज ठहरो-ठहरो यह क्या करते हो? अरे, अभी मैं संसारमें रहना चाहता हूँ।'—ऐसे। **योगिनो तस्मात्**; इतने बड़े महात्मा जिनके ऊपर परमहंसजीका इतना अनुग्रह कि पकड़कर मँगाया था, माने हाथसे नहीं, अपने संकल्पसे विवेकानन्दजीको पकड़कर मँगाया था परमहंस रामकृष्णने, यह हम जानते हैं। रातको सोते नहीं थे, गंगाके किनारे खड़े होकर पुकारते थे—आओ, नरेन्द्र आओ; ऐसा वर्णन मिलता है रामकृष्ण परमहंसके जीवनमें। चूँकि विवेकान्द इसके लिए तैयार नहीं थे, परमहंसजीने उनको तैयार किया, लेकिन आप देखो—

भजत्येकत्वमास्थितः। देहसे एक हो तुम, विराट्‌से एक हो जाओ। आकाश हमार शरीर है। यह शरीर हमारा शरीर नहीं है, आकाश हमारा शरीर है और आकाश तुम्हारा शरीर नहीं है, चित्ताकाश तुम्हारा शरीर नहीं है, चिदाकाश तुम्हारा शरीर है और शरीर शरीरी भाव नहीं है, तुम अद्वैत हो—**भजत्येकत्वमास्थितः**। एकत्वंका क्या अर्थ है? एक होती है गिनती एक। किसीसे पूछें कै बच्चा हैं तुम्हारे? कि एक है, तो एक है माने दूसरा नहीं है। यही न इसका अर्थ होता है। नहीं और दूसरेके बीचमें जो एक है, उसको एक बोलते हैं। व्यवहारमें तो यही है न! एक-एक दो। और एक बटे दो। लेकिन यह जो हमारा एक है, 'भजत्येकत्वमास्थितः'। संख्या गुण है, तत्त्व नहीं है। गुणमें और तत्त्वमें फर्क होता है। तो भजत्येकत्वमास्थितःमें एकका अर्थ है अद्वैत। अद्वैतमें और एकत्वमें फर्क होता है। क्या फर्क होता है? एक बटे दो होता है कि नहीं? अद्वैत बटे दो होगा कि नहीं? बोलो! नहीं होगा। देखो, स्वामी निर्मलदेवजी कैसे बोलते हैं—अरे, बोलो न भाई! एक बटे दो होता है। एक-एक दो होता है कि नहीं? संख्या बढ़ गयी कि नहीं, एक बटे दोमें संख्या घट गयी और एक-एक दोमें संख्या बढ़ गयी और अद्वैत-अद्वैत दोनोंको जरा जोड़ो, कुछ बढ़ेगा? अद्वैत-अद्वैत जोड़नेपर कुछ बढ़ेगा नहीं, इसीलिए अद्वैत

संख्या नहीं है, यह गुण नहीं है। यह तत्त्व है। लो अद्वैत और एकत्व। **एकत्वमास्थितः** जरा आस्था आने दो। चलो इस रास्तेपर। यह वैराग्य नहीं है, यह त्याग नहीं है, यह यज्ञ-याग धर्म नहीं है, यह पूजा नहीं है, यह समाधि नहीं है, इसका नाम है ज्ञान। और संसारी लोग, जबतक उनकी आस्था अन्य पदार्थमें है, इसकी छाया छू नहीं सकते, इसकी तो बात दूर है। यह न धर्म है, न त्याग है, न वैराग्य है, न उपासना है, न योग है, न समाधि है, न स्थिति है। यह क्या है? इसका अर्थ है सब प्रतीतियोंमें, चाहे कुछ भी प्रतीति हो, जन्म-मरण, नरक-स्वर्ग, आना-जाना, इस असंग उदासीन अद्वय तत्त्वको जिसने अपने आपके रूपमें जान लिया—***सर्वथा वर्तमानोऽपि तदधिगमे उत्तरपूर्वार्धयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।***

यह एक सूत्र है, वेदान्त दर्शनका। अच्छा, आपको एक आश्चर्य होगा, हमारे सेठ जयदयालजी गोयन्दका गीताप्रेसके, जीवन्मुक्तिकी विलक्षण रहनीको प्रायः स्वीकार नहीं करते थे, लेकिन उन्हींके भाईने जब ***तदधिगमे***की टीका की, वेदान्तदर्शन, नामक पुस्तकमें हरिकिशनदासका नाम है, गीतामें शांकर भाष्यका अनुवाद भी उन्हींके नामसे छपा हुआ है, उन्होंने वेदान्त दर्शनपर एक अपनी टीका लिखी है, योग दर्शनपर भी एक लिखी है। तो उस टीकामें भी इस सूत्रकी जो व्याख्या है वह बदली नहीं गयी है। और बदली नहीं जा सकती। बोले—महात्मा लोग कैसे रहते हैं? अरे '**ज्ञानिनो हृदयं --- चेत् जगद्हरिः**'—ये मूर्ख लोग यदि ज्ञानीकी रहनीको समझ जायें, तो दुनिया सच्ची हो जाये! ये तो उसका कलेजा पकड़कर नोंच डालेंगे। कहेंगे—आओ, इस ज्ञानीका कलेजा हम खा जायें, तो हम भी ज्ञानी हो जायेंगे। नोचेंगे, दुःख देनेकी कोशिश करेंगे ज्ञानीको, यदि ज्ञानीका दिल इनकी पकड़में आ जाये, तो।

एक ज्ञानी रहता है महाराज, बिलकुल शुक्राचार्यकी तरह समाधिमें, शुकदेवजी जैसे रहते हैं समाधिमें। एक रहता है वसिष्ठके समान ज्ञानका उपदेश करता हुआ। एक रहता है दत्तात्रयकी तरह, कुत्ते भूँक रहे हैं, पीछे-पीछे लगे हुए हैं, हाथमें बोतल है, स्त्री; एक ज्ञानी रहता है जनककी तरह राज्य कर रहा है, एक ज्ञानी रहता है रामकी तरह, एक ज्ञानी रहता है कृष्णकी

तरह। अब बनाओ तुम नियम कि ज्ञानी कैसे रहता है? **सर्वथा वर्तमानोऽपि।** सर्वथा माने सब तरहसे, चाहे जैसे। एकने पूछा—महाराज भाँग पीते हैं तो नशा कैसे होता है? आप लोग बता सकते होंगे, हम समझते हैं। अरे, हमने देखा है। अब बनारसी आदमी और भाँगका नशा न समझे, तो उसको बेवकूफ ही समझेंगे। इलाहाबादी हो, मथुरिया हो, बनारसी हो और भाँगका नशा न समझता हो, तो समझ जाना कि वह बेवकूफ है। अरे, खुद नहीं वह पीयेगा, पर वहाँ जो लोग पीते हैं, उनको तो देखेगा न! महाराज, भाँगका नशा चौबे लोगोंने कर लिया, बनारसके पंडोने कर लिया। अब यह क्या हुआ कि एकने जरा नशा-वशा पीया, घोंट-घाँटकर पीया और पीकर सो गया। कि बड़ी बढ़िया नींद आ रही है। एकने भाँग पीया और शौच चला गया और आकर स्नान किया और खाने बैठ गया और किलो-दो किलो खा रहा है। और, एकने महाराज चाहे गला गधेका ही हो, गाना शुरू कर दिया, एकने कहा कि बस ध्यानका मजा तो भाँगमें ही है। नशा कैसे चढ़ता है? जैसे भाँगका नशा तरह-तरहका चढ़ता है; तरह-तरहका क्यों हो जाता है? भाँग तो एक तरहसे पीसा गया था। नशा क्यों तरह-तरहका हो गया? बोले—भाई, सबकी अपनी-अपनी प्रकृति होती है। इसी प्रकार ज्ञानीके शरीर और अन्त:करणकी जो पूर्वसिद्ध प्रकृति होती है, उसके अनुरूप; ज्ञान एक होता है और नशा चढ़ता है तरह-तरहका। तो—

सर्वथा वर्तमानोऽपि। ज्ञानीकी रहनी मत देखो, ज्ञानीका ज्ञान देखो कि वह तुम्हारी अविद्याको काटनेमें समर्थ है कि नहीं? आपको रहनी सीखनी हो, तो अपने पुरोहितसे जाके सीखिये आपका पुरोहित आपको बतायेगा कि कौन-कौन व्रत करना चाहिए, कैसे-कैसे पूजा करनी चाहिए। ज्ञानीसे पूछनेकी जरूरत नहीं है। एकादशी तुम्हारे घरमें पहली मानी जाती है कि दूसरी—यह अपनी कुल-परम्परासे पूछ लो, ज्ञानीसे पूछनेकी जरूरत नहीं है। ज्ञानीके लिए रोज एकादशी होती है और रोज महाराज, पूरण-पूरी होती है। तुम अपने कुलके अनुसार करो।

आपको यह जानना हो कि हम अपने देवताकी पूजा कैसे करें तो अपने पुरोहितसे पूछो। इसीसे महाराज प्राणायाम करना हो, तो किसी योगीसे जाकर

पूछ लो! भगवान्का कौन-सा नाम रोज लें, अपने गुरुसे पूछ लो! यदि आपको ज्ञान चाहिए, तो यह सब मत देखो। जो तुम्हारे स्वरूप-विषयक अज्ञानको मिटानेमें समर्थ है, उसका नाम ज्ञानी है।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।

आओ भाई अब फिर चर्चा करें इसकी—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

यहाँ कश्चन अधिकारी, जो कोई अधिकारी, जिसने सबमें आत्माको, आत्मामें सबको, भगवान्में सबको, सबमें भगवान्को विचारके द्वारा जान लिया। अब उसके भजनका स्वरूप बताते हैं। उसका भजन क्या है? कि अद्वैतानुभूति ही उसका भजन है। आप देख लो गीतामें भजन शब्दका प्रयोग जहाँ तहाँ—

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत। १५.१९

यह मत समझ लेना, भजन माने ऐसा भजन सृष्टिके और किसी मजहब में नहीं है। देखो, आप अंगूर खायें और उसमें अंगूरका स्वाद न आये, तो आप उस अंगूरको अच्छा समझेंगे? और मिर्च खायें और उसमें तीखापन न हो, तो वह किसी कामका है? तो जैसे वस्तुओंमें अपना-अपना स्वाद ही उनका रस है, इसी प्रकार संसारकी किसी भी वस्तुका चाहे कुछ भी नाम हो, कुछ भी रूप हो, उसमें कुछ भी गुण मालूम पड़े, उसमें जो सत्ता है, उसमें जो प्रकाश है, उसमें जो रस है वह परमात्मा ही है। क्या करेलेमें रस नहीं है? अंगूरमें ही रस होता है? क्या आममें ही रस है, आँवलेमें नहीं है? तो यह उपाधिके भेदसे रसमें जो भेद होता है, उसके कारण द्वेष करने योग्य तो नहीं है, राग करने योग्य तो नहीं है। कभी हरड़ भी तो खानी पड़ती है। कभी त्रिकुटका सेवन वैद्य लोक कराते हैं कि नहीं? माने पीपल, काली मिर्च और सोंठ खानी पड़ती है कि नहीं? तो उसमें जो उसका अस्तित्व है, उसमें जो गुणका प्रकाश है, उसमें जो स्वाद है, उसका जो नाम-रूप है, उसमें क्या परमात्मा नहीं है? अलगावको मत देखो, एकता को देखो। जब मनुष्य अलगाव-ही-अलगाव देखने लगता है, ज्यादा करके हमलोग अपने मतभेदको ही जाहिर करते रहते हैं। हमारा तो

बहुत मजेदार अनुभव है इसके बारेमें। एकने बिस्तर बिछाया, दूसरेने उठा दिया, एकने किवाड़ी बन्द की, दूसरेने खोल दी। ज्यादातर हमलोग अपने जीवनमें भेदको जाहिर करते रहते हैं। अभिव्यक्ति देना माने जाहिर करना। जैसे देखो, हम-तुम बैठे हैं आमने-सामने। दोनोंकी आँख आगेकी ओर है, पीछेकी ओर तो नहीं है, कितनी समता है! तो यह नहीं देखेंगे कि दोनोंकी आँख आगे है, बोलेंगे इसकी छोटी है, इसकी बड़ी है। भेद बतायेंगे। अच्छा दोनोंका कान अगल-बगल ही तो है, कितनी एकता है! दोनों के दो हाथ हैं, दो पाँव हैं, दोनों के मुँहमें दाँत हैं, दोनोंके मुँहमें जीभ है, हम भी आदमी, तुम भी आदमी पर इसपर नजर जल्दी नहीं जायेगी कि आओ दोनों हम मनुष्य हैं। बोले—तुम अलग, हम अलग—इस पर नजर पहले जायेगी। तो यह भेद क्या करता है? कि मेरा-तेरा बनाता है।

एक जंगलमें हनुमानजी की मूर्त्ति किसीने खड़ी कर रखी थी, एक महात्मा आये। जेठका दिन, दोपहरीमें गये, अरे राम-राम-राम, गाँववालो, तुम लोगोंको बड़ा भारी पाप लगेगा, हनुमानजीकी मूर्ति को धूपमें खड़ा कर रखा है, छाया करो। अब महाराज, छप्पर करके छाया कर दी गयी, हनुमानजीकी पूजा होने लगी, महात्माजी बड़े खुश। अब वह महात्मा दो-चार-दस दिन रहकर चले गये, दूसरे आ गये। बोले—अरे गाँववालो, तुम पापी हो, हनुमानजीके ऊपर छप्पर लगा रखा है! कभी आग लगी तो छप्पर तो जलेगा ही हनुमानजी भी जल जायेंगे, हटाओ इसको। अब महाराज, हटवा दिया। तो यह जो हम लोग छोटी-छोटी बातोंमें उलझ जाते हैं, दोनोंका प्रेम हनुमानजीसे। देखो, जिसने छप्पर लगवाया उसका भी प्रेम हनुमानसे जिसने हटवाया उसका भी प्रेम हनुमानसे। लेकिन यह मति का जो भेद हुआ न; प्रेममें भेद नहीं है, प्रेमीमें भेद नहीं है, भगवान्‌में भेद नहीं है; लेकिन यह भेद मतिकृत है, बुद्धिकृत है। और यही दुःखदायी है, इसीमें-से राग और द्वेषकी सृष्टि होती है। हम लोग भेदको देखते हैं अभेदको नहीं देखते हैं। तो यह जो हमारा वेदान्त है, उपासना है, भक्ति है, धर्म है, योग है, यह कहता है—तुम इन्द्रियोंके कारण भेद-ही-भेद देखने लगे हो बाबू; इसलिए तुम संसारमें गिर पड़े, नरकमें गिर पड़े। यह हर समय, हर बातमें जलन हो जाना, शंका हो जाना, यह नारकी

स्थिति है, दिलकी नरकमें रहनेकी स्थिति इसीका नाम है। तो जो अभेद देखता है। देखो, पत्नी समझती है कि मैं ही अपने पतिसे प्रेम करती हूँ, पतिकी माँ अपने पुत्रसे थोड़े ही प्रेम करती है! बस सासबहूका झगड़ा यही तो है। माँ ने कहा—वाह मैंने अपने पेटमें पाला, मैं प्रेम करती हूँ। यह कलकी आयी हुई छोकरी, यह क्या जाने कि हमारे बेटेको क्या खानेको अच्छा लगता है। अरे भाई, माता भी प्रेम करती है, पत्नी भी प्रेम करती है, ननदजी भी प्रेम करती हैं, ननदका भाई है। बचपनसे साथ हँसी है, खेली है, उसका भी प्रेम है। तो लड़ाई कहाँ है? कि अपनी-अपनी मतिकी लड़ाई है।

आपको देखो, वेदान्तकी वह बात बताता हूँ, जो आपके काम आये। आप अलगावको मत देखिये, जो एकता है, उसको देखिये। अच्छा माता-पत्नी-बहन, तीनों एक पुरुषकी भलाई चाहती हैं कि नहीं? तो जब तीनों भलाई चाहती हैं, तो तीनोंमें प्रेम होना चाहिए, कि लड़ाई होनी चाहिए? अपना-अपना अहं उसमें लड़ाई की सृष्टि करता है, न सास करती है, न बहू करती है, न ननद करती है, न पति करता है, लड़ाई कहाँसे आती है? कि अपनी-अपनी समझकी खराबीसे, अक्लकी खराबीसे लड़ाई निकलती है। तो वेदान्त क्या कहता है? सबमें प्रेम है—**सर्वभूतस्थितं यो मां** क्या मानवता है! सबकी आँख आगेको, सबकी मुँह नाकके नीचे। सबके पाँव नीचे, सबका हाथ काम करता है, सबका मुँह बोलता है, कितनी एकता है, हम कैसे बढ़िया भाई-भाई हैं कि एक सरीखे काममें सब लगे हुए हैं। लड़ाई काहेकी। बोले—**सर्वभूतस्थितं यो मां**—जो सबमें एक है वह नजर नहीं आता, जो सबमें अलग-अलग है वह नजर आता है। तो वेदान्त कहता है कि नाम-रूप-गुण—इनका अलगाव है। जो सबमें सत् है—हैपना है, जो सबमें चित् है-प्रकाशपना है, जो सबमें आनन्द है, स्वाद है, उसमें कोई फर्क नहीं है। घरमें हमेशा आलूका ही साग बने, करेलेका कभी न बने, यह लड़ाई मूर्खताकी है। अरे, कभी आलू भी हो, तो कभी करेला भी हो, कभी अंगूर भी हो, तो कभी बेर भी हो। बेरमें भी स्वाद है, अंगूरमें भी स्वाद है। यही देखो—**सर्वभूतस्थितं** है। नाम अलग है, रूप अलग है, परमात्मा सबमें एक है।

अच्छा, जब ऐसा तुम समझोगे, तब होगा क्या? तो श्रीरामानुजाचार्यजी

महाराज कहते हैं कि तब तुम्हारे ज्ञानका आकार विशाल हो जायेगा तुम अभी छोटी-छोटी चीजको देख रहे थे, अब तुम देखोगे सबमें एक जो परमात्मा है उसको जैसे वृत्ति जब घटाकार होती है, तब घड़ेके बराबर मालूम पड़ती है और वृत्ति जब अखिल जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमात्माका आकार ग्रहण करेगी, तब तुम्हारा वृत्तिज्ञान नारायणाकार हो जायेगा, नारायणके बराबर, तब प्राकृत भेदके कारण जो तुम्हारे ज्ञानमें अल्पता है, छोटापन है, वह मिट जायेगा। अरे, तुम नारायणसे बिलकुल एक होकर बैठोगे—**भजत्येकत्वमास्थितः।**

अब देखो, आपको पहले मैं सुना रहा था। सृष्टिमें इस हमारे वेदान्त धर्मको छोड़कर, यदि इसको धर्म कह सकें, इस वेदान्तके भजनको छोड़कर यदि इसको भजन कह सकें, इस वेदान्तकी स्थितिको छोड़कर यदि स्थिति कहना ही हो, ये सब आरोप हैं, धर्मत्व भी आरोप है, उपासनात्व भी आरोप है, योगत्व भी आरोप है और अज्ञानकी दृष्टिसे ही इसमें ज्ञानत्व आरोपित है, खण्डकी दृष्टिसे अखण्डता आरोपित है—ऐसा यह जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मदेव हैं, जहाँ परमात्मासे एक हो गये—**सर्वभूतस्थितं**, सारा राग गया, सारा द्वेष गया, सारी लड़ाई गयी, सारा झगड़ा गया। तुम जो अपने दिलको अपने आप ही कोंचते रहते हो, जैसे कोई अपने कलेजेमें कटार भोंक दे, ऐसे महाराज, अपने दुःखकी सृष्टि तुम स्वयं करते रहते हो। दुःख भगवान्का बनाया हुआ नहीं है, दुःख प्रकृतिमें नहीं है। ईश्वरके आनन्दमय हाथोंसे दुःखका निर्माण नहीं होता, ईश्वर दुःख नहीं बनाता।

आप हमारी बात पर विश्वास करो, चाहे मत करो, मानो, चाहे मत मानो; जब किसीके हाथमें मिठास होती है, तो जिस चीजको छू देता है वह मीठी हो जाती है। देखो, प्रेमी लोग कहते हैं कि हमको प्याले और शराबसे कोई मतलब नहीं है, हमको तो साकी चाहिए, पिलानेवाला चाहिए। तो जहाँ यह साकी हमारा ईश्वर है। **सर्वभूतस्थित** परमेश्वर ही हमारा साकी है, उसीके हाथमें जहर है, उसीके हाथमें अमृत है, उसके हाथका जहर भी हमारे परमार्थके लिए है, सुखके लिए है, उसके हाथका अमृत भी हमारे परमार्थके लिए है। तो जहाँ मृत्यु और अमृत दोनों एक हो गये, वहाँ तो दुःख ही मिट

गया। कोई धर्म, कोई उपासना, कोई योग, कोई भेदज्ञान यह बात नहीं बता सकता कि भजन यह है।

क्या भजन है?

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १५.१९

देखो, **'सर्वविद् सर्वभावेन मां भजति'**—सर्वरूपसे मुझको जानता है और सर्वभावसे मेरा भजन करता है। अरे, ऐसे कहो, चाहे ऐसे कहो। सर्वभावेनका अर्थ है कि जो दिख रहा है सो भगवान् है—एक। और, जो हमारे मनमें उठ रहा है, सो भगवान् है—दो। और, श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज, विशुद्धाद्वैतके आचार्य और श्रीबलदेव विद्याभूषणजी गोविन्द भाष्यके रचयिता, अचिन्त्य द्वैताद्वैत सिद्धान्तके संस्थापक, चैतन्य महाप्रभुके अनुयायी; दोनोंने ब्रह्मसूत्रके प्रारम्भमें एक ही वाक्यका प्रयोग किया है, आश्चर्य है न, बोलते हैं—**अहं इदं सर्वं च ब्रह्मैव**। मैं और यह दोनों ब्रह्म हैं। बलदेव विद्याभूषणका अभिप्राय है कि एक स्थितिमें ब्रह्म है, एक स्थितिमें जगत् है। वल्लभाचार्यजीका अभिप्राय है जगत्, अहं और इदं दोनों अविकृत परिणाम हैं। रामानुजाचार्यजी का अभिप्राय है दोनों परमात्माका विशेषण है, जैसे कमलकी नीलिमा। जैसे कमलके फूलमें रंग हो, ऐसे यह अहं और इदं, जीव और जगत् दोनों परमात्माके रंग हैं, विशेषण हैं। क्या फर्क पड़ा? आप जरा देखो, व्यवहारमें क्या फर्क पड़ेगा?

मध्वाचार्य कहते हैं जैसे बीज और फल। श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं जैसें एक अनार भी है, छिलका भी है, दाना भी है और गूदा भी है, ऐसे। वल्लभाचार्यजी कहते हैं जैसे सोना और जेवर। पर 'स्थितं' का अर्थ क्या है? शंकराचार्य कहते हैं—परमात्मा-ही-परमात्मा, न कार्यकारण भाव, न विशेषण-विशेष्य भाव। शंकराचार्य भगवान्का अभिमत ऐसा। परन्तु सबका मतलब यह है कि यह जो सृष्टि दिखायी पड़ रही है, यह परमात्माके सिवाय दूसरी और कुछ नहीं है। निम्बार्काचार्य बोलते हैं—द्वैताद्वैत। चैतन्य महाप्रभु बोलते हैं—अचिन्त्य द्वैताद्वैत। श्रीरामानुजाचार्य बोलते हैं—विशिष्टाद्वैत। शंकराचार्य बोलते हैं—केवलाद्वैत। परन्तु सबका मतलब यह है कि यही सृष्टि

जिसमें हमलोग रह रहे हैं, जिसमें आप बैठकर सुनते हैं, हम बैठकर बोलते हैं, यह जो मकान दिख रहा है, यही परमात्माका स्वरूप है। यह सबका अभिप्राय है। क्या आप हमारे इस सिद्धान्तको मज़हब बोलते हैं? यह किसी ग्रन्थ और किसी पंथ और किसी खास वर्गके लिए, किसी फिरकेके लिए है? नहीं, सबको परमात्माके रूपमें देखनेके लिए, तो **स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।** जितने भाव हैं सब परमात्मामें हैं, परमात्माके लिए हैं, परमात्मरूप हैं, जितनी वस्तु हैं सब परमात्मामें हैं, परमात्माके लिए है, परमात्म रूप हैं।

अब हम कासों बैर करों! जित देखौं तित साँवरि सूरत॥

हमारे वृन्दावनमें काष्ठजिह्वा स्वामी हुए हैं, वे बोलते हैं—***मतवादिन सों अरज यही है।***

अपने अपने इष्टदेव को व्यापक मानत हो कि नहीं?
जो तुम व्यापक नाहिंन मानत जीव दशा तहँ आय रही।

हम मतवादियोंसे अर्ज करते हैं, निवेदन करते हैं, तुम अपने-अपने इष्टदेवको सब जगब व्यापक मानते हो कि नहीं, यदि तुम अपने इष्टदेवको व्यापक नहीं मानते हो, तो वह जीवकी तरह परिच्छिन्न होगा, वह कैसे ईश्वर होगा!

तो देखो, हमारी नजर अनेकतामें जो एकता है, उसपर नहीं जाती। एकता सच्ची है, अनेकता झूठी है। तो **भजत्येकत्वमास्थितः** माने यह अहंकारका संहार है। जब एक ही है तब अपने बड़प्पनका अहंकार कहाँ? और फिर अपने प्रियतममें बड़े-बड़े गुण हैं, उससे राग करो। सब एक ही है, तो तुम्हारा रागास्पद कहाँ? और कहा—हमारे दुश्मनमें बड़े-बड़े दोष हैं, उससे दुश्मनी करो! किं फिर द्वेषास्पद कहाँ? बोले—हमारे ऊपर बाबा, कोई भूत-प्रेत टूट पड़नेवाला है, तो यह भय देहावेशके कारण है। फिर अभिनिवेश कहाँ? भय किससे? तो **भजत्येकत्वमास्थितः** यहाँ भजन होगा। भजनमें न भय है, न भजनमें द्वेष है, न भजनमें राग है, न भजनमें अस्मिता है और न भजनमें अविद्या है। भजन माने सबमें. सब हालतमें, सब रूपमें केवल वही, वही, वही—

जहाँ देखता हूँ वहीं तू ही तू है।

इसलिए फिर क्या हुआ ? कि,

राजी हैं हम उसीमें, जिसमें तेरी रजा है।

सारा वेदान्त आपको यहाँ लाना चाहता है, कि आप भय, द्वेष, राग, अहंकार और अज्ञानको छोड़कर **भजत्येकत्वमास्थितः**। गानेका नाम भजन दूसरा है। गाना भी भजन है, बजाना भी भजन है, नाचना भी भजन है, गरीबोंकी सेवा भी भजन है। समाधि लगाना भी भजन है, ध्यान करना भी भजन है। पर यह भजन ऐसा है महाराज, जिसमें समाधि और विक्षेप दोनों एक हो जाते हैं। जबतक मैं और तुम दोनों एक नहीं हुआ, जबतक मैं और वह एक नहीं हुआ, जबतक वह और तुम एक नहीं हुआ; हम ऐसे बोल सकते हैं—यह परमेश्वर है; तुम परमेश्वर हो, मैं परमेश्वर है। तो असलमें मैं, तुम, यह-वह— ये सब वाग्-व्यवहार हैं। जबानी जमाखर्च हैं, एक अद्वय परमेश्वर परिपूर्ण है। यह कह रहा है—

कह रहा है आसमाँ यह सब समां कुछ भी नहीं।

आसमान बोल रहा है कि सब सामान कुछ नहीं, एक परमात्मा अखण्ड है। यह है भजनका स्वरूप। **एकत्वमास्थितः**—एकत्वमें जो आस्था है, भजनका यही असली स्वरूप है। **आस्थितः** माने *निष्ठिता-परिनिष्ठिता*। 'आ' की जगह 'नि' उपसर्ग लगा दो तो आस्थितः निष्ठिता हो जायेगा। 'थ' को 'ठ' हो जायेगा। इस निष्ठामें तुम पक जाओ।

अब देखो भाई, बात तो बड़ी आसान है, किसीको जँच जाये तो जँच जाये। एक महात्माकी बात सुनाते हैं। उन्होंने कहा कि देखो, सब लोग कुछका कुछ बोलते रहते हैं। हम तुमको एक बात कहते हैं कि तुम जिद कर लो, आग्रह कर लो। क्या जिद करें महाराज ? यही जिद कर लो कि आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जीना भी वही, मरना भी वही, गाली भी वही, सम्मान भी वही, भूखा भी वही। बस इसी जिदपर तुम बैठ जाओ। देखो, मंजा इस जिदका। अज्ञान दशामें यदि इस जिदको कर लोगे, तों यह तुमको निष्ठातक पहुँचा देगी और जब मालूम पड़ गया कि सब एक ही है, तो कर्तृत्वपूर्वक निष्ठा

बनानेकी कोई जरूरत ही नहीं है। जहाँ वस्तुका ज्ञान हो गया वहाँ हमको निष्ठा क्या बनानी है?

अच्छा जी 'आस्थितः'। अब बोलते हैं कि अच्छाजी, ज्ञान हो गया, निष्ठा हो गयी, अब हम रहें कैसे? बोले—देखोजी, वेदान्त तो कहता है कि एकका ज्ञान होनेसे सबका ज्ञान हो जाता है और तुमको ब्रह्मका ज्ञान तो हो गया, आत्माका ज्ञान तो हो गया, पर मैं कैसे रहूँ—यह ज्ञान तुमको हुआ ही नहीं। एक महात्मा बोलते थे कि यदि ब्रह्माजी आयें और वे कहें कि देखोजी, तुम ब्रह्म नहीं हो, तुम परमात्मा नहीं हो; तो उनके लिए उत्तर क्या होगा? उनके लिए उत्तर यह होगा कि जैसे सपनेमें बहुत सारी अण्ट-सण्ट चीजें दिखायी पड़ती हैं, वैसे ही तुम चार मुँहके देवता स्वप्नवत् अण्ट-सण्ट दिखायी पड़ रहे हो, अण्ट-सण्ट बोल रहे हो, हमारे अनुभव, हमारी निष्ठाके सामने तुम्हारे जैसे स्वप्न-पुरुषकी क्या कीमत है? आत्मज्ञान बड़ी चीज है, निष्ठा बड़ी चीज है।

निरकार साकार रूपधरि आयौ कई एक बारा।

उड़िया बाबाजी महाराजके पास पल्टू बाबा रहते थे, वे गाया करते थे—

निराकार साकार रूप धरि आयौ कई एक बारा।
सपने होइ होइ मिट गये रह्यौ सार को सारा॥

सपने मिट गये, मैं रह गया। शरीर मिट गये, मैं रह गया। जन्म-मरण मिट गये मैं रह गया, लोक-परलोक मिट गये मैं रह गया। मैं आज तक मरा नहीं हूँ। आप लोग अपने बारेमें ऐसा सोचिये। कभी भी आप मरे नहीं, अगर कभी आप मरे होते, तो आज होते ही नहीं। मर गये होते, तो आज कहाँसे होते? अच्छा, जब आजतक कभी नहीं मरे हैं, तो आगे मर जायेंगे, इसका ख्याल छोड़ दीजिये।

पलटू तुम मरते नहीं, साधो करो विचार।
साधो करो विचार हम ही कर्ता के कर्ता॥

तो आस्थितःका अर्थ है निष्ठा। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज श्लोक बोलते थे कभी-कभी—

प्रलयस्यापि हुंकारै चलाचलविचालनैः।
विक्षोभं न स्याद्यस्यास्यान्तः स महात्मेति चक्षते॥

प्रलयकी हुंकार हो रही है, गर्जना हो रही है, महाप्रलय होनेवाला है और चराचर सृष्टि विचलित हो रही है, परन्तु यहाँ महाराज, कोई विक्षेप नहीं। अरे, कितनी बार प्रलय हो चुका है, कितनी बार सृष्टि हो चुकी है, यह प्रलयका जो साक्षी है आत्मा, यह जो प्रलयका अधिष्ठान है आत्मा, यह स्वयंप्रकाश-अधिष्ठान आत्मा, क्या कभी मरा है ? आपको निष्ठाकी बात सुना रहा हूँ—

निष्ठा ज्ञानस्य या परा—गीतामें आया न, यह ज्ञानकी परा निष्ठा है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्ददीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ १८.५१-५३

देखो, यदि तुम्हें गृहस्थी चलानी है, तो ननद भी तुम्हारे पतिसे प्रेम करती है और तुम्हारी भाभी भी तुम्हारे भाईसे प्रेम करती है, तुम्हारी सास भी अपने बेटेसे प्रेम करती है। तुम यह मत कहो कि सासको घरसे निकाल दो, ननदजीको ससुराल भेज दो और भाभीको मायके भेज दो। देखो, सबका प्रेम बरसने दो। यह जो तुम्हारा आत्मदेव है, सासका बेटा यही है, पत्नीका पति यही है, ननदका भाई यही हैं। यही सबकुछ है। तो **भजत्येकत्वमास्थितः** भजनका मतलब यही है।

महाराज, डरते-डरते, थरथर काँपते हुए, हाथ-पाँव काँप रहा हो भयसे और गिलासका पानी लाओ, तो वह गिर जायेगा और द्वेष होगा तो किसीके कहनेसे ले भी आयेंगे, तो झटसे दूसरेके हाथमें सम्हालने लगेंगे न, तो गिर जायेगा गिलास भला! यह भूल बाहर नहीं होती है, भूल मनका दोष है। यह जो भ्रान्ति है, विस्मृति है, यह कोई हाथमें थोड़े ही बसती है, यह मनमें ही रहती है। इसीको ठीक करनेके लिए वेदान्त है—**भजत्येकत्वमास्थितः** आप देखो। **सर्वथावर्तमानोऽपि, स योगी मयि वर्तते।** पहले इस निष्ठामें पहुँच जाओ। जिस निष्ठामें पहुँचनेपर तुम्हीं सबके प्रकाशक हो, तुम्हीं सबके प्यारे हो। जैसे, एक चन्द्रमासे कोटि-कोटि कुईं-कुमुदिनी खिलती हैं, एक

चन्द्रमाको देखकर कोटि-कोटि चकोर अमृतका पान करते हैं, वैसे ही एक आत्मदेवके लिए कोटि-कोटि चित्तवृत्तियाँ, उसीसे प्यार करती हैं। कोटि-कोटि इन्द्रियवृत्तियाँ उसीसे प्यार करती हैं। कोटि-कोटि क्रियावृत्तियाँ उसीसे प्यार करती हैं। सबका परम प्रेमास्पद, वही भजनीय। हाथ आत्माका भजन करता है, आँख आत्माका भजन करती है। दिल आत्माका भजन करता है और यह आत्मा एक शरीरमें नहीं है, सब है, सबमें है। कौन ऐसी शिक्षा देगा? राग-द्वेषके झगड़ेमें मर जाओगे, अगर वेदान्तका श्रवण-मनन नहीं करोगे। यह गलत, यह सही, यह अच्छा, यह बुरा, तुम्हारा दिल आगमें झुलस जायेगा।

सर्वथा वर्तमानोऽपि—आप **अपि** शब्दपर जरा ध्यान दो, ***देवं भूतः एकत्वं आस्थितः पुरुषः।*** अथवा ***एकत्वं आस्थितः भजसि स भजन्पुरुषः कदापि सर्वथा वर्तमानो न भवति प्रायः।*** उसके द्वारा; मध्वाचार्यजी महाराजने प्रायः शब्दका प्रयोग किया है। *सर्वथा वर्तमानोऽपि, अपि अर्थात् सर्वथा वर्तमानो न भवति तथापि यदि कदाचित् सर्वथा वर्तमानो भवति।* अपि शब्दका अर्थ ऐसा होता है।

देखो, बात यह है कि आप गीता तो पढ़ते हैं, पर दूसरे अध्यायकी जो पहली शिक्षा है—**गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः** विद्वान् वह है जो मरे हुएके लिए दुःखी नहीं होता कि वह मर गया और जो जिन्दा है उसके लिए भी दुःखी नहीं होता। बहुत लोग कहते हैं हमारा दुश्मन क्यों जिन्दा है, इसके लिए दुःखी होते हैं। हमारा मित्र क्यों मर गया—इसके लिए दुःखी होते हैं। तो बोले—भाई, जो विद्वान् होता है वह जिन्दा- मुर्दाके लिए दुःखी नहीं होता। माने उसके लिए जीवन और मरण सम है—यह बात निकली कि नहीं निकली। गीताकी पहली शिक्षा यह है—जिसमें जीवन और मरणको समान बताया गया है।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ २.११

यह तुम्हारा मनुष्य-जीवन शोक करनेके लिए बना है! रोनेके लिए बना है! यह दूसरेको देख-देखकर जलनेके लिए बना है! तुम अपनी हथेलीपर

आग रखकर अपनेको जला रहे हो! अपने कलेजेमें आग रख-रखकर कलेजेको जला रहे हो? यही जीवनकी सार्थकता है!

देखो, दूसरी शिक्षा गीताकी—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
यं हि न व्यथन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ २.१४,१५

सुख और दुःख सम हो गया कि नहीं! अरे सुख आया बह गया, दुःख आया बह गया। कुछ टिकता है? अपने मनमें याद कर-करके तो टिकाते हैं। हम जानते हैं ऐसे लोगोंको, एक सज्जनके कोई सम्बन्धी मर गये। जब तक वे जिन्दा थे तबतक तो उनका फोटो रखते थे, जब वे मर गये तो उन्होंने कहा—भाई, जब खुद ही वे चले गये, अन्तर्धान हो गये, तो इनके फोटोको भी अन्तर्धान करो। देखो, आप लोगोंको बुरा लगेगा, पर उस आदमीकी एक अकल देखो! बोले—क्यों बाबा, रहने दो; याददाश्त बनी रहेगी। तो बोले—याद आकर रुलायेगी ही तो। तो बाबा, हमको रोनेका कोई शौक नहीं है, न याद करनेका शौक है! जब हमको मालूम है कि वे मिलेंगे ही नहीं। जब हमको मालूम है कि इस आँखसे नहीं दिखेंगे, इस शरीरसे नहीं मिलेंगे, तो इनकी याद कर-करके अपनेको जलाना क्यों? बोले—वे अन्तर्धान हुए, तो उनके फोटोको भी अन्तर्धान कर दो। ऐसे हो। पढ़ा लिखा समझदार आदमी था।

तो जो सुख अन्तर्धान हो गया, जो सुख चला गया, अब उसकी याद करोगे, तो हाय, हाय, आज वैसा सुख नहीं है, रुलायेगा न! *प्रियं त्वां रोत्स्यति।* तुम्हारी प्रिय वस्तु तुमको रुलायेगी।

अच्छा, जिसने तुमको दुःख दिया वह तो चला गया, लेकिन उसका दिया हुआ दुःख तुम लिखकर शीशेमें फ्रेम करके बड़े प्रेमसे उसका स्मारक अपने घरमें रखते हो। अरे घरमें नहीं रखते हो, कलेजेमें रखते हो और कहते हो कि हम बड़े बुद्धिमान हैं।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा।

क्या इस श्लोकमें यह बात नहीं है जो मैं बोल रहा हूँ—

आगमापायिनोऽनित्या स्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ २.१४

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ २.१५

सुख और दुःख जहाँ सम हो गये। अरे, बीती हुई बात सपनेका ख्याल है, उसको लेकर तुम अपनेको क्यों दुःखी कर रहे हो?

अच्छा, मान लो जनमरण होता है, धनहरण होता है। पहली चोटमें जितना दुःख लगता है सुननेपर, जाननेपर, क्या छह महीने बाद उतना ही रहता है? क्या छह बरस बाद उतना ही रहता है? क्या सोलह बरस बाद उतना ही रहता है? अरे बाबा, जब जा ही रहा है, दूरी जब बढ़ती ही जा रही है उसकी, तो बिलकुल दूर हो जाने दो न! यह गीताका सिद्धान्त क्या है? सुख और दुःखमें समता, गर्मी-सर्दीनें समता कि आज तो ठण्ड लग रही है। तो दुःखी किस बातसे हो रहे हैं? यह आजसे दो महीने पहले ऐसी गर्मी पड़ी थी और उस दिन ऐसा पसीना हुआ और ऐसी आग लगी—वर्णन कर रहे हैं, अरे, जैसे मालूम पड़ता था कि मैं तो जल गया और आज! कोट पहने हुए हैं और ठण्ड लग रही है और गर्मीकी याद कर करके मर रहे हैं। गर्मी लग रही है और ठण्डकी याद कर-करके मर रहे हैं। और कहते हैं हम बड़े अक्लमन्द हैं। जिसको अपना दुःख मिटानेकी अकल नहीं आती है, वह खाक अकलमंद है! तो,

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ १२.१८

यह गीताका दृष्टिकोण है। अच्छा देखो, बोले—महाराज, गर्मी-सर्दी ठीक है, सुख-दुःख ठीक है, जन्म-मृत्यु ठीक है। (मैंने तीन-चार बात आपको बता दी) लेकिन जब कोई अच्छा आदमी देखते हैं, तो तबीयत खुश हो जाती है और जब कोई बुरा आदमी देखते हैं, तो जायका ही बिगड़ जाता है मुँहका। हमारी आँख टेढ़ी हो जाती है। अरे, जिसको देखकर तुम्हारी आँख टेढ़ी होगी, तो उसका क्या बिगड़ेगा, चेहरा तो तुम्हारा ही बिगड़ेगा। अच्छा, तो गीता यह कहती है कि,

सुहृन्मित्रार्युदासीन - मध्यस्थ - द्वेष्य - बन्धुषु।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ६.९

दोस्त-दुश्मन दोनोंको देखकर तुम्हारी बुद्धि सम रहनी चाहिए। दुश्मन आया दुकानपर सौदा लेने, तो ऐसा महाराज, मुट्ठीसे दबाया पलड़ेको कि थोड़ा ही तौल दिया और दोस्त आया महाराज, तो ऐसा दबाया कि उसको ज्यादा तौल दिया। तो यह धर्मतुलाका तिरस्कार है या नहीं? तुम्हारे दिलमें एक धर्म तुला बैठी हुई है, एक धर्मका तराजू है तुम्हारे हृदयमें। तुम उसको अपने दोस्तकी ओर झुकने मत दो, अपने दुश्मनके साथ बेईमानी मत करो। बराबर अपने धर्मकी तुला बनी रहे।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।

बोले—हाँ, यह भी ठीक है महाराज! यह दोस्त-दुश्मन दोनोंमें अपने दिलके तराजूके पलड़े एक सरीखे और **साधुष्वपि च पापेषु**—अच्छे बुरेमें भी। लेकिन जब कोई अच्छा-बुरा काम हो जाता है तब? तो कहो गीताका सिद्धान्त उसमें भी बतायें।

इसीका नाम 'स्वयंप्रकाश भाष्य' है। स्वयं विमर्श बोलते हैं इसको। आप एक विषयको लीजिये और यह देखिये कि उस विषयपर गीता कहाँ-कहाँ, क्या-क्या बोलती है। आपका अनुसन्धान हो जायेगा, आपकी थीसिज बन जायेगी भला!

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १८.१०

जैसे आप रोटी बना रहे हैं और कभी जल गयी रोटी, तो तवेको उतारकर कमरेसे बाहर मत फेंकिये, आगमें पानी मत डालिये—न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म। अरे, एक रोटी जल गयी दूसरी ठीक बन जायेगी। कुशले नानुषज्जते—एक दिन बढ़िया पकौड़ी बन गयी, बोले—रोज-रोज पकौड़ी खायेंगे—ऐसा मत करिये भला! नहीं तो आपकी आदत ही खराब हो जायेगी। आपके मनकी आदत बिगड़ेगी। बोले—नहीं महाराज, यह तो ठीक है, लेकिन ब्राह्मण देखते हैं, तो हाथ जोड़ते हैं और चाण्डालको देखते हैं तो कहते हैं कि हट-हट! इसके बारेमें गीताकी क्या राय है? आपको मालूम है, क्या?

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ ५.१८

उसके बारेमें भी यही राय है कि गाय भी सामनेसे गुजर गयी और कुत्ता भी सामनेसे गुजर गया, ब्राह्मण भी सामनेसे गुजर गया और चाण्डाल भी सामनेसे गुजर गया, लेकिन आपके दिलके तराजूका पलड़ा किसीकी तरफ झुके नहीं। यह गीताका सिद्धान्त है। सार-सार आप यह समझ लो—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित्। १२.१९

तारीफ सुनकर फँस गये, निन्दा सुनकर दुश्मन बन गये। अरे, देखा है हमने भाई! कैसे देखा भाई? कि देखा हमने ये दोनों आदमी कमरेके भीतर बात कर रहे थे और हमने किवाड़ीके छेदमें कान लगाकर सुना। क्या सुना, कौन-सी ऐसी रहस्यमयी आवाज सुनी? कि वे हमारी निन्दा कर रहे थे। उसमें-से क्या लेकर आये? बोले—जलन लेके आये। भलेमानुष! वह तालेके छेदमें तुम कान न लगाते, वह अच्छा था कि वहाँ से जो आग उठाकर ले आये अपने लिए सो अच्छा? अरे, हमको एक जानकारी तो मिल गयी न! हाँ ऐसी जानकारी मिली जिससे अपना घर ही जल जाये? यह कोई बुद्धिमानीकी बात है?

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ ५.१९

इहैव तैर्जितः सर्गो—इसीका अर्थ है—**सर्व भूतस्थितं यो मां**—सबमें वही है। सबमें **मां** है। **भजत्येकत्वमास्थितः**—सबमें मैं हूँ। अब?

सर्वथा वर्तमानोऽपि। अरे, जिसको सबमें अपना आपा दिखता है, ऐसा बढ़िया अर्थ किया है। शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि—

न केनचित् कर्मणा अस्य मोक्षः प्रतिबध्यते।

व्याख्या नहीं, केवल इतना ही कहा, अब जब कोई हिन्दी करेगा, तो दूसरा शब्द बोलेगा। लेकिन जब संस्कृतका संस्कृतमें ही अर्थ करना होगा, तो वही शब्द बोलनेसे तो काम नहीं चलेगा न! कहते हैं **अस्य मोक्षः न प्रतिबध्यते**—इसके मोक्षमें कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

अब इसका अर्थ क्या है, आपको क्या सुनायें!

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥ १८.१७

यह 'अपि' जो है न, वह कहता है—***स सर्वथा वर्तमानो न भवति***

इति एतत् सत्यम्। वह सर्वथा वर्तमान नहीं होता है, अन्याय नहीं करता है। लेकिन महाराज, चाहे वह याज्ञवल्क्यकी तरह रहे; याज्ञवलक्यने क्या किया था ज्ञान होनेके बाद? संन्यास ग्रहण किया था। अपनी दोनों पत्नियोंसे कहा कि आओ बाँट दें! तो एकने तो धन-दौलत ले लिया महाराज, खुश हो गयी। और एकने कहा—नहीं, तुमको जो ज्ञान प्राप्त है वह ज्ञान हमको दो। ये याज्ञवल्क्य हैं।

वसिष्ठ पत्नीके साथ रहते हैं, पौरोहित्य करते हैं। दोनों ब्राह्मण हैं कि नहीं? दत्तात्रय अवधूत जौ हैं, वे किंभूत किमाकार रहते हैं। हाँ, राजा जनक और रामचन्द्र हैं महाराज, वे धर्मानुसार राज्य करते हैं और श्रीकृष्ण भोगकी पराकाष्ठा दिखाते हैं। तो बोलते हैं—

कृष्णो भोगी शुकःत्यागी नृपौ जनकराघवौ।
कर्मनिष्ठा वसिष्ठाद्याः सर्वे ते ज्ञानिनः समाः॥

कृष्ण भोगी हैं, शुक त्यागी हैं, जनक और रामचन्द्र राजा हैं, वसिष्ठादि कर्मनिष्ठ हैं, ये सब-के-सब ज्ञानी—कौन बड़ा, कौन छोटा? बोले—अरे भाई, ब्रह्म एक है तो इसमें बड़ा-छोटा कहाँ से आया?

योगिनो भोगिनो रागिणश्चे्रे
दृश्यते ज्ञानिनां नैकरूपा स्थितिः।

कोई भोगी है, कोई योगी है, कोई रागी है, क ़ त्यागी है। ज्ञानी सब एक तरह नहीं रहते। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज तो एक श्लोक बोला करते थे—

क्वचिच्छिष्टः क्वचिद् भ्रष्टः क्वचिद् भूतपिशाचवत्।
नाना रूपधरो योगीं विचचार महीतले॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि य योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

सर्वभूतस्थितका अर्थ है सर्वभूतादि स्थान। जैसे यह नीलिमा आकाशमें दिखती है, जैसे साँप रस्सीमें दिखता है, इसी तरहसे यह सारी दुनिया जिसमें दीख रही है, उस परमात्माको सर्वभूतस्थितानाम् एकत्वम् आस्थितः, वही मैं हूँ। माने मैं ही स्वयं [illegible] सर्वावभासक सर्वाधिष्ठान साक्षात् परब्रह्म परमात्मा

हूँ। ऐसे निश्चयमें जो स्थित हो गया है, **स सर्वथा वर्तमानोऽपि यथा ईश्वरः सृजति बिभर्ति संहरति,** जैसे ईश्वर सारी सृष्टि करता है, पालन करता है, संहार करता है, *सर्वथा वर्तमानोऽपि सृजन्नपि, बिभ्रदपि संहरन्नपि यथा ईश्वर एव, स्वरूप एव वर्तते।* जैसे सारी सृष्टिकी उत्पत्ति-स्थिति संहार करके भी ईश्वर ईश्वररूप ही है। वह सृष्टि करके स्रष्टा नहीं होता है। वह पालन करके पालक नहीं होता है, वह संहार करके संहारक नहीं होता है, वह ब्रह्मा-विष्णु-महेश नहीं होता है, अपने स्वरूपमें ही रहता है। ठीक इसी प्रकारसे यह योगी सृष्टि बना दे; ऐसे कहलो कि आश्रम बनादे, शिष्योंका पालन करदे और सब उजाड़ दे। न वह बनाता है, न पालता है, न उजाड़ता है, क्योंकि वह अपने स्वरूपमें **सर्वथा वर्तमानोऽपि।** वह ईश्वर नहीं, ब्रह्म है। वह ब्रह्मा-विष्णु-महेश नहीं है, ईश्वर है। वह ब्रह्मा-विष्णु-महेश नहीं, तदवच्छिन्न शुद्ध चैतन्य है। इसलिए **सर्वथा वर्तमानोऽपि।** अच्छा कहो—**सर्वथा वर्तमानोऽपि** *समाधिस्थो भवति।* सर्वथा वर्तमान होकर हर हालतमें वह समाधिमें ही है! बोले—नहीं, **स मयि वर्तते।** *वर्तते—व्यवहारं करोति।* वर्ततेका अर्थ यह हुआ। वर्ततेका अर्थ विद्यते नहीं है। विद्यमानताका बोधक यहाँ वर्तते क्रियापद नहीं है। *वर्तते व्यवहरति। वृति वर्तने।* व्यवहार करता हुआ भी वह परमात्मामें ही है। *यदा वर्तमानो न भवेत्, स्वस्थैव भवेत्। समाधिस्थ एव भवेत्। परि ता कथा।* यदि वह वर्तमान न हो, अवर्तमान हो? तब तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता उसके लिए, किसीके मनमें कोई शंका ही नहीं होती। शंका तो होती है व्यवहार देख करके न।

हमारे काशीमें एक महात्मा थे। स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती उनका नाम था। जिन दिनों स्वामी दयानन्दजीका बोलबाला था, उन दिनोंमें वे काशीमें मौजूद थे। बड़े भारी विद्वान् थे। अभी हमारे सामने कई विद्वान् ऐसे थे जिन्होंने उनसे पढ़ा था, जैसे प्रमथनाथ तर्कभूषण थे, उन्होंने उनसे विद्या पढ़ी थी। उनका मठ है दशाश्वमेध घाटपर, गंगा किनारे नींवा ही देनेमें बड़े-बड़े मकान बनानेका खर्च पड़ जाता है, बड़ा भारी मठ है। अब तो मठ ही है, दो-चार महात्मा रहते हैं। तो एक राजाने देखा कि स्वामी विशुद्धानन्दजी तो राजाकी तरह रहते हैं। इसको भी एक लोक-संग्रह बोलते हैं। विचित्र है।

इतना बड़ा मठ, सिंहासन लगा, छत्र-चँवर लगा, बोला—यह क्या लोकसंग्रह? बोले कि देख लो घर छोड़कर आये थे, मकान, पैसा, स्त्री, पुत्र, धन—सब छोड़कर आये थे, इनके साथ बँधो मत! यदि तुम्हारे साथ प्रारब्ध है तो सब छोड़के दोनों हाथ उठाकर जंगलमें जाओगे, तो वहाँ भी प्रारब्ध तुम्हारा पीछा कर लेगा। दीन-हीन होकर संसारी चीजोंके साथ बँधो मत, बड़ा भारी लोक-संग्रह है इसमें। जो लोग दीन हो रहे हैं पैसे के लिए, मकानके लिए, रिश्तेदार-नातेदार के लिए; जहाँ कोई रिश्तेदार नहीं होता है वहाँ भी रिश्तेदार मिल जाते हैं। रोटी लिये लिये ईश्वर घूमता है पीछे-पीछे, खाना पड़ेगा, लोग नहीं जानते हैं!

महाराज, राजाने पूछ लिया कि संन्यासीका लक्षण क्या है? तो उन्होंने समझ लिया कि यह हमारे ऊपर व्यंग्य कर रहा है, मतलब संन्यासीको ऐसे नहीं रहना चाहिए। आपको यह बात सुनाते हैं—संन्यासी भी दो तरहके होते हैं एक आश्रमी होते हैं और एक आश्रमातीत होते हैं। जिनको तत्त्वज्ञान हो जाता है वे आश्रमातीत हो जाते हैं। और, जो तत्त्वज्ञानके लिए त्याग करते हैं, तपस्या करते हैं, वैराग्य करते हैं, वे तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए करते हैं।

महात्माने कहा—अच्छा, ताना कसता है बच्चा, मनमें ऐसे सोचा। अरे यहाँ कोई है? शिष्योंने कहा—महाराज आज्ञा। बोले—देखो, इस राजाको दरवाजेसे बाहर निकाल दो और किवाड़ी बन्द कर दो! बनारसकी ठंड महाराज, सायंकाल, बाहर निकाल दिया गया, मठका फाटक बन्द और राजा साहब दोनों हाथ जोड़कर दरवाजेपर खड़े। सारी रात बीत गयी। दाँत कटकटायें और शरीर काँपे। जब सबेरे फाटक खुला तो सामने खड़े। तो महाराजने कहा कि बुलाओ। इसको जरा आग-वाग तपाओ। बोले—देख, इसका नाम है संन्यासी, जो तेरे सरीखे राजाको दो कौड़ीका भी नहीं समझता है। तुझे अपने पैसेका अभिमांन है! यह—

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।

वृन्दावनमें एक महात्मा रहते थे। आपको प्रारब्धकी बात सुनाते हैं। जमुना तटपर रहते थे। सबकुछ छोड़कर आये थे। बंगालके दीवान थे नवाबके जमानेमें, छोड़कर आये थे वृन्दावन। तीन लाख नाम रोज जपते थे और चार

बजे, गाँवमें जाकर मधुकरी माँगकर, तब खाते थे। एक दिन भगवान्‌ने उनसे कहा कि तुम यह रूखी-रूखी रोटी हमको भोग लगाते हो, हमारे मुँहमें गड़ती है। जरा नमक तो रख दिया करो, पानी आ जायेगा मुँहमें। तो महात्माने कहा अच्छा, तुम्हें तो दुनिया भरमें सब जगह भोग लगता है अच्छां-अच्छा; वैसे ये भगवान् होते हैं व्यक्तिगत। हमारे भगवान्‌को हम भोग नहीं लगायेंगे, तो भूखे ही रहेंगे भला! क्योंकि वे सम्पूर्ण लोकके कर्ता-भर्ता भगवान नहीं हैं, वे तो हमारे प्राइवेट भगवान् हैं न! हमारा अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य, हमारी यह अन्त:करणकी उपाधि द्वारा हमारा विषय हो रहा है। वह तो प्राइवेट है। हम न खिलाये तो न खायें, हम न सुलायें तो न सोयें। लेकिन महाराज, भक्तके मनमें दोनों बात, तुमको कहीं भोजनकी कमी है ? हमारी वासना होगी, इसलिए तुम बढ़िया खाना चाहते हो! नहीं चाहिए हमको! डाँट दिया भगवानको। और महाराज, एक बनियेकी जा रही थी नाव। उन दिनों जमुनाजीमें-से व्यापार होता था, वहीं डूबने लगी। अब वह चिल्लाया—हे भगवान्, हमारी नाव बच जाये तो इसमें जो नमक भरा है वह सारा ही दे देंगे। अब नाव बच गयी। और किनारेपर लाकर वह नमक-नमक! अब तो सिद्धि, अब तो बने मन्दिर, बने महल! महात्माने कहा कि बस! देखो, यह प्रारब्ध ही पीछा करता है, यह और कुछ नहीं है। महात्माने हाथ जोड़ लिया, बोले—हे भगवान्, जो तुमको बढ़िया-बढ़िया खिलाये उसके पास रहो। हमारा पिंड छोड़ो, हम तो जंगलमें रहेंगे, माँगेंगे और खायेंगे। सनातन गोस्वामी उनका नाम था। ऐसे निकल गये वे वहाँसे।

तो आपको यह बात सुनाते हैं कि **सर्वथा वर्तमानोऽपि**। न वर्ते तो बहुत बढ़िया। परन्तु चाहे वह कैसे रहे। उसके पीछे-पीछे भगवान् घूमते हैं और उसकी रक्षा करते हैं, उसका भरण-पोषण करते हैं। जिस समय मनुष्य अपनेको सम्पूर्ण परिच्छिन्नताओंसे, परिच्छेदोंसे मुक्त जान लेता है, उस समय परिच्छेदके नियन्ता और परिच्छेदाभावकी उपाधिसे विद्यमान जो चैतन्य ईश्वर है वह अपरिच्छिन्नकी सेवामें लग जाता है। यह बड़ा आश्चर्य है,

पीछे पीछे हरि फिरें कहत कबीर कबीर।

पीछे-पीछे भगवान् फिरते हैं और कबीर-कबीर बोलते हैं। संसारी

लोगों ! ऐसा नहीं समझना यह हमारी माया है—**स योगी मयि वर्तते।** वह कहाँ है ? कि उसका जो बर्ताव है सो सब भगवान्में है, तो बोले—भाई, अब लो, दो विभाग कर देते हैं। योगी दो तरहके, एक परमयोगी, एक अपर योगी। भला, यह क्या हुआ ? ये सब विभाग अज्ञानीकी दृष्टिमें होते हैं। ज्ञानकी दृष्टिसे कोई विभाग नहीं होता।

हमको याद है, सेठ जय दयालजी बोले-यदि ज्ञानी और अज्ञानीका आचार एक सरीखा ही रहेगा, तो दोनोंमें भेद क्या होगा ? अच्छा सत्संग होता था। सेठजीकी बुद्धि वेदान्तमें अच्छा प्रवेश करती थी। रामसुखदासजी, सेठजी मैंने कहा कि अच्छा सेठजी, यदि ज्ञान होनेपर ज्ञान और अज्ञानका भेद रहेगा, तो क्या ज्ञान हुआ ? यदि भेद बँट ही गया, ज्ञान अज्ञानका भेद बँट ही गया, तो ज्ञान हुआ ? ज्ञान तो वह होता है जहाँ भेद नहीं रहता और आप तो ज्ञानी-अज्ञानीका भेद बना रहे हैं। तो हँस गये, बोले—बिलकुल ठीक है। ऐसे। भेद नहीं बनता है। अज्ञानी भेद बनाता है, ज्ञानी पुरुष ज्ञानी-अज्ञानीका भेद नहीं बनाते।

एक दिन रातको श्रीउड़िया बाबाजी महाराज पधारे हाथरससे, बड़ी ठण्ड या वर्षाका दिन था, गृहस्थने देखा कि महाराज पधारे, कुछ खिलाया-पिलाया, बोला—महाराजश्री अब शयन कहाँ करेंगे ? इतने पवित्रात्मा महाराज, हमारे घरमें सोने-बैठने लायक कुछ नहीं। तो महाराज, उसीका पलंग, उसीका गद्दा, उसीकी रजाई, मौजसे जाकर अपने आप ही बैठ गये और ओढ़कर सो गये। उस गृहस्थकी दृष्टिमें उनके योग्य नहीं था, पर उनके लिए सृष्टिमें अयोग्य क्या है ? सब तो अपना स्वरूप है ! उनकी अपनी दृष्टि दूसरी है और गृहस्थकी दृष्टि दूसरी है।

तो आओ, अब आपको परमयोगीकी बात सुनायें। थोड़ी-सी सिद्धान्तकी बात भी आपको सुनाते हैं। सिद्धान्तकी बात यह है कि मोक्ष मानने वालोंमें तीन दल है—एक तो केवल ध्वंसको ही मोक्ष मानते हैं। देखो, हम एक नये ढंगसे आपको मोक्षवादियोंका व्यू बताते हैं। केवल टूटना ही मोक्ष है। तो चार्वाक् मानता है कि शरीरका टूटना मोक्ष है। जैन मानते हैं मनका टूटना मोक्ष है, वासनाका टूटना। बौद्ध मानते हैं संवृतिका टूटना मोक्ष

है। टूटना ही मोक्ष है। मिलता कुछ नहीं, बस टूट जाना ही मोक्ष है। तो चार्वाक् और बौद्ध मानते हैं कि टूट जानेपर, चार्वाक् मानता है कि और सारी सृष्टि रहती है बौद्ध भी मानता है कि रहती तो है, पर मालूम नहीं पड़ती है, क्योंकि वासना विशिष्ट विज्ञान नष्ट हो जाता है। जैनोंके महात्मा वीतराग हो जाते हैं। हमारे न्याय और वैशेषिक भी इक्कीस प्रकारके दुःखोंका ध्वंस-ही मोक्ष है—ऐसा मानते हैं, ध्वंस ही मोक्ष है। सांख्य और योग प्रकृति और प्राकृत बन्धनके विध्वंसको ही मोक्ष मानते हैं। पूर्व मीमांसक प्राकृत सम्बन्धके लयको ही मोक्ष मानते हैं। यह विध्वंस पार्टी है, सारी-की-सारी विध्वंसपार्टी है चार्वाक्, जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा। तो हमलोग यह कहते हैं, देखो, अपने जीवकी बात हम बोलते हैं। जो सतीर्थ्य हैं, हमारी पार्टीवाले जो हैं वे कहते हैं कि ये जो ध्वंसवादी हैं कि ध्वंस ही मोक्ष है—ये सब अवैदिक हैं। मोक्षमें कुछ मिलना भी चाहिए—यह वैदिक पार्टी है। *अमृतोऽश्नुते। अमृतो भवति। अमृतमश्नुते। स सर्वान्कामानाप्नोति ब्रह्मणा सह*, तो जितने शैव, शाक्त वैष्णव माने वेदान्त दर्शनकी व्याख्या करनेवाले जितनी पार्टी हैं, जो वेदान्त दर्शनको माने सो वैदिक हैं। आजकल तो महाराज, मनमाने ढंगसे वेदान्त मानते हैं न, चाहे किसीको भी वेदान्ती मान लें। हमारे जो उपनिषद्को नहीं मानता उसको हम वेदान्ती नहीं मानते। जो ब्रह्मसूत्रको नहीं मानता उसे वेदान्ती नहीं मानते। हम लोगोंके यहाँ तो वेदान्त माने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता—इसीका नाम वेदान्त है। तो जो इनके व्याख्याकार हैं शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव, प्रत्यभिज्ञावादी, ये सब-के-सब क्या बोलते हैं कि मिलता है। क्या मिलता है? कि परमेश्वरकी प्राप्ति होती है। बाकी दुनिया जो हो सो होय, उससे कोई मतलब नहीं, सायुज्य हो गया, भगवान्में मिल गये, हमको भगवान् मिल गया, और कोई हो-न-हो! अद्वैत वेदान्ती बोलते हैं दूसरे ढंगसे। वे कहते हैं कि सकल अनर्थकी निवृत्ति होकरके परमानन्द प्राप्ति मोक्षका स्वभाव है। मोक्षका स्वरूप केवल अनर्थकी निवृत्ति नहीं है, परमानन्दकी प्राप्ति भी है। वैसा क्यों बोलते हैं? कि यदि परमानन्दकी प्राप्ति न हो मोक्षमें तो कोई उसको चाहेगा ही नहीं। वह पुरुषार्थ ही नहीं होगा। तो विज्ञान वह होता है

जो स्वतन्त्र रूपसे जड़पदार्थका निरूपण करे और दर्शन वह होता है जो स्वतंत्र रूपसे चेतनका और परतन्त्र रूपसे जड़का निरूपण करे। चेतनकी प्रधानतासे जो निरूपण है वह दर्शन है और जड़की प्रधानतासे जो निरूपण है, उसका नाम विज्ञान है, साईंस है।

अब जरा पुरुषार्थकी ओर दृष्टि डालो! पुरुषार्थको भी हम दो विभागमें बाँट देते हैं—एक दृष्ट सुखके लिए हम वस्तुको चाहते हैं और एक अदृष्ट सुखके लिए चाहते हैं। तो दृष्ट सुख माने जिन्दगीमें जो सुख मिले, हमारे बेटा-नाती-पोतेको सुख मिले। उसका नाम है अर्थ। मकान, धरती, रुपया, हाथी, घोड़ा, मोटर, अर्थ भी एक पुरुषार्थ है, लोग इसको चाहते हैं। इसका दुःख इसी जीवनमें मिलता है। इसको बोलते हैं अर्थ। यह विभागकी एक नयी दिशा है और एक चाहते हैं कि मरनेके बाद भी हमको मिले जो अदृष्ट है, हमारी इन्द्रियोंको जो अनुभव नहीं हो रहा है, वह स्वर्गसुख भी हमको प्राप्त हो, वह वैकुण्ठसुख भी हमको मिले। तो वह कैसे मिलेगा? कि वह धर्मसे मिलेगा। तो देखो, अन्य इच्छाधीन इच्छा है सुखकी प्राप्ति और उसके लिए धर्मकी इच्छा और उसके लिए अर्थकी इच्छा। अर्थ हम क्यों चाहते हैं? कि सुख मिले। धर्म हम क्यों चाहते हैं? इसलिए कि सुख मिले, धन चाहते हैं कि जिंदगीमें सुख मिले और धर्म चाहते हैं कि अगली जिन्दगीमें सुख मिले।

अब देखो, सुखके हम दो विभाग और कर देते हैं—एक नित्य और एक अनित्य। तो जो कामनासे सुख प्राप्त होता है वह अनित्य है, वह काम पुरुषार्थ है। हम चाहते तो हैं सुख परन्तु अपनी इच्छाकी पूर्तिके द्वारा चाहते हैं। काम स्वतंत्र पुरुषार्थ नहीं है, पुरुषार्थ तो सुख है। लेकिन हम अपनी इच्छा पूरी हो उससे सुख चाहते हैं, जिसको काम पुरुषार्थ बोलते हैं। और यह अनित्य है। और, नित्य पुरुषार्थ क्या है? बोले—मोक्ष है। काम-सुख अनित्य पुरुषार्थ है और त्यागमूलक जो सुख है—*त्यागेनैकेऽमृतत्वमानसो,* वह नित्य सुख है। तो नित्य सुखरूप पुरुषार्थ है मोक्ष, अनित्य सुखरूप पुरुषार्थ है काम और अदृष्ट सुखरूप पुरुषार्थ है धर्म, और दृष्ट सुखरूप पुरुषार्थ है अर्थ। ये चार पुरुषार्थ इस प्रकारसे, यह पुरुषार्थोंका विभाग इस प्रकार बनता है। हम क्या चाहते हैं!

तो वैदिक दिशानिर्देश यह है। बल्कि एक दृष्टिसे हम यों बोलेंगे कि वेदान्तिक जो दिशा निर्देश है, वह मीमांसा, सांख्ययोग, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, जैन, चार्वाक, इनमें-से किसीमें नहीं है। अब केवल उपासकोंके साथ बात करना रह गया। तो वे कहते हैं—बस, हमारे भगवान् मिल जाते हैं, क्या छूटा, इसकी चिन्ता कौन करे?

चिन्ता करे बलाय हमारी जगती के जंजाल की।
बलिहारी बलिहारी बोलो गिरिधारी नंदलाल की॥

यह परम सुख-स्वरूप, जिसके हाथ-पाँव कभी स्थिर रहते ही नहीं, पाँव 'ताता थेई' बोल रहे हैं और हाथ कहीं बाँसुरीके छेदपर दौड़ रहे हैं, कहीं अँगुलीसे बुला रहे हैं इधर आना। इधर, *'कदम्ब तरे आ जइयो'*—कहीं बोल रहे हैं, कहीं यहाँ आ जाओ बोल रहे हैं। कभी चाहते तो हैं आओ और हाथ दिखाते हैं ऐसे कि मत आओ। हाथोंसे कभी इशारा करते हैं कि आ जाओ। तो यह भावाभिव्यक्ति ही तो है। जैसे हम मुँहसे बोलकर अपने दिलका भाव जाहिर करते हैं, वैसे नाचकर हाथ हिलाते हैं, आँख हिलाते हैं, ठुड्डी हिलाते हैं, तो सबका मतलब हाँ या नहीं होता है। असलमें नृत्यमें श्रृङ्गाररसके सिवाय दूसरी कोई उत्तम अभिव्यक्ति है ही नहीं। चौरासी आसन जैसे कामके होते हैं, ऐसे नृत्यके भी, श्रृङ्गारके भी चौरासी आसन होते हैं। हमने तो एक-एक देखा है भला! नृत्यकी जो चौरासी मुद्रा होती है, सबको मैंने गौरसे देखा है। और किसीको देखना हो कभी दक्षिणमें जाये, तो चिदम्बरके मन्दिरमें चौरासी नृत्यकी मुद्रा पत्थरमें खुदी हुइ दिखाई गयी है, वहाँ देख सकते हैं।

तो अब देखो, भक्त लोग कहते हैं—अपने इष्ट देवतासे मिल गये, जो दो नम्बरकी चीज थी वह बनी रहे, हम अपने इष्टदेवसे मिल गये। पर अद्वैत वेदान्तमें उससे भी विलक्षणता है। वे कहते हैं हम किसीसे मिलते-जुलते नहीं हैं, हमें जब अपने स्वरूपके अद्वैतका अनुभव होता है तब द्वैत बाधित हो जाता है। तो निल्य निवृत्त द्वैतकी निवृत्ति अविद्याकी निवृत्तिके द्वारा और नित्य प्राप्त अपनी अद्वितीयताका साक्षात्कार-सच्चिदानन्दघन, अविद्या निवृत्तिके द्वारा;

परन्तु इसमें त्याग-ही-त्याग नहीं है, मिलना भी है। और मिलना-ही-मिलना नहीं है, त्याग भी है। इसलिए उपनिषद्के त्यागात्मक अंशका और साक्षात्कारात्मक अंशका विद्याके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति, और अपने बन्धनका, दु:खका अज्ञानका, सर्वथा संहार और अपने अपरिच्छिन्न अद्वय ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार। तो अनर्थकी निवृत्ति होकर परमानन्दकी प्राप्ति—यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

अब और हम इसकी चर्चा करें! ज्ञान-विज्ञान पुरुषार्थका स्वरूप और इसमें औरोंकी अपेक्षा, सबकी अपेक्षा, विलक्षण वेदान्तका मोक्ष-स्वरूप!

अब एक आपको और मोक्षकी बात सुनाते हैं। देखो, जो भी मोक्ष माननेवाले हैं, वे विदेह मुक्तिरूप मोक्ष स्वीकार करते हैं कि जीवन्मुक्तिरूप मोक्ष भी स्वीकार करते हैं। तो हमारे जितने वैदिक हैं महाराज, अद्वैत-वेदान्तियोंको छोड़कर, वे कहते हैं कि जबतक शरीरमें साँस है तबतक वृत्ति बनाते रहो। इष्टाकार नहीं, तो राजा भरतकी जो दशा हुई थी, वही तुम्हारी हो जायेगी, हरिण होना पड़ेगा। अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि एक बार आत्माका ब्रह्मरूपसे साक्षात्कार होनेपर वृत्ति, वृत्तिका विषय और वृत्तिमान माने प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय तीनों बाधित हो जाते हैं, इसलिए फिर शरीरसे कुछ भी करनेकी जरूरत नहीं रहती। चाहे कुछ हो चाहे न हो, एक बार जिसका अज्ञान मिट गया, तो मिट गया!

: ३२ :

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥

अब देखो भाई, हमारा विषय तो हो गया कठिन, लेकिन अब सुनाते हैं व्यवहारकी बात—

आत्मौपम्येन सर्वत्र, योगी परमो मतः।

यह हमारी जीवन्मुक्ति है। यहाँ जीवन्मुक्त पुरुषको परमोयोगी कहा गया है। वासनाक्षय मनोनाशपूर्वक तत्त्वज्ञानमें स्थित होकर जो व्यवहार कर रहा है उसका नाम जीवन्मुक्त परमोयोगी है। वह क्या है?

'हे अर्जुन!' अब आप देखो, आपके साथ अर्जुन शब्द जरा फिट बैठता है कि नहीं? ये जो बाँके टेढ़े लोग होते हैं न, उनके साथ अर्जुन शब्द ठीक नहीं बैठता। अर्जुन माने जिसका स्वभाव ऋजु हो। सरल, भोला। जो छल-कपट न जानता हो, षड्यन्त्र न जानता हो, उसको अर्जुन बोलते हैं। यह करण, शल्य, शकुनि, अश्वत्थामा, दुर्योधन ये सारे-के-सारे षड्यन्त्री थे।

हमारे उत्तर प्रदेशमें सारे-के-सारे नहीं बोलते हैं, सब-के-सब बोलते हैं। एक बार नेहरूजी गये चंदौलीकी तरफ तो 'सारे-के-सारे' बोले! तो लोग कहें ये गाली क्यों देते हैं, 'सारे-के-सारे' क्यों बोलते हैं?

तो नारायण अब आप देखो, अर्जुन होना चाहिए। माने दो ही होता है, एक तो होता है सरल, यह सालका पेड़ जैसे सीधे ऊपरको जाता है वह बाँका-टेढ़ा नहीं होता है, सीधा—उसको अर्जुन बोलते हैं। दूसरा उसका अर्थ होता है 'अर्जन' धनार्जन, उपार्जन करनेवाला, जो ज्ञानका कमाऊ होये, जिज्ञासुको बोलते हैं 'अर्जुन'। तो आप देख लो कि आप जिज्ञासु और सरल चित्त हो कि नहीं। सरल चित्त मानें शुद्धान्तःकरण। यह तो हुआ अर्जुन ऋजु। और अर्जुन माने ज्ञानोपार्जनके लिए तत्पर-जिज्ञासु। सरलचित्त भी हो और जिज्ञासु भी हो। दोनों गुण आपके अन्दर हों, तो आप अर्जुन हैं।

अब आप देखिये कि आपके अन्दर क्या आना चाहिए। बोले—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

बोले—भाई, कैसे हम सबके साथ व्यवहार करें? बोले—**आत्मौपम्येन**—स्वयं उपमा, स्वयं उपमेय। आत्मा माने स्वयं, खुद। हमारे एक फकीर थे काशीमें, ईश्वरकृपासे हमको सब तरहके फकीरोंसे मिलनेका काम पड़ा है, मुसलमान फकीरसे मिले, अघोरी फकीरसे मिले। तो वे अघोरी फकीर थे। उनका नाम आनन्दबाबा था। यह हमारे सुमेर हैं कल्याणमें, ये उनके शिष्य हैं। उन्होंने अपने लड़केका नाम ही कुछ ऐसा आनन्दकुमार रखा। ये हमारे मित्र हैं बचपनके, तो ये राम सुमेर उनके शिष्य थे। और भी हमारे कई मित्र उनके शिष्य थे, उनके पास जाते थे और वे तो महाराज, बोतल-की-बोतल पीयें, और चढ़ा जायें, अघोरी बाबा थे। हमको कोई ग्लानि नहीं, घृणा नहीं। तो बोले—पंडितजी, बाबाजी! कि हाँ महाराज, हम जाते थे, कितनी देर उनके पास पत्थरकी बटियापर बैठते थे, चटाई बिछाकर। तो हमारा हाथ पकड़कर उसीपर बैठा लेते थे और बाबाजी बोलते थे। जितनी देर मैं उनके पास रहता था वे पीते-वीते नहीं थे और गाली-गलौज भी नहीं करते थे, नहीं तो खूब गाली देते थे लोगोंको। गाली सहना हो तो उनके पास जाओ। जिसको

गाली सहनेकी ताकत न हो वह उनके पास न जाये। लेकिन जितनी देर मैं उनके पास बैठता, न गाली देते न शराब पीते। दो काम नहीं करते थे। तो बोले—बाबाजी, आप जानते हो, खुदा माने क्या होता है? मैंने कहा—नहीं महाराज! तो बोले कि देखो, खुदा माने , वह तो खुद माने स्वयं और आ माने आये। स्वयंप्रकाशको खुदा कहते हैं। स्वयंभूको खुदा कहते हैं। स्वयंभू, स्वयंप्रकाश चिन्मात्र वस्तुको खुदा बोलते हैं। जो खुद आये सो खुदा। ऐसे वे बताते थे। तो यह जो स्वयंता है न, आपको सुखी करनेमें आपकी स्वयंता आपको बड़ी मदद करेगी।

एक आदमी था, वह दिन भरमें आठ बार व्यंग्य बोले। एक तो परिवार है हमारे सेठोंका, उसके परिवारमें महाराज, ऐसी रिवाज है कि बिना ताना मारे कोई बोलता ही नहीं। करोड़पति आदमी और वे आपसमें भी बात करते हैं, बाप-बेटा, पति-पत्नी, बहू-सास, बहू-ससुर, आधुनिक लोग हैं, विलायत जाते हैं। झट विमानपर चढ़े और विलायत पहुँच गये, उनके घरमें बातचीत करनेकी ऐसी रिवाज है कि एक दूसरेके ऊपर ताना मारते हुए, जरा दिलको छूते हुए बोलते हैं। सबकी आदत पड़ गयी है। तो महाराज, यह आदत तो बहुत बुरी है। इसमें तो आप जानते ही हैं *'जर-की-जर खाँसी।* जर माने बुखार, जर माने जड़, बुखारकी जड़ खाँसी। खाँसी आये तो समझना कि अब बुखारकी जड़ आ गयी। और, *'झगड़ेकी जड़ हाँसी।'* जब हँसी-मजाक आपसमें ज्यादा होने लगे, तो समझना कि अब यह झगड़ेकी ओर जायेगा। क्योंकि दूसरेके ऊपर ताना मारनेमें अच्छा लगता है, लेकिन अपने ऊपर जब कोई मारता है, तो तिलमिला जाते हैं। दूसरेका अपमान तो चाहे जितना कर दें, लेकिन स्वयंमें तो अपमान सहनेकी शक्ति होती नहीं। तो अगर अपनेको बचाना चाहते हो, तो दूसरेको महाराज, शर्बत पिलाओगे शर्बत मिलेगा, कड़वा पिलाओगे, कड़वा मिलेगा। वह तो एक हाथसे दो, एक हाथसे लो। यह तो दुनियाका नियम ही यह है। अगर तुम सम्मान चाहते हो, तो दूसरेका सन्मान करो।

तो **आत्मौपम्येन**—अगर आपको उपमा ढूढँनी हो, तो लोगोंके साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए। तुमको कोई कड़वा बोले, तो कैसा लगता है?

दुःख होता है न! और कोई प्रेमसे बोले तो सुख होता है न! कि देखो बेचारा कितना प्रेमसे बोलता है। तो तुमको प्रेमकी बात सुनकर सुख होता है और कोई कड़वी बात बोले, छल कपटकी बात सुनकर तुमको दुःख होता है, तुमको ईश्वरने सहज स्वभावसे बता दिया है कि कैसा व्यवहार करना चाहिए। यह तो तुमको ईश्वरने सिखा रखा है, हम क्या सिखायें? क्या सिखा रखा है कि जैसा तुमको अच्छा लगता है वैसा दूसरेको भी अच्छा लगेगा, जैसा तुमको बुरा लगता है, वैसा दूसरेको भी बुरा लगेगा। तो हे भगवान्! जब तुम हमेशा अपने लिए सुख चाहते हो, तो दूसरेके लिए सुख बोलो। किसीने पूछा कि भाई उनका बेटा आजकल कैसे है? कि हमसे क्या मतलब है, चाहे मरे चाहे जीये! तो उसने कहा—बाबा, अपने मुँहसे शुभ तो बोलो, ऐसे मत बोलो कि चाहे मरे चाहे जीये। तुम्हारे बेटेके लिए ऐसा कहेगा कोई तो कैसा लगेगा तुमको? तो हमेशा अपनी जीभ सम्हालकर बोलना, अपना हाथ सम्हालकर काम करना। देखो, हाथ-तो-हाथ ही है, हाथकी क्रियामें क्या फर्क है, ऐसे हाथ करो, तो आदमी खुश होता है, ऐसे करते हैं तो नाराज़ होता है। तो इतनी ही तो सावधानी है न! कहीं किसी विद्यालयमें मत जाओ, किसी योगीको गुरु मत बनाओ, किसी ज्ञानीको गुरु मत बनाओ, सदाचार सीखने मत जाओ। **आत्मौपम्येन.......**अपने आपको ही गुरु बनाकर सीख लो, **समं पश्यति योऽर्जुन सुखं वा यदि वा दुःखं**—सुखके बारेमें भी समान और दुःखके बारेमें भी समान। तुमको रोटी खानेको नहीं मिलती है तो कैसा लगता है? दूसरेको नहीं मिलती है, तो ऐसा लगता है भला। तुमको खानेको प्रेमसे मिलता है, तो कैसा लगता है? दूसरेको भी प्रेमसे मिलता है तब वैसा ही लगता है।

यह तुम समझो कि हम ईश्वरकी ओरसे यह अधिकार लेकर आये हैं, हम बड़े हैं, हम धनी हैं, हम विद्वान् हैं, हम बाप है, हम भाई हैं, हम महात्मा हैं, हमको कड़वा बोलनेका ईश्वरकी ओरसे अधिकार मिला हुआ है और बाकी किसीको नहीं है—ऐसा मत समझाना। अरे, एक दिन, दो दिन, चार दिन कोई नहीं मिलेगा। कभी-न-कभी कोई मिल जायेगा और तुम भी तिलमिला जाओगे, तुमको भी आगबबूला होकर खुद जलना पड़ेगा, अपने

आपको सम्हालो! **सुखं वा यदि वा दुःखं**—यह रहस्य योगीको, माने जीवन्मुक्ति पुरुषको ज्ञात है। बस यही तो देखो, सीखनेका है। और क्या सीखनेका है? वह बोलते हैं न, किसीने पूछा—आजकल तुम्हारे पतिदेव कहाँ हैं? उसको भी लोग शिष्ट मानते हैं, लेकिन कोई पूछे आजकल तेरा खसम कहाँ गया है! तो खसम माने भी पतिदेव ही होता है, लेकिन यह पूछनेपर आदमीको अच्छा नहीं लगेगा। तो मुँहसे बोलना चाहिए, अच्छा, किसी भी स्त्रीको कहो कि तुम हमारी माताजी हो, तो अच्छा मानेगी, जवान नहीं होगी तो अच्छा मानेगी। यह महाराज, हमारे एक महात्मा हैं उन्होंने एक लड़कीको एकबार कह दिया—माताजी! तो वह सिर हो गयी, बोली—हमको तुम माताजी बोलते हो! जय जगदम्ब! अच्छा माताजी कहोगे तो प्रसन्न होगी, लेकिन तुम कहो कि तुम हमारे बापकी मेहरारू हो, औरत हो, तो वह अच्छा मानेगी? तो यहीं बोलनेका शऊर है। यही काम करनेका शऊर है। जैसा तुमको अच्छा लगता है वैसा महाराज, दूसरोंके बारेमें; प्रेमसे खिलाना, प्रेमसे बोलना, प्रेमका व्यवहार करना, जैसे तुमको कोई जरूरत होती है और कोई दे दे, तो अच्छा लगता है, वैसे किसीको किसी चीज़की जरूरत हो उसका ज्यादा ध्यान रखो, तो वह जीवभरके लिए तुम्हारा सेवक हो जायेगा कि ये हमारा इतना ध्यान रखते हैं! तुम्हारे घरमें दो जने होंय, और एक गिलास दूध हो, तो ऐसे मत कहो आज हमही पीयेंगे, तुम मत पीओ। यह भी मत कहो कि आओ, आधा-आधा बाँट लें। ऐसे कहो कि आज तुम पी लो, हम दूसरे दिन पीयेंगे।

अच्छाजी, आपके घरमें दो साड़ी आ जाये एक बढ़िया, एक घटिया, तो आप अपनी देवरानी, जिठानी, ननदको यह मत कहो कि बढ़िया तो मैं लूँगी, क्योंकि मैं बहू हूँ या बड़ी हूँ और घटिया तुम लो। यह कहो कि बढ़िया तुम लो। तो देखो, तुम्हारे घरमें स्वर्ग उतर आता है, और जब तुम अपने लिए बढ़िया छाँटकर रख लोगे, तो तुम्हारे घरमें थोड़े दिनोंके बाद नरक आनेवाला है, इस बातका यह निशान है। जब अपने लिए बढ़िया, दूसरेके लिए घटिया, तब तुम नरकके पास जा रहे हो और जब तुम दूसरेके लिए बढ़िया निकालते हो और अपने लिए घटिया निकालते हो, तब तुम स्वर्गके मार्गमें जा रहे हो। तो

सीधा तो मार्ग है—*तेन गम्यताम्।* **सुखं वा यदि वा दुःखं समं पश्यति योऽर्जुन। आत्मौपम्येन सर्वत्र स योगी परमो मतः।**

अच्छा, श्रीकृष्णने योगी-योगी तो बहुत बताया—**योगी युञ्जीत सततं आत्मानं रहसि स्थितः। युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।** अनेक बार योगी-योगी शब्दका प्रयोग किया, पर यह महाराज, क्या कह दिया कि **स योगी परमो मतः।** वह परम योगी है। बोले—भाई, कोई परम योगी बताया तो कोई निर्विकल्प, निर्बीज समाधि होगी, असम्प्रज्ञात समाधि होगी तब उसका नाम परम योगी हुआ होगा! तो हे भगवान्! यह तो ढूँढ़े पर भी न यहाँ सम्प्रज्ञात समाधि है, न सबीज न निर्बीज, न सविकल्प, निर्विकल्प, यहाँ तो कोई समाधि नहीं है और नाम हो गया परमो योगी।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुखं स योगी परमो मतः॥

एक तो ऐसा योगी है यह कि अपनेको नहीं देख रहा है, दूसरेको देख रहा है, '**आत्मौपम्येन**', आत्मा तो यहाँ उपमा है, जैसे अपना सुख-दुःख देखता है। वैसे ही औरोंका भी सुख-दुःख देखता है। मानें अपना भी है और भी है। उपमा तो तभी बनेगी न! अच्छा '**सर्वत्र**' भी है, देश भी है काल भी है। '**सुखं वा यदि वा दुःखं समं पश्यति**' सुख और दुःख भी है। मन निर्विषय नहीं है। अच्छा सुख दुःखका भेद भी है, काँटा गड़ता है तो हमको दुःख होता है। दूसरेको काँटा गड़ेगा तो उसको भी दुःख होगा। यही हो गया न, **समं पश्यति**का अर्थ यहाँ यही है। हमको कोई चाँटा मारता है तो दुःख होता है, दूसरेको कोई चाँटा मारेगा तो उसको भी दुःख होगा। हमको कोई गाली देता है तो दुःख होता है, दूसरेको गाली देगा तो उसको भी दुःख होगा। तो **समं पश्यति योऽर्जुन** यहाँ तो कोई न प्राणायाम है, न प्रत्याहार है, न धारणा है, न ध्यान है, न समाधि है और सीधे-सीधे लोक-व्यवहार है। हम हैं, तुम हो। हमारा-तुम्हारा दोनोंका सुख-दुःख है। देश है, काल है और आँख बन्द नहीं है, खुली है। और योगीका नाम हो गया परमयोगी। वैदिक मार्ग इसीका नाम है। वेद व्यवहारसे विमुख नहीं करता है, व्यवहारमें ही परमात्माकी पहचान करा देता है। तो इस ने *यक्षन् क्रीडन् रममाणः।*

माने व्यवहारकी समग्र अवस्थामें जनकादिवत् राज्य करते हुए, रामादिवत् धर्म-मयार्दाका पालन करते हुए भीष्म पितामहकी तरह शरशय्यापर, अश्वपतिकी तरह राजा और उपदेश दोनों एक साथ। यह तो महाराज, ऐसा परमयोगी दिखाया कि जिसको ढूँढ़नेके लिए यदि यह कल्पना करो कि योगी ऐसा होता है, जिसकी साँस नहीं चलती है, आँख बन्द रहती है, हाथ-पाँव नहीं हिलते हैं, उसकी मनोवृत्तिमें उत्थान नहीं होता है, वह दूसरेको नहीं देखता है, तो ऐसे योगीको तो यहाँ योगी कहा ही नहीं गया। यहाँ तो ऐसे योगीको योगी कहा गया जो अपनी तरह दूसरेको देखता है, अपनी तरह दूसरेके सुख-दुःखको देखता है, अपने सुखसे उसके सुखकी समता देखता है, अपने दुःखसे उसके दुःखकी समता देखता है, दुःखसे बचता है, दूसरेको सुख देता है। और यह योगी कौन? बोले—परम।

आप देखो महाराज, यह है ऐसा योगी, परमयोगी है। माने आपलोग अपने घरमें रहते हुए, काम काज करते हुए, सबके साथ व्यवहार करते हुए, योगी नहीं, परमयोगी रह सकते हैं। यह योगपर क्रान्ति है। वह आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारवाला जो योग है, जिसमें क्रिया नहीं है, जिसमें श्वास नहीं है, जिसमें इन्द्रियवृत्ति नहीं है, जिसमें मनोवृत्ति नहीं है, उसका नाम योग है। तो भगवान्ने कहा—रहने दो उसका नाम योग, इसका नाम परमयोग है।

अब तो देखो भाई, हिमालयमें जानेकी तो जरूरत नहीं है, बन्द कमरेकी जरूरत नहीं है, गुफाकी जरूरत नहीं है, योगी माने पागल नहीं, योगी माने निकम्मा नहीं, योगी माने बेसुध नहीं, योगी माने कामधन्धेसे अलग नहीं, यहाँ तो लो सुख भी पहचानता है, दुःख भी पहचानता है, अपनेको भी पहचानता है, दूसरेको भी पहचानता है, देश-कालको भी पहचानता है, सारा व्यवहार कर रहा है और योगी है परम। असलमें यही योग भविष्यमें टिकेगा, दूसरे जो ख्याली योग हैं वे नहीं टिकेंगे। यही परम वैज्ञानिक है, व्यावहारिक है, सबके लिए उपयोगी है। अरे भाई, बस इतना ही ख्याल करो कि अगर कड़वा कोई तुमसे बोलता है तो तुम मीठा बोलो, एक योग तो यह हो गया। तुम्हारी चीज कोई ले लेता है, तो तुमको दुःख होता है, तो तुम दूसरेकी चीज मत लो, इसीका नाम तो योग है। हमारे महात्मा लोग बड़ा बढ़िया योग बताते हैं।

अब आओ, एक दूसरी बात तुमको सुनाते हैं। सब जगह, सब तरहके लोग होते हैं। तो देखना यह है कि लक्ष्य तुम्हारा भीतर है कि बाहर है! हे साधकों! यदि तुम्हें ब्याह करनेकी दृढ़ वासना है और फिर क्या किया कि बाँधकर आसन, करके प्राणायाम और प्रत्याहार करके इन्द्रियोंका तथा मनोवृत्तिको रोककर बैठ गये और करना पड़े ब्याह, कमाना है रुपया, बनाना है मकान, बैठना है ऊँची कुर्सीपर। तुम्हारे जीवनका लक्ष्य तो है बाहर और आँख बन्द करके, पाँव बाँधकर, हाथ बाँधकर बैठते हो; तो लक्ष्य है उधर, बैठते हो इधर, तो यह जो तुम्हारे मनमें लक्ष्यकी प्राप्तिकी वासना है, वह तुम्हारे मनको, इन्द्रियोंको, शरीरको फाड़कर निकल जायेगी, तुम्हारे दिमागको खराब कर, दिलको बिगाड़कर वह तुमको बाहर ले जायेगी। यदि तुम्हारा लक्ष्य स्वयं अपना स्व है या अन्तःकरणका नियन्ता परमात्मा है या अन्तःकरणाभावावच्छिन्न चैतन्य है, अपना आपा ही है, यदि उसकी प्राप्ति तुम्हारा लक्ष्य है, तब तो तुमको अपने मनको अपने आपमें रखनेमें किसी प्रकारकी कठिनाई आयेगी नहीं। तो मन रोकनेमें पागल वे लोग होते हैं, जिनका लक्ष्य होता है बाहर और मनको रोकते हैं भीतर। और जिनका मन-चीता प्यारा है, अपनी प्रियता भीतर ही है, उनका तो रोकनेसे मन निर्मल होता है, प्रसन्न होता है कि हम अपने प्यारेके पास पहुँच गये। यह देखो, आपको योगका सार बताते हैं। यही बात आगे आनेवाली है।

अच्छा, अब देखो वेदान्तकी बात। जो लोग इतनेसे खुश हो जाते हैं कि हमारी आत्मा तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, मरेंगे तब भी मुक्त है, जिन्दा हैं तब भी मुक्त है। अब देह-मन-इन्द्रिय चाहे जैसे बरतें, उनके बर्तावसे हमारा कोई मतलब नहीं है माने हमारी जो आत्मा है वह नित्य शुद्ध- बुद्ध-मुक्त, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न परमार्थ ब्रह्म स्वरूप है। मैं ही ब्रह्म स्वरूप हूँ और मेरे सिवाय दूसरा जो कुछ है सो वस्तुतः है नहीं। यह निश्चय हो जानेके बाद जो देह इन्द्रिय मनको छोड़ देते हैं उनकी स्थिति दूसरी है और जो चाहते हैं कि यह ज्ञान होनेपर भी हमारा मन तदेकाकार रहे। निराकार नहीं, तदेकाकार। यह आप समझ लेना, जो अज्ञानका आवरण है, उसको भंग करनेमें शान्ति या अभावात्मक स्थिति समर्थ नहीं है, उसके लिए तो जो अज्ञात पदार्थ है, उसका

ज्ञान जब बुद्धिमें आयेगा तब वह अज्ञानको दूर करेगा। इसलिए बुद्ध्यारूढ़ जो ब्रह्म है, चेतन वह अज्ञानके आवरणका निवर्तक है, केवल जो वृत्तिकी अभाव दशा है वह आवरण-भञ्जक नहीं है, क्योंकि अभाव किसीका निवर्तक नहीं होता। घटाभाव घटको फोड़ता नहीं। तो अब देखो कि क्या हुआ, वेदान्त आवरण-भंग करनेके लिए तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्तिकी अपेक्षा करता है। यही वेदान्तकी जरूरत है।

अच्छा, अब दूसरी बात भी, कि भाई ज्ञान तो हो गया, पर ये मनीराम कहाँ जाते हैं? तो तदेकाकारतया, कोई-कोई चाहते हैं कि भाई मनोनाश हो जाये। तो मनोनाशका अर्थ यह नहीं होता है कि कोई पत्थर हो गया, कि कोई पहाड़ हो गया, मनोनाशका अर्थ यही होता है कि ब्रह्मातिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है—यह जो निश्चय हुआ, इस निश्चयके कारण कुछ अब्रह्म है यह बात, यह विचार, यह संकल्प, यह निश्चय कि ब्रह्मातिरिक्त कुछ है, उसके मनमें नहीं आयेगा।

देखो, सन् इक्कीसमें मैं था कनखलमें। और स्वामी शंकरानन्दजी महाराजने कहा कि नारायण 'मैं जीव हूँ' यह कल्पना ही नहीं करना। मैं ब्रह्म हूँ मैं ब्रह्म हूँ—यह दोहरानेकी जरूरत नहीं है। परन्तु तुम जीव नहीं हो, यह बात बिलकुल निश्चित है। और इसको भी दोहराना नहीं है। दोहरानेका तो बोझ होता है, मिटानेका बोझ होता है, करनेका बोझ, मिटानेका बोझ, दोहरानेका बोझ, कोई बोझ नहीं है।

अब आपको एक बात सुनाते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञ पुरुषको यह संसार मिथ्या है, यह प्रतीति मात्र है। यह सब दोहरानेकी जरूरत नहीं होती, लेकिन आत्मदेव ही सत्य हैं, इसलिए मेरे सिवाय दूसरा कोई सत्य है—यह भ्रम उसको कभी नहीं होता है। न नरकका, न स्वर्गका, न मर्त्यलोकका, न पातालका, अपने सिवाय दूसरी कोई वस्तु है यह भ्रम नहीं होता है। तो मनोनाशका अर्थ क्या होता है—दूसरी कोई चीज सच्ची है, इस कल्पनाका उदय न होना, बस; और सबका प्रतीत होते रहना। मन भी अपनेसे जुदा नहीं है और प्रपञ्च भी अपनेसे जुदा नहीं है।

अब वासनाक्षयका क्या अर्थ होता है? आँख बन्द करनेका नाम

समाधि नहीं है योग नहीं है, ब्रह्म नहीं है। अच्छाजी, तो अब वासना-क्षयका अर्थ क्या है? यह ऐसा वेदान्तके ग्रन्थोंमें, खासकर योगवासिष्ठमें और जीवन्मुक्ति-विवेकमें ऐसा प्रसंग आता है। वासनाक्षयका अर्थ क्या है, कि वैसे तो नहीं मालूम पड़ता कि कोई शत्रु है, कि मित्र है, मनमें यह भी नहीं आता कि दूसरा कुछ सत्य है, लेकिन जब कोई प्रबल निमित्त सामने उपस्थित होता है तब थोड़ी देरके लिए दूसरी वृत्तियोंका उदय भी हो जाता है। तो बोले—देखो, भाई! अभी यह संस्कार है, वासना है, कोई जड़ टिकी हुई है, तब उठते हैं। इनको मिटा दो। अब आगे जो प्रसंग चल रहा है। देखो, यह योगी, परम योगी तो व्यवहारमें बैठा है, न किसीसे राग है, न रोष है, मस्ताना है।

अब इसके सम्बन्धमें अर्जुनका यह प्रश्न आता है कि हमारा मन टिकता नहीं है, तो हमको क्या करना चाहिए!

तो देखो, वासनाक्षयसे मनोनाश होता है, मनोनाशसे तत्त्वज्ञान होता है, यह एक क्रम है और तत्त्वज्ञान होनेपर मनोनाश होता है और मनोनाशसे वासनाक्षय होता है, वह दूसरा क्रम है। और पहले वासनाक्षय मनोनाश होकर तत्त्वज्ञान होता है, यह तीसरा क्रम है। ये तीनों क्रम जीवन्मुक्ति-विवेकमें स्वीकार किये हुए हैं। अब इस प्रसंगको छोड़कर जो प्रश्न उठाया सो आपको सुनाते हैं।

: ३३ :

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥

अर्जुनने प्रश्न किया—

प्रश्न करनेमें मूल बात यह है कि अर्जुन होना चाहिए, सीधे-सादे; जो अपने दिलमें सवाल हो सो करना चाहिए, छल-कपट रखकर प्रश्न नहीं करना चाहिए। इसीलिए प्रश्नकर्त्ता अर्जुन है। अभी मैं काशी गया था, तो एक दिन एक पण्डित आये। अब उन्होंने कहा कि स्वामीजी, यह श्लोक हमको नहीं लगता है, आप इसका अर्थ बता दीजिये। तो उन्होंने जब श्लोक बोला, तो मैंने उसको कहा—कि यह श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजका तत्त्वदीप निबन्धका श्लोक है और दूसरे स्कन्धके प्रकरणमें है—*'अनित्यजननं नित्य परिच्छिन्ने समागमः'* यही श्लोक है, आओ हम लगवा देते हैं। तब वह हँसने लगा, बोला—अब यह लगवानेकी जरूरत नहीं है। जो निबन्धमें आपने उसको पढ़ा है, जब आपको इसका सब अता-पता मालूम है, वल्लभाचार्यजीका है यह भी मालूम है, तो अब अर्थ बतानेकी जरूरत नहीं है। माने वह बिलकुल परीक्षा लेनेके लिए ही पूछनेके लिए आया था। उसके मनमें उसकी जानकारी प्राप्त करनेकी कोई इच्छा नहीं थी। पण्डित था काशीका। तो इस तरहसे साधुओंके

पास परीक्षा लेनेके लिए प्रश्न नहीं करना चाहिए। ***मोहि कपट छल छिद्र न भावा।*** सरल चित्तसे अपने हृदयमें कोई प्रश्न होता है, तो वह पूछना चाहिए। तुम्हारे जीवनमें कोई कठिनाई हो, तो उसको पूछकर मदद ले सकते हैं। अच्छा तो इसीसे है अर्जुन प्रश्नकर्त्ता और प्रश्न क्या करता है कि—**योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन** कृष्णने जो कहा सो बात अर्जुन समझ गया कि नहीं, पहली बात यह है। तो, इसका उत्तर है कि अर्जुन बिलकुल ठीक- ठीक समझ गया—**यः अयं परमो योगः। अयं**का अर्थ **परमः** है। यह जो तुमने परमयोग हमको बताया है। भाई, तुमने हमारे परमयोगको समझा कि नहीं? तुम्हारे मनमें कोई योगकी परिभाषा हो, ***योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः***, ऐसा, तथा ***भगवतः योगः सायुज्यम्***। पता नहीं तुम योग माने क्या समझते हो। इसीसे असलमें आदमी बताता है अपने मनकी बात और सुननेवाला समझता है अपने मनकी बात। यदि सामनेवाला क्या बोल रहा है इसको ठीक- ठीक समझनेकी कोशिश नहीं करोगे, तो तुम्हारे मनमें जो कल्पना है वही तुम सामनेवालेपर डाल दोगे। इसलिए उसकी बात समझनेकी कोशिश करो। तो अर्जुनने कहा हम समझ गये! क्या समझ गये? कि **साम्येन योगः प्रोक्तः**। आपने कोई सविकल्प, निर्विकल्प, सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात, सबीज, निर्बीज समाधिरूप योग नहीं कहा है, **साम्येन योगः प्रोक्तः** समतासे आपने योगका वर्णन किया है। समताका अर्थ यही है कि जैसे देखो, तुम्हारे सामने दो आम आये, एक जरा जवानीमें है और एक जरा उतर गया है, एकका बुढ़ापा शुरू हो गया है। तो तुम अपने लिए कौन-सा पसन्द करते हो? कि भाई जो जवानीमें है, जिसका रस अभी बना हुआ है, उसको चाहते हो, लेकिन जो दूसरा लेनेवाला है वह भी तो ऐसा ही चाहता होगा न! उसके मनमें भी तो यही होगा कि जो बढ़िया आम है सो हमको मिले। तो अब यदि तुम बढ़िया लेते हो, तो उसका मन तोड़ते हो और यदि तुम जान-बूझकर बढ़िया न लो कि भाई हमारी तरह उसके मनमें भी इच्छा है, उसको दे दो। तो यह क्या हो गया? इसका नाम योग हो गया। भाई; हमारी तरह उसकी भी इच्छा होगी, तो वह तो नासमझ है और हम समझदार हैं, तो उसकी इच्छा पूरी होने देना चाहिए। देखो, इसीका नाम हुआ परमयोग, इसीका नाम हुआ साम्ययोग। अपनी इच्छाके समान ही तुमने उसकी इच्छाको

समझ लिया। इसीका नाम हुआ साम्ययोग। और यदि तुम कहो कि देखो, हमको बढ़िया चाहिए, हम तुमको बढ़िया नहीं देंगे और वह कहेगा कि हमको बढ़िया चाहिए तुमको बढ़िया नहीं देंगे, तो तुम दोनोंमें लड़ाई हो जायेगी। तब योग नहीं होगा। तब तो युद्ध योग हो जायेगा, वैमनस्य योग हो जायेगा। तो अर्जुन भगवान्‌की बात ठीक-ठीक समझ गया, यहाँ समताका योग बताया गया **समत्वं योग उच्यते**। अपने जीवनमें समताका रहना, *इधर यों भी वाह-वाह है, इधर यों भी वाह-वाह है,* बहुत बड़ा योग है।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते। योगः कर्मसु कौशलम्।

योगकी परिभाषा क्या है, भला मिलाओ योग दर्शनसे। बुद्धिमत्तासे काम करना, कौशलसे काम करना, कौशलसे रोटी बनाना, परन्तु रोटी भी न जले और हाथ भी न जले और ज्यादा कोयला भी खर्च न हो, ज्यादा गैस भी खर्च न हो, तवा भी न जले, हाथ भी न जले और रोटी बिलकुल ठीक-ठीक पके। यह क्या है? बोले—योग है। यदि तुम्हारे मनमें योग नहीं होगा, याद करोगे अपने यारकी और बनाओगे रोटी, तो रोटी जल जायेगी। जल्दी-जल्दी करके उतार लोगे तो कच्ची उतर आयेगी। बेलते समय अगर मनमें ख्याल नहीं होगा, तो बीचकी मोटी हो जायेगी किनारेकी पतली हो जायेगी, किनारेकी मोटी हो जायेगी, बीचकी पतली हो जायेगी। महाराज, गोल-गोल होनेकी जगह षट्‌कोणी हो जायेगी, इधर गयी, उधर गयी। इसीका नाम योग है कि जो काम तुम करते हो वह बिलकुल **योगः कर्मसु कौशलम्**। यह तो तुम्हारे घरमें सिद्ध होनेवाला योग है कि महाराज आज तो सागमें दो बार नमक डाल दिया, आज तो नमक डालना ही भूल गया।

एक देवीजी थीं वे बना रही थीं रसोईं, तो दाल चढ़ाया उन्होंने। दालके लिए बटलोही चढ़ायी, पानी डाल दिया उसमें। उसके बाद उसमें हल्दी डाली, नमक डाला, मसाला डाला, छौंक लगाया, सब किया। अब जब परसकर ले आयी श्रीमानके सामने, तो श्रीमानने कहा, भाई यह क्या बात है, यह कैसी दाल है, स्वाद तो बहुत बढ़िया है, इसमें नमक, मसाला, घी तो है, पर इसमें दाल तो है ही नहीं। तो बोलीं अरे हे राम, हम दाल डालना, तो भूल ही गयीं। तो यह जो अन्तमें बोलना पड़ता है न, कि हे राम! दाल डालना तो भूल गयी,

यह तुम्हारे योगकी कमी है। अपने जीवनमें प्रत्येक क्रियामें सावधान रहना, इसीका नाम योग है।

तो अब जाकर पूछो कि पतञ्जलिजी महाराज, यह योग है ? तो कहेंगे नहीं जी, चित्तवृत्ति-निरोध करके बैठो, योगकी परिभाषा ही बना दी। यह कौन-सा योग है ? तो यह निरन्तर योग है, सतत योग है, सावधानीका योग है। और, तुम ऐसा बर्ताव, सबसे बर्ताव करते समय ऐसा योग करोगे, तो तुम सुखी रहोगे, दूसरा सुखी रहेगा! बोलनेमें सावधान, पाँव रखनेमें सावधान! देखो, हमारे सिरमें कई लोग चन्दन लगाते हैं, तो हाथसे तो चन्दन लगाते हैं सिरमें और उनका पाँव लगता है पाँवमें, तो वह योग नहीं हुआ। सिरमें चन्दन लगाया और आँखमें पड़ गया, गलेमें माला पहनायी और उसमें जो सफेद सफेद होत है वह आँखमें लग गया, नाक कट गयी, नाक ही ऊपर हो गयी, मुँह ही में घुस गया। तो असलमें पूजा फूल-मालासे नहीं होती, पूजा चन्दनसे नहीं होती, पूज तो तुम्हारी सावधानीसे होती है। और यह जो सावधानी यह जो जागर्या है, इसीको देव कहते हैं अनिमिष-पलक न झपके। कल मैं कौशीतकी ब्राह्मणका पर्यालोचन पढ़ रहा था, उसमें महाराज, वेदके कोई दस-पन्द्रह मन्त्र, उद्धृत करके ऋग्वेदके, यजुर्वेदके, ब्राह्मणोंके यह बात बतायी थी कि यह जो निरन्तर जागर्याकी दशा है !जागरूकता, यह बहुत बड़ा योग है। सजग रहो, जागरूक रहो, मनकी पलक न झपकने पाये, बुद्धिमें नींद न आये। बस बस, इसका नाम योग है ऐसा। तो **साम्येन**, व्यवहारका स्वर्ग यही है कि अगर तुम चाहते हो कि सासजी हमको बहुरानी कहकर पुकारें, तो तुम भी तो सासजी बोलना सीखो। डोकरी कहके तुम पुकारो, तो वह पुकारेंगी छोकरी, और तुम करो माताजी, तो वह बोलेगी बहुजी। यह तो हमारी बेटी है। अरे बाबा, यह तो एक हाथ दो, एक हाथ लो—**साम्येन**।

अच्छा तो बोले—कृष्ण! तुमने **साम्येन** योगकी शिक्षा दी, सबके प्रति साम्य। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकामें प्रवेश कर रहे हैं—***यथा विद्ध्युपसंगम्य सर्वेषां मानमादधे***—यथा विधि सबसे मिले और सबका सम्मान करते हैं। यह नहीं कि सीधे रुक्मणी के घरमें घुस गये, पहले देवकी-वसुदेवके घरमें गये। पागलपना तो यही है न, कि माँ-बाप भूल गये, दादा-दादी भूल गये। तो यह

नहीं—***सर्वेषां मानमादधे***—सबका सम्मान करते हैं। तो कैसे करते हैं? कि ***प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः। आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः।*** कैसे मिलते हैं? कि किसीको सिर झुकाते हैं—प्रह्व। किसीको अभिवादन, बोलते हैं नमस्कार। आश्लेष—किसीको हृदयसे लगाते हैं। करस्पर्श—किसीसे हाथ मिलाते हैं।

आजकलके ऐतिहासिक लोग तो भागवतसे पहलेका मानते हैं वाल्मीकि रामायणको। हमलोग तो ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार नहीं करते, वस्तु-स्थितिकी पद्धति से विचार करते हैं। हम कालवादी, देशवादी नहीं हैं, हम वस्तुवादी हैं भला! इसीसे हमको परमार्थ तत्त्वका अनुभव होता है और जो लोग कालवादी हैं, उनका तो धर्म बदलता रहेगा। देशवादीका धर्म बदलता रहेगा, जिस देशमें जायेगा वैसा होगा। हम तो वस्तुवादी हैं और सो भी परमार्थ वस्तुवादी। राम और सुग्रीवका जहाँ मिलन है वहाँ राम कहते हैं—सुग्रीव हमारे हाथसे हाथ मिलाओ, यह हमारी मैत्रीका प्रतीक है, आओ, हम दोनों आपसमें हाथ मिलायें और मैत्रीके सूत्रमें बँध जायें, यह बात वाल्मीकि रामायणके किष्किन्धा काण्डमें है—करस्पर्श। किसीकी ओर मुस्कुराकर देख लिया और किसीसे पूछ लिया कि तुमको कोई जरूरत है? कोई आवश्यकता है तुमको? और आश्वासन कोरा नहीं दिया, वह वस्तु उसको दी। भेज दिया तुरन्त, आर्डर करते गये कि भेजो इसको-इसको

तो जो मनुष्य अपने व्यवहारमें सावधान नहीं है, वह अपनी भी बिगाड़े, दूसरेकी भी बिगाड़े। तो साम्येन, यह योग है।

अर्जुनने कहा—कृष्ण, ऐसा योग तुम कर लेते हो, यह बात तो मैं मानता हूँ, कैसे? कि मधुसूदन, तुम मधुसूदन जो हो। मधुसूदनका अर्थ यह होता है, ***'सहचरिता सहचरितयो सहचरितस्य यो जनः।' प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति***—सहचरित न्याय है, एकके ग्रहणसे दूसरेका भी ग्रहण हो जाता है। तो मधु और कैटभ नामके दो असुर थे, मधु माने राग और कैटभ माने द्वेष। ये पैदा कहाँसे हुए थे, यह आपको मालूम है? दुर्गा पाठ कभी आप लोग पढ़ते-सुनते होंगे—

विष्णुकर्णमलोद्भूतौ हन्तुं ब्रह्माणमुद्यतौ।

ये कानकी मैल हैं। जो राग-द्वेष होता है, दुनियामें, यह आँखसे देखकर ज्यादा नहीं होता है, क्योंकि तुम्हारे सामने तुम्हारा नुकसान बहुत कम लोग करते होंगे। आपने कितने लोगोंको व्यभिचार करते देखा है? कितने लोगोंको सेंधमें घुसकर चोरी करते देखा है? *कर्णमलोद्भूतौ*—ये कानकी मैल हैं। दूसरे लोग आकर महाराज, ऐसी कानमें काना-फूसी करते हैं, देख लेना कि वह अमृत डाल रहा है कि जहर! ये राग-द्वेष ज्यादा करके कानके मैल हैं। यह बात दुर्गापाठमें लिखी है और ये काम क्या करते हैं? कि *'हन्तुं ब्राह्मण-मुद्यतौ'*—हमारे अन्तःकरणका ही सत्यानास करनेके लिए उद्यत हो जाते हैं। इससे लड़ता कौन है? कि विष्णु। विष्णु कौन? कि जिसका व्यापक दृष्टिकोण है। यह भी ठीक है, यह भी ठीक है, व्यापक दृष्टिकोण ही राग-द्वेषसे युद्ध कर सकता है। परन्तु मरें नहीं महाराज! तो एक दिन महामायाने ऐसी प्रेरणा की और उन्होंने विष्णुसे कहा कि तुम अकेले, हम दो, तुम वर माँग लो! विष्णुने कहा—तुम दोनों हमारे हाथसे मर जाओ। अच्छा, हम लोगोंको वहाँ मारो जहाँ धरतीपर पानी न हो।

जहाँ रस न हो। जहाँ रसकी वृत्ति न हो, वैराग्य जहाँ होगा वहाँ राग-द्वेष मरेंगे। विषय-वैरस्य ही राग-द्वेषकी निवृत्तिका उपाय है। तो विष्णु-भगवानने क्या किया कि दोनोंको घुटनेपर डालकर मार दिया। न धरती पर, न आसमान में, सूखी जगहपर, राग-द्वेषरहित स्थानंपर।

अच्छा, अब यह देखो, आपको यह सुनाते हैं। तो **मधुसूदन**—मधुकैटभारि हो, तुमने राग-द्वेषको मिटा दिया है। इसलिए तुम तो समताका बर्ताव सबके साथ कर सकते हो, लेकिन हम तो नहीं कर सकते।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।

यह जो तुम साम्ययोग बताते हो कि सबसे बराबर व्यवहार करो। बराबर व्यवहारका अर्थ यह नहीं है कि गधेको मालपूआ खिलाओ और आदमीको भुस खिलाओ, ऐसा नहीं। एकबार दो महात्मा कहीं गंगा स्नान करने गये, तो एक महात्मा बैठा किनारेपर और एक गया गंगाजीमें स्नान करने। एक सेठ आया, बोला—महाराज, ये महात्मा जो गंगा-स्नान कर रहे हैं, कैसे हैं? बोला कि यह महात्मा है, कि बैल है। अच्छा! तो जब वे स्नान करके आगये तो वे

चले गये स्नान करने। तो जो पहले स्नान कर रहे थे न, उनसे पूछा कि महाराज! वे महात्मा कैसे? तो बोलें कि यह महात्मा है कि ऊँट है? बोले—बस, बस। दोनोंसे कह दिया कि हमारे घर भोजन करने पधारो। तो जब पधारे, तो एकके आगे तो खली और भूसा और दूसरेके आगे नीमकी पत्ती। बोले—यह क्या वाहियात करता है रे? बोले—आप लोग तो महात्मा हैं, आपका स्वरूप हम लोग क्या समझें, उनका स्वरूप आप जानते हैं, आपका स्वरूप ये जानते हैं। इन्होंने आपको बैल बताया, आपने इनको ऊँट बताया, तो जब आपको भोजन कराना है, तो जैसा आपका स्वरूप है वैसा ही भोजन करना चाहिए न! तो ऐसा नहीं, साम्ययोग ऐसा नहीं करना! राग-द्वेषरहित होकर। क्यों? बोले—**एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्**। मनस्चञ्चलत्वात्। मन चञ्चल है। यहाँ चञ्चलका अर्थ यह नहीं है कि यहाँ गया, वहाँ गया। अरे पट्ठा, गया है, तो जाने दो। इसके बारेमें तो यही है कि हे मनीराम! तुमको हजार बार गर्ज हो, हमारे बिना तुम्हारा काम न चलता हो, तो हमारे पास आओ। आत्माके बिना कहीं मन रह सकता है? आप जानते हैं! जबतक हम उसपर सवारी न करें, उसके ऊपर चढ़े नहीं, हमसे एक न हो, तबतक मन जिन्दा नहीं रह सकता।

स यथा शकूनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वा
अन्यत्र आयतनं अलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत।
........प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः। छा. ६.८.२

हमारी भगवती श्रुति ऐसे कहती है—मन आत्माके साथ बँधा हुआ है, जा नहीं सकता। अच्छाजी, तो ठीक है। **चञ्चलत्वात्**का क्या अर्थ है। **चञ्चलत्वात्**का अर्थ यह नहीं कि आँख जरा इधर चली गयी, उधर चली गयी। इसका मतलब नहीं है। यहाँ अर्थ यह है कि रागका निमित्त आनेपर राग हो जाता है, द्वेषका निमित्त आनेपर द्वेष हो जाता है, यद्यपि सब परमात्मा है, यह हम जानते हैं। ऐसे देखो, एक बार ऐसे देखो, यद्यपि सब परमात्मा है, सब आत्मा है, यह बात हम जानते हैं और हमारे मनमें बारम्बार परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है, जब कोई आकर कहता है कि यह भेद है, यह पशु है, यह घोड़ा है, यह हाथी है, यह मनुष्य है, तो भीतरसे मन बोल देता है कि नहीं, नहीं,

परमात्मा ही है। ऐसा अब जैसे हम आदमी हैं समझो और कोई आकर कहे कि तुम घोड़े हो, तो उसके घोड़ा कहनेसे हम अपनेको घोड़ा मान लेंगे? नहीं मानेंगे न! अरे, बात क्या है भाई, कहीं रेसवेसमें आ रहे हो, तुम्हारी आँखमें घोड़े ज्यादा बसे हुए हैं, इसलिए हम भी घोड़ेकी तरह दिखायी पड़ते हैं। तो हम जानते हैं कि हमारा जो स्वरूप है वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म है, अद्वितीय है, अब ब्रह्मा भी आकर कहे कि तुम व्यक्तिविशेष हो, कर्ताविशेष हो, भोक्ता विशेष हो, संसारी विशेष हो, तो अब उसके कहनेसे हम थोड़े ही मान लेंगे। यह तो ठीक हुआ। तो यह मनोनाश ही होगया। लेकिन फिर भी निमित्त विशेषकी उपस्थिति होनेपर राग-द्वेषका उदय हो जाता है। समताकी जगह विषमता आ जाती है। वह जो संस्कारमूलक वासनाओंका उदय हो जानेसे विषमता आ जाती है, उसीको यहाँ मनश्चाञ्चल्य कहा गया है। यह नहीं कि समाधि नहीं लगती, निरोध नहीं होता। उसको तो सभी उस दर्शनको ही केवल रागद्वेषादि दूर करनेके लिए ही उपयोगी मानते हैं। उसको कैवल्य प्रापक नहीं मानते। उसका विषय कैवल्य है ही नहीं। कैवल्य प्रापक तो केवल वेदान्तदर्शन होता है। अब **चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्** का अर्थ यह है कि मनमें समताकी स्थिति स्थिर नहीं होती। क्यों नहीं होती? कि बीच-बीचमें कभी ज्यादा धन देखकर पानेकी इच्छा हो जाती है। कभी जब ज्यादा कोई सताता है, ज्यादा गाली देता है, ज्यादा अपमान करता है, तो कभी थोड़ी गर्मी आ जाती है कि ऐसा कहाँ? कि ठीक है। इसका कारण यह है कि मन चञ्चल है। अब आप देखो, चञ्चलका अर्थ यही है कि निष्ठा नहीं है, निष्ठा परिपक्व नहीं है।

: ३४ :

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

अरे अर्जुन, तुम्हारी क्या बात है, तुम तो युद्धभूमिमें लेकर धनुष बाण अवतीर्ण हुए हो और ममता आ गयी चित्तमें, चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिरांका यही अर्थ है कि यह तो जब हमने सारे वेद पढ़े और उपनिषद् पढ़ा और ब्रह्मसूत्र पढ़ा, ऐसे समझो कि जब हमने सब वेद-वेदान्त पढ़ा अपने गुरुके पास रहकर, तभी हमको मालूम हो गया था कि व्यवहारमें समत्व ही योग है। यह तो हमने सीख लिया था और इसीलिए मैं लड़ने आया भी था कि मैं धर्मकी

रक्षा करूँगा, धर्म का पालन भी करूँगा और इसीसे मैंने श्रीकृष्ण! तुमसे कहा भी कि,

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत। १.२१

हमारा दावा था कि हमारे हृदयमें समता है, हम दोनोंके बीचमें खड़े होकर देखेंगे, लेकिन जब बीचमें खड़ा हुआ तब हमारा मन चञ्चल हो गया, उसमें तो महाराज, साले दिखने लगे, सादू दिखने लगे, ये कलियुगी सम्बन्धी सब-के-सब दिखने लग गये। **श्यालाः संबंधिनस्तथा**—महाराज, ये साला सम्बन्धी सब दिखने लग गये। तो अर्जुनने कहा कि मन चञ्चल हो गया युद्धभूमिमें आकरके अब यह पकड़ा कैसे जाये। तो,

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

यह बात मशहूर है दुनियामें, हि माने प्रसिद्ध है कि **'मनः चञ्चलं'**—मन चञ्चल है। गाँवमें बोलते हैं यह बच्चा बड़ा चुल्ली है। कुछ-न-कुछ ऊधम करता ही रहता है। उधर किताब निकाल ली, उधर ठाकुरजीकी घण्टी निकाल ली, उधर माँका जाकर आँचल निकाल लिया, उधर ठाकुर जीके भोगके लिए प्रसाद रखा हुआ था, सो लिया। उधर माला अपने गलेमें डाल ली, तो ऐसे बच्चेको क्या बोलते हैं? कि चुल्ली है। तो यह मन जो है **'मनश्चञ्चलं'**—यह मन बड़ा चञ्चल है।

अच्छा, चञ्चल है। तो रहने दो, क्या बिगाड़ता है, अरे, अपनी चीजको सँभालकर रखो, मन चञ्चल है, तो रहने दो। ***लालयेत् चित्तबालकम्***—यह तो चित्त अपना बच्चा है। अरे भाई, घरमें बच्चा रहता है, तो कभी कोई च. च खा लेता है, कभी कैंचीसे कोई चीज काट देता है, कहीं किताबके पन्ने तोड़ देता है, रहने दो न! **चञ्चलं हि मनः कृष्ण।**

शंकराचार्य भगवान्‌ने कृष्ण शब्दका यहाँ अर्थ लिखा है। यह इसलिए बताता हूँ कि लोगोंका ख्याल होता है, कि ये वेदान्ती लोग कृष्णसे, भगवान्‌से, साकार सगुणसे थोड़ा परहेज करते हैं, ऐसा लोगोंको भ्रम है। तो यह भ्रम क्यों है कि ये अशास्त्रीय बातोंको जो वेदान्तका नाम दे दिया गया, इससे लोगोंको वहम होगया। शंकराचार्य तो कृष्णके बड़े भक्त हैं, रामके बड़े भक्त हैं, उनके तो कृष्णाष्टक हैं, यमुनाष्टक हैं, गंगाष्टक हैं, उनका तो

प्रबोधसुधाकर है, विष्णुपादादि-केशान्त-वर्णन स्तोत्र है, त्रिपुरसुन्दरीका तो उन्होंने बड़ा भारी स्तोत्र लिखा है, वे तो बड़े ही उपासक हैं। यहाँ कृष्ण शब्दका अर्थ लिखते हैं।

कृष्ण कृष्णेति कृषतेः विलेखनार्थस्य रूपम्
भक्तजनपापादिदोषाकर्शनात् कृष्णः।
तस्य सम्बुद्धि हे कृष्ण।

इतना शांकर भाष्यमें कृष्ण शब्दका अर्थ बताया कि एक *कृष्विलेखने* धातुसे कृष्ण शब्द बना हुआ है और भक्तोंके पाप-दुःख-वासना आदि दोषोंको नष्ट कर देनेके कारण कृष्णका नाम कृष्ण है। इतना अर्थ कृष्ण शब्दका दिया हुआ है। यही नहीं समझना कि केवल अहं ब्रह्म लिखना आता है शंकराचार्यको और वे भक्ति-वक्तिकी बात नहीं लिखते हैं, भक्तिकी बड़ी बात लिखते हैं। समय-समयपर एक वाक्यमें भक्तिका ऐसा रस खोल देते हैं। अच्छा आओ, मन चञ्चल है तो रहने दो, जाने दो जहाँ जाये वहाँ जाने दो। बोले—नहीं चञ्चल ही नहीं है, **प्रमाथि** भी है, इन्द्रियोंको मथ देता है। इसको छोड़ दिया जाये।

आज सबेरे एकने लाकर हमको अखबार दिखाया, उसमें आये तो हैं ध्यान करनेको, लेकिन नंगे होकर, हाथ उठाकर चिल्ला रहा है और कोई नाच रहा है, कोई गा रहा है ऐसा, वह ध्यान है। तो बोले—ठीक है जाने दो, एक बार देखलो, वह भी ठीक हो जाता है। एक बार छुट्टी दे दो। बोले—छुट्टी देनेसे काम क्या चले? अर्जुन अभी बोलते हैं, पूर्वपक्ष कहते हैं इसको।

प्रमाथि—अरे यह तो मथ देता है, जैसे मनमें कामका भाव आये, स्त्री-पुरुषके संयोगकी इच्छा उत्पन्न हो, तो स्नायविक तनाव होगा कि नहीं होगा न! बोले—हमसे तो नहीं रहा जाता, हमारे तो उत्तेजना, स्नायविक उत्तेजना। बोले—इतना ही नहीं है, प्रमाथि—वह मथ देता है न! वह केवल ऐसा कर देनेसे कि मनीराम तुम्हारी जहाँ मौज हो वहाँ घूम आओ, वह थोड़े ही है। वह तो इन्द्रियोंको उत्तेजित करता है, स्नायुओंको उत्तेजित करता है। क्रोध आकर केवल शरीरमें ही आकर हलचल मचा चला जाये, सो तो नहीं है न, वह तो

हाथसे पीटता है, वह तो मुँहसे गाली देता है, काम आकर अनाचार-व्यभिचार करता है, तो उसको क्रियापर्यन्त छुट्टी दे दोगे—**प्रमाथि**। बोले—अच्छा, भाई पकड़ लो, रोक दो। बोले—**बलवद्**—बलवान है। अच्छा, मना लो। बोले—**दृढम्**—अपने निश्चयपर बड़ा दृढ़ है।

तस्याहं निग्रहं मन्ये—अर्जुनने तो धनुष-बाण पहले ही रख दिया था, हार गया।

वांयोरिव सुदुष्करम्—जैसे वायु एक प्राकृत पदार्थ है और सम्ग्र वायुको रोक सकना किसीके सामंर्थ्यमें नहीं है, इसी प्रकार यह मनस् वायुके समान है, इसको रोकना शक्य नहीं है। इसका निग्रह नहीं किया जा सकता। यह पूर्वपक्ष है। इसंको उत्तर पक्षमें मत लेना, भला!

: ३५ :

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

इसका उत्तर है और उत्तर भी स्वीकृति देकर है कि हाँ-हाँ, जो तुम कहते हो, सो ठीक है।

लेकिन आओ, हमारे परमार्थके मार्गपर आओ, यह है वेद, यह है वेदान्त, यह है शास्त्र।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।

बोले—अरे देख, लड़ाईमें हारकर धनुष-बाण तो रख ही दिया, ये हमको मार डालें, तो हम तैयार हैं। अर्जुन ऐसे ही कहता था न,

अशस्त्रं शस्त्रपाणयः, धार्तराष्ट्र।

यह दुर्योधन हमको मार दे, कर्ण हमको मार दे अश्वत्थामा मार दे, तो कल्याण है और अब तुमने यह मानसिक युद्धमें भी धनुण-बाण रख दिया, हथियार रख दिया। बोले—नहीं-नहीं।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

हमारे मनको मारना नहीं है, हमारे मनको कैद नहीं करना है, हमारे मनको तो पकड़ना है। उसकी नस पकड़ लेनी है। महाराज! एक कुत्ता था।

रातको किसीको उस रास्तेसे निकलने न दे। एक चोरके मनमें आयी कि सेठके घरमें घुस जाये। तो महाराज, क्या किया उसने, दिनमें जाये, वह कुत्ता भूँकता हुआ आये तो वह ले जाये मांसका टुकड़ा उसके सामने डाल दे। एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन, अब वह जब आये तो कुत्तेके मुँहमें पानी आने लगे। अब रातको भी आने लगा, उस रास्तेसे, निकले तो कभी गुड़ डाल जाये, कभी मांसका टुकड़ा डाल जाये। अब तो पूँछ हिलाये उसके पीछे-पीछे चले— **गृह्यते**। और अन्तमें क्या हुआ ? तो गृह्यते दूसरी चीज है, निरुध्यते दूसरी चीज है। तो मनको मारना दूसरा, निरोध करना दूसरा, मनको पकड़ना दूसरा।

अब आपको देखो, उसके ग्रहणकी जो विद्या है न, वह आपको कल सुनायेंगे कि यह मनीरामको बच्चेकी तरह गोदमें लेकर आप खिला सकते हैं, आप पत्नी-पतिकी तरह सम्भोग कर सकते हैं, अपनी ही आत्माकी तरह उसके साथ आत्मीयताका बर्ताव कर सकते हैं। यह देखो मन,

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

बच्चा पैदा होता है, उसको यदि वैसा ही छोड़ दिया जाये, माँ, बाप ख्याल न करें और उसको ठीक-ठीक शिक्षा-दीक्षा न दें, तो उसकी क्या गति होगी, यह कल्पना आप कर सकते हैं ? लोग कहते हैं न, नेचुरल; देखो, यह संस्कार-मात्रका विरोध है। नेचुरल कहनेका अर्थ ही हो गया कि आप संस्कारका विरोध करते हैं। तो जैसा वह जेरमें बँधा हुआ पैदा हुआ, वैसा ही छोड़ दीजिये। नहीं भाई, वह अपनेको नहीं छुड़ा सकता, हम छुड़ायेंगे उसको। अच्छा, तो आप उसको खड़ा होना मत सिखाइये, सिखाते क्यों हैं ? अपने आप खड़ा होने दीजिये। अच्छा, उसको दूध मत पिलाइये अपने आप ही पीने लगेगा! बच्चेमें जो गुण प्रकट नहीं हुए हैं उनको प्रकट करनेके लिए शिक्षा देनी पड़ती है, संस्कार करना पड़ता है। आप जानते हैं मुण्डन भी एक संस्कार है, चौल कर्म, चूड़ाकरण जो है वह भी एक संस्कार है। यज्ञोपवीत भी एक संस्कार है, विद्यारम्भ भी एक संस्कार है। ये सब नेचुरल हैं ? बाल बनाना नेचुरल है? विद्या पढ़ना नेचुरल है? छोड़ देंगे आप इस बातको! कुछ समझदारीसे काम आदमीको लेना चाहिए। यदि आप अपने बच्चेको प्रकृति और उसके विकारके हाथों नहीं छोड़ सकते, तो क्या अपने मनको प्रकृति और

प्रकृतिके विकारके हाथोंमें छोड़ देंगे ? जो बात आपके मनको मालूम नहीं है, जिसका अभ्यास नहीं है, जिसका संस्कार नहीं है, वह क्या आप अपने मनको सिखाना पसन्द नहीं करेंगे? आपके मनमें अच्छी-अच्छी बातें आयें और आपकी बुद्धिकी प्रतिभाका जागरण हो और आपके जीवनमें अच्छे अभ्यास आये तो देखो आप, जो जड़ हो जाना चाहते हैं, मनुष्य होकर जो पशु होना चाहते हैं, पक्षी होना चाहते हैं, कीट-पतंग होना चाहते हैं या जड़ वस्तुसे मिल जाना चाहते हैं, वे अपनेको छोड़ दें कि प्रकृति जहाँ ले जाये वहाँ जाने दो और जो प्रकृतिकी धारामें-से अपने आपको निकालकर परमेश्वरके साथ जोड़ना चाहते हैं, उनको चित्तके संस्कारका मार्ग अपनाना पड़ेगा। जड़से एक होना हो, तो छोड़ दीजिये प्रकृतिपर। हमारे लखनऊमें एक रामू नामका बालक पकड़ा गया था, जहाँ भेड़िया रहते थे।

मनको नयी-नयी बात दिखाकर उसको पक्का कर देना चाहिए, बाबा, आप लोग तो सीखकर आये होंगे, हमको तो हमारी माँ ने दाँत साफ करना सिखाया था। हमको याद आती है। हमारे बाबाने टट्टीसे आनेके बाद हाथ कैसे धोना चाहिए, सत्रह बार मिट्टी कैसे लगानी चाहिए यह उन्होंने दस बार और सात बार ऐसे लगायें, ये सब उन्होंने हमको सिखाया था। हमको तो अपने आप नहीं आया था। अब आप लोग ईश्वरके घरसे सीखकर आये हैं तो आपका सौभाग्य है! अब हमको तो क ख ग में-से कोई एक अक्षर अपने आप नहीं आया। जब किसीने बताया तब हमने पहचाना। और आप लोग महाराज, जन्मसे ही पहचानते होंगे, तो हम क्या करें! मनको सिखाना पड़ता है। जीवनमें शिक्षणकी आवश्यकता पड़ती और उसके अनुसार मनुष्यको अपना जीवन चलाना पड़ता है। हमको याद है, हम बच्चे थे जब हमको दाहिने और बायें हाथका विवेक नहीं था, तो हम बायाँ ही हाथ लगा देते थे थालीमें रोटी खानेके लिए। तो तुरन्त डाँट पड़ती थी कि नहीं, बायेंसे नहीं, दाहिनेसे खाओ, कोई प्रसाद देता था बायाँ हाथ फैला देते थे, हमारे गाँवमें प्रसाद क्या बँटता था, गुड़ होता था हमारे घरमें, श्रावण मासमें जब सवा लाख बेलपत्र चढ़ाया जाता शंकरजी पर, पार्थिव पूजा होती, तो यही चावल पानीमें भिगोकर और गुड़ इन्ही दो चीज का भोग लगता और जब घण्टी बजती, तो हम दौड़कर जाते,

कभी बायाँ हाथ फैलाते प्रसाद लेनेके लिए, तो डाँट पड़ती कि नहीं, दाहिने हाथसे लो! इतना भी नहीं आता था। यही तो सीख लेकर आये थे।

तो अब बोले—भाई, आप अपने बच्चेको तो नहीं छोड़ सकते, अपने मनको छोड़नेको राजी हैं कि जहाँ मौज हो वहाँ जाओ। तो यह अकलकी बलिहारी बोलनी पड़ेगी, यह बुद्धिकी बलिहारी है। बिना संस्कारके, बिना शिक्षाके, बिना दीक्षाके मनुष्य देहसे ऊपर उठना नहीं सीख सकता। संसारमें जानेकी विद्या नकल करके सीख सकता है, अनुकरणसे। शरीरसे बाहर जो क्रिया-कलाप होता है उसको तो आप दूसरेकी नकल करके सीख लेते हैं। हम देखते हैं, कहीं किसीके घर खानेको गये, ऐसी चीज आयी जो हमने कभी नहीं खायी है, तो हम देख लेते हैं कि दूसरे लोग कैसे खाते हैं उसीके हिसाबसे उसको खा लेते हैं। यह तो नकलकी बात हुई, परन्तु अपने मनको वशमें कैसे करना, यह बात हम दूसरेको देखकर कैसे करेंगे? इसको तो सीखना पड़ेगा। आप यह नहीं मान बैठना कि आपका मन सब कुछ सीख-सिखाकर आया है, इसमें कुछ सीखनेकी जरूरत नहीं है।

अच्छा, एक बात और आपको सुनाते हैं। नकल करके या शास्त्र पढ़कर ही आप जान सकते हो, इसके लिए बिलकुल जीवन्त वक्त गुरुकी जरूरत होती है जिससे आप प्रश्न करें और उत्तर लें, इसमें दूसरेका संकल्प अथवा अपना सवाल अथवा शास्त्राध्ययन अथवा नकल काम नहीं दे सकती। जब आपके हृदय में जिज्ञासा होगी और अभिमान छोड़कर किसी सन्त सद्गुरुका उपसदन करेंगे और वह बतायेगा कि जिसको तू ढूँढ़ रहा है वह तू ही है। तू किसी दूसरे को नहीं ढूँढ़ रहा है, अपने आपको ही न पहचान करके और उसको परोक्ष समझकर ढूँढ रहा है, यह बतानेवाला सन्त सद्गुरु चाहिए।

अब आपको सुनाते हैं, तो सच्ची बात क्या है, आपको एक बात और सुनाते हैं। जो लोग समझते हैं कि हम मशीनसे वस्तुओंकी परीक्षा करके यह समझ लेंगे कि धर्म कौन-सा है और अधर्म कौन-सा है वे मूर्ख हैं। वस्तु है निर्गुण, वस्तु है ईश्वर, वस्तु है ब्रह्म, उसमें अच्छा-बुरा कुछ भी मूलतः नहीं होता है। वह तो विवेक करनेके लिए शास्त्रके द्वारा अध्यारोप और अपवाद करना पड़ता है। इसलिए यन्त्रके द्वारा वस्तु धर्माधर्म है या क्रिया धर्माधर्म है,

यह बात नहीं मालूम पड़ सकती। कहीं कोई वस्तु धर्म होती है, कही कोई वस्तु अधर्म होती है, कहीं कोई क्रिया धर्म होती है कहीं अधर्म होती है और कही कोई भाव धर्म होता है, कहीं अधर्म होता है। यह आप अपने आप नहीं जान सकते। यह इसका रहस्य है। तो इसीसे निगुरा आदमी यदि चाहेगा कि हमारा मन वशमें हो जाये, तो उसका मन बिलकुल वशमें नहीं होगा, बल्कि उसका अभिमान बढ़ेगा और वह मनुष्य मनोराज्य करनेवाला हो जायेगा। हम आपको यह बात बताते हैं। अपने मनसे पुण्य करनेपर अभिमानकी वृद्धि होती है और बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञासे पाप करनेपर भी वह नहीं लगता है। डरना मत इस बातपर, क्योंकि क्रियामें नहीं होता है, मनमें जो अनुशासन है, नियन्त्रण है, करो, बन्द करो यह जो अपने मनकी उच्छृंखलता है, यही पापमें ले जाती है। तो इस मनको वशमें करके रखना चाहिए। तो अर्जुन जैसा बहादुर आदमी—बृहदुरः। महाराज बड़े-बड़े राक्षसोंको, निवातकवच असुरोंको जीत लिया अर्जुनने। आपको मालूम है कहीं शंकरजी किरातका रूप धारण करके आये थे और अपनी भावविद्या से उसने सन्तुष्ट कर लिया, महाबाहु है। भगवान्ने सम्बोधन किया है—**असंशयं महाबाहो**। अरे बाबा, युद्धमें तो इतना बहादुर है और यह मनके सामने *घुटने टेक दिये, मुँहकी खा गया*। यह हिन्दी के मुहावरे हैं। यह जिसने किताबी हिन्दी पढ़ी है, उसके पास अगर यह लिख दें कि घुटने टेक दिया, या मुँहकी खा गया, तो वह कोश देखकर भी जल्दी नहीं समझेगा, माने हार मान बैठा—इसका यह अर्थ है।

अर्जुन जैसा बहादुर क्या बोलता है कि बाबा, सबके प्रति समताका बर्ताव तो नहीं होता। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज अपने हाथसे रोटी बाँटने लगे। कोई कहता—हमको पाँच रोटी दो, बोलते—नहीं चार ठीक है। कोई कहता हमको तीन रोटी दो, तो बोलते—नहीं, पाँच खाओ। कि महाराज, आप रोटी बाँटनेका काम अपने हाथमें क्यों करते हैं? और बहुत सारे लोग हैं, बाँट देंगे। बोले—नहीं, हम रोटी नहीं बाँटेंगे तो और क्या करेंगे, लोग ब्रह्माकार वृत्ति और घटाकार वृत्ति, और जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख पाँच-सात तो प्रश्न हैं, वही दिन रात करते रहेंगे, इसमें कोई बोझ नहीं है, चलो रोटी बाँटते रहेंगे। ऐसे बोलते थे, पर बात यह हो गयी थी दरअसल वहाँ, वे सब समझते थे कि कौन,

कसे करता है महाराज! एक हाथसे पाँव दबाते थे, एक हाथसे फल खींच लेते थे। भण्डारेमें घी गया महाराज, तो दस टीनमें-से एक टीन इधर-से-उधर हो गया, ऐसा होता था। लड्डू परसनेके लिए थगड़ीमें ले आये, ले जाकर अपनी कुटियामें रख आये, बादमें परसेंगे। हे भगवान्! तो इसीको बोलते हैं— **साम्येन,** सबके प्रति जो समताका बर्ताव है, यह परमयोग है। योग नहीं है, परमयोग है। अर्जुनने तो महाराज हार मान ली कि हमारे मनमें समता आती नहीं। क्यों नहीं आयी? कि **चञ्चलत्वस्थितिं स्थिराम्।** हमारा मन चञ्चल है, दुश्मनको देखकर आँख लाल हो जाती है, वह बिगड़ जाता है। और दोस्तको देखकर ऐसे पानी-पानी हो जाते हैं कि न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म कुछ याद ही नहीं रहता है। साम्य नहीं दिखता है; क्यों नहीं दिखता है? मनकी चञ्चलताके कारण।

देखो, अपने मनको अगर आप साफ-साफ समझते हैं, तो सारी दुनिया को समझते हैं। आपके पास महाराज, दो दातुन आयें, एक नम्बरकी और दो नम्बरकी और उसमें-से आप एक नम्बरकी दातुन अगर अपने मित्रको दे सकते हो और दो नम्बरकी अपने लिए रख सकते हो, तब मनका पता चले। अच्छी साड़ी आप अपनी ननदको, जिठानी को दे दें और अपने लिए मामूली साड़ी रखें, तब, पता चले कि हाँ भाई, हम अपने मन और उसके मन, दोनोंको ठीक-ठीक समझते हैं। इस विषमतामें हो समता है। तो

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

बोले—सब जानते हैं कि मन बड़ा चञ्चल है। अच्छा, रहने दो भाई, कोई-कोई बालक चञ्चल होते हैं घरमें, हम किसीके घरमें जाते हैं, बालक चञ्चलता करते हैं, तो वह रोकता है, पकड़ता है, हम कहते हैं अरे बच्चा है, घरकी तो यही शोभा है। किसी-किसीके ऐसे भी कहते हैं कि देखो भाई, हमारे तो बाल-बच्चा है नहीं, तो बच्चोंके खेलनेका कोई आनन्द नहीं आता है, अब तुम्हारे घरमें आये हैं तो हमको घण्टे-आध घण्टे इसका आनन्द लेने दो, इनको रोको मत, इसमें तो हमको मजा आता है। तो ठीक है, अब उनका बच्चा चञ्चल हो इधर-उधर खटपट करे, हम तो थोड़ी देर बैठकर चले आते हैं। बोले—नहीं महाराज, यह चञ्चल ही नहीं है, यह रेडियो पटक देगा, यह शीशा

फोड़ देगा, टेलीफोन तोड़ देगा, घरमें उथल-पुथल मचा देगा। घरके लोग कहते हैं कि नहीं, आपको तो मजा आता है बच्चे के खेलका, लेकिन वह तो हमारे घरमें प्रमाथि, आपको उधर ले जायेगा, आपको उधर ले जायेगा, तोड़-फोड़ कर देगा, हम तो रोकेंगे उसको—प्रमाथि।

कई लोगोंके घरमें जाते हैं तो कुत्तेको छतपर पहुँचा देते हैं, कमरेमें बन्द कर देते हैं, बाँध देते हैं, बोले—प्रमाथि। तो पकड़ लो। बोले—**बलवद्।** कमजोर होता तो पकड़ लेते, बलवान बहुत है। हमारे पकड़े नहीं पकड़ा जाता। देखो, इसके सम्बन्धमें बात यह है कि अगर सामने वाला बलवान हो और हम कमजोर हों, तो यदि उससे कोई नुकसान न हो, तो टक्कर लेनेकी जरूरत नहीं है। नुकसान करनेवाला हो तो? तब अपनेसे जो बलवान है, पड़ोसीको भी बुलाना पड़ता है, कभी-कभी पुलिसको भी बुलाना पड़ता है, तो कभी किसी देवताका भी सहारा लेना पड़ता है, कभी युक्ति करनी पड़ती है, कभी ईश्वरसे कहना पड़ता है कि हे ईश्वर, हमारी मदद करो, क्योंकि बलवान है न!

बोले—अच्छा, बलवान है तो क्या? धीरे-धीरे अपनी जिद छोड़ देगा। बोले—**दृढम्।** यह तो अपनी जिदपर अड़ गया है कि हम नहीं छोड़ेंगे, अपनी बुरी आदत नहीं छोड़ेंगे। इसीलिए अर्जुनने कहा—

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।

निग्रह माने काबूमें करना। काबूमें करना मुश्किल है, जैसे हवाको बाँधकर रखना मुश्किल है वैसे मनको भी बाँधकर रखना मुश्किल है। **वायोरिव सुदुष्करम्।**

इसमें एक बात है। देखो—अगर आपका मन हो कि जो चाहें सो खायें, जो चाहें सो पीयें, जो चाहें सो करें, किसी-किसीका सिद्धान्त ऐसा होता है, ***'खाओ-पीओ मौज उड़ाओ, यही जगत्का मेला है। कौन जानता कब क्या होगा चलता यही झमेला है।'*** यदि आपका यही मन्तव्य है, यही साधना है, तो जो होय सो होने दो। यदि आपका लक्ष्य भोग है, यदि आप रोगसे नहीं डरते हैं, यदि शरीरके वियोगसे भी आपको डर नहीं है, कि अगर मनमानी करोगे तो रोग होगा और शरीर जल्दी जायेगा, तो जो मौज हो सो

करो। लेकिन यदि आपका लक्ष्य भीतर है, तो धीरे-धीरे मनको समेटना पड़ेगा। भीतरके लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए मनको समेटना जरूरी है।

एक सज्जन थे महाराज, वैसे तो व्यापारी थे, बड़े घरके थे, लेकिन उन्होंने दिखानेके लिए कि अभ्यासमें कितनी शक्ति है, यह गाँवमें जो खाट होती है, मूँजसे बुनते है, बाँहकी काठी होती है और उसमें जोड़े लगे होते हैं धीरे-धीरे अभ्यास करके वे मुँहसे खाटको पकड़ते थे और उठाकर खड़े हो जाते थे। अभ्यास है अभ्यास! आपको सुनाया था, हमारे एक मित्र थे, उनके घरमें भैंस ब्यायी, तो पहले तो पाँड़ा बहुत छोटा होता है, पाँच-दस दिन तक तो उठानेमें कोई बाधा ही नहीं होती है, रोज उसको पकड़कर उठालें। अब वह पाँड़ा भी परच गया, भैंसका बच्चा। बचपनमें तो हम भी उठाते थे। बछड़ा भी उठा लेते थे। पर बछड़े बड़े वैसे होते हैं, चञ्चल होते हैं। वे जल्दी किसीके काबूमें नहीं आते हैं। उनमें फुर्ती ज्यादा होती है, जरा सत्त्वगुण भी होता है, रजोगुण भी होता है, पर यह भैंस तो बिलकुल तमोगुणकी मूर्ति ही है। उसको गुस्सा आ जाये तो आ जाये नहीं तो प्यारसे उसकी पीठपर चढ़ो, तालाबमें चढ़कर तैराओ। वे बच्चेको उठाते, अब वह तो दिन-पर-दिन बढ़ता जाये, सौ पौण्ड, दो सौ पौण्ड; रोज उसको उठा लेते थे और बड़ा होकर चार मनका हो गया, तब भी उठालें, वह चुपचाप खड़ा हो जाये और वे दोनों हाथसे चारों पाँव उसके पकड़ें और छातीका बल लगाकर उसको उठा लें। अभ्यासमें बहुत शक्ति है! यदि आप कोई भी अभ्यास डाल लें—खाना बढ़ायें तो बढ़ जाये। हमने ऐसा आदमी देखा था, जो दस सेर दूध रोज पीता था। अभ्यास ही तो था उसका। हमारे आश्रममें आया था, वह कहता था मैंने गामासे कुश्ती लड़ी है, तुलसी रामजी जिसमें रहते थे, उसी कमरेमें आकर ठहरा था। पहलवान था पंजाबका, दस सेर दूध पी जाये एक बारमें।

हमारे एक महात्मा हैं, अब तो बुड्ढे हो गये हैं, लेकिन कभी-कभी जब वे चने खाने लगते हैं, तो लोग देखकर दंग हो जाते हैं, दोनों हाथसे मुँहमें डालते हैं डटाडट-डटाडट। तो अभ्यास है, किसीको चलनेका अभ्यास होता है, किसीको करनेका अभ्यास होता है। हे भगवान्! योगवासिष्ठमें ऐसा

कहा—अरे अच्छी आदत डालो बाबा, काम करनेका अभ्यास डालो, यह जो गिर जाते हैं, हाय-हाय यह काम हमसे नहीं होगा, अरे तुमसे नहीं होगा, तो पशुसे होगा? यह आलस्य है, यह तमोगुण है। ऐसा कौन काम है जो तुम नहीं कर सकते।

कवन सो काज कठिन जग माहीं।
जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं॥

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज एक श्लोक बोलते थे—

जन्मकोटिचिराभ्यस्ता राम संसारवासना।

हे रामजी! यह संसारकी वासना चिरकालसे अभ्यस्त हो गयी है। यदि चिरकाल तक अभ्यास नहीं करोगे तो यह छूटेगी नहीं।

एक श्लोक और बोलते थे—

आतिवाहिकदेहोऽयं राम चिद्व्योमकेवलम्।
आधिभौतिकतां नीतः पश्याभ्यासविजृंभितम्।।

अरे देखो रे देखो, तू है शुद्ध चेतन, ज्ञानमात्र, लेकिन ऐसा अभ्यास पड़ गया कि अपनेको देह समझता है। चेतन जड़ हो गया, कैसे? कि अभ्यास बिगड़नेके कारण। यदि फिरसे तुम अभ्यासको सम्भाल लो, तो यह जड़ताकी आतद छूट जायेगी, तुम अपनेको चेतनके रूपमें अनुभव करने लगोगे!

तो हारो मत। पहले दिन देखो, साइकिलपर बैठते हैं तो गिर पड़ते हैं। अब न बैठें, तो? तब तो नहीं आयेगा न! अब दो-चार बार गिरें तो चलाना आ जायेगा। घोड़ेपर-से एकाध-दो बार गिरते हैं, हमने तो सुना था सच कि झूठ, ये डाक्टर, वैद्य लोग जब सौ पचास केस बिगाड़ लेते हैं तब पक्के डाक्टर-वैद्य बनते हैं। है कि नहीं? यहाँ तो कई डाक्टर बैठे हैं, हमारी जानकारीमें, माने शुरू-शुरू में केस बिगड़ते हैं कि नहीं बिगड़ते हैं? आपरेशन बिगड़ जाता है, दवा गलत दे देते हैं, वैद्य भी, डाक्टर भी, लेकिन जब एक बार गलती हो जाती है तो आगे के लिए सावधान हो जाते हैं। यदि एकबार गलती होनेपर वे दवा देना छोड़ दें, तो क्या वे डाक्टर हो सकेंगे? वैद्य हो सकेंगे?

देखो, आपको हम एक सूत्र बताते हैं, रास्तेमें चलते-चलते यदि आप

कभी गिर पड़ें, तो गिर पड़ना आपका अपराध नहीं है, लेकिन गिरनेके बाद आप न उठें और फिर आगे न बढ़ें, तो यह अपराध है। उठकर फिर उसी तरफ चलिये, जिधरके लिए चले थे। गिर पड़िये और चलिये। हम बचपनमें जब दौड़ते और गिर पड़ते, तो हमारे बाबा बोलते—राजा बेटा, शाबाश, अरे तुमको चोट थोड़े ही लगी है, धरतीको चोट लगी है और हम फिर हँसने लगते, अगर वे डाँट देते कि चलना नहीं आता है, दौड़ना नहीं आता है, तो रोने लगते। तो अच्छी आदत डालो, धीरे-धीरे वह आ जाती है। दो काम चाहिए मनको ठीक करनेके लिए। भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

अरे भाई, एक बार नहीं, दो बार नहीं, तीन बार नहीं, बार-बार अभ्यास करो। नीच प्रकृति उसको कहते हैं जो विघ्न पड़ने के डरसे अच्छे काम शुरू नहीं करते; पलंगपर बैठे-बैठे वे सोच लेते हैं कि यह काम करेंगे कि इसमें यह बिगाड़ है, यह बिगाड़ है। वे यह नहीं समझते कि हमारी बुद्धि आलस्य प्रमादके वशमें हो करके आलस्यका समर्थन कर रही है। बोले—बाहर निकलेंगे, तो सर्दी हो जायेगी। निश्चित समझो कि बाहर अगर निकलोगे तो सर्दी हुई भी होगी, तो मिट जायेगी। ठण्डी हवा, शुद्ध हवा मिलेगी। हमारा ख्याल था कि बद्री नाथ जानेपर, वहाँ ठण्डा बहुत होता है तो जुकाम हो जायेगा। वहाँ जानेपर क्या हुआ कि जो ठण्डी हवा लगी बर्फकी तो जो कुछ सर्दी-वर्दी थी भीतर, वह पानी होकर बह गयी, बिलकुल तबीअत एकदम स्वच्छ। तो ये आलसी लोग जो हैं, वे आगे भविष्यका बुरा पहलू सोचकर अच्छा काम नहीं करते हैं, शुरू ही नहीं करते।

प्रारभ्यते विघ्नविहताः विरमन्ति मध्याः।

कई लोग ऐसे होते हैं, ये मध्यम कोटिके हैं कि काम तो शुरू कर देते हैं; लेकिन जब कोई विघ्न आता है, तब सहन नहीं होता है, अरे अब क्या करें, घबरा जाते हैं, हाय-हाय कुत्ता भौंक गया! घरमें-से निकलते ही एक बड़े

प्रतिष्ठित महापुरुष हैं, घरमें-से निकले, तो पड़ोसकी किसी औरतने छींक दिया, तो लौट आये। एक सज्जन जा रहे थे कहीं, तो बिल्ली रास्ता काट गयी, एक दिन निकले अच्छे कामके लिए तो किसीने पूछ दिया कि कहाँ जा रहे हो? अब यात्रा खत्म! क्या संकल्प है! संकल्पमें बिलकुल दृढ़ता नहीं है—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति॥

उत्तम पुरुषका यह लक्षण है कि चाहे कितना विघ्न आये, *अब तो हजरते दाग जहाँ बैठ गये, बैठ गये।* अपने निश्चयपर अडिग। तो नारायण, पहले देखो, बोलनेकी शैली आपको बताते हैं, बोलनेका शिष्टाचार। अर्जुनने कहा कि मनको काबूमें करना बड़ा मुश्किल है। अब भगवान् कह देते कि नहीं, नहीं अर्जुन! ये बड़े लोग होते हैं, सेठ-साहुकार लोग, तो उनके मुँहसे नहीं-नहीं निकलता है पहले। वे कहतें हैं अगर हाँ-हाँ करने लगोगे बेटा, तो कभी-न-कभी सब दे बैठोगे, इसलिए मुँहसे जब निकले तब नाहीं, नाहीं निकले! यह बोलेनेका शिष्टाचार नहीं है, बोलनेका शिष्टाचार है कि हाँ जी, आप जो कहतें हैं सो ठीक है! **असंशयं महाबाहो**—हे महाबाहु अर्जुन, तुमने बड़े-बड़े वीरोंको, शंकरजीको जीत लिया है, आजानुबाहु, ये बायें हाथसे भी बाण चलायें, महाबाहु है, डरनेकी कोई बात नहीं है, तुम जो कहते हो ठीक है। अब अर्जुनने कहा— देखो, कृष्ण हमारी बात काटते नहीं हैं, हमारी बातका समर्थन करते हैं। तो अर्जुनका मन उसके कलेजेमें-से निकला और कृष्णके कलेजेमें जाकर उनके मनसे मिल गया, बोले—बस, बस, अब पकड़ा, ठहरो, तुमने तो अपने मनको नहीं पकड़ा, मैंने पकड़ा। यह संस्कृत भाषामें क्या रीति है जैसे—दो पण्डित शास्त्रार्थ करते हों, तो एक पण्डितने बात काट दी, तो दूसरा पण्डित ऐसे बोलेगा— *सत्यम् भवता यदुक्तम् तद् सत्यम्।* आपने जो कुछ कहा, सो सब ठीक है, अब मेरी बात सुनिये। यह नहीं कि '*असत्यम्*', ऐसे नहीं बोलता है। पहले *सत्यम्* बोलनेसे मंगल

हो गया न! हमारी बात जब सत्यं कहकर प्रारम्भ हुई, हमारी जुबान जब सत्यम् कहकर बोलना शुरू करती है, तो हमारे लिए मंगल हो जाता है। नहीं, नहीं, करके बोलना शुरू करती है तो पहले ही अपशकुन हो गया, अमंगल हो गया।

वह तो महाराज, बिल्ली रास्ता काट गयी, तो भगवान् क्या बोलते हैं? कि—**असंशयम्,** निश्चित समझो अर्जुन, तुम जो कहते हो सो बिलकुल ठीक! अर्जुन पानी-पानी हो गया। पहले दूसरेके मनको अपने भीतर खींचो तो सही! पहली बातपर भाई लड़ मत बैठो, घरमें भाई-भाईसे मत लड़ो, बेटेसे मत लड़ो, बापसे मत लड़ो, ननदसे मत लड़ो, भाई-भाभीसे मत लड़ो, एक बार पहले उसकी बातमें तुम अपने मनको मिला दो। आजकलके जो नये लोग हैं वे क्या करते हैं, ये जो बड़े-बड़े व्यापारी होते हैं, एक रुपएका उनका व्यापार है, तो एक दुअन्नी अपनी मिला देते हैं, और बताते हैं हम भी उस मिलमें पार्टनर हैं, उसके बाद धीरे-धीरे-धीरे एक रुपयेपर कब्जा कर लेते हैं। लेकिन जो दो आना नहीं डालेगा उसको एक रुपयापर कब्जा करनेकी कभी गुंजायश हो सकती है? तो बोलनेका शिष्टाचार यह है कि तुम एक दुअन्नी तो मिलाओ भाई, फिर रुपये-का-रुपया खींच लो, यह हो सकता है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

तो भगवान्ने कहा—महाबाहु अर्जुन, बिलकुल सच है, कोई संशय नहीं है, मन दुर्निग्रह है और चञ्चल है। कृष्णने तो अपना मन मिला दिया अर्जुनके मनके साथ।

अच्छा, अब इसमें देखो, मन वशमें किसका है! जो अपना मन किसीके साथ नहीं मिला सकता, उसका मन उसके वशमें नहीं है और जो अपना मन दूसरेके मनके साथ मिला सकता है, थोड़ा दबकर भी, थोड़ा अपनी बात छोड़कर भी, थोड़ी अपनी जिद छोड़कर भी, दूसरेके मनके साथ अपना मन मिला सकता है......कौन-सी स्त्री अपने पतिको मुट्ठीमें कर सकती है? जो थोड़ा-सा अपना मन दबाकर उसके मनमें अपना मन मिला दे, वह तो समूचे पतिको ही अपने काबूमें कर ले! कौन पति अपनी पत्नीको काबूमें कर सकता है? जो उसके मनसे अपना मन मिला दे। असलमें मन उसीका वशमें है जो

अपने संकल्पका ख्याल न करके, स्वयं की इच्छाका ख्याल न करके भी दूसरेके साथ मिला देता है। अरे भाई, आज लाल पोशाक न सही पीली ही सही, आज सिनेमा न सही, क्लब ही सही, थोड़ा अपना मन मिलाओ, तो फिर देखो, सभीका मन अपने काबूमें हो जाये।

तो भगवान्‌ने पहला काम किया, बोले—बाबा, मैं साला तू बहनोई, ले जो तेरी बात सो मेरी बात, *जो थारी राय सो म्हारी राय*। हमारे गाँवके पास एक गाजीपुर शहर है, उसमें आनरेरी मजिस्ट्रेट थे दो। दोनों मारवाड़ी थे। एकका नाम तो हमको याद है, एकका भूल गया। याद करें, तो उसका भी आ जायेगा। तो महाराज, दोनों आनरेरी मजिस्ट्रेट पढ़े-लिखे नहीं थे। वे मुहर्रिर रखते थे, माने उनके साथ आदमी रहता था, वह लिख पढ़ लेता, फैसला जब करना होता, तो वे पूछते—*थारी राय के है भाया?* तो बोलते—*जो थारी राय सो म्हारी राय*। अरे भाई, कुछ बोलो तो! कि *जो थारी राय सो म्हारी राय*। अब महाराज, दोनोंमें जिन्दगी भर तो दोस्ती रही और फैसला तो वह जो नौकर था, सौ रुपये महीनेका, वही फैसला लिख देता था! और उससे भी वे लोग यही बोलते थे कि जो थारी राय सो म्हारी राय। मैं तो कुछ समझता-बूझता नहीं भाया, जो तू लिख दे सो ठीक है। तो महाराज श्रीकृष्णने कहा कि अर्जुन जो तुम्हारी राय सो मेरी राय। अब देखो इससे तो यह सिद्ध हुआ कि कृष्णका अपना मन वशमें है। अपना विचार, अपनी इच्छा, अपना संकल्प छोड़ करके अर्जुनके मनसे अपना मन मिला दिया। जीवन्मुक्त पुरुषोंकी यही तो विशेषता है कि वे अपने संकल्पके साथ बँधे हुए नहीं हैं, अपना संकल्प छोड़ सकते हैं, जिद नहीं है और दुनियादार लोग अपने संकल्पके जिद्दी होते हैं, इसीसे दुःख पाते हैं। तो महाराज, अब कैसे क्या करना चाहिए!

तो देखो, पहले तो कहा कि तुम्हारी बात ठीक है। अब बोले कि हाँ हाँ अर्जुन तुम्हारी बात तो ठीक है, लेकिन बस यह समझो कि अगर आदत डाली जाये और दुनियामें कहीं राग-द्वेष न हो, तो मन वशमें हो सकता है।

अब देखो, धीरेसे अपनी बात कही। जोरसे तो मन मिलाया—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्—और दूसरा हिस्सा? हमारे एक मित्र गीता पढ़ते हैं, ऐसे पढ़ते हैं कि पूर्वार्ध तो बहुत ऊँचे ढंगसे पढ़ते हैं

और जब उत्तरार्ध पढ़ते हैं, धीरेसे पढ़ते हैं, एक ही श्लोक दो रागमें बोलते हैं, पहला आधा तो बड़ी गम्भीरतासे और पिछला इतनी जल्दी- जल्दी बोलते हैं।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

देखो, तुम कुन्तीके पुत्र हो, मेरी बुआके लाड़ले लाल हो, तुम सिर्फ मेरे बहनोई नहीं हो, मेरी बुआके लड़के भी हो, लो एक रिश्ता यह भी हो गया— कौन्तेय! कुन्ती माने जिसकी बुद्धि संगीन सरीखी बिलकुल तीखी हो, गुह्य-से-गुह्य विषयको समझ ले।

महाराज, आपको क्या सुनायें, कुन्ती अपने पाँचों पुत्रोंके प्रति इतनी समानताका बर्ताव रखती थी कि इससे बढ़कर तीक्ष्ण बुद्धिका और कोई उदारहण नहीं हो सकता कि जब द्रौपदीको लेकरके अर्जुन आये तब भी उसके मुँहसे कुछ ऐसा ही निकला! उसने यह नहीं बताया कि मैं स्त्री ले आया हूँ, बोले—माँ, आज तो मैं एक हीरा ले आया हूँ। 'अच्छा बेटा, हीरा लेकर आये हो तो देखो, पाँचों भाई बाँटकर उसको अपने काममें लेना, अकेले तुम अपने पास मत रख लेना।' अर्जुनने सिर ठोंक लिया, अब बने कैसे? यह देखो, यह माँ का वर्चस्व है, हें हें, में में करनेवाली माँ, कोई माँ थोड़े ही है, अपने बेटेपर वर्चस्व होना चाहिए माँ-का भी, उसने कह दिया बाँट लो महाराज, द्रौपदी वह व्यवस्थापक थी, महाभारतमें यह कथा है, सत्यभामाने पूछा कि द्रौपदी बहन, तुम अकेली, स्त्रियाँ एक-एक पुरुषको अपने काबूमें तो रख नहीं सकतीं और तुम अकेले इन पाँचोंको अपने काबूमें रखती हो! क्या तुम्हारे पास कोई टोना-टोटका है? कोई यन्त्र-मन्त्र है? द्रौपदीने कहा—वह स्त्री तो बड़ी धूर्त है, नीच है जो अपने पतिके प्रति टोना-टोटका करती है। तब तुम्हारी क्या विशेषता है? तो द्रौपदीने कहा, जबतक नौकर-चाकरतक खा-पी नहीं लेते, जबतक आनेवाले अतिथि भोजन नहीं कर लेते तबतक मैं नहीं खाती हूँ। परसनेका काम आपको मालूम होगा, जबतक पूरा नहीं हो जाता, तबतक द्रौपदी भोजन नहीं करती थी यह भगवान्‌की प्यारी द्रौपदी। तो द्रौपदी और कुन्ती। भगवान् बोले—कौन्तेय! तुम तो हमारे सगे-सम्बन्धी हो, रिश्तेदार, अर्जुन इसलिए तुम्हारी बात तो ठीक है, लेकिन तुम समझ जाओगे मेरी बात जल्दी। क्या बात है? कि,

अभ्यासेन वैराग्येण च गृह्यते।

वैसे तो मुश्किल है, लेकिन अभ्यास करो और वैराग्य हो मनमें। अभ्यासका अर्थ यहाँ क्या है? यह मत समझना कि अर्जुनके रथपर आसन जमाया भगवान्‌ने या प्राणायाम सिखाया, वह तो तुरन्तकी बात थी,

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

शत्रुको देखा, तो मनमें कुछ खटाई आयी, मुँह खट्टा होता है, जायका मुँहका बिगड़ता है। किसी-किसीके मुँहपर तो, हमने देखा है कि अगर दुश्मन उसके सामनेसे गुजरे, तो वे लोग, उसकी आँख बचाकर थूक देते हैं दूसरी तरफ। उनके मुँहमें ऐसा थूक आता है अपने दुश्मनको देखकर। हमने थूकते देखा है। अब बताओ। ऐसे अंगूठा कर देते हैं, ओंठ बिदका लेते हैं। कुछ-न-कुछ प्रतिक्रिया उनके भीतर, जैसा भाव है, वैसा निकल आता है। हमारे एक मित्र हैं, अभी गंगा-किनारे हैं। वे महाराज, सबकी आँख बचाकर सिर्फ जो उनसे दुश्मनी करनेवाला होता था, उसको दिखाकर होंठ बिदका लेते थे, अब वह आग बबूला हो जाये! मैंने कहा—बाबा, यह कैसे करते हैं लोग। तो इसमें अभ्यास क्या है? अभ्यास यह डालो कि तुम्हारा दुश्मन दुश्मन नहीं है और तुम्हारा जो दोस्त है वह दोस्त नहीं है, दोनोंमें एक ही ईश्वर है, इसको देखनेका अभ्यास डालो यह अभ्यास है। यहाँ अभ्यास माने आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार नहीं है। क्यों? कि यह साम्य योग है। यह तो व्यवहारमें समता बर्तनेका योग है। कि हमारे एक मित्रसे किसीने पूछा कि महाराज, आज-कल तो जब उसकी याद आती है, तो मेरा कलेजा जलने लगता है, क्या करें? तो बोले कि देखो बेटा, रोज जब नींद आने लगे, सोने लगो तो जरा शान्तिसे सोचो कि हे परमेश्वर! तुम उसके हृदयमें बैठ हुए हो और मैं अपना सारा प्रेम उसके प्रति अर्पित करता हूँ। हे भगवान्, हमारे हृदयमें उसके प्रति सद्भाव दो। यह ईश्वरसे माँगो और कहो कि मैं अपना सद्भाव इसको देता हूँ, यह अभ्यास करो, देखो तुम्हारा द्वेष शान्त हो जायेगा। कहो कि हे भगवान् इस व्यक्तिसे हमारा राग हो गया है, तो तराजूका पलड़ा हमारी मुट्ठीमें बराबर नहीं रहता, बारम्बार हम टेणी मार देते हैं, उसकी ओर झुक जाता है। आपका जिससे प्रेम हो गया है, राग हो गया है, उसके लिए आप गाँवके बनिएके समान टेणी मारते

हैं। तो क्या करो ? कि हे भगवान् हमारे दिलका सन्तुलन खो गया है, अब आप हमारे हृदयको रागरहित बनाओ, यह पक्षपात मिट जाये। हमारे हृदयमें समता आये, मैं व्यंवहारमें सबके प्रति समत्वका संकल्प करता हूँ। निश्चय करता हूँ, दृढ़तासे धारण करता हूँ, अभ्यासका अर्थ यह है। क्योंकि जैसा योग है, योग है सबके प्रति समताका बर्ताव करनेका। तो एक तो चाहिए बुद्धि कि सबमें ब्रह्म है, सब माया है, सब परमेश्वर है, सब प्रकृति है, सब पञ्चभूत है, सब मनुष्य है। जब यह ज्ञान होगा तब तुम्हारे हृदयमें समता आयेगी और दूसरे, सबके प्रति समताका अभ्यास करोगे तब समता आयेगी, लेकिन केवल अभ्याससे यह बात पक्की नहीं हो सकती, इसके लिए राग-द्वेष छोड़ना भी जरूरी है। राग-द्वेष छूटेगा, तब यह काम बनेगा।

गीतामें जो धर्मका वर्णन है, वह स्वर्ग पानेके लिए नहीं है, वह तो इसी जीवनमें हम सुखी हो जायें, इसके लिए है। गीतामें जो योग है, वह योग तो दुःख मिटानेकी एक कला है, ऐसी विद्या है योग, जिससे इसी जीवनमें हम दुःखसे अछूते रहकर आगे बढ़ सकें। यह बात आपको मैंने पहले सुनायी।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

दुःख हमको छू न सके, दुःखके संयोगका वियोग। यह नहीं कि दुनियामें दुःख न रहे, परन्तु हमको छू न सके। आग बुझाने वालोंके पास ऐसी पोशाक होती है कि वह पोशाक पहनकर आगमें घुस जायें, लेकिन आगसे जलते नहीं हैं। आपकी घड़ी ऐसी बनती है कि वह पत्थरपर गिर जाये, पानीमें गिर जाये, लेकिन पत्थरसे फूटे नहीं और पानीसे भीगे नहीं। देखो, यह विज्ञान आपकी घड़ीके साथ जुड़ गया, यह विज्ञान आग बुझानेवालेके साथ जुड़ गया, तो यह योग एक ऐसी कला है, एक ऐसी विद्या है, एक ऐसा विज्ञान है कि आप इसी जीवनमें दुःखसे बच सकें। यह बात देखो, आपको सुनायी। थोड़ी-सी बात आप अपने ध्यानमें ले आइये। कई लोग कहते हैं, हम यह-यह चीज भोगेंगे तब हमको दुःख नहीं होगा, हमको सुख मिलेगा, लेकिन यह धारणा बिलकुल गलत है, पहले तो दुनियाकी सब अच्छी-अच्छी चीज तुमको भोगनेको मिलेगी! मिले भी तो इन्द्रियोंमें शक्ति कितनी है!

इन्द्रियोंमें शक्ति हो तो रुचि नहीं रह सकती हमेशा और रुचि भी हो तो

आखिर नींद तो आयेगी ही, वह मरेगा, या तुम्हारा शरीर मरेगा, दुनियाका भोग तो छूटेगा ही! इसमें वियोग है, रोग है, पराधीनता है। तो भोग करके जो लोग अपनेको दुःखसे बचाना चाहते हैं, और सुखी होना चाहते हैं उनका विचार गलत है। आजतक दुनियाके इतिहासमें भोग बढा करके कोई सुखी नहीं हुआ है।

भोगमनुविवर्धन्ते रागा तेषां कौशलानि च।

जितना-जितना भोग करते हैं, उतना-ही-उतना पराधीनता बढ़ती है। भोगसे राग बढ़ता है, रागसे भोगका कौशल बढ़ता है। भोगका कौशल बढ़नेसे और भोग चाहिए है, वासना कभी तृप्त होती नहीं, कई लोगोंकी राय यह है कि हमें यह-यह चीज मिल जाये, देखते रहते हैं, हमारी तिजोरीमें कितना रुपया रखा है, हमारे बक्समें कितनी तरहके कपड़े रखे हैं, हमारे पास कितने हीरे-जवाहरात हैं, देख-देखकर खुश होते हैं। तो वह एक अभिमानकी बात है। यह अभिमान भी जब अपनेसे बड़ा दिखेगा तो छूट जायेगा। ज्यादा संग्रह करनेवालोंके सामने छूट जायेगा, कई लोग मनोराज्यसे अपनेको सुखी मानते हैं—हमारे पास यह हो जायेगा, यह हो जायेगा तब सुखी हो जायेंगे।

असलमें तुमने सुखी होनेकी जो कला थी, वह नहीं सीखी। कला तो आप जानते ही हैं। हम पहले कभी हिन्दू विश्वविद्यालयमें जाते थे, तो लोग बोलते थे यह साइंन्स का विभाग है, यह आर्टका विभाग है। तो आपके जीवनमें यह आर्ट होना चाहिए। यह कला होनी चाहिए कि दुःख आपको छू न सके। हमारे वैदिक सिद्धान्तके अनुसार समाधि लगानेका नाम योग नहीं है। वेदान्तमें हम खण्डन करते हैं, हमारे पूर्वपक्ष है। न्यायदर्शनके अनुसार ईश्वरकी शरणागति और सांख्य योगके अनुसार द्रष्टा-दृश्यका विवेक और योगके अनुसार चित्तवृत्तिका निरोध और पूर्वमीमांसाके अनुसार धर्मानुष्ठान—ये वेदान्तके पूर्वपक्ष हैं। हम लोग तो इनका खण्डन करते हैं।

तो महाराज, इन्हीं पन्थोंमें कोई-न-कोई फँस जाता है। तब वह वेदान्तको जो असली सार है, रहस्य है उसको नहीं समझता है। अरे भाई, बच्चेके लिए सब कुछ ठीक है। बच्चेके लिए लड्डू खाना भी ठीक है, कसरत

करना भी ठीक है, उसके लिए घोंटना भी ठीक है। बच्चोंकी बात अलग है, निराली है, लेकिन वेदान्तके माने यह नहीं है कि जब तुम बन्द कमरेमें आसन बाँधकर पीठकी रीढ़ सीधी करके, आँख बन्द करके 'समं कायशिरोग्रीवं' बैठ जाओगे तब तो तुम्हारा योगा हो जायेगा। यदि तुम अपने सुखके लिए किसी भोगको चाहते हो, तो तुम समझदार नहीं हो और किसी दूसरी चीजको छातीसे सटाकर अभिमान करते हो कि ओ हो! एक सज्जन, फूले-फूले फिरते थे, किस बात पर? बोले—हमारी पत्नी जैसी सुन्दरी स्त्री हमारे शहरमें और किसीके पास नहीं है। थोड़े दिनोंके बाद सिर पीटने लगे, बोले—महाराज, यह तो हमारे लिए बड़ा बुरा हुआ। क्या हुआ कि वह जहाँ जाती है, वहाँ जैसे कोई मांसका टुकड़ा हो, गीध और चील उसको घेरकर बस जैसे खाना चाहते हों, ऐसे महाराज, हम अपनी पत्नीको जहाँ लेकर जाते हैं, बस ये गीध और चील इकट्ठे हो जातें हैं। और हमको उसके ऊपर भी शंका होती है कि कहीं किसीसे मिल न जाये!

जो दुःख मिटानेकी विद्या है, कला है, विज्ञान है, जीवनका एक विज्ञान है, असलमें दुःख हमारे जीवनमें जितना आता है, वह राग-द्वेषके कारण आता है। राग-द्वेषके सिवाय दुःखका और कोई कारण सृष्टिमें नहीं है। तो देहमें जो राग होता है उसको अभिनिवेश बोलते हैं, धनमें जो राग होता है उसको लोभ बोलते हैं, परिवारमें जो राग होता है उसको मोह बोलते हैं, स्त्री आदिमें जो राग होता है उसको काम बोलते हैं, यह तो सब राग है। और, महाराज यह कड़वा बोलना, ताना मारना, छल कपट करना, झूठ बोलना, ठगना, धोखा देना, क्रोध करना, हिंसा करना, द्रोह करना-यह सब द्वेषमें-से निकलता है। ये दोनों पक्ष आप देख लो। तो भगवान् श्रीकृष्णने जो योग बताया, वह आज का प्रचलित योग नहीं है, आप बताओ योग के प्रचलित चौरासी प्रकारके आसन हैं, उनका गीतामें वर्णन कहाँ है? आपके ध्यानमें है कहीं! वह तो थोड़ी देरके लिए योगमें बैठो, तो—

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तराम्।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा, समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।

चौरासी प्रकारके आसन कहाँ हैं उसमें! गीतामें नहीं हैं। अच्छा, कैसा

चन्दन लगाओ, कोई गीतासे बता दे कि चन्दन खड़ा लगाना चाहिए कि पड़ा लगाना चाहिए। अच्छा कपड़ा गेरुआ पहनना चाहिए कि पीला-सफेद पहनना चाहिए, यह गीतासे बता दो। अरे, वह तो मतलब-पर-मतलब जब निकालेंगे, पाँच-चार कक्षामें, तब मिलेगा। अच्छा, फलाहार ही खाकर रहना चाहिए, यह गीतामें-से बता दो कोई।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।

चीजका नाम नहीं लिया हुआ है, गुण बताया हुआ है। यह गीता कोई संस्कारका ग्रन्थ थोड़े ही है, यह तो एक सिद्धान्तको समझा देनेवाला ग्रन्थ है।

तो आप देखो, आप जब जब दुःखी होते हो, तब कहीं-न-कहीं आपकी ही यानि दुःखी होनेवालेकी ही बेवकूफी होती है कहीं-न-कहीं। आप दुःख देनेवालेकी बेवकूफी ढूँढ़ते हो कि दुःखी जो तुम खुद हो, अपनी बेवकूफी ढूँढ़ते हो! तो अगर आप दुःख देनेवाले की बेवकूफी ढूँढ़ते हो, तो तुम डबल बेवकूफ हो जाओगे और अपनी बेवकूफी ढूँढ़कर उसको निकाल दोगे तब तो काम चल जायेगा। तुमको दुःख देनेवाला दुनियामें कोई नहीं है तुम्हारे सिवाय। तुम्हारे मनके सिवाय तुमको दुनियामें दुःख देनेवाला और कोई नही है। तो परमार्थके मार्गमें चलना हो, तो भगवान्‌ने क्या बढ़िया योग बताया आपको सुनाया अभी मैंने। न आसनपर जोर है, प्राणायामकी भी एकाध जगह चर्चा है-ही-है,

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ। ५.१७

परन्तु दालमें नमकके बराबर भी नहीं है। अच्छा, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, यहाँ योग माने समाधि लगाना तो है ही नहीं, तब क्या है? निरोध करना नहीं है? योग माने गीतामें है आप अपने व्यवहारको ऐसा बढ़िया बना लें कि आप दुःखसे बच जायें। तो भगवान्‌ने इसके लिए क्या बढ़िया बताया कि,—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ६.३२

बस, जिस बातसे तुमको दुःख होता है, वह दूसरेके लिए मत करो। तुमसे कोई कड़वा बोलता है, तो तुमको दुःख होता है, तो तुम दूसरेको कड़वा मत बोलो, यही न! तुम्हारा कोई आदर-सत्कार करता है तो तुमको बड़ा सुख

होता है, तो तुम भी दूसरेका आदर-सत्कार करो, तो उसको सुख हो जायेगा, नहीं तो महाराज, अगर तुम दुःख दोगे तो वह दुःख एकका सौ गुणा होकर तुमको भोगना पड़ेगा और यदि तुम किसीका सुख बिगाड़ोगे, तो तुम्हारा सुख भी बिगड़ जायेगा।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ६.३३

भगवान्‌ने बताया साम्ययोग। साम्ययोगका अर्थ है आत्मसाम्य। सबको अपने सरीखा समझो। और तुम्हें सुख चाहिए, तो सबको सुखदो और तुम्हें दुःख नहीं चाहिए, तो किसीको दुःख मत दो। सब जगह भगवान् देखना, सब जगह आत्मा देखना, सब जगह तत्त्व देखना, सबका मतलब यही है। **आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति।** अर्जुनने कहा—बात तो बड़ी सरल है, लेकिन हमारा मन बड़ा चञ्चल है और काबूमें नहीं आता। वे बोले—देखो, सब चीज तुम जन्मसे ही लेकर थोड़े ही आये थे। जब माँके पेटमें-से निकले थे तब किताब पढ़ना आता था? आगया कि नहीं आया? अच्छा, अपने हाथसे उठाकर खाना आता था? कि नहीं आता था, पर आगया न! अच्छा, धोती पहनना आता था? हमको तो महाराज, बहुत बड़ी उम्रतक डाँट सुननी पड़ी थी, कि तुमको धोती पहननी नहीं आती। कहीं पीछेका एक कोना लटक जाता। अच्छा, तो वह सीखनेपर आगया कि नहीं? सीखनेपर आ गया न! अक्षर पढ़ना आगया, भोजन करना आगया, कपड़ा पहनना आगया, सीखनेसे चलना आगया, उसी समय हमारे माँ-बाप कहते कि तुमको नेचरपर छोड़ देते हैं, चलना हो तो चलो, बोलना हो तो बोलो, पढ़ना हो तो पढ़ो। यह नेचर महाराज, निशाचर बनाकर छोड़ देती है। अच्छा महाराज, तुम अपनी पत्नीको नेचरपर छोड़ दो जरा, पत्नी अपने पतिको नेचरपर छोड़ दे। नहीं, अभ्यास बनाना पड़ता है, अगर अपने जीवनको आप ठीक करना चाहते हो, तो जीवनमें चलनेका अभ्यास, करनेका अभ्यास, बोलनेका अभ्यास, अरे, देखनेका अभ्यास चाहिए, नहीं तो लोग क्या समझेंगे! हमारे पास पहले एक ब्रह्मचारी रहता था, मध्यप्रदेशका था, उसकी [illegible] थी ऐसे देखनेकी, स्त्रीकी ओर भी देखे, तो

एक वृद्धा माता थी सत्तर-पचहत्तर बरसकी, तो उन्होंने हमसे कहा कि यह आपका ब्रह्मचारी देखता कैसे है! हमारी ओर ऐसे देखता है तो ठीक है, मैं समझती हूँ कि मैं तो इसकी मातासे भी बड़ी हूँ, सद्भावसे देखता है अगर किसी जवान औरतकी तरफ ऐसे देसखेगा, तो गाली सुनेगा, वह आँख टेढ़ी करके देखता था। वह कहे कि हमारी तो आदत पड़ गयी है ऐसे देखनेकी।

तो ऐसे आदतपर नहीं छोड़ना, देखना भलेमानुसकी तरह, देखनेकी भी आदत होनी चाहिए। चलते समय पाँव धमाधम नहीं होना चाहिए। पलंगपर ऐसे नहीं बैठना चाहिए कि टूट जाये। कोई कपड़ा पहनते समय ऐसे नहीं झाड़ना चाहिए कि उसमें कोई मैल हो तो दूसरेकी आँखमें ही पड़ जाये। उसको भी बचाकर झाड़ना चाहिए। इसीका नाम अपने जीवनमें अच्छी आदत, अच्छा अभ्यास डालना है, तो आप मनको भी अच्छी आदत दीजिये। अच्छा अभ्यास दीजिये। इसको हम योग बोलते हैं।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। ६.३५

अपने जीवनमें एक अच्छा अभ्यास होना चाहिए। पर महाराज, और तो और, हमारे बाप-दादा तो सिखाते ही थे, एक बार क्या हुआ बाँधपर मैं क़था करके आया, श्रीहरि बाबाजी महाराजके बाँधपर और आप जानते ही हैं पेट तो भारी और मैं पेट हीके बल लोट गया। नीचे धरतीपर पेट, ऐसे ही लोट गया पेटके बल। तो उधरसे श्रीउड़िया बाबाजी महाराज निकल गये मैंने देखा नहीं, सिर तो नीचे था ना; पेटके बल लोट गया तो सिर नीचे था ना, अब वे आगये, मालूम पड़ा तो उठ गया, तो बोले कि, पेटके बल नहीं सोना चाहिए। उन्होंने बताया।

अब महाराज, वह जिनके लिए सब समान, उन्होंने एक रहनीकी बात बतायी कि पेटके बल नहीं लेटना चाहिए, आदत हमेशा अच्छी होनी चाहिए। इसीको अभ्यास बोलते हैं।

अभ्यास माने होता है दुहराना। अच्छे कामको बारम्बार दुहराना। अगर आपका मन नहीं मानता है, वह कहता है कि हम वेश्याके घरमें जायेंगे! तो देखो भाई, अगर तुम दिन भरमें तीन दफे बिराहीजीका दर्शन करने जाओ, तो कोई नहीं पूछेगा कि क्यों जाते हो? और महीनेमें एक दिन

भी कभी चले जाओ जहाँ अपने यार-प्यार रहते हैं, तो लोग पूछेंगे आखिर यह महीनेमें एक दिन यहाँ क्यों जाते हैं? तो अपने जीवनमें ऐसी आदत डालनी चाहिए जो अपने लिए तो अच्छी हो ही, दूसरेको भी अच्छी लगे। ऐसा अभ्यास डालना चाहिए। अभ्यास माने होता है दो बार, एक कामको बार-बार करो। अपना मन अगर गन्दी जगहपर जाता है, तो उसको बारम्बार भगवान्‌के मन्दिरमें ले आओ, अच्छी जगहपर ले आओ, शास्त्रके स्वाध्यायपर ले आओ। बार-बार अगर बच्चा जाता है आगकी तरफ, तो बार-बार आप उसको आगसे बचाओ। वह थोड़े दिनोंमें समझ जायेगा कि आगके पास नहीं जाना चाहिए। उसको ऐसी अच्छी चीज दो, चाकू उठानेके लिए जाता है, तो उसको खिलौना दो हाथमें, तो वह चाकूकी तरफ नहीं जायेगा। इसीका नाम होता है अभ्यास। बार-बार, पुनः-पुनः। किसी बुराईके लिए अब जब यह तुम बोलोगे कि ऐसा तो हमारा स्वभाव बन गया, ऐसी तो हमारी आदत पड़ गयी, ऐसा तो हमारा अभ्यास हो गया, तो इसका अर्थ हुआ कि तुम अपने जीवनमें, अपने मनमें साँप पाल रहे हो। तो देखो, हमारे योगका अर्थ कितना सरल है। इसमें न वीरासन है, न भद्रासन है, न स्वस्तिक आसन है, न शवासन है, न उष्ट्रासन है, न सर्पासन है, न मयूरासन है, ये सब आसन इसमें नहीं हैं। इसमें आसन यही है कि अपने जीवनमें अच्छे अभ्यास डालो, अच्छी जगहपर बैठो।

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्रतत्रोपविश्यते।
एवं चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषं न रक्षति॥

जब आदमी गन्दा कपड़ा पहनने लगता है, तो चाहे जहाँ धूल-धक्कड़में बैठ जाता है, गोबरपर बैठ जाये, राखपर बैठ जाये, गन्दी जगहमें बैठ जाये, क्योंकि उसको अब अपना कपड़ा बिगड़नेका तो ख्याल ही नहीं रहा। इसी प्रकार जब आदमी एकबार अपने चरित्रको गिरा लेता है, तब वह चाहे जहाँ अपने चरित्रको निम्नकोटिका कर देता है। गिरा देता है, वह अपने शेषवृत्तको—शेष आचरणको भी नहीं रख पाता है। इसलिए महाराज, अभ्यासका अर्थ है किसीसे दुश्मनी हो, तो उसे प्यार दो; अब किसीसे प्यार हो तो उसकी मर्यादा बनाओ। क्या मर्यादा बनायें? कि प्यारको दुश्चरित्रतापर्यन्त

नहीं जाने देंगे। जिससे प्यार है, उसका पक्षपात नहीं करेंगे, उसके लिए बेईमानी नहीं करेंगे, उसके लिए अन्याय नहीं करेंगे, उसके लिए बुराई नहीं करेंगे। प्यार है तो उसे मर्यादित करो और द्वेष है तो भगवान्‌से प्रार्थना करो कि हमारे हृदयमें जो द्वेष है उसको मिटा दो, जो कड़वाहट है सो मिटा दो, सत्संगमें आनेका कम-से-कम यही फल है।

तो यहाँ अभ्यास माने आसन-प्राणायाम नहीं; अभ्यास माने तुम्हारे मनमें जो राग-द्वेष उठ-उठकर तुमको सताते हैं और दूसरेको दुःख देते हैं, उस बुरी आदतको छोड़नेके लिए बारम्बार-बारम्बार अभ्यास करो। हम 'योगा' वह नहीं मानते हैं जिससे वैकुण्ठमें परमेश्वर मिलता है, जिसमें समाधिमें परमेश्वर मिलता है। योग माने हमारा यह जीवन सुखी हो जाये। जो यहाँ सुखी होनेके लिए तैयार नहीं है उसको स्वर्गका भी सुख नहीं चाहिए। भोगी है वह। जो इस ज़ीवनमें सुखसे प्यार नहीं कर रहा है, वह मरनेके बाद सुख चाहता है, यह बात उसके भोगके अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि जब यहीं सुख नहीं मिलता है और तुम्हारा उससे प्रेम नहीं है। जहाँ राग होगा, अपने दिलको तुम बिगाड़ रहे हो, तुम्हें वैकुण्ठ चाहिए, तुम्हें समाधि चाहिए, तुम्हें ईश्वर चाहिए। तुम अपनेको धोखेमें डालते हो कि दूसरेको। तो जो भोग चाहता है, वह राग-द्वेषको नहीं मिटाना चाहता, जो वस्तुओंको इकट्ठा करके अभिमानके द्वारा सुखी होता है वह भी राग-द्वेषको नहीं मिटाना चाहता। और जो यार-प्यारका मनोराज्य करके सुखी होता है वह भी अपने मनके राग-द्वेषको नहीं मिटाना चाहता। राग-द्वेष मिटानेका एक मार्ग है कि अपने जीवनमें अभ्यास अच्छा हो। आप बताओ सूर्योदयके पहले आपका उठनेका मन होता है कि नहीं! बोले—बाबा, हम तो नेचरपर छोड़ देते हैं, जबतक नींद आये तबतक आये। धन्य हो! एक सज्जनसे किसीने पूछा—कब उठते हो? बोले—जब सूर्यकी रोशनी घरमें आती है तब उठते हैं। अरे भाई, तब तो बहुत जल्दी उठ जाते हो, सात बजे उठ जाते हो? नहीं महाराज, हमारे घरकी खिड़की पश्चिमकी तरफ पड़ती है, जब सूर्य लटकता है तब रोशनी आती है। भला बताओ, तो जीवनके लिए यह अभ्यास है।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

यह जो तुम समझते हो कि हमको कोई सुख दे जायेगा, आपसे दो टूक

बात कहते हैं, क्योंकि हम ऐसा समझने लगे हैं कि आप लोग बहुत दिनसे हमारी बात सुनते हैं, तो हम कोई दो टूक बात कह देंगे देहाती, तो आप नाराज नहीं होंगे। तो दो टूक बात हम आपसे यह करते हैं, हमारे वेद-वेदान्तका सिद्धान्त यह है कि जो ईश्वरके भरोसेपर बैठ जाता कि ईश्वर जब जाहेगा तब हमको सुख देगा, उसको वेदान्तकी दृष्टिसे अच्छा आदमी नहीं माना जाता। क्यों? वह अपनेको पराधीन बनाना चाहता है। अपना हाथ-पाँव पीटो न, ईश्वर तुम्हारे अन्दर क्या सुर्खाबका पर देखता है कि तुमको सुख देनेके लिए आयेगा? काहेको आयेगा ईश्वर तुमको सुख देनेके लिए? जो खुद प्रयत्न नहीं करता, उसको ईश्वर भी सुख नहीं देता, जो अपनेको जोखिममें नहीं डालता है उसको कोई सफलता नहीं मिलती है। आलसी आदमीकी मदद ईश्वर भी नहीं करता है। तो तुम्हारी पत्नी रोज तुम्हारे मुँहमें कौर डालती रहेगी, यह तुम क्यों सोचते हो? अरे कुछ देश-काल भी समझो भाई! अभी आज ही एक माता हमारे पास आयी थीं, उसने बताया कि मैं जा रही हूँ मायके। मैंने कहा—बच्चे कैसे खायेंगे, लड़की भी नहीं है, लड़के-ही-लड़के हैं सब। तो बोली—हमारे सब बच्चोंको भोजन बनाना आता है और सब ठीक बनाना आता है। वे बड़ा बनायेंगे, कढ़ी बनायेंगे, मिठाई बनायेंगे, वे अपने हाथसे बनाकर खायेंगे। स्वावलम्बी बच्चे हैं। नहीं तो माँके जानेपर रोते कि होटलका खाना अच्छा ही नहीं लगता है। रोज-रोज हम होटलका नहीं खा सकते।

क्या पड़ोसीके भरोसे हम पार होंगे! ब्राह्मण-पण्डित हमको स्वर्ग दिला देगा। पहले लोग पादरीसे चिट्ठी लिखा लेते थे कि स्वर्गमें पहुँच जायेंगे। उससे स्वर्ग नहीं मिलता है। कोई देवता आपको उठाकर स्वर्गमें नहीं रखेगा, कोई महात्मा नहीं रखेगा। आप अपने कर्मसे, अपने प्रयत्नसे, अपने पौरुषसे अपनी उन्नति करेंगे।

संस्कृतमें एक 'सर्वदर्शन-संग्रह' नामका एक ग्रन्थ है, चार्वाकसे लेकर अद्वैत वेदान्त तकके सोलह दर्शनोंका उसमें संग्रह है। उसमें रसेश्वर दर्शन है, नकुलीश दर्शन है, पाशुपत दर्शन है, बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वहाँ तो यह प्रश्न ही उसमें उठाया कि हे ईश्वर, हे परमेश्वर करते-करते तो मनोवृत्ति पराधीन हो जायेगी, कुछ करनेका मन नहीं होगा, फिर तो हमारा जीवन बिगड़ जायेगा।

इसका समाधान क्या है? इसका समाधान यह है कि इसको **अहं महेश्वरः** से प्रारम्भ करो, परतन्त्रवाद नहीं, स्वतंत्रवाद। जैसे हम अपने व्यावहारिक जीवनमें स्वतंत्रता चाहते हैं, परतंत्रता नहीं, वैसे हमारे साधनके जीवनमें भी परतंत्रता नहीं चाहिए। स्वतंत्रता चाहिए।

जब हम राग-द्वेषके फन्देमें फँस जाते हैं, तो इसीका नाम तो गुलामी है, इसीका नाम तो पराधीनता है। जब हम द्वेष कर बैठते हैं किसीसे, तो इसीका तो अर्थ होता है कि हमने अपने घरमें आग लगा लिया।

तो देखो, **वैराग्य** शब्दका अर्थ आपको बताते हैं। अभ्यास माने अगर आदत बिगड़ गयी है, तो धीरे-धीरे सुधारो, इसीका नाम अभ्यास है। अभ्यास माने चन्दन लगाना नहीं। अभ्यास माने गेरुआ कपड़ा पहनना नहीं। अभ्यास माने कसरत करना नहीं, अभ्यास माने जो बुरी आदतें अपने जीवनमें आगयी हैं दुःख देनेवाली, उनको छोड़ो।

अब यह बात बताते हैं कि यदि अभ्यास करके हम जबरदस्ती अपने हाथ-पाँव-इंद्रियोंको रोक लेंगे तो हमारे जीवनमें कोई उद्वेग तो नहीं होगा? तो अब उसका बिलकुल साफ-साफ जवाब सुनो—**वैराग्येण च गृह्यते**, वैराग्य माने संस्कृत भाषामें होता है—विगत राग। जिसका राग विगत हो गया, माने राग और द्वेष दोनों विगतकी वस्तु हो गया, द्वेष माने किसीको देखकर अपने दिलमें जलन होने लगे, आँखमें जलन होने लगे और राग उसको कहते हैं कि जिसके लिए हमारे दिलमें पक्षपातका उदय हो जाये, हम पक्षी हो जायें, इनसान न रहें, चिड़िया बन जायें। तो जिसके जीवनमें राग और द्वेष विगतकी वस्तु हो गये उसको बोलेंगे विराग। ***विगतः रागः तदुपलक्षितो द्वेषस्य यस्मात् असौ विरागः।*** जिसके राग और द्वेष बीते हुए तो हैं परन्तु वर्तमान जीवनमें नहीं हैं, उसका नाम होगा विराग। और ***विरागस्य भावः वैराग्यम्***—विरागके भावको बोलेंगे वैराग्य। वैराग्यका मतलब यह है कि दुनियामें किसीके लिए पक्षपात न हो और दुनियामें किसीके लिए जलन न हो, तब बोलेंगे वैराग्य। इससे क्या होगा? आपको देखो, बड़े मार्केकी बात सुनाता हूँ। वेदान्तवेद्य यह बात है। लोग कहते हैं कि अगर आँखसे, हाथसे, पाँवसे और इन्द्रियोंसे जबरदस्ती करके रोकेंगे इनको, तो पागल हो जायेंगे। तो अब

उसका जवाब सुन लो कि तुमको दुनियासे वैराग्य है कि नहीं? तुम भीतरकी वस्तु चाहते हो कि बाहरवाली चाहते हो बाहरवाली और रोककर बैठोगे इन्द्रियोंको, तब तो गीता ही तुमको कहेगी कि मिथ्याचारीजी प्रणाम!

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ३.६

चाहते तो हो कि हमारा ब्याह हो जाये, हम पहचानते हैं ऐसे लोगोंको। कितने लड़के-लड़की हमारे पास बोलते हैं, बस-बस अब हम ब्याह नहीं करना चाहते। अरे बाबा, प्रेममें तो फँसे हो, *अंगूर खट्टे हैं*, जिसको तुम चाहते हो वह तुमको नहीं मिलता है, तो बोलते हो—अब हम ब्याह नहीं करना चाहते! हम तो तुम्हारी अन्तरकी आवाज सुनते हैं—

'चींटीके पाँवसें घुँघरू बोले वाहु को साईं सुनता है।' तो तुम कहो हमको ब्याह नहीं करना, क्यों? बोले—यार नहीं मिला। अब यारसे मिलनेकी तो इच्छा है, ऊपर-ऊपर बोलते हैं कि हमको ब्याह नहीं करना है। अब ऐसे लोग जब इन्द्रियोंको रोक-रोककर बैठेंगे तो भीतरसे यारसे मिलनेकी उठेगी भभक और बाहरसे रोकेंगे तो पागल हो जायेंगे। और आदमीको खुदकी पहचान नहीं होती, लेकिन मनमें जो भीतर बैठा हुआ है परमेश्वर, तुमको कृष्ण चाहिए? तुमको राम चाहिए? तुमको नारायण चाहिए। तुमको अन्तर्यामीका खिलौना बनना है? तुमको ब्रह्मसे एक होना है? तो यदि होगा बाहरसे वैराग्य और भीतरकी चीजको चाहोगे तो इन्द्रियोंको रोक लो, मनमें राग-द्वेष है नहीं बाहरकी चीजोंसे, अपनी आत्मामें शान्त हो जाओ और फिर तो ऐसी तुम्हारी चलते-फिरते समाधि लग जायेगी, समाधि माने सम चिन्तन। आधि माने चिन्ता होता है कि नहीं? व्याधि माने शरीरका रोग और आधि माने चिन्ता-मानसिक और समाधि माने समचिन्ता। सम चिन्तन। इसीका नाम होता है समाधि।

अपनेको धोखा मत देना और जो दूसरेको धोखा देने जाता है, वह खुद धोखा खाता है। ईश्वरके दरबारमें कोई बात छिपी नहीं रहती है। जैसे तुमको गुस्सा आता है, तो देखनेवाला समझ जाता है कि नहीं? आँख लाल हो गयी, ओंठ फड़कने लगा, भवें चढ़ गयीं ऐसे थर-थर होंठ थिरकने लगते हैं, गुस्सा

आनेपर होंठ नाचने लगते हैं, श्रीहरि बाबाजी महाराज कभी हँसना चाहते थे, तो उनका होंठ ऐसा काँपता था, जोरसे तो हँसते नहीं थे, माने उनकी हँसीमें कभी आवाज़ तो आती नहीं थी। उड़िया बाबाजी महाराज तो जो लोग उनके साथ बीस-तीस बरस रहे थे, उनको कभी ठठाकर हँसते नहीं देखा था, ऐसी हँसी कभी उड़िया बाबाने नहीं हँसी जिसमें आवाज आती हो। हम लोग तो दिन-रातके साथी महाराज, क्या बतायें आपको, खानेके समय साथ बैठकर भोजन करते थे दोनों समय। वे चाय पीते थे मैं दूध पीता था। चाय तो मैंने यहाँ बम्बईमें आनेके बाद पी, उनके साथ मैं चाय नहीं पीता था, वे चाय पीते थे। मैं दूध पीता था। तो दो बारके चायमें और दो बारके भोजनमें और दो घण्टेकी कथामें और रासलीलामें और जिस समय प्रश्नोत्तर सत्संग होते थे, उस समय साथ होते! अब आप सोचो, छह-छह, आठ-आठ घण्टे बिलकुल उनके सामने बैठकर हमारा समय व्यतीत होता था और कैसे-कैसे प्रसंग आते थे, हँसानेवाले लोग भी आते थे, नाटक करनेवाले भी आते थे, पर कभी उनका हँसना नहीं देखा। मुस्करा जाते थे, दाँत दिखता था। दाँत तो वैसे भी दिखता था। हमारे एक उनकी भक्त थीं माता, वह बोलती थीं कि *'यह दाँतुर खसम हँसता है कि नाराज़ होता है, पता ही नहीं चलता!'* संस्कृतका शब्द है *'दन्तुरा'* हमेशा एक सरीखा दाँत दिखता रहता है। लेकिन महाराज, इस बातपर भी उनको हँसी आती हो, सो बात नहीं, वे तो वैसे ही, पीठकी रीढ़ सीधी, सिर तना हुआ और कभी उनकी जुबानसे हँसी निकली नहीं। मुँहसे कभी हँसी नहीं निकली, तो आपको बताते हैं, इसका नाम है हमारे यहाँ समाधि। आपको वेदान्तकी भाषामें वेदान्तकी समाधि बताते हैं—

तत्त्वबोध एवायं वासनातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थिति॥

चुप बैठनेका नाम समाधि नहीं है। *तत्त्वबोध एवायं*—सब अपना ही स्वरूप है। यह ज्ञान वासनारूपी तृणके लिए आग है। इसीको वेदान्तमें बोलते हैं समाधि।

समाधानं समाधिः सम्यक् आधानं समाधिः।

यह तो सारा कार्य कारणमें और कार्य, कारण दोनों अपने अधिष्ठान

ब्रह्ममें। तो असलमें समत्वका जो योग है वह आँख बन्द करनेका नहीं है। क्या योग है?

वैराग्येण च गृह्यते। इसमें समचिन्तन चालू रहे। कुण्डलिनी जागरणका तान्त्रिक योग भी दूसरा है और हठयोग भी है। लययोग, राजयोगसे भी कुण्डलनी जाग्रत् होती है, परन्तु महाराज! यह कुण्डलनीवालोंने जो चार दल, छह दल, आठ दल, दस दल, द्वादश दल और शाकिनी-हाकिनी-डाकिनी जो उसमें हैं, यह कहीं योगकी हैं? वह बिलकुल तंत्र है। तो यह कुण्डलनी जागरण वेदान्तका नहीं है। वेदान्त तो हमारा खुला जीवन है। खुली पोथी है। हमारे इस जीवनें यदि रागमूलक पक्षपात नहीं है, तो इसका नाम वेदान्त है। हमारे जीवनमें यदि द्वेषमूलक बेइमानी और और कठोरता नहीं है, तो इसका नाम वेदान्त है। हमारे जीवनमें यदि मृत्युका भय, वियोगका भय नहीं है, तो इसका नाम वेदान्त है। छोटी-छोटी बातोंके लिए जो अपनेमें बड़प्पनका अभिमान होता है, वह नहीं है, तो इसका नाम वेदान्त है। और हमारी बुद्धिमें परमात्माके सिवाय अगर दूसरा कोई नहीं है, सबकुछ चलते-फिरते, हिलते-डोलते, खाते-पीते सब कुछ परमात्मा है, तो इसका नाम वेदान्त है।

हमको क्या तू ढूँढे बन्दे हम तो तेरे पासमें।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने कहा कि सब परमेश्वर है। शंकराचार्यजीने कहा सब ब्रह्म है। परन्तु यदि आप अपने मनको असंयममें छोड़ देंगे—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्त।

असंयमी पुरुषको यह समत्वयोग, यह साम्ययोग प्राप्त नहीं होगा।

: ३६ :

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

भगवान् कहते हैं कि आप अपने मनको वशमें कीजिये। जबतक शरीर हिलेगा, डोलेगा, इन्द्रियाँ इधर-उधर चलेंगी, तबतक मन वशमें नहीं होगा। इस प्रकार मनको वशमें करनेके तीन उपाय हो गये—एक अभ्यास, दो-वैराग्य और तीन-संयम।

चौथा उपाय भी एक है जो सीखने लायक है। उपाय माने मनको वशमें करनेकी युक्तियाँ—

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगतिरेव च।
वासना सम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्ताः युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल।

कहते हैं कि अपने मनको वशमें करना हो, तो चार बातका ध्यान रखें। जो ड्राइवर केवल मोटर चलाना जानता है, मशीनको नहीं समझता,

वह मोटर खराब होनेपर बीच रास्तेमें खड़ी कर देगा कि नहीं? तो आप अपने मनसे इन्द्रियोंसे काम तो लेते हैं, किन्तु वे कैसे काम करती हैं, यह नहीं जानते। हमारा जो मन है वह आँखमें जाता है तो देखता है, कानमें जाता है तो सुनता है। शरीरके भीतर जो प्रक्रिया हो रही है, इसीको अध्यात्मविद्या बोलते हैं—

आत्मनि एव इति अध्यात्मम्।

तो शरीरके भीतर जो मशीन चल रही है उसकी प्रणालीको ठीक-ठीक समझिये। जिन सन्तोंका मन वशमें है उनकी संगति कीजिये, अपनी वासनाओंको ज़रा कम कीजिये—*वासनासम्परित्यागः।*

और साँसको अपने क़ाबूमें कीजिये—*प्राणस्पन्दनिरोधनम्।*

यह सीखकर करनेका है, बिना सीखे नहीं कर सकते। इसलिए इसीका नाम है उपाय। उपाय शब्दका संस्कृतमें ऐसा ही अर्थ होता है कि पहले करके फिर छोड़ दे। नावसे नदी पार कर ले और नाव छोड़ दे। जूता पहनकर कंकरीली भूमि पार कर ले, फिर जूता उतारकर पूजा-घरमें जाये।

वैयाकरण शिरोमणि भर्तृहरिने उपाय शब्दका यह अर्थ किया है कि पहले स्वीकार करो, पीछे छोड़ दो—*उपायादायापि ये ह्येयाः उपायास्ते प्रकीर्तिताः।* यदि इन उपायोंको पकड़कर रखोगे तो ये तुमको बाँधकर दबा देंगे।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥

अर्जुन पूछता है—'कृष्ण! मन योगसे विचलित हो गया है; किन्तु जिसमें श्रद्धा है, वह योगकी संसिद्धि न पाकर किस गतिको जाता है?'

अर्जुन—सरल पुरुष है। उसे लगता है कि मुझमें श्रद्धा तो है; किन्तु मैं साम्यसे विचलित हो गया। मुझे मोहने आक्रान्त कर लिया। अब यदि युद्धमें कहीं मारा जाऊँ तो योग-संसिद्धि तो मुझे मिली नहीं, फिर मेरी क्या गति होगी?

'अयतिः'—कोई साधन तो छोड़ दे। **'योगाच्चलितमानसः'** योगसे उसका मन चलित हो गया तो साधना छूट गयी; किन्तु योगमें श्रद्धा बनी है।

आप कहीं पहुँचना चाहते हैं, पहुँचनेकी इच्छा बनी हुई है; किन्तु आपने मोटर चलाना बन्द कर दिया। आलस्य आगया।

योग जहाँ पहुँचाता है, उस स्थितिमें श्रद्धा बनी है **'श्रद्धयोपेतो'** गुरुमें, मन्त्रमें, साधनामें श्रद्धा तो है; किन्तु साधन छोड़ दिया तो उसकी क्या गति होती है?

अब प्रश्न यह कि एक श्रद्धालु साधक है। उससे साधनमें ढिलाई हो गयी। परन्तु वह श्रद्धालु है और आप जानते हैं श्रद्धा हृदयमें रहकर काम करती है। भगवान्ने श्रद्धाको बहुत महत्त्व दिया है। यह प्रश्न **श्रद्धयोपतः** से प्रारम्भ हुआ है और श्रद्धामें ही उत्तरका उपसंहार किया गया है।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।

प्रश्न श्रद्धासे और उत्तरकी पूर्णता श्रद्धामें।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥

महाबाहु! कहीं वह दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर बादलके छोटे टुकड़े-सा नष्ट तो नहीं होता; क्योंकि ब्रह्मके मार्गमें विमूढ़ होनेसे वह प्रतिष्ठित नहीं हुआ।

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।

जो विवेकभ्रष्ट हो गया है, उसका सैकड़ों मार्गोंसे बराबर पतन ही होता जाता है।

'*ब्रह्मणः पथि विमूढः*'—ब्रह्मके मार्गमें—अपने स्वरूपके साक्षात्कारमें तो वह विमूढ़ हो गया; क्योंकि **"अयतिः'** प्रयत्न उसने छोड़ दिया है। अतः **'अप्रतिष्ठः'** उसकी प्रतिष्ठा—स्थिति कहीं मिली नहीं।

जब कोई दोषसे संचालित होने लगता है, तब वह कहाँ पहुँचकर रुकेगा, इसका कुछ पता नहीं होता। **'छिन्नाभ्रमिव'**—शरद ऋतुमें जब आकाशमें मेघोंके विरल खण्ड होते हैं, तब यह दृश्य देखा जा सकता है। एक बड़े बादलसे एक छोटा टुकड़ा पृथक् हुआ। वह दूसरे टुकड़ेकी ओर बढ़ता है; किन्तु वहाँतक पहुँचनेसे पहले ही फैलकर आकाशमें अदृश्य हो जाता है।

'नश्यति'—मेघका खण्ड अदृश्य हो जाता है; किन्तु नष्ट तो होता नहीं। इस अदृश्य होनेको ही अर्जुनने उसका नाश होना माना है। योगके प्रति श्रद्धा है अतः संसारमें भी वह आ नहीं सकता और 'ब्रह्मणः पथि'-में विमूढ़ होकर अप्रतिष्ठ रह गया, तब क्या वह भी उस छिन्न हुए मेघ-खण्डके समान अदृश्य एवं किसी हीन अकल्पित गतिको पाता है-नष्ट हो जाता है?

'महाबाहो'—आपकी भुजाएँ विशाल हैं। आप दयामय हो और समर्थ हो। आप उसकी सहायता करते, उसे बचाते हो या नहीं?

इस प्रसंगमें एक बड़े भारी लोक संग्रहकी बात आपको थोड़ेमें सुनाता हूँ। श्रद्धालु पुरुष योगसे छूट जाय और योगकी सिद्धि न मिले, तो वह न इधरका रहा, न उधरका रहा। अब उसकी क्या गति होगी? वह किधर जायेगा? उसकी साधना भी छूटी और सिद्धि भी नहीं मिली। अब उसका क्या होगा? वह ब्रह्मके मार्गमें भटक जायेगा, विमूढ हो जायेगा। इसके बाद अर्जुनने श्रीकृष्णके प्रति अपनी बड़ी भारी श्रद्धा प्रकट की और कहा—

: ३९ :
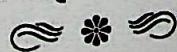
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयास्यस्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ ३९॥

आप पूरी शंका मिटा दीजिये, क्योंकि—

आपके सिवाय दूसरा कोई इस संशयको काट नहीं सकता।

हर शिष्यके मनमें अपने गुरुके प्रति यही श्रद्धा होनी चाहिए कि इनके सिवाय हमारे संशयको मिटानेवाला और कोई नहीं।

संशय माने सोनेकी दशा। *शीङ् स्वप्ने धातुसे शयः* शब्द बनता है। *सम्यक् शयने संशयः*।

इस संशयको कृष्णके सिवाय और कोई नहीं मिटा सकता—यह अर्जुनकी श्रद्धा है! वह कहता है कि हमसे योग साधनामें गलती हो सकती है और सम्भव है आगे सिद्धि न मिले। परन्तु तुम्हारे ऊपर मेरी श्रद्धा है, मेरे संशयको मिटा दो—

छित्त्वैनं संशयम्।

: ४० :

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥ ४०॥

तो श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! श्रद्धालुका विनाश न यहाँ और न वहाँ है—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।

उसका न तो साधन छूटेगा और न सिद्धि छूटेगी। यहाँ-वहाँ कहीं भी उसकी हानि नहीं। इसके लिए एक शर्त जोड़ दी। आप भी इसका प्रयोग अपने व्यवहारमें कर सकते हैं—

न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।

अर्थात् जो अच्छा काम करेगा, उसको बुरा फल कभी नहीं मिलेगा। यह सुभाषित है गीताका। कोई अच्छा काम कर रहा हो और वह डरता हो कि करें या न करें, तो आप उसको इस सुभाषितका उल्लेख करते हुए समझा सकते हैं कि वह अच्छा काम करनेसे विचलित न हो।

यदि कोई मर गया हो, तो उसके सम्बन्धियोंके लिए यह आश्वासन है कि—

: ४१ :

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥

प्राप्य पुण्यकृतान् लोकान्—वह उस उत्तम लोकमें पहुँच जायेगा, जहाँ पुण्य करनेवाले लोग जाते हैं।

वह उत्तम लोक कहाँ होता है? ऊपर भी होता है, नीचे भी होता है, भीतर भी होता है और बहुत दिनोंतक स्थिर रहता है। उसके बाद पुण्यकर्त्ता जब इस लोकमें पैदा होता है, तो श्रीमानोंके घर पैदा होता है। श्रीमान् भी ऐसे जो शुचि हैं, पवित्र हैं।

यहाँ आप एक बात देखें। पूर्वजन्मके पुण्यात्मा इस जन्ममें बड़े सम्पन्न हो सकते हैं यदि वे पूर्वजन्मके पुण्यात्मा होंगे, तो धन उनके पास आ जायेगा, किन्तु सुख तभी मिलेगा जब वे सत्संगी होंगे। हम ऐसे बहुत-से लोगोंको जानते हैं, जिनके पास बड़ी सम्पदा है, परन्तु वे सुखी नहीं।

सुख तो भगवद्भजनका, भगवच्चिन्तनका, ज्ञानाभ्यासका, सत्संगका फल है और धन कर्मका फल है। यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं कि आपके पास चार पैसे हैं कि नहीं, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आपका दिल सुखी है कि नहीं?

यदि आपका दिल सुखी है, तो कुछ न होनेपर भी आप भाग्यवान हैं और यदि बहुत कुछ होनेपर भी आपका दिल सुखी नहीं तो आप भाग्यवान नहीं हैं। वह धन किस कामका, जो आपको सुख नहीं दे सकता! तो, **शुचीनां श्रीमतां गेहे** एक बात हुई।

: ४२ :

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥

दूसरी बात यह है कि यदि पुण्यात्माकी वासना निवृत्त हो गयी हो, तो वह **योगिनामेव कुले भवति**—जिस वंशमें योगाभ्यास होता है उस वंशमें पैदा होता है या पैदा होकर योगियोंके बीचमें चला जाता है।

योगी भी दो तरहके होते हैं। एक मूर्ख योगी होते हैं और दूसरे ज्ञानी योगी होते हैं। आठ-आठ घण्टोंतक आँख बन्द करके और शरीर तानकर बैठे रहे, प्रणायाम, प्रत्याहार भी ठीक किया, आसन भी स्थिर रहा, किन्तु उठे तो मूर्खताका काम करने लगे। तो योगीको बुद्धिमान होना चाहिए। **धीमतां** धी माने धारणावती। *धत्ते इति धी*—जो अच्छी बातोंको पकड़कर रखे, उसका नाम 'धी' है। ऐसा जन्म दुर्लभ है—

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।

: ४३ :

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥

माता-पिता पवित्र धनी हों तो उनका पुत्र भी पवित्र ही रहे, यह आवश्यक तो नहीं है। धनीके घर जन्म लिया तो जन्मसे सब सुविधा मिली। अधिक सम्भावना है, लोकमें अधिकांश देखा जाता है कि धनियोंके लड़के दुर्व्यसनोंमें पड़ जाते हैं।

बुद्धिमान् योगीके घर जन्म हुआ तो पुत्र भी बुद्धिमान् ही हो, कोई आवश्यक है? अच्छे महापुरुषोंके भी कुपुत्र हुए हैं। फिर माता-पिता जो साधन-भजन करते होंगे, पुत्र भी उसीकी प्रेरणा पायेगा।

इन दोनों दुर्लभतर जन्मोंमें भी योगभ्रष्टका क्या लाभ हुआ? वह अपने पथसे तो गिर ही गया। ऐसा नहीं है।

वहाँ पूर्व शरीरका जो बुद्धियोग था, पूर्व जन्ममें जो अभ्यास किया था, वह प्रतिफलित होकर वैसी ही बुद्धि, वैसी ही साधना और वैसी ही स्थिति उसको फिर इस शरीरमें प्राप्त हो जाती है। उसका पूर्वाभ्यास सहायक हो जाता है।

: ४४ :

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

असलमें जिसको हम मरना कहते हैं वह महात्माओंकी दृष्टिमें वैसा ही है, जैसे सोना, जैसे आप कमरेमें जिस पलंगपर, जैसा बिस्तर बिछाकर, तकिया लगाकर, पंखा चलाकर सोते हैं और जब सबेरे जगते हैं तो कमरेका समान वातावरण ज्यों-का-त्यों मिलता है, वैसे ही मनुष्यका शरीर छूटनेपर उस समयके अन्तःकरणकी जैसी परिस्थिति होती है वैसी ही परिस्थिति उसको दूसरे शरीरमें मिलती है।

जीवन यहाँ समाप्त होता है, वहींसे प्रारम्भ होता है। अतः आगेके जीवनमें भगवान्को प्राप्त करनेके लिए आप वर्तमान जीवनमें अपने चारों और भगवान्की, पवित्रताको, शान्तिको बसा लीजिये।

जैन लोग कहते हैं कि अहिंसाको बसा लीजिये, बौद्ध कहते हैं कि करुणाको बसा लीजिये। हिंसा और अहिंसा, करुणा और निष्ठुरता, दोनोंसे हित हो सकता है, ऐसी वैदिक धर्मकी मान्यता है। हमारा अहिंसामें आग्रह नहीं, लोकहित होना चाहिए। करुणा भी एकांगी है, अहिंसा भी एकांगी है। अहिंसा केवल निषेधात्मक है। करुणा केवल विधानात्मक है। हितमें बुद्धिका नाश नहीं है।

अमुक रोग आपरेशन करनेसे अच्छा होगा या मरहम लगानेसे और अमुक व्यक्तिका भला कुछ देनेसे होगा या उसे डाँट-फटकारकर वापिस कर देनेसे—उसका निर्णय परिस्थितिके अनुसार होता है। इसीको हित बोलते हैं।

यदेव हिततमं तदेव मे, ब्रूहि—यह वैदिक धर्मका सार है। अच्छा, अब आगे देखो—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।

पूर्वाभ्यास बड़ा समर्थ है। साधक कितना भी विषय-विवश हो गया हो, इन्द्रियाँ उसके वशमें नहीं, मन न हो, परन्तु जैसे लुटेरे जबरदस्ती लूटकर ले जाते हैं वैसे ही विषय-भोग-विवश साधकको भी उसके पूर्वका योगाभ्यास लूट लेता है, अपनी ओर खींच ले जाता है, अपहरण कर लेता है।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते।

मनुष्य जब योगका जिज्ञासु होता है, अन्तर्मुख होता है, परमात्मासे मिलना चाहता है तब वह संसारमें कर्त्तव्योंके विधि-निषेधसे मुक्त हो जाता है। वह परमात्माकी प्राप्ति कर ले तब तो कहना ही क्या, यदि प्राप्त करनेका सच्चा जिज्ञासु हो जाये, तो भी मुक्त हो जाता है। प्राप्त करनेवाला विधि-निषेधसे मुक्त हो जाता है—यह बात पहले कही है—

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।

और, यहाँ बताया कि जिसको बाहरका कुछ पाना है, उसके लिए विधि-निषेध होता है। जिसको बाहरका कुछ नहीं पाना, अपने अर्न्तजगत्में ही महती प्रतिष्ठा प्राप्त करनी है उसके लिए बाहरके विधि-निषेधका कोई अर्थ नहीं।

जिसको कहीं जाना नहीं, चलना नहीं, उसके लिए सड़कपर बायें चलो कि दाहिने चलो का कोई मतलब नहीं। यह सब तो उसके लिए है, जो चलता है। तो जब जिज्ञासुके लिए भी विधि-निषेधका महत्त्व नहीं तो योगीके लिए कहना ही क्या है?

: ४५ :

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥

प्रयत्न करते-करते उसके जो किल्विष हैं, पाप हैं, जिनके कारण वह संसारचक्रमें भटक गया था, वे नष्ट हो जाते हैं।

पहले बताया था कि संसारमें सबसे बड़ा पाप नासमझी है। दूसरे नम्बरका पाप घमण्ड है, तीसरे नम्बरका पाप मुहब्बत है, चौथे नम्बरका पाप दुश्मनी है और पाँचवें नम्बरका पाप मौतका डर है। ये पाँच पाप अन्तरङ्ग हैं और इनसे फिर पाँच महापाप दुनियामें पैदा होते हैं। तो

हरिसे लागा रहु रे भाई।
तेरी बनत बनत बनि जाई॥

कितना बड़ा आश्वासन है। एक जन्ममें नहीं, तो अनेक जन्मोंमें सही, हमको तो सफलता मिलेगी। अपनी सफलतापर विश्वास रखो। विश्वासके बिना मनुष्य कोई साधन नहीं कर सकता। यदि प्रयोजन न हो, तो मनुष्य कर्म न करे—

प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।

प्रयोजनके अभावमें प्रवृत्ति नहीं होगी। कामना दूसरी वस्तु है और प्रयोजन दूसरी वस्तु है। कामना भोगको प्राप्त करके शान्त हो जाती है और भोग छूट जाता है। प्रयोजन वह होता है जो *अवगते सति आत्मनि इष्यते*—मिलनेके बाद अपने आपमें आत्मसात् हो जाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ १८.२५

वह कर्म तमोगुणी हो जायेगा, जिसके परिणामका हम ठीक-ठीक ध्यान नहीं कर लेंगे। यह देखना आवश्यक है कि जो परिणाम होगा, वह हमारे साथ मिल जायेगा कि नहीं, आत्मसात् होगा कि नहीं। दूध गायका हो, भैंसका हो अथवा बकरीका हो, उसमें मूल बात देखनेकी यह है कि पीनेके बाद वह हमको पच जायेगा कि नहीं? शरीरमें उसका जो पाचन है, वह प्रयोजन है। उसको देखे बिना आप दूध लेंगे तो आपको नुकसान करेगा।

यह सत्य अवगत करने योग्य है कि आहारका परिणाम शरीरको सकल अनर्थोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति है। जिस प्रकार आत्मामें परमानन्दकी प्राप्ति वेदान्त-विचारका प्रयोजन होता है, वैसे ही आप कर्म करनेमें निष्काम तो रहिये, परन्तु आपको उसके प्रयोजनका ठीक-ठीक ज्ञान होना चाहिए। निष्कामको गलत नहीं समझना।

अब इस प्रसंगमें भगवान् लोक-संग्रहकी बात बताते हैं। सब लोग समझदार हो जायेंगे, यह कल्पना बिलकुल शेखचिल्लीका ख्वाब है। इसी प्रकार सब धनी हो जायेंगे, वह ख्याल भी गलत है। आप यह शुभकामना अवश्य कीजिये कि सब स्वस्थ रहें। लेकिन सब स्वस्थ ही रहेंगे, यह बात दुनियामें कभी होनेवाली नहीं। सब ज्ञानी हो जायँ, यह बात भी नहीं होगी। संसारका ऐसा ही स्वरूप है तब करना क्या है?

जो धनी नहीं, विद्वान् नहीं, बुद्धिमान नहीं, वे सब श्रद्धा रखते हैं। श्रद्धा तो मूर्ख भी रखता है। गाँवमें अनपढ़ लोग रहते हैं, बालक रहते हैं, पागल भी रहते हैं। किसीका ज्ञान ज्यादा होता है। किसीका कम होता है। उन सबको समान रूपसे ज्ञानी नहीं बनाया जा सकता। चाहे लाखों स्कूल

और हजारों कालेज खोलो, लेकिन श्रद्धाके लिए, स्कूल, कालेजोंकी जरूरत नहीं होती।

जो बच्चे पैदा होते हैं उनका विकास श्रद्धाके द्वारा ही होता है, हम पट्टीपर स्लेट पर 'क' की एक शक्ल बनाते हैं। यदि बच्चा 'क' पर श्रद्धा नहीं करेगा, तो पढ़ेगा कैसे? सीखनेवाला आदमी सिखायी हुई बातपर श्रद्धा करता है, तभी सीखता है।

रसोई बनानेवालेपर हम श्रद्धा नहीं रखेंगे, विश्वास नहीं करेंगे और यह शंका करेंगे कि इसने खानेमें जहर न मिला दिया हो, तो खायेंगे कैसे? बिना श्रद्धाके डाक्टरकी दवा कैसे लेंगे? नाईसे बाल कैसे बनवायेंगे? किसीका दिया हुआ पानी कैसे पीयेंगे? असलमें लोक-संग्रहके लिए ज्ञान विज्ञान उतना अपेक्षित नहीं, जितना श्रद्धाभाव अपेक्षित है। उपनिषद्‌में श्रद्धाको सम्पत्ति बताया गया है—*श्रद्धावित्तः।* श्रद्धाधन है, श्रद्धा वित्त है। जिसके पास श्रद्धाकी पूँजी है, वह पवित्रताके मार्गपर, साधनके मार्गपर चल सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि तपस्वी बड़ा है। जो पञ्चाग्नि तापते हैं, चौरासी धूनी तापते हैं, धूपमें रहते हैं, नंगे रहते हैं, ठण्डमें रहते हैं, पानीमें रहते हैं भूखे रहते हैं, वे बड़े हैं, किन्तु उन तपस्वियोंसे भी बड़ा वह है जो बुद्धिपूर्वक समझकर अपने योगमें, साधनमें, उपायमें स्थित है।

: ४६ :

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ ४६॥

जो बड़े–बड़े विद्वान् हैं, शास्त्री हैं, परोक्षज्ञानी हैं उनसे भी बड़ा वह है जो बुद्धिपूर्वक काम करता है, समतापूर्वक काम करता है, राग–द्वेष रहित काम करता है। निस्सन्देह जो लोग बहुत कर्म करते हैं, परन्तु समझते कुछ नहीं, उनसे बड़ा बुद्धियोगी है।

इसलिए भगवान् कहते हैं कि अर्जुन तुम बुद्धियोगी बनो। लेकिन साथ–ही–साथ यह भी कह देते हैं कि तुमको तो मैंने समझाया और तुमने समझा। तुम तो योगी बन जाओगे, साम्ययोगी बन जाओगे, बुद्धियोगी बन जाओगे, पूर्णयोगी, अध्यात्मयोगी, राजयोगी, महाराजयोगी, महाराजाधिराजयोगी, अधिरूढ़राजयोगी, कर्मयोगी, भक्तियोगी, ज्ञानयोगी, अनासक्तयोगी, निष्काम–योगी भी बन जाओगे।

: ४७ :

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

इन सब योगियोंसे भी आगे बढ़कर–**योगिनामपि सर्वेषां** के अनुसार अपनी अन्तरात्माको सर्वात्माके साथ मिला दो।

अपनी श्रद्धारूपी पुत्रीका भगवान्‌के अनुग्रहरूपी पुत्रसे विवाह कर दो। जहाँ आपकी श्रद्धा और भगवान्‌के अनुग्रहका मेल होगा, वहाँ भगवद्रसकी उत्पत्ति हो जायगी। जब भगवद्रसकी उत्पत्ति हो जायगी तब आपको कोई भगवान्‌से विमुख नहीं कर सकता।

जो तुम्हारी आत्मा सो सबकी आत्मा। तुम्हारे सामने सबके रूपमें परमेश्वर प्रकट होगा। ऐसा अनुभव न हो तो भी परवाह नहीं।

सभी पहले वसिष्ठ, शुकदेव अथवा वामदेव नहीं हो जाते। वैसे लोगोंको शुकदेव, वामदेव बननेका शौक जरा कम होता है। किन्तु जनक बननेका शौक बहुत ज्यादा होता है, क्योंकि उसमें कुछ छोड़ना नहीं पड़ता। तुम चाहे कुछ भी बन जाओ। पर देखो, न तो सब वसिष्ठ होते हैं, न शुकदेव होते हैं, न वामदेव होते हैं, न जनक होते हैं, न राम होते हैं, न कृष्ण होते हैं। किन्तु एक बात सबके अधिकारकी है और वह यह कि सब श्रद्धावान् हो सकते हैं—

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।

जिसने परमात्माको देखा नहीं, आत्माका साक्षात्कार नहीं किया और योगकी समाधि नहीं लगायी, परन्तु यदि वह श्रद्धा-सम्पत्तिसे सम्पन्न है, तो सबसे बड़ा है। इसमें कुछ करनेका ही नहीं। भगवान्ने बताया कि—

श्रद्दधानां मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः। १२.२०

जिनके हृदयमें श्रद्धा है, वे मेरे बहुत प्यारे हैं। इसीका नाम है लोकसंग्रह। तात्पर्य यह कि केवल विद्वानों, बुद्धिमानोंसे ही दुनिया नहीं चलती। दुनिया तो श्रद्धालुओंसे, विश्वासियोंसे, बात माननेवालोंसे चलती है। बड़े-बड़े महात्माओंके महात्मापनसे संसार नहीं चलता है, उनके ऊपर श्रद्धा करते हैं।

एक अध्यापक एक छात्रके घर गये। उसके पिताने पूछा—'मेरा पुत्र पढ़नेमें कैसा है?'

अध्यापक—'और सब तो ठीक है; किन्तु स्वयं तो उसके पास समझ नहीं है और मैं जो कहता हूँ उसे मानता नहीं।'

अब वह लड़का कैसे पढ़ेगा?

अतः या तो जानो या बड़ोंकी बात मानो और उसके अनुसार चलो।

अनुयायी राजाके होते हैं, सेठके होते हैं, विद्वान्के होते हैं, साधुके होते हैं। यदि जनमतकी दृष्टिसे देखा जाय, तो श्रद्धालुओंकी संख्या अधिक है और श्रद्धेयोंकी संख्या बहुत कम हैं। इसलिए ज्ञान-विज्ञान लोकसंग्रहका हेतु नहीं, श्रद्धा लोक-संग्रहका हेतु है। युक्ततम वही है जो श्रद्धालु है। श्रद्धालु सबमें भगवान्के दर्शन करता है।

आप अपने दुश्मनसे मुस्कुराकर बात कीजिये, उसको अपनेसे ऊपर बैठाइये। यदि वह कभी आपके घरमें आ जाये, मार्गमें या सभामें मिल जाये, तो आप उसको अपने दाहिने बैठाइये, ऊँचा बैठाइये, प्रेमसे बात कीजिये। जो सद्भाव-सम्पन्न है वह विजयी है और जो दुर्भावयुक्त है वह पराजित है। अपने हृदयमें दुर्भावको स्थान देना ही पराजित होना है। तो परमयोगी, युक्ततम योगी वही है जो अपना बड़प्पन छोड़कर, सुख-दुःखमें सबके साथ अपनेको मिला लेता है।

मैंने पढ़ा था कि कहीं सड़कपर एक बीमार पड़ा था। उसके शरीरमें

कोढ़ था, मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। वह पीड़ाके कारण कराह रहा था। एक सत्पुरुष उधरसे निकले। उन्होंने उसको अपनी गोदमें उठा लिया, ले जाकर स्नान कराया। कपड़े बदलवाये। उसका उपचार किया और फिर उसको चूम लिया। बस चूमते ही रुग्णके चेहरेपर मुस्कान आ गयी। जो मरणासन्न-मलिन-अनाथ-असहाय था, वह प्यार पाकर प्रसन्न हो उठा और केवल एक वाक्य बोला—'अब मैं सुख और शान्तिसे मरूँगा।'

तो, यदि आप किसी एक व्यक्तिको भी मरते समय सुख दे सकते हैं, शान्ति दे सकते हैं, उसमें भगवान्‌को देख सकते हैं तो आपसे बड़ा योगी और कोई नहीं।

आज यहाँका आयोजन सम्पन्न हो रहा है। कल शामको किसी व्यक्तिने मुझे उलाहना दिया कि आपने श्रोताओंकी तो बड़ी प्रशंसा की, किन्तु आयोजकोंको धन्यवाद ही नहीं दिया, वे इस समय यहाँ भी बैठे हुए हैं—शामके कार्यक्रमके आयोजक भी और सुबहके कार्यक्रमके आयोजक भी।

आपको एक बात बता दूँ कि आपलोग जो सुनना चाहते हैं, वही मेरी वाणी बोलने लगती है। मैं स्वयं अपनी ओरसे कुछ नहीं बोलता, आप ही बोलते हैं। आपके मनमें जो इच्छा है, वही बोलती है। इसलिए बोलनेवाला यदि किसीका कृतज्ञ है, तो बुलानेवालेका ही, क्योंकि वही बोलनेकी प्रेरणा देता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं सम्प्रति उपलब्ध साहित्य

वेदान्त

पुस्तक	मूल्य
मुण्डक सुधा	110.00
माण्डूक्य प्रवचन (आगम प्र.) भाग-1	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (वैतथ्य प्र.) भाग-2	80.00
माण्डूक्य प्रवचन (अद्वैत प्र.) भाग-3	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अलात शान्ति) भाग-4	100.00
ईशावास्य प्रवचन	20.00
ईशानुभूति (ईशावास्योपनिषद् के आधार पर)	40.00
केनोपनिषद्	70.00
कठोपनिषद् (दो भागोंमें)	250.00
बृहदारण्यकोपनिषद्	60.00
श्वेताश्वरोपनिषद्	150.00
कैवल्योपनिषद्	10.00
छान्दोग्य-बृहदारण्यक एक दृष्टिमें	10.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 1	60.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 2	60.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 3	60.00
दृग दृश्य विवेक	100.00
विवेक कीजिये (विवेक चूड़ामणि प्रवचन)	100.00
अपरोक्षानुभूति प्रवचन	80.00
वेदान्त बोध	60.00
साधना और ब्रह्मानुभूति	70.00
महाराजश्रीकी डायरीसे	6.00
आनन्द सूत्र	15.00
आनन्दानुभव	20.00
जीवन्मुक्ति विवेक	75.00
अष्टावक्रगीता	25.00
अष्टावक्रगीता प्रवचन	80.00
मिथ्यात्व ज्ञान	10.00
ध्यान और ज्ञान	50.00

श्रीमद्भगवद्गीता..

पुस्तक	मूल्य
गीता-रस-रत्नाकर (सम्पूर्ण गीता)	130.00
सांख्ययोग (गीता अध्याय-2)	150.00
कर्मयोग (गीता अध्याय-3)	60.00
ध्यानयोग (गीता अध्याय-6)	[illegible].00
ज्ञान-विज्ञान-योग (गीता अध्याय-7)	130.00
अक्षर ब्रह्मयोग (गीता अध्याय-8)	50.00
राजविद्या राजगुह्ययोग (गीता अध्याय-9)	35.00
विभूतियोग (गीता अध्याय-10)	150.00
भक्ति योग (गीता अध्याय-12)	50.00
ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (गी.अ.-13)	120.00
पुरुषोत्तमयोग (गीता अध्याय-15)	45.00
दैवी-सम्पदयोग (गीता अध्याय-16)	50.00
दैनिक जीवनमें गीता	60.00
योग: कर्मसु कौशलम्	20.00
मामेकं शरणं व्रज	20.00
गीतामें भक्तिज्ञान समन्वय	30.00
गीतामें मानवधर्म	25.00
वासुदेव: सर्वम्	10.00
मया ततमिदं सर्वं	15.00
गीता दर्शन - भाग 1, 2, 3	600.00

श्रीमद्भागवत

पुस्तक	मूल्य
भागवत दर्शन (दो भागोंमें)	450.00
भागवत - दशम स्कन्ध	150.00
मुक्ति स्कन्ध (भागवत-एकादश स्कन्ध)	200.00
रास पंचाध्यायी	80.00
श्रीकृष्णलीला रहस्य	45.00
भागवतामृत	70.00
भागवत व्यंजन	50.00
भागवत सर्वस्व	25.00
गोपीगीत	60.00
वेणुगीत	40.00
युगलगीत	50.00
गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	15.00
उद्धवगीत	25.00
कपिलोपदेश	60.00
हंसगीता (हंसोपाख्यान)	15.00
सद्गुरुसे क्या सीखें?	15.00
उनकी कृपा	20.00
ऊखल बन्धन लीला	50.00
सत्संग महिमा	15.00
प्रह्लाद चरित	60.00
उद्धव व्रजगमन	180.00
भागवत विमर्श-भाग 1	20.00
भागवत विमर्श-भाग 2	25.00
मानव जीवन और भागवत धर्म	100.00
गर्भ स्तुति	40.00
प्रणयगीत	60.00

वसुदेव देवकी स्तुति	20.00
ईशानुकथा (नवम स्कन्ध)	30.00
भागवत विचार दोहन	30.00
भिक्षुगीत	15.00

रामायण

श्रीरामचरितमानस (तीनों भागोंमें)	600.00
अध्यात्म रामायण	125.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत	60.00
मानस दर्शन	40.00
सुन्दरकाण्ड (वाल्मीकि रामायणान्तर्गत)	30.00

भक्ति एवं साधना

भक्ति एवं लीला	10.00
प्रेरक प्रसंग	20.00
नाम महिमा	15.00
नारद भक्ति दर्शन	75.00
भक्ति सर्वस्व	75.00
भक्तिदर्शनामृत	50.00
भक्तिका चमत्कार	20.00
अवतार रहस्य	20.00
माधुर्य कादम्बिनी	30.00
शिव संकल्प सूक्त	25.00
कृष्ण-कृष्णके उच्चारणसे कृष्ण प्राप्ति	10.00
मोहनकी मोहनी	20.00
ध्यानके समय	15.00
हनुमत्स्तोत्र	30.00
श्रीअखण्डानन्द स्तवः	6.00
सत्संग सुधा	20.00
प्रार्थना षट्पदी	25.00
साधन विचार	20.00
ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़िया बाबा	30.00
भगवान्‌के पाँच अवतार	50.00
विष्णु सहस्रनाम	30.00
भक्त-चरित	15.00
महाराजश्री एक परिचय	25.00
सबके प्रिय सबके हितकारी	10.00
श्रीपूर्णानन्द तीर्थ स्तवः (चित्रावली)	100.00
श्रीगुरुदेव प्रातः स्मरणम्	5.00
भिक्षु स्वामी शंकरानन्द	20.00

विविध

पावन प्रसंग	80.00
आनन्दवाणी	80.00
आनन्द उल्लास	60.00
आनन्द बिन्दु	50.00
आनन्दवचनामृत	10.00
आनन्द वार्ता	10.00
आनन्द पत्रावली	50.00
आनन्द रस रत्नाकर	150.00
आनन्द-ही-आनन्द	20.00
व्यवहारशुद्धि	50.00
हृदयाकाशके हीरे	50.00
आप सबसे श्रेष्ठ हैं	30.00
गृहस्थाश्रम धन्य है	30.00
जीवन-एक यात्रा	20.00
व्यवहार और परमार्थ	25.00
ईश्वर दर्शन	20.00
आनन्द प्रश्नोत्तरी	30.00
आपका व्यवहार	20.00
अमृत महोत्सव	20.00
आपकी पसन्द	25.00
भारतीय संस्कृति	10.00
सत्यकी खोजमें	25.00
जिज्ञासा और समाधान	30.00
स्पन्द तत्त्व	15.00
प्रकाश स्तम्भ	60.00
(दैनिक कैलेण्डर : महाराजश्रीके चित्र एवं उपदेश)	
अमृत बिन्दु कैलेण्डर	35.00
आनन्द मंजूषा	60.00
गुरु पूर्णिमा	10.00
सुखी रहो और सुखी रखो	10.00
आनन्द रत्न	50.00
सद्गुरु प्रसाद	40.00
जीवनमें साधना	25.00
आनन्द निर्झर	35.00
चारु चिन्तन	60.00
योगदर्शन	100.00

● प्रधान कार्यालय : **सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट,** विपुल 28/16 बी. जी. खे[illegible] मार्ग
मालाबार हिल, मुम्बई-400006, फोन : (022) 23682055, मो. : 096[illegible]9858361
● शाखा कार्यालय : **सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट,** श्रीअखण्डान[illegible] पुस्तकालय,
आनन्द कुटीर, मोतीझील, वृन्दावन-281[illegible]
फोन : (0565) 2913043, 2540487, मो. : 09837219460
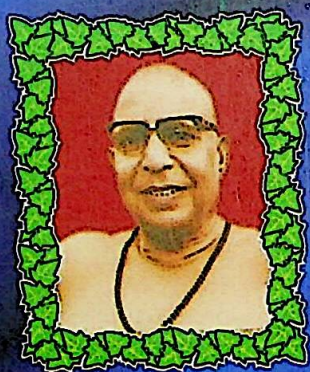
श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत युद्धके आरम्भमें एक सखाका दूसरे सखासे, एक गुरुका शिष्यसे, एक सम्बन्धीका दूसरे सम्बन्धीसे, नरका नारायणसे, कृष्णका अर्जुनसे हुआ संवाद है, प्रश्नोत्तर है, हितोपदेश है, साक्षात्कार है। दृष्टि भेदसे जैसे एक ही शब्द अनेक अर्थ प्रकट करता है, उसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताके छठवें अध्यायकी व्याख्या अनेकार्थमें विद्वानोंने ध्यानयोग या आत्म संयम-योग नामसे की है।

परमपूज्य महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वतीने सम्पूर्ण गीताका अनेक स्थानों पर अनेक दृष्टिकोणोंसे प्रदिपादन किया। हरिद्वारमें विरक्त महात्माओंके अनुसार, कलकत्तामें सद्गृहस्थोंके अनुसार तो वृन्दावनमें भक्तोंके अनुसार। वे सब समय-समय पर ग्रन्थरूपमें मुद्रित और उपलब्ध हैं।

इसी क्रममें आपके कर कमलोंमें है स्वतन्त्र रूपसे प्रवचन किया हुआ श्रीमद्भगवद्गीताका छठवाँ अध्याय प्रवचन यह ध्यानयोग।

आनन्दकानन प्रेस ३५/-
टेढ़ीनीम, वाराणसी • फोन : 2392337